समर्पण

गोपू को

जो मानव है,
वामन और विराट भी।
जो प्रजा है,
प्रजापति, सम्राट् भी॥

—नेमिशरण मित्तल

भूमिका

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा, स्वस्ति न. पूषा विश्ववेदा'।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यो अरिष्टनेमि', स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु ॥

मानव सभ्यता के जन्म और विकास की कहानी एक अत्यन्त दिलचस्प, रोमाँचक और शौर्यपूर्ण प्रणयगाथा है। सयोग कहिये, इतिहास-पुरुष की योजना अथवा स्वय मनुष्य का सहज विवेक, यह एक निर्विवाद तथ्य है कि मानव-सभ्यता के प्रथम अकुर चीन से लेकर रोम तक फैले यूरेशियाई अर्द्धवृत्त मे नदियो के किनारे प्रस्फुटित हुए। ईसा के जन्म से चार हजार वर्ष पहले जब दजला और फरात की उर्वरा घाटियो मे बसे असीरिया, अक्कड, बेबीलोनिया और सुमेरिया के प्रदेशो मे मानव-सभ्यता की प्रथम किरण फूट रही थी, उसी समय वह भूमध्यसागर के दक्षिण मे महान नील की घाटी मे आँखे खोल रही थी, सिन्धु नदी घाटी मे एक परिपक्व सभ्यता अगडाई भरकर पचनद और गगा से होकर ब्रह्मपुत्र की ओर अग्रसर हो रही थी और चीन मे उसने हाथ मे कागज और कलम उठाकर अपनी गाथा लिखनी आरम्भ कर दी थी। दूसरा दौर ईसा से करीब 1500 वर्ष पहले यूनान मे शुरू हुआ और तीसरा दौर ईसापूर्व 1000 के आसपास, जब रोम और इजरायल मे मानव-सभ्यता ने अपने पाँव यूरोप और ब्रिटेन की दिशा मे पसारने शुरू किये।

मानव की प्राचीन सभ्यताओ के उदय और विकास का इतिहास मानवजाति के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण थाती और विधा बन गया है तथापि उसे इतिहास की उस सकरी परिभाषा मे सीमित नही किया जा सकता जिसके अन्तर्गत अतीत की राजनीति को आज का इतिहास माना जाता है। सभ्यताओ का इतिहास मानव की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियो का एक विशद विवेचन तथा दस्तावेज है। वह मानवजाति के सघर्ष और समारोह, गौरव और दासता, वेदना और हर्षातिरेक, राज्य और साम्राज्य, खेती और व्यापार, साहित्य और कला, प्रौद्योगिकी और विज्ञान, परिवार और समाज तथा हेय और श्रेय का एक व्यापक चिट्ठा है। सभ्यता का इतिहास मानव जाति के उत्थान और पतन की बहुरूपी, बहुरगी और बहु-आयामीय गाथा को उसके मिथकीय और यथार्थ स्वरूपो मे अथवा यो कहे कि सम्पूर्ण विस्तार मे निरूपित और परिभाषित करता है।

मानव-सभ्यताओं के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अंग मनुष्य की चेतना के प्रसार और निखार का इतिहास है जो हमें बताता है कि मनुष्य ने अपनी भौतिक और लौकिक सीमाओं और मर्यादाओं से ऊपर उठकर तथा अज्ञान के अन्धेरे परतों को चीरकर किस प्रकार स्वयं को दैवी अथवा ब्राह्मी चेतना के साथ जोड़ने और एकाकार करने की चेष्टा की तथा जागतिक-यथार्थ के उस पार झाँककर जगत् के मूल तत्त्व और सत्य की भावना के फलस्वरूप नाना धार्मिक तथा दार्शनिक धारणाओं को जन्म दिया जो चिरकाल तक मानवजाति की बहुमूल्य धरोहर बनी रहेंगी।

प्राचीन मानव-सभ्यताओं को उनके सर्वतोमुखी, समग्र, साँगोपाँग और सार्वभौमिक रूप में प्रस्तुत करना एक दुष्कर तथापि अत्यन्त सुखद कर्म और अनुभूति है। मुझे प्रसन्नता है कि प्रस्तुत कृति की रचना के दौरान मुझे वह सुखद अनुभूति प्राप्त हुई। मैंने भरसक कोशिश की है कि अपनी उन सुखद अनुभूतियों को शब्दों में बाँधकर पाठकों के सामने परोसूँ। मुझे आशा है कि जो विद्वान और जिज्ञासु विवेचक और पाठक इस कृति का अनुशीलन करने का श्रम उठाएँगे उन्हें उन सुखद अनुभूतियों का स्वाद मिल पायेगा।

इस कृति की अपनी सीमाएँ हैं। इसकी रचना भारतीय विश्वविद्यालयों के स्नातकोत्तर छात्र-छात्राओं के लिए पाठ्यक्रमों के अनुसार की गई है। विश्व की सात प्राचीनतम सभ्यताओं के इतिहास को इस पुस्तक के छोटे से कलेवर में समेटने की कोशिश में निश्चय ही बहुत कुछ छूट गया है, फिर भी चेष्टा यह रही है कि इन सातों सभ्यताओं का एक समग्र चित्र पाठकों को प्राप्त हो सके।

इस कृति की रचना में जिन परिश्रमी खोजियों और विद्वान लेखकों की कृतियों में सामग्री ली गई है उनका यथास्थान उल्लेख किया गया है। उनके प्रति आभार व्यक्त करना मेरा परम धर्म है। पुस्तक के प्रकाशक श्री जैन ने जिस आग्रह, सद्भाव और स्नेहपूर्वक यह कृति मुझसे लिखा ली है उनके लिए मैं उनका आभारी हूँ, और उन सब विद्वान पाठकों का भी आभारी रहूँगा जो इस कृति की कमियों की ओर मेरा ध्यान दिलायेंगे। हरि. ॐ।

नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥

नेमिशरण मित्तल

अनुक्रमणिका

I. मिस्र (Egypt)

II मैसोपोटामिया (Mesopotamia)

VI बेबीलोनिया (Babylonia)

VII. रोम (Rome)

1

सभ्यता की अवधारणा, भूगोल और प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि

(The Concept of Civilization, Geography & Topography)

मिस्र की सभ्यता ससार की प्राचीनतम सभ्यताओ मे से एक है। उसका विकास ईसा के जन्म से 3000 वर्ष पहले हो चुका था। मिस्र की सभ्यता को सही अर्थ मे सभ्यता कहा जा सकता है क्योकि इस सभ्यता के उदय काल मे मनुष्य जंगली जीवन, घुमक्कडी और शिकार पर निर्भरता का परित्याग करके (क) नदी के किनारे स्थायी तौर पर बस गया, (ख) वह आजीविका के लिये खेती करने लगा और पशुओ का शिकार करने के साथ ही मांस, दूध, खाल, ऊन और बोझा ढोने के लिये उनको पालने लगा, (ग) प्रौद्योगिकी के विकास की ओर बढने लगा, जैसे तांबे के औजारो का निर्माण, पानी ऊपर चढाने के लिये ढेको का इस्तेमाल और वास्तुकला के क्षेत्र मे नये आयामो की स्थापना, तथा (घ) एक सुबद्ध समाज के भीतर सामूहिक लक्ष्यो की सिद्धि के लिये सभ्य जीवन व्यतीत करने लगा।

सभ्यता की अवधारणा
(The Concept of Civilization)

मिस्र की सभ्यता एक सामुदायिक सभ्यता के रूप मे विकसित हुई। गांवो और कस्बो मे बस जाने के बाद मिस्रवासियो के सामाजिक जीवन का आरम्भ हुआ। वे परिवार बनाकर तो रहने ही लगे, उन्होने आपस मे सचार और विचारो के आदान-प्रदान के लिए व्यवस्थित भाषा का विकास किया, अक्षर बनाये, लिपि खोज निकाली और लिखने की कला का भी आविष्कार किया।

वे खेती के लिये हल और हँसिये जैसे औजारो का इस्तेमाल करने लगे तथा हल को खींचने के लिये उन्होने पशु (बैल) को पालतू बनाया। गाय और बैल मानव-संस्कृति के आदिकाल से मनुष्य के साथी बने, मिस्र मे भी वही हुआ और सभ्यता का पहला चरण इन पशुओ के प्रति ममत्व और आदर के भाव से आरम्भ हुआ। मिस्र के प्राचीन निवासी गाय और बैल को पूज्य मानने लगे तथा

साथ जोडा गया और मानव मात्र को उसका अधिकारी माना गया। आम आदमी के प्रति सत्ताधीशो और धनपतियो के व्यवहार की समीक्षा की गयी और समाज की श्रेष्ठता का मूल्यांकन इस आधार पर किया गया कि उसमे आम आदमी को न्याय मिल पाता है या नही। यह मानव सभ्यता का ठोस आधार था।

मिस्र की भौगोलिक स्थिति और स्थलाकृति
(Geography & Topography)

मिस्र की सभ्यता का जिस प्रदेश मे विकास हुआ उसकी सीमाएँ वर्तमान मिस्र की भौगोलिक सीमाओ की अपेक्षा अधिक विस्तृत और व्यापक थी। अफ्रीका महाद्वीप के पश्चिमोत्तर मे नील नदी के दोनो ओर का समूचा प्रदेश प्राचीन मिस्री सभ्यता के उद्गम और विकास का क्षेत्र था। उसके पूर्व मे लाल सागर तथा एक सकरी थल-पट्टी से जुडा एशिया का सिनाई प्रान्त, पश्चिम मे लीबिया का मरुस्थल, उत्तर मे भूमध्य सागर और दक्षिण मे ठीक विपुवत् रेखा पर हिमाच्छादित चोटियो वाला 'चांद का पर्वत' जिससे निकलकर नील नदी उत्तर की ओर बहती हुई भूमध्यसागर मे गिरती है। एक प्राचीन मिस्री आप्तवचन मे कहा गया है कि "मिस्र वह भूमि है जिसे नील नदी सीचती है, तथा इसका पानी पीने वाले लोग मिस्री कहलाते है।"

प्राचीन काल मे नील के उद्गम के बारे मे किसी को सही ज्ञान न था केवल अटकलो और किवदन्तियो के आधार पर कहा जाता था कि नील उस पहाड से निकलती है जो बादलो और घने कुहरे से ढका रहता है और शब्दश. अदृश्य है। टोलीमी (Ptolemy) ने उस पहाड को 'चांद का पर्वत' कहा है। यूनान के आरम्भिक इतिहासकार हैरोडोटस (484 से 425 ईसा पूर्व) ने मिस्र को 'नील का प्रसाद' कहा था।

यह सही भी है। मिस्र प्रदेश ही नही मिस्र की सभ्यता भी नील का प्रसाद है। नील नदी के उद्गम 'चांद के पर्वत' को परवर्ती साहसी खोजी स्टेनले ने स्थानीय भाषा मे 'रुवेनजोरी' कहा। रुवेनजोरी अर्थात् वर्षा करने वाला इन्द्र-पर्वत। यह पर्वत उस क्षेत्र मे स्थित है जिसे आजकल इथियोपिया कहा जाता है, द्वितीय महायुद्ध तक अबीसीनिया कहा जाता था और प्राचीन काल मे नूबिया।

'रुवेनजोरी' पर्वत की सबसे ऊँची चोटी 16,791 फुट ऊँची है तथा वह बारह महीने बर्फ से ढकी रहती है। विपुवत् रेखा वाला वह प्रदेश घोर वर्षा का प्रदेश है। वर्षा तथा पिघले हुए बर्फ का पानी तीन झीलो मे भर जाता है जिन्हे आधुनिक काल मे विक्टोरिया, अल्बर्ट और एडवर्ड कहा जाता है। ये झीलें ही नील नदी का मूल स्रोत हैं।

नील नदी अपने उद्गम से डेल्टा तक 2450 मील लम्बे प्रदेश मे बहती है, लेकिन उसकी घुमावदार लम्बाई कुल 4,000 मील बैठती है। यह हमारी धरती की सबसे अधिक लम्बी नदी है जो धरती की परिधि के दसवें भाग के बराबर दूरी

तय करती है। नील नदी दो चरणों मे विभाजित है। उसका पहला चरण श्वेत नील (अल बहर अल आबयाद) कहलाता है और खारतूम मे जब उसमे नीली-नील (अल बहर अल अजरक) का सगम होता है तो उसका दूसरा चरण केवल नील नाम से पुकारा जाता है। नीली-नील की धारा भी इथियोपिया के पहाडो से निकलती है और श्वेत-नील के साथ मिलकर मिस्र के हजारो मील रेगिस्तानी इलाके को सींचती हुई भूमध्य सागर मे गिरती है। वर्षा के मौसम मे नदी में भयकर बाढ आ जाया करती थी (क्योकि प्राचीन काल मे नहरो का जाल नही बिछाया गया था, न आस्वान बाँध जैसे आधुनिक बाँध ही बाँधे गए थे) जिसके कारण नदी का पानी चारो ओर फैल जाता और उसके साथ आयी दोमट मिट्टी समूचे क्षेत्र को उपजाऊ बना देती जिसमे अनाज ही नही सभ्यता और सस्कृति भी धीर-धीर उगने लगी।

शुरू मे वर्षा के बाद एक ही फसल होती थी, लेकिन धीरे-धीरे मिस्र के प्राचीन निवासियो ने नदी के किनार से ढेंको द्वारा पानी उठाकर और नालियाँ खोदकर सिंचाई शुरू की। इस प्रकार नील के किनारे-किनारे एक सम्पन्न सभ्यता का उदय हुआ।

नील के किनारे की मिट्टी ईंट बनाने की दृष्टि से खूब उपयुक्त थी। इसके अतिरिक्त नील नदी खारतूम और आस्वान के बीच ग्रेनाइट की पहाड़ियो पर से गिरकर छह प्रपात बनाती है। वह ग्रेनाइट सहज ही प्राचीन मिस्रवासियो की दृष्टि मे आया और उन्होने उस पत्थर का उपयोग किया।

मिस्र मे चूने के पत्थर वाले पहाडो की भी प्रचुरता रही। नील के दोनो ओर तथा विशेषत पूर्व मे विस्तृत रेगिस्तान मे ये पहाड दूर-दूर तक फैले हैं। इन पहाडो ने भी सभ्यता के विकास मे अपना योगदान किया। इन्ही पहाडियो मे प्रागैतिहासिक मानव को ताँबा भी मिला, जिसके बल पर वह ताँबे के युग मे प्रविष्ट हुआ।

वास्तव मे मिस्र की प्राचीन सभ्यता के स्वरूप का निर्धारण नील नदी के प्रवाह के द्वारा हुआ। आस्वान (प्राचीन एलीफेंटाइन) और काहिरा (प्राचीन मेम्फिस) के बीच का पाँच सौ मील का विस्तार ऊपरी-मिस्र कहलाता था और काहिरा से नील के डेल्टा तक का 100 मील का विस्तार निचला-मिस्र।

ऊपरी-मिस्र मे नील की घाटी बहुत सकरी है, उसकी अधिकतम चौडाई 12 मील के भीतर ही है तथा उसके दोनो तटो पर ऊँची पहाडियाँ और रेगिस्तानी टीले है, जिनके कारण नील का पानी खेती के काम मे नही लिया जा सकता था। परन्तु निचले मिस्र मे जहाँ सागर से मिलने के कारण नील की गति मद पड जाती है, उसने उपजाऊ मिट्टी जमा कर दी है, वह कई धाराओ मे बँट गई है और इस क्षेत्र मे एक त्रिभुज बन गया, जिसे मिस्र की सभ्यता का पालना कहा जाता है।

मिस्र की स्थलाकृति (Topography) का वहाँ की सभ्यता के विकास मे बहुत भारी योगदान रहा है। नील-घाटी के दोनो ओर रेगिस्तान और पहाडियाँ होने

के कारण मिस्र पर विदेशी आक्रमणो का खतरा नही रहा, तथा प्रकृति की गोद के सुरक्षा-कवच मे नील-घाटी की सभ्यता विकसित होती चली गयी।

मिस्र की जलवायु आम तौर पर खुश्क और गरम रही। भूमध्यसागर के तटवर्ती क्षेत्र को छोडकर शेष मिस्र मे शताब्दी मे एक-दो वार ही वर्षा होती थी। यह तो रुवेनजोरी पर्वत की हिमाच्छादित चोटियो और विषुवत् रेखा पर होने वाली भारी वर्षा की ही कृपा माननी चाहिए कि नील वारहो महीने जल से भरी-पूरी रही।

मिस्र की स्थलाकृति मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वात यह है कि उसकी भूमि का ढाल दक्षिण से उत्तर की ओर है। इसी कारण यह सम्भव हो सका कि नील नदी 1850 मील की लम्बी दूरी तक वहकर मिस्र मे प्रवेश कर गयी और मिस्र के भीतर अपने 600 मील लम्बे प्रवाह मे उसने एक समृद्ध सभ्यता को जन्म दिया।

मिस्र की जलवायु पर उसकी स्थिति और उसकी भूमि के चरित्र ने वहुत भारी प्रभाव डाला। चारो ओर फैले रेगिस्तान मे गरम हवाओ के चलने से मिस्र की जलवायु गरम हो गयी थी। रेगिस्तान के कारण ही वहाँ वन और जगल नही उग पाये। वनो का यह अभाव ही मुख्य रूप से अनावृष्टि का कारण वना।

मिस्र की सभ्यता मे स्थापत्य का वहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा, किन्तु हम यह नही भूल सकते कि स्थापत्य के विकास मे मिस्र की स्थलाकृति निर्णायक सिद्ध हुई। नील घाटी की चिकनी मिट्टी, मिट्टी के वर्तन और ईंट वनाने के लिए उपयुक्त थी, जिसने मिस्र की सभ्यता को एक विलक्षण आयाम दिया। दूसरी ओर चूने के पत्थर की पहाडियो ने पिरामिडो, विशाल मूर्तियो और भवनो के निर्माण को सुगम वना दिया।

ग्रेनाइट की चट्टानो का भी मिस्र की सभ्यता मे महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। इन चट्टानो पर विराट् शिलालेख खोदे गये जिन्होंने आधुनिक मानव को उस प्राचीन सभ्यता का परिचय दिया।

नील घाटी को मिस्र की सभ्यता का पालना कहा जाता है क्योंकि इसकी उपजाऊ भूमि ने मिस्र के प्राचीन वासियो को जीवन के साधन दिये और उनके लिए सम्पत्ति के द्वार भी खोल दिये। नील के मार्ग से मिस्र ने अपने वैदेशिक व्यापार का विकास किया तथा ससार की अन्य समकालीन सभ्यताओ के साथ सम्पर्क स्थापित किया।

प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि (5000 से 2900 ई. पू.)
(Pre-Historic Background)

मध्य मिस्र मे एबुटिग के सामने डेयर तासा, फायूम और नील की रोजेटा शाखा के पश्चिम मे वेनी सलामेह की खुदाइयो मे लगभग 5000 ई पू की नव-प्रस्तरयुगीन वस्तियो के अवशेष मिले है। नील के पूर्वी तट पर अस्यूत से कोई वीस मील दूर वदरी मे ताम्रकालीन सस्कृति के अवशेष मिले हैं। वदरी के निवासी उत्कृष्ट कोटि के मृद्भांड वनाते थे और उन्हे आँख मे आँजने के लिए पत्थर की

सिल पर सुरमा पीसने की कला का ज्ञान था। वे अपने मृतकों को कब्रों में इस प्रकार दफनाते मानो वे सोये हों, और वे उनके साथ खाने-पीने की तथा अन्य सामग्री रख देते थे।[1]

बदरी से नूबिया के निचले भाग तक अनेक खुदाइयों में मिले गाँवों और समाधियों में बदरियों के समान ही अमरी सभ्यता के अवशेष मिले हैं। पुरातत्त्वविदों के अनुसार यह सभ्यता कोई 4,500 वर्ष ई पू में विद्यमान थी। अमरी लोग बाकायदा गाँवों में बसकर रहते थे और पशुपूजक थे। वे ताँबे का उपयोग करते थे और नील पर यात्रा करने के लिए पटेरा (Papyrus) की नौकाओं का निर्माण करना जानते थे। वे अपने मृतकों को दोहरा करके छिछले गड्ढों में गाड़ते तथा उनके साथ भोजन की सामग्री, हथियार तथा जेवर रखते थे। बहुत-सी कब्रों में सिर पर पानी के घड़े रखे हुए स्त्रियों अथवा नौकरों की मूर्तियाँ भी मिली हैं। ऐसा लगता है कि उस काल में उससे पहले की वह परम्परा त्याग दी गयी थी जिसके अनुसार पत्नियों और दासों को मालिक के साथ जिंदा ही दफना दिया जाता था।

अमरी सभ्यता के बाद मिस्र में गरजी सभ्यता का उदय हुआ। यह सभ्यता सम्भवत निचले-मिस्र में पनपी और कालान्तर में ऊपरी-मिस्र तक फैल गयी। उस काल के बर्तन गाय जैसे पशुओं के आकार में मिले हैं। गरजी गाँव कस्बों जैसे बड़े हो गये थे, तथा उनके पात्रों और जहाजों के मस्तूल पर बनी पशुओं और पौधों की आकृतियों से संकेत मिलता है कि वे पशु तथा वनस्पति पूजक थे। गरजी काल की कब्रें खाइयों जैसी लम्बी हैं। कुछ कब्रों को मिट्टी की ईंटों से चुना गया है तथा हायराकोनपोलिस में तो एक ऐसी कब्र मिली है जिसकी दीवारों पर चित्रकारी की गयी है। इन कब्रों में नित्य उपभोग की नाना प्रकार की सामग्रियाँ रखी जाती थी।

चित्रकारी वाली कब्र से यह संकेत भी मिलता है कि उस काल में राजा का पद स्थापित हो गया था। उस काल के अवशेषों से ज्ञात होता है कि ऊपरी-मिस्र और निचले-मिस्र में अलग-अलग दो शक्तिशाली राज्य बन गये थे। ऊपरी-मिस्र की राजधानी नील के बायें किनारे पर आधुनिक नगर नकदा के समीप ओमबोस में थी और निचले-मिस्र की दमनहूर और सिकन्दरिया के समीप बेहदेत में।

ऊपरी-मिस्र का राजा सिर पर धातु का एक ऊँचा सफेद हैलमेट पहनता था, तथा उसका राजचिह्न कमल था। निचले-मिस्र का राजा सिर पर लाल रंग का मुकुट पहनता था और उसका राजचिह्न पटेरा (Papyrus) था, जो वहाँ दलदल में बहुतायत से उगता था। आज भी करनाक मन्दिर के भग्नावशेषों में दो विशाल स्तम्भ इन दोनों राजचिह्नों—कमल और पटेरा की आकृति में खड़े हैं।

इस काल के अवशेषों से यह ज्ञात होता है कि प्रागैतिहासिक मिस्र में ढेकों की मदद से नदी का पानी उठाकर ऊँचाई के खेतों में पहुँचाया जाता था तथा खेती काफी विकसित हो चुकी थी। गाँवों का सामान्य जीवन शान्तिमय और धार्मिक था

1 *Guy Brunton & Gertrude Caton-Thompson* The Badarian Civilization, 1928, pp. 20-42

तथा समाज मे परवर्तीकाल जैसा स्तरीकरण न था, अर्थात् समाज गरीब और अमीर अथवा उच्च और निम्न वर्गों मे बँटा हुआ न था। राजा हुकूमत नही करता था वरन् वह धर्म-पुरोहित और न्यायाधीश होता था, इसी कारण लोग उसे भेंट देते थे जिससे वह प्रतिष्ठित तथा धनी हो जाता था।

इस काल की अन्य उपलब्धि यह थी कि इसमे मिस्र के निवासियो ने सांकेतिक भाषा विकसित कर ली थी तथा लिखने की कला खोज निकाली थी। पत्थरो पर खुदाई भी होने लगी थी तथा लोगो मे इतिहास की चेतना जागने लगी थी, जिसका प्रमाण उस काल के पाषाण-लेख है जिन पर राजाओ के नाम खुदे हुए है।

निचले मिस्र मे सहज रूप से उगने वाला पटेरा (Papyrus) मिस्री सभ्यता के लिए वरदान बन गया था, जहाँ एक ओर उससे नौकाये बनायी जाती थी वही कागज भी तैयार किया जाता था। पटेरा को चीरकर तथा पानी मे भिगोकर और बाद मे लुगदी के लेप के बाद पत्थरो के बीच दबाकर कागज बनाया जाता था। पटेरा की ही कलम बनायी जाती थी। काली रोशनाई के लिए काजल का इस्तेमाल किया जाता था और लाल रोशनाई के लिए वनस्पतियो का रग अथवा लोहे के पत्थर का चूरा।

निचले-मिस्र के कुछ अवशेषो मे राजा के सिर पर हैमलेट और मुकुट दोनो मिलते है। यह इस बात का सकेत है कि गरजी सस्कृति के प्रसार के दौरान डेल्टा के किसी राजा ने ऊपरी-मिस्र पर चढाई की तथा उसे जीत कर वह मिस्र के दोनो भागो का राजा बन गया जिससे वह दोनो राजाओ के चिह्न धारण कर सका। ऊपरी-मिस्र की राजधानी इस युग मे नेखेब मे चली गई थी जिसे यूनानियो ने ईलिथियासपोलिस कहा और अब एलकाब के नाम से जाना जाता है। राजा का महल नील नदी के दूसरी ओर नेखेन मे था जिसे बाद मे हायराकोनपोलिस कहा गया। निचले-मिस्र की राजधानी बुटो मे आ गयी थी और राजा नगर के बाहर पे नामक स्थान पर रहता था। अन्तत मिस्र के दोनो राज्यो को मेने अथवा मिनिस (Menes) नामक राजा ने जोडा और यहाँ से मिस्र की प्राचीन सभ्यता का वह काल शुरू होता है जिसका इतिहास साक्ष्य के आधार पर तैयार किया जा सका है।

2

राजनीतिक इतिहास की रूपरेखा, राजनीतिक चिन्तन और संस्थाएँ

(Outline of Political History, Political Ideas and Institutions)

मिस्र के प्राचीन राजनीतिक इतिहास को प्राय तीन कालो मे विभाजित किया जाता है—पुरातन राजतन्त्र, मध्यवर्ती राजतन्त्र और साम्राज्य । परन्तु वास्तव मे, पुरातन राजतन्त्र 2700 ईसा पूर्व से शुरू होता है अर्थात् तीसरे राजवश के उदय से । उससे पहले दो राजवश मिस्र पर शासन कर चुके थे । इसी प्रकार मध्यवर्ती राजतन्त्र आरम्भ होने से पहले और पुरातन राजतन्त्र समाप्त होने के बाद एक अन्तर्वर्ती काल आया जो 2200 से 1989 ई पू तक चला । इसे प्रथम अन्तर्वर्ती काल कहा जाता है । दूसरा अन्तर्वर्ती काल मध्यवर्ती राजतन्त्र समाप्त होने के पश्चात् 1776 से शुरू होता है और 1570 ई पू मे समाप्त होता है । यहाँ से साम्राज्य अथवा नव-राजतन्त्र का युग शुरू होता है जो 1150 ई पू. मे समाप्त होता है और अन्तिम काल पतन का काल है जो 1150 से 332 ई पू तक चलता है ।

थिनिस राजवश

पुरातन राजतन्त्र का काल आरम्भ होने से पहले मिस्र पर दो राजवश राज कर चुके थे । इन दोनो को प्राचीन इतिहासकार मनेथो ने थिनिस राजवश कहा है । यह नाम इनकी राजधानी के नाम पर दिया गया । प्रथम राजवश का प्रथम राजा मेने हुआ । मेने मिस्र का पहला राजा है जिसने मिस्र के दोनो राज्यो—ऊपरी (अपर इजिप्ट) और निचले मिस्र (लोअर इजिप्ट) को एक राज्य मे सयुक्त किया । मेने ने मिस्र पर 62 वर्षों तक शासन किया । उसकी मृत्यु दरियाई घोडे द्वारा उसे नील मे खीच ले जाने के कारण डूबने से हुई । मेने नील के बडे मोड के समीप बसे थिस कस्बे का रहने वाला था । थिस वर्तमान जिरगा नामक कस्बे के समीप था । मेने ने इसे अपनी राजधानी बनाया और उसके बाद यह प्रथम तथा द्वितीय राजवश के राजाओ की राजधानी रहा । थिस का एक नाम थिनिस भी था, इसी कारण दोनो राजवशो का नाम थिनिस राजवश पडा ।

थिस कस्वा ऊपरी मिस्र के धुर दक्षिण मे था अत इन राजवशो ने निचले मिस्र मे डेल्टा के समीप एक विशाल दुर्ग वनवाया। इसे वनाने के लिए एक बाँध द्वारा नील की धारा को मोडा गया। नील की इस धारा को श्वेत नील कहा जाता था अत इस दुर्ग के पास वने कस्बे का नाम श्वेत-दीवार रखा गया। छठे राजवश ने इसका नाम वदलकर मेन-नेफ़ूमायर रख दिया। इसे ही यूनानियो ने मेम्फिस कहा।

इस नगर से थोडी दूर पर रेगिस्तानी क्षेत्र मे एविदोस के समीप 1899 की खुदाई में इन राजवशो के राजाओ की कब्रो से इस काल की सभ्यता पर प्रकाश पडा। प्रथम राजवश के राजाओ की कब्रो का निर्माण लकडी से किया गया था, लेकिन दूसरे राजवश के राजाओ की कब्रो मे लकडी के वजाय ईंटो का इस्तेमाल किया गया। इन कब्रो से अनेक राजाओ के नाम भी मिले, जैसे—नरमेर, अहा, जेर तथा अन्य। ऐसा अनुमान होता है कि मनेथो ने जिस प्रथम राजा को मेने नाम दिया वही नरमेर था। नरमेर को एक चपटे पत्थर की सिल पर उत्कीर्ण चित्र मे विजय-शोभायात्रा मे जाते हुए दिखाया है, उसके पीछे एक दास जलपात्र लिये हुए है तथा उसके भी पीछे पुरोहित दिखाये गये हैं। सवसे ऊपर गौ-देवी हैथोर का सिर प्रदर्शित किया गया है। पत्थर की इस सिल के दूसरी ओर लम्बा-तड़गा नरमेर एक हाथ मे गदा लिये हुए हैं तथा दूसरे हाथ से उसने शत्रु को वालो से पकड रखा है।

पुरातन-राजतन्त्र

तीसरे से छठे राजवश का शासन-काल पुरातन-राजतन्त्र कहलाता है। 2700 से 2200 ईसा पूर्व का यह काल पिरामिड-काल भी कहलाता है क्योकि इस काल मे मिस्र की सभ्यता के प्रतीक पिरामिड वनवाये गये। तीसरे राजतन्त्र के प्रथम राजा दिजोसेर (Djoser) के शासन-काल मे इमहोतेप नामक एक पुरोहित हुआ जिसने एक जादूगर, बुद्धिमत्तापूर्ण लोकोक्तियो के रचयिता, चिकित्सक और वास्तुविद के रूप मे ख्याति अर्जित की। उसने अपने राजा के लिए एक नये आकार-प्रकार की कब्र वनवाई जिसमे कब्र की सपाट छत पर सीढीनुमा पाँच त्रिकोण खडे किये गये। यह सक्कारा का सीढीदार पिरामिड है। इसकी ऊँचाई 190 फ़ुट है और यह पत्थर से वना है। यही उन प्रख्यात पिरामिडो की शृंखला का प्रथम पिरामिड है जिन्हे विश्व के सात महान् आश्चर्यो मे से एक माना जाता रहा है।

चौथे राजवश का राजा खूफ़ू मिस्र की सभ्यता के उत्कर्ष काल का प्रतीक माना जाता है। उसके जमाने मे मिस्र एक खुशहाल देश था। उसने अपने शासनकाल मे मिस्र के सवसे महान् पिरामिड का निर्माण कराया। इसकी ऊँचाई 481 फ़ुट है। इसमे पीले पत्थर के औसतन अढाई टन भार वाले 23,00,000 (तेईस लाख) पत्थर लगे हैं। इसके निर्माण मे वारी-वारी से वर्ष मे चार श्रमिक-समूह काम करते थे और प्रत्येक समूह मे एक लाख श्रमिक होते थे।

2

राजनीतिक इतिहास की रूपरेखा, राजनीतिक चिन्तन और संस्थाएँ

(Outline of Political History, Political Ideas and Institutions)

मिस्र के प्राचीन राजनीतिक इतिहास को प्राय तीन कालो मे विभाजित किया जाता है—पुरातन राजतन्त्र, मध्यवर्ती राजतन्त्र और साम्राज्य । परन्तु वास्तव मे, पुरातन राजतन्त्र 2700 ईसा पूर्व मे शुरू होता है अर्थात् तीसरे राजवश के उदय से । उससे पहले दो राजवश मिस्र पर शासन कर चुके थे । इसी प्रकार मध्यवर्ती राजतन्त्र आरम्भ होने से पहले और पुरातन राजतन्त्र समाप्त होने के बाद एक अन्तर्वर्ती काल आया जो 2200 से 1989 ई पू तक चला । इसे प्रथम अन्तर्वर्ती काल कहा जाता है । दूसरा अन्तर्वर्ती काल मध्यवर्ती राजतन्त्र समाप्त होने के पश्चात् 1776 से शुरू होता है और 1570 ई पू मे समाप्त होता है । यहाँ से साम्राज्य अथवा नव-राजतन्त्र का युग शुरू होता है जो 1150 ई पू मे समाप्त होता है और अन्तिम काल पतन का काल है जो 1150 से 332 ई पू तक चलता है ।

थिनिस राजवश

पुरातन राजतन्त्र का काल आरम्भ होने से पहले मिस्र पर दो राजवश राज कर चुके थे । इन दोनो को प्राचीन इतिहासकार मनेथो ने थिनिस राजवश कहा है । यह नाम इनकी राजधानी के नाम पर दिया गया । प्रथम राजवश का प्रथम राजा मेने हुआ । मेने मिस्र का पहला राजा है जिसने मिस्र के दोनो राज्यो—ऊपरी (अपर इजिप्ट) और निचले मिस्र (लोअर इजिप्ट) को एक राज्य मे सयुक्त किया । मेने ने मिस्र पर 62 वर्षो तक शासन किया । उसकी मृत्यु दरियाई घोडे द्वारा उसे नील मे खीच ले जाने के कारण डूबने से हुई । मेने नील के बडे मोड के समीप बसे थिस कस्बे का रहने वाला था । थिस वर्तमान जिरगा नामक कस्बे के समीप था । मेने ने इसे अपनी राजधानी बनाया और उसके बाद यह प्रथम तथा द्वितीय राजवश के राजाओ की राजधानी रहा । थिस का एक नाम थिनिस भी था, इसी कारण दोनो राजवशो का नाम थिनिस राजवंश पडा ।

थिस कस्बा ऊपरी मिस्र के धुर दक्षिण मे था अत' इन राजवशो ने निचले मिस्र मे डेल्टा के समीप एक विशाल दुर्ग बनवाया। इसे बनाने के लिए एक बाँध द्वारा नील की धारा को मोडा गया। नील की इस धारा को श्वेत नील कहा जाता था अत इस दुर्ग के पास बने कस्बे का नाम श्वेत-दीवार रखा गया। छठे राजवश ने इसका नाम बदलकर मेन-नेफ्रूमायर रख दिया। इसे ही यूनानियो ने मेम्फिस कहा।

इस नगर से थोडी दूर पर रेगिस्तानी क्षेत्र मे एबिदोस के समीप 1899 की खुदाई मे इन राजवशो के राजाग्रो की कब्रो से इस काल की सभ्यता पर प्रकाश पडा। प्रथम राजवश के राजाग्रो की कब्रो का निर्माण लकडी से किया गया था, लेकिन दूसरे राजवंश के राजाग्रो की कब्रो मे लकडी के बजाय ईंटो का इस्तेमाल किया गया। इन कब्रो से अनेक राजाग्रो के नाम भी मिले, जैसे—नरमेर, अहा, जेर तथा अन्य। ऐसा अनुमान होता है कि मनेथो ने जिस प्रथम राजा को मेने नाम दिया वही नरमेर था। नरमेर को एक चपटे पत्थर की सिल पर उत्कीर्ण चित्र मे विजय-शोभायात्रा मे जाते हुए दिखाया है, उसके पीछे एक दास जलपात्र लिये हुए है तथा उसके भी पीछे पुरोहित दिखाये गये है। सबसे ऊपर गौ-देवी हैथोर का सिर प्रदर्शित किया गया है। पत्थर की इस सिल के दूसरी ओर लम्बा-तडगा नरमेर एक हाथ में गदा लिये हुए हैं तथा दूसरे हाथ से उसने शत्रु को बालो से पकड रखा है।

पुरातन-राजतन्त्र

तीसरे से छठे राजवश का शासन-काल पुरातन-राजतन्त्र कहलाता है। 2700 से 2200 ईसा पूर्व का यह काल पिरामिड-काल भी कहलाता है क्योकि इस काल मे मिस्र की सभ्यता के प्रतीक पिरामिड बनवाये गये। तीसरे राजतन्त्र के प्रथम राजा दिजोसेर (Djoser) के शासन-काल मे इमहोतेप नामक एक पुरोहित हुग्रा जिसने एक जादूगर, बुद्धिमत्तापूर्ण लोकोक्तियो के रचयिता, चिकित्सक और वास्तुविद के रूप मे ख्याति अर्जित की। उसने अपने राजा के लिए एक नये आकार-प्रकार की कब्र बनवाई जिसमे कब्र की सपाट छत पर सीढीनुमा पाँच त्रिकोण खडे किये गये। यह सक्कारा का सीढीदार पिरामिड है। इसकी ऊँचाई 190 फुट है और यह पत्थर से बना है। यही उन प्रख्यात पिरामिडो की शृखला का प्रथम पिरामिड है जिन्हे विश्व के सात महान् आश्चर्यों मे से एक माना जाता रहा है।

चौथे राजवश का राजा खूफू मिस्र की सभ्यता के उत्कर्ष काल का प्रतीक माना जाता है। उसके जमाने मे मिस्र एक खुशहाल देश था। उसने अपने शासनकाल मे मिस्र के सबसे महान् पिरामिड का निर्माण कराया। इसकी ऊँचाई 481 फुट है। इसमे पीले पत्थर के औसतन अढाई टन भार वाले 23,00,000 (तेईस लाख) पत्थर लगे हैं। इसके निर्माण मे बारी-बारी से वर्ष मे चार श्रमिक-समूह काम करते थे और प्रत्येक समूह मे एक लाख श्रमिक होते थे।

ज़ूफू का उत्तराधिकारी खाफ्रे हुआ। उसने दूसरा पिरामिड बनवाया—गिज़ा का विलक्षण पिरामिड। उसके पास ही उसने नृसिंह (Sphinx) के रूप में अपना स्मारक बनवाया जिसमें सिर खाफ्रे का है और काया शेर की। उसके चेहरे पर एक अजगर कुण्डली मारे दिखाया गया है। अजगर का फन राजा की भौंह के समीप है जो राजा के कोप का प्रतीक है।

पाँचवें और छठे राजवंशों ने अपने पिरामिडों के भीतरी मार्गों की दीवारों और कक्षों में शिलालेख खुदवाये जिनमें सूर्य देवता 'रे' का प्रदर्शन किया गया है। ये राजा फराओ (Pnaraoh) कहलाते थे। इनके जमाने में जीवन के नैतिक मार्गदर्शन और आचरण की पवित्रता पर बल दिया जाने लगा। पाँचवें राजवंश के महामन्त्री पिनाहहोतेप के नैतिक उपदेश पिरामिडों की भीतरी दीवारों पर खुदवाये गये और प्रजा में प्रचारित किये गये जिनमें घमण्ड, लोभ और हिंसा की निन्दा की गई है तथा सदाचरण की प्रशंसा। इससे बोध होता है कि इस काल के राजा शान्तिप्रिय और नैतिकतावादी थे। इनके पास सेना न थी और ये किसी पर आक्रमण नहीं करते थे। इनकी दिलचस्पी अपने राज्य की सभ्यता के विकास में ही रहती थी।

प्रथम अन्तर्वर्ती युग

इस युग में पाँच राजवंशों ने शासन किया—सातवें से ग्यारहवें। 2200 से 1989 ई पू का यह काल पुरातन राजतन्त्र के विघटन का काल था। कमजोर फराओ शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार चलाने में असमर्थ रहे। इपुवेर ने अपने गीतों में इस काल की अव्यवस्था का इस प्रकार वर्णन किया है—"देखो, जिनके पास दौलत थी वे रातों में प्यासे रह जाते हैं, जो बूँद-बूँद के लिए तरसते थे अब शराब के मटकों के मालिक बन गये हैं। जिनके पास शानदार वस्त्र थे वे चिथड़ों में हैं और जो अपने लिए तनिक-सा भी कपड़ा नहीं बुनते हैं अब उत्कृष्ट कोटि के वस्त्रों के स्वामी हैं।"[1]

इपुवेर कामना करता है कि इस आग को बुझाने के लिए एक आदर्श राजा का अवतरण होगा, वह मनुष्यों का रखवाला होगा। उसके हृदय में तनिक खोट न होगा और वह अपनी प्रजा को एकत्रित तथा संगठित करेगा।

यह स्वप्न ग्यारहवें राजवंश में साकार हुआ जब इतेफ और मेंतुहोतेप राजाओं ने व्यवस्था कायम की तथा केन्द्रीय सरकार को मजबूत बनाया। उनकी राजधानी थेबेस में थी जो मेम्फिस से 440 मील दक्षिण में नील के तट पर बना हुआ था।

मध्यवर्ती राजतन्त्र

इसका कार्यकाल 1989 से 1776 ई पू. है, तथा इसमें केवल बारहवें राजवंश ने शासन किया। इस राजवंश का प्रथम राजा अमेनेमहेत-प्रथम हुआ।

1 Quoted by *Jack Finegan* in Light from the Ancient Past, 1954, p 79.

इस वंश के राजा थेबेस के मूलवासी थे किन्तु उन्होंने अपनी राजधानी मेम्फिस और फायूम को बनाया। इन राजाओं ने अपने दो सौ वर्षों के राज्यकाल में नूबिया को दूसरे प्रपात तक जीत लिया, नील नदी को एक नहर द्वारा लाल सागर के साथ जोड दिया तथा सिनाई क्षेत्र में धातुओं की खुदाई एक स्थायी उद्योग के रूप में शुरू की।

राजा अमेनेमहेत की मृत्यु का समाचार पाकर उसका बेटा राजकुमार सेनवोसरेत लीबिया के साथ चल रहे युद्ध के मैदान से चुपचाप राजधानी लौटा और राजगद्दी पर बैठा। इस राजवंश के चतुर्थ राजा का नाम भी सेनवोसरेत था। वह सेनवोसरेत द्वितीय के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

द्वितीय अन्तर्वर्ती काल

1776 ई पू में पुन मिस्री राजतन्त्र की शक्ति का ह्रास आरम्भ हो गया जो 1570 ई पू तक चला जिसकी परिणति विदेशी शासकों की विजय में हुई। तेरहवें और चौदहवें राजवंश के राजा देश की एकता बनाये रखने में असफल रहे। पन्द्रहवें और सोलहवें राजवंशो के नरेश विदेशी हाइक्सोस (Hyksos) नस्ल के थे। इस प्रसंग का वर्णन करते हुए मेनेथो ने लिखा है कि, "तेरहवें राजवंश के राजा तूतीमेयस के राज्यकाल में न जाने किस कारण ईश्वर ने हमें दण्डित किया। सहसा पूर्व की ओर से किसी अज्ञात जाति के आक्रमणकारी हमारे ऊपर चढ आये और आत्मविश्वासपूर्वक हमारे देश को जीतते चले आये। अपनी मुख्य शक्ति के बल पर उन्होंने बिना किसी को चोट पहुँचाये हमारी भूमि पर अधिकार कर लिया, किन्तु हमारे शासको को वन्दी बना लेने के बाद उन्होंने हमारे शहरो को निर्दयतापूर्वक जला डाला, देवताओं के मन्दिरो को धराशायी कर दिया, तथा हमारे देशवासियो के साथ शत्रुता का बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया। अन्तत उन्होंने अपने में से एक को हमारा राजा बना दिया। उसका नाम सैलिटिस था।"[1] सैलिटिस ने मेम्फिस को राजधानी बनाया तथा नील की शाखा बुवेस्टाइट के पूर्व में अवारिस नगर को फिर से बसाया।

हाइक्सोस का अर्थ है राजा-चरवाहा। मिस्र की भाषा में इस शब्द का अर्थ होता है विदेशी शासक। हाइक्सोस लोगो ने 1700 ई पू के निकट मिस्र पर आक्रमण किया तथा लगभग 150 वर्ष तक उस पर शासन किया। ये मिश्रित नस्लो के लोग थे तथापि इनमें यहूदियो की प्रधानता थी।

उन्नीसवें राजवंश के जमाने के एक लेख में यह उल्लेख मिलता है कि थेबेस के राजकुमार सेकेनेनरे और अवारिस के हाइक्सोस राजा अपोफिस के बीच युद्ध छिड गया। हुआ यह कि राजकुमार सेकेनेनरो ने थेबेस में एक तालाब में दरियाई घोड़े पाल रखे थे जो रात को बुरी तरह चीखते थे। अवारिस से राजा ने राजकुमार के पास यह शिकायत भेजी कि उनकी चीख के कारण वह रात भर सो

1 *Manetho, Tr Waddell*, pp 79–81, Josephus, 'Against Apion' 1, 14.

नही पाता, और जब राजकुमार ने उनको वहाँ से नही हटाया तो युद्ध हुआ। मेकेनेनरे का सरक्षित शव देखने पर स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि उसके सिर मे पाँच गम्भीर घाव थे। उसकी मौत के बाद उसके बेटो कामोस और अहमोस ने हाइक्सोस शासको के विरुद्ध अपना सघर्ष जारी रखा। अहमोस ने हाइक्सोस आक्रमणकारियो को पूरी तरह मार भगाया। अहमोस ने उनसे अवारिस छीन लिया तथा उन्हे फिलिस्तीन तक खदेड दिया। उन्होने अन्तिम युद्ध शारुहेन मे लडा, अहमोस ने उनका दुर्ग छ वर्ष तक घेरे रखा तथा अन्त मे नष्ट कर दिया।

हाइक्सोस शासको के मिस्र से निष्कासन के बाद वहाँ नव-राजतन्त्र की स्थापना हुई, जिसकी नीव अहमोस ने रखी। अहमोस अठारहवें राजवश का प्रथम राजा बना।

नव-राजतन्त्र

अहमोस ने जिस नव-राजतन्त्र की स्थापना की वह बीसवें राजवश के काल तक चला। यह काल 1570 से 1150 ईसा पूर्व है। यह प्राचीन मिस्र की सभ्यता का चरमोत्कर्ष काल है। हाइक्सोस शासक अपने साथ रथ और घोडे लाये थे, जो अब मिस्र की सभ्यता का अग बने। रथो और घोडो के बल पर मिस्र के राजाओ ने अपने लिए दूर-दूर तक साम्राज्य का विस्तार किया। इसी कारण इसे साम्राज्य-काल भी कहा जाता है।

अठारहवाँ राजवंश

1546 ई पू के आस-पास अठारहवें राजवश तथा नव-राजतन्त्र के सस्थापक राजा अहमोस का देहान्त होने पर उसका बेटा अमेनहोतेप-प्रथम गद्दी पर बैठा। 21 वर्ष राज्य करने के बाद वह भी चल बसा और उसकी गद्दी पर तुतमोस-प्रथम बैठा जो अमेनहोतेप-प्रथम का दामाद था। तुतमोस-प्रथम और उसकी पत्नी की चार सन्तानो मे से केवल एक सन्तान जीवित बची थी—बेटी हातशेपसुत (Hatshepsut), अत वही राजगद्दी की सच्ची उत्तराधिकारी थी, लेकिन तुतमोस की एक अन्य रानी से एक पुत्र भी था जो गद्दी का दावेदार था। तुतमोस ने इस समस्या को सुलझाने के लिए हातशेपसुत का विवाह उसके सौतेले भाई के साथ कर दिया जो तुतमोस-द्वितीय के नाम से राजगद्दी पर बैठा। तुतमोस-द्वितीय मे शासक के गुण न थे अत हातशेपसुत ही उसके नाम पर राज करती रही। उसे मिस्र के प्राचीन इतिहास मे एक महान् शासक के रूप मे याद किया जाता है।

हातशेपसुत के कोई सन्तान न थी, लेकिन तुतमोस-द्वितीय अपने हरम की एक कन्या से एक पुत्र को जन्म दे चुका था, अत तुतमोस-द्वितीय की मृत्यु के बाद यही तुतमोस-तृतीय के नाम से मिस्र की राजगद्दी का दावेदार हुआ, लेकिन वह नाबालिग था अत शासन की बागडोर हातशेपसुत के हाथो मे ही रही। उसने स्वय को मिस्र का 'राजा' घोषित कर दिया। वह पुरुष-राजाओ जैसे वस्त्र पहनती और सिर पर मिस्र का राजमुकुट धारण करती। उसके दरबारी उसे 'ईश्वर की पत्नी' कहकर सम्बोधित करते थे। हातशेपसुत एक कठोर शासिका थी, और उसने अपने शासन-काल मे स्थापत्य के विस्तार की दिशा मे बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

तुतमोस-तृतीय—मिस्र के अठारहवे राजवंश के शासको ने फराओ कहलाना शुरू कर दिया था। वास्तव मे फराओ हिब्रू भाषा का शब्द है जिसका प्रयोग मिस्री-भाषा के पेर-ओ शब्द के लिए किया गया। पेर-ओ का अर्थ होता है महान् वंश अथवा कुल।

'राजा' हातशेपसुत की मृत्यु के बाद फराओ तुतमोस-तृतीय स्वतन्त्र रूप मे राज करने लगा, और वह विश्व के प्रथम साम्राज्य का संस्थापक बना। उसके मन मे हातशेपसुत के प्रति गहरा रोष था जिसने उसे दबाकर रख छोड़ा था और स्वयं राजा बनकर शासन कर रही थी, अतः उसने प्रत्येक स्मारक पर से हातशेपसुत का नाम मिटाने के आदेश दे दिये।

वास्तव मे मिस्र साम्राज्य की दागबेल फराओ तुतमोस-प्रथम ने ही डाल दी थी। उसने अपनी सेना के बल पर दक्षिण मे नूबिया तक और उत्तर-पूर्व मे फरात नदी तक साम्राज्य का विस्तार कर लिया था। उसके बाद उन प्रदेशो मे विद्रोह भडक उठने के कारण उन पर मिस्र की पकड ढीली पडती जा रही थी। फिलिस्तीन, सीरिया और तटवर्ती मैदानो के केनानाइट लोगो ने मिस्र से खदेडे गये हाइक्सोस लोगो के साथ मिलकर एक परिसंघ की स्थापना कर ली थी और मेगिड्डो के दुर्ग पर अपना नियन्त्रण सुदृढ कर लिया था। यह दुर्ग मिस्र से फरात के मार्ग पर पडता था।

तुतमोस-तृतीय को जब यह मालूम हुआ तो उसने बिना किसी पूर्व सूचना के इस दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। उसकी सेना कारमेल पहाडी के एक संकरे से दर्रे के रास्ते दुर्ग की ओर बढी। वह स्वयं सेना की अगुवाई कर रहा था। रथ पर सवार तुतमोस-तृतीय शस्त्रास्त्र से लैस था। उसके शत्रु उसकी मार न झेल पाये और अपने सोने-चाँदी से मढे रथ और उनमे जुते बलिष्ठ घोडे छोड़कर भाग निकले। कुछ समय तक तो मिस्र की सेना लूट का माल बटोरने मे लगी रही, लेकिन शीघ्र ही राजा ने उसको पुनर्गठित कर लिया। अन्ततः उसने मेगिड्डो दुर्ग को घेर लिया तथा शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर ली।

इसके बाद अगले सोलह वर्षों तक वह हर बार गर्मियो मे सेना लेकर निकल पडता और इस तरह उसने अपना साम्राज्य फरात नदी तक विस्तृत कर लिया। यह एक वास्तविक और विश्व का सर्व प्रथम ज्ञात-साम्राज्य था। उसकी प्रशंसा मे उसके दरबारी कवि ने एक स्तुति की रचना की जिसमे अमेन-रे (सूर्य) देवता उससे कहते हैं—

"मैंने तुझे दी है शक्ति और विजय सभी देशो से बढकर,
मैंने फैलायी है प्रतिष्ठा तेरी, और फैलाया आतंक भी तेरा सर्वत्र,
धाक है तेरी स्वर्ग के चारो खंभो तक,
मैंने झुका दिया है शत्रुओ को तेरे, तेरी जूतियो के तले।"

अमेनहोतेप-द्वितीय—फराओ तुतमोस-तृतीय के बाद उसका बेटा अमेनहोतेप-द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठा। वह एक कुशल तैराक, नाविक,

घुड़सवार और तीरन्दाज था। उसकी गौरवगाथा गिजा के महान नृसिंह (Sphinx) के समीप खुदाई में मिले एक शिलालेख से प्राप्त हुई है। उस पर खुदा है—"और वह अवतरित हुआ तथा उसने निम्न कार्य किये, जिनकी ओर मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ। वह अपने उत्तरी उद्यान में प्रविष्ट हुआ और उसने देखा कि वहाँ उसके लिए तीन-तीन इंच मोटे ताँबे के चार लक्ष्य लगे हुए हैं। उनमें से प्रत्येक के बीच लगभग 35 फुट की दूरी थी। तब वह मोन्टू (युद्ध के देवता) सरीखे रथ पर सवार होकर प्रकट हुआ। उसने अपने एक हाथ में धनुष थामा और दूसरे हाथ से प्रत्यंचा पर एक साथ चार तीर चढ़ाये। वह अपने रथ पर उत्तर दिशा की ओर चला और उसने चारों लक्ष्यों पर अपने तीरों का संधान ऐसे किया मानो साक्षात् रणदेवता मोन्टू अपने राजवेश में उपस्थित हुए हों। उसके तीर पीछे की ओर से आरे और उसने ताबे के चारों निशानों को बराबादी कर दिया। इससे पहले ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा गया था। हमारे सम्राट् ओखेप्रूरे (अमेनहोतेप-द्वितीय) को अमेन देवता (सूर्य) ने मोन्टू जैसी शक्ति और वीरता प्रदान की है।"[1]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ईसा-पश्चात् 1898 में जब इस सम्राट् की ममी (सुरक्षित शव) प्राप्त हुई तो उसका वह धनुष उसके समीप रखा हुआ था। उस पर खुदा था, "गुफाओं के निवासियों पर प्रहार करने वाला, कुश पर विजय प्राप्त करने वाला, उनके नगरों को नष्ट करने वाला—मिस्र का महान् प्राचीर (रक्षक) और उसके (राजा के) सैनिकों का संरक्षक।"[2]

इसके बाद उसका बेटा थुतमोस-चतुर्थ के नाम से राजा बना। वह भी प्रतापी सम्राट् था। थेबेस में मिली सेबेक्होतेप की कब्र के भित्ति-चित्रों में उसके दरबार में सीरिया के राजदूत का आगमन, झुककर प्रणाम करना और भेंट अर्पित करना दर्शाया गया है।

अमेनहोतेप-तृतीय—थुतमोस-चतुर्थ का बेटा अमेनहोतेप-तृतीय मिस्र का प्रतापी राजा हुआ। उसने 1431 से 1377 ई० पू० तक मिस्र पर शासन किया। उसे महान् (The Magnificent) की पदवी से विभूषित किया जाता है। इस फराओ के काल में मिस्र की सभ्यता अपने चरम शिखर पर जा पहुँची। स्थापत्य की दृष्टि से यह एक महान् काल था। इस काल में साम्राज्य का विस्तार तो नहीं हुआ लेकिन इसको पूरी तरह सुरक्षित रखा गया और राजकाज को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया गया।

अमेनहोतेप-चतुर्थ (अखनातन)—अमेनहोतेप-तृतीय बुढ़ापे में बहुत बीमार रहने लगा था अतः उसने राजकाज में मदद करने के लिए अपने बेटे अमेनहोतेप

1 *Steindorff & Seele*: 'When Egypt Ruled The East', p. 69.

2 Th' Nat.onal Geographic Magazine, 43 (Jan.-June, 1923), p 488

चतुर्थ को अपना सह-शासक नियुक्त किया। उसकी मृत्यु के बाद वह मिस्र का गौरवशाली सम्राट् बना।

इस फराओ का गौरव लडाई के मैदान में नही वरन् धर्म और कला के क्षेत्र मे व्यक्त हुआ। उसके पिता के अन्तिम दिनो मे ही फिलिस्तीन, सीरिया और राज्य के उत्तरी प्रान्तो मे विद्रोह की चिनगारी सुलगने लगी थी, लेकिन उसे दबाने और साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए उसने कुछ न किया। उसने साम्राज्य को बिखर जाने दिया।

वह एक आदर्शवादी और महान कलाकार था। कुछ लोग तो उसे सनकी मानते है। तथापि, उसके आदर्श इतने महान् थे और उसका दर्शन इतना उन्नत कि वह "मानव जाति के इतिहास मे प्रथम मानव" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1]

वह सूर्य देवता—अतन का परम भक्त था, और उसने अपना नाम अमेनहोतेप से बदलकर अखनातन रख लिया। अखनातन शब्द का अर्थ है—सूर्य देवता सन्तुष्ट हैं। उसने अपने लिए पावन-नगरी बसाई जिसका नाम रखा—अखनातन अर्थात् अतन (सूर्य) का क्षितिज।

मिस्र के लिए यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण रहा कि अखनातन जहाँ एक महान् दार्शनिक था वही वह एक सुयोग्य प्रशासक और राजपुरुष न था। जिन दिनो वह मिस्र को एक सुव्यवस्थित धर्म और दर्शन प्रदान कर रहा था उन्हीं दिनो मिस्र का साम्राज्य विघटित हो रहा था। स्वय मिस्र मे भी असन्तोष और प्रतिरोध का जन्म होने लगा था।

तैल-अल-अमर्ना में एक मिस्री महिला को सयोगवश मिट्टी की स्लेटो पर खुदे हुए बहुत से दस्तावेज मिल गये जिन पर अखनातन तथा उसके पूर्ववर्ती सम्राट् से साथ सीरिया और फिलिस्तीन के मिस्री गवर्नरो का पत्र-व्यवहार है। हालांकि इस पत्र-व्यवहार की बहुत सी कड़ियाँ लुप्त हैं तथापि उससे यह सकेत अवश्य मिलता है कि इन दोनो देशो मे षडयन्त्र हो रहे थे तथा बाहर से आक्रमण भी। वहाँ के सैनिक-गवर्नर मिस्र से सैनिक सहायता माँग रहे थे लेकिन यहाँ तो सम्राट् धर्म और दर्शन की गहराइयो मे व्यस्त था। उनकी सहायता नही की जा सकी। बेरुत के बीस मील उत्तर मे बाइब्लस अथवा गुबला के गवर्नर रिब-अद्दी ने मिस्र के राजा को पचास से अधिक बार सैनिक सहायता के लिए लिखा। एक पत्र मे वह लिखता है—

"रिब-अद्दी की ओर से सम्राट् की सेवा मे····
मेरे स्वामी मेरे सूर्य के चरणो मे
मैं गिरता हूँ सात बार और पुन. सात बार····
सम्राट् ने जाने दिया है अपने वफादार नगर को
अपने हाथों से····

1 *Breastead* · A History of The Ancient Egyptians, p. 265.

उन्होंने (शत्रुओं ने) रच लिया है षड्यन्त्र परस्पर,
अत मुझे है भय कि रक्षा करने वाला मेरा नहीं है कोई भी—
उनके हाथों से।
एक पक्षी की तरह
जो कैद हो किसी जाल में
रह रहा हूँ मैं गुब्ला में।
अपने साम्राज्य की ओर से आप हो गये हैं क्यों उदासीन ?
ध्यान दें कृपया, लिखता रहा हूँ मैं इसी तरह राजमहल के नाम पत्र
पहले भी—
किन्तु नहीं दिया है ध्यान आपने मेरे शब्दों पर · ·
ईश्वर करे समाट् का ध्यान जाये उसके साम्राज्य की ओर···
क्या कर सकता हूँ मैं निपट अकेला ?
देखिये, इसी तरह करता हूँ याचना
मैं दिन रात।

उत्तरी सीरिया के गवर्नर ने भी ट्यूनिप की व्यथा का इसी प्रकार वर्णन किया है। येरूशलम के गवर्नर अबदी-हिबा ने अखनातन को बार-बार लिखा कि उसकी मदद के लिए मिस्री सेना भेजी जाये और यदि ऐसा न किया गया तो वह प्रदेश मिस्र साम्राज्य के हाथों से निकल जायेगा। उसने बहुत ही करुण स्वर में सम्राट् से साम्राज्य की ओर ध्यान देने की याचना की, लेकिन सम्राट् के कानों में दैवी संगीत गूँज रहा था, और वह अपने दैवी-ध्यान में निमग्न साम्राज्य की ओर से सर्वथा उदासीन हो गया था।

अखनातन निपुत्री था, इसलिए उसके बाद उसका दामाद तूतनखातन उसका उत्तराधिकारी बना। उसने अखनातन के नये धर्म और उसकी पावन नगरी दोनों का परित्याग कर दिया। वह थेबेस लौट गया और अमुन के पुराने देवता की उपासना करने लगा। उसने अपना नाम तूतनखातन (अतन जीवन में सुन्दर है) से बदल कर तूतनखामुन (सुन्दर है जीवन में अमुन) रख लिया। वह बहुत थोड़े दिन जिया और अठारह वर्ष का होकर मर गया। उसे ख्याति मिली उसकी कब्र के कारण जो सुरक्षित बच गई थी और जिसे लुटेरे हाथ नहीं लगा पाये थे। 1922 में यह कब्र होवार्ड कार्टर ने खोजी। उसमें से सोने का ताबूत, सोने के सिंहासन और तरह-तरह के जवाहरात प्राप्त हुए। यह कब्र ही तूतनखामुन की प्रसिद्धि का कारण बनी।

उन्नीसवाँ राजवंश

तूतनखामुन के बाद कुछ समय तक तो अनिश्चितता रही लेकिन कुछ समय बाद ही हरमहाब नामक सेनापति ने सत्ता सम्भाल ली और वह उन्नीसवें राजवंश का संस्थापक बना। हरमाहाब किसी समय में राजदरबार में क्लर्क था। वह एक

कुशल प्रशासक और प्रतिभाशाली राजपुरुष था। उसने ढहते हुए मिस्री साम्राज्य को सम्भालने की कोशिश की। हरमहाब के कोई बेटा न था अत उसकी मृत्यु के बाद उसके एक सेनापति का बेटा गद्दी पर बैठा जो उम्र मे काफी बूढ़ा था। उसने अपना नाम रैमेसेस-प्रथम रखा। 1319 ई पू मे उसका देहान्त हो गया और उसका बेटा सेथी-प्रथम गद्दी पर बैठा।

सेथी-प्रथम—सेथी-प्रथम मिस्र के साम्राज्य का उद्धारक बन गया। वह स्वय सेना लेकर फिलिस्तीन, सीरिया, पेकेनान, रेतेनू और कादेश गया, तथा उसने वहाँ विद्रोह का दमन किया। एक लेख मे सम्राट् की मिस्र-वापसी का उल्लेख है। उसमे कहा गया है कि "महामहिम देशो से लौट आये है—उन्होने रेतेनू को पराजित कर दिया और उनके सरदारों को मार डाला तब एशियावासी कह उठे, "यह देखो, वह उस अग्निशिखा की भाँति है जो उठती ही जाती है और जिसे पानी भी नही बुझा सकता।"[1]

रैमेसेस-द्वितीय—सेथी-प्रथम के बाद रैमेसेस-द्वितीय सिंहासन पर बैठा। उसका काल 1301 1234 ई पू माना जाता है। उसे अपने 67 वर्ष के शासनकाल मे पूरे समय साम्राज्य की रक्षा के लिए युद्ध करना पड़ा और वह बडी मुश्किल से हिट्टाइटो से आत्मरक्षा कर पाया। लेखो मे उसकी वीरता का प्रचुर उल्लेख मिलता है। अत उसे हिट्टाइटो के राजा के साथ शान्ति और बन्धुत्व की सन्धि करनी पडी जिसके अनुसार दक्षिणी सीरिया और समूचा फिलस्तीन मिस्र के कब्जे मे रह गया। यह सन्धि मानव जाति के इतिहास मे अभी तक उल्लिखित प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-निषेध-सन्धि है। इस सन्धि को मजबूत बनाने की दृष्टि से हिट्टाइट राजवश की राजकुमारी का विवाह रैमेसेस-द्वितीय के साथ किया गया।

मेरेनपिताह—रैमेसेस-द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका बेटा मेरेनपिताह राजा बना। वह उस समय अधेड़ हो चुका था। उसे लीबिया और भूमध्यसागरीय जातियो के साथ सघर्ष करना पडा। वे पश्चिमी डेल्टा मे घुसने की कोशिश कर रहे थे। मेरेनपिताह को फिलिस्तीन मे भी कठोर सघर्ष करना पड़ा। उसने अपनी विजय के उपलक्ष्य मे ग्रेनाइट की एक शिला पर अपनी कीर्तिगाथा खुदवाई जिसमे कहा गया है—

"शत्रु राजा धरती पर आ गिरे हैं और शान्ति की पुकार कर रहे हैं, किसी की मजाल नही है जो सिर उठा सके। लीबिया नष्ट हो चुका है, खत्तो शान्त हो गया है, कैनान की भूमि पूरी तरह तबाह हो गई है, एसकेलोन को बन्दी बना लिया गया है, गेजेर को जीत लिया गया है, यनोम ऐसा हो गया है मानो उसका अस्तित्व ही न हो। इजरायल के लोग अकेले पड गये है, वे नि सतान हो चुके है। फिलिस्तीन (खुरू) मिस्र की खातिर विधवा हो गई है।

1 *J H. Breasted* · Ancient Records of Egypt, 5 Vols., 1906–1907.

समस्त प्रदेश शासन साम्राज्य से मिला लिए गए हैं। जो कोई अशान्ति पैदा करता है उसे सम्राट् मेरेनपिताह के प्रति प्रतिबद्ध कर दिया जाता है और सूर्य की भाँति प्रतिदिन जीवन किया जाता है।"[1]

बीसवाँ राजवंश

मेरेनपिताह के देहान्त के बाद मिस्र के सिंहासन के लिए घोर संघर्ष चला और अव्यवस्था व्याप्त रही किन्तु अन्त में एक सेनापति सेथनाख्त ने गद्दी पर कब्जा कर लिया और बीसवें राजवंश की नींव डाली। उसने साम्राज्य में शान्ति और व्यवस्था कायम की तथा अपने बेटे रैमेसेस-तृतीय के लिए एक स्थिर और सुदृढ़ साम्राज्य छोड़ा।

रैमेसेस-तृतीय—अपने पूर्ववर्ती मिस्री शासकों की भाँति रैमेसेस-तृतीय को भी मिस्र-साम्राज्य की रक्षा के लिए परिश्रम करना पड़ा। पश्चिम और उत्तर की ओर से निरन्तर दबाव बना हुआ था। उसके शत्रु मुख्यतः 'पैलेस्टे' थे जो समुद्री शक्ति बन चुके थे तथा उनमें से कुछ फिलिस्तीन में रहते थे। रैमेसेस-तृतीय अपने शत्रुओं को अपनी सीमाओं से खदेड़ने में सफल रहा और उसने उसकी स्मृति में अमन देवता का एक मन्दिर थेबेस के मैदान में बनवाया जिसे आजकल मेदीनेत हाबू कहा जाता है। मन्दिर की दीवारों पर उसने अपनी शौर्यगाथा उत्कीर्ण और चित्रित करायी।

उसके बाद आने वाले इस राजवंश के राजा कमजोर सिद्ध हुए। वे रैमेसेस नाम को सार्थक नहीं कर सके और मिस्र की सभ्यता के लिए यह दुःखद ही माना जायेगा कि उनके शासनकाल में मिस्र का साम्राज्य पतन की ओर उन्मुख हो गया।

मिस्र का पतन
(1150 से 332 ई. पू.)

इक्कीसवें राजवंश के साथ ही मिस्र का पतन आरम्भ हो गया और तीसवें राजवंश के जमाने में वह एक राजनीतिक यथार्थ बन गया। इस राजवंश के जमाने में राजा अपनी राजधानी तानिस में रहा और थेबेस में अमुन देवता का पुरोहित वास्तविक रूप से ऊपरी मिस्र का शासक बन गया। धीरे-धीरे यह राजवंश 924 ई पू में समाप्त हो गया, और लीबियन नस्ल के एक सैनिक हेराक्लियोपोलिस ने इसके हाथों से राजगद्दी छीनकर बाईसवें राजवंश की नींव डाली। वह स्वयं फराओ बन गया तथा उसने अपना नाम रखा शेशोंक-प्रथम। वह नील के पूर्वी डेल्टा में बसे बुबास्तिस नगर में अपने निवास से ही राजकाज चलाने लगा। वह इतना अधिक सशक्त हो गया कि उसने फिलिस्तीन पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की। उसने फिलिस्तीन के 156 नगर जीते। इस राजा की कब्र की खोज 1938-39 में हुई। उसका शव सोने के कवच में पूरी तरह सुरक्षित मिला।

1 Quoted by *Jack Finegan* in Light from the Ancient Past, 1954, p 105

शेशांक राजवश लगभग दो सौ वर्षों तक चला, हालांकि इस काल मे देश मे सामन्तवाद पनप चुका था और देश की एकता नष्ट होती जा रही थी । ऊपरी मिस्र भी दो प्रमुख भागो मे विभाजित हो चुका था—थेबेस-शासित और हेराक्लियोपोलिस-ासित ।

अगले दो राजवश बुरी तरह विभाजित और कमजोर सिद्ध हुए, तथा उनके जमाने मे मिस्र के विघटन मे तेजी आ गयी । पच्चीसवाँ राजवश इथियोपिया के राजाओ ने स्थापित किया । इनमे शवक (711 से 699 ई. पू), शवटक (699 से 689 ई पू) और तहरका (689 से 663 ई पू) प्रसिद्ध हैं । इन राजाओ का सारा समय असीरिया के शासको द्वारा किये जाने वाले आक्रमणो का सामना करने मे बीत गया जो लगातार आगे बढते जा रहे थे । तहरका मेम्फिस खो देने के बाद ईसारहैद्दन के हाथो पराजित हो गया तथा उसे भागकर इथियोपिया मे शरण लेनी पडी । शवक का बेटा तनतमुन कुछ समय तक मिस्र पर अधिकार बनाये रखने मे सफल रहा लेकिन वह भी जल्दी ही पराजित हो गया तथा उसे थेबेस तक लौट आना पडा जहाँ असीरियाई सेना ने अपने राजा असुरबनीपाल के नेतृत्व मे मिस्र की शानदार राजधानी को रौंद डाला और जी भरकर लूटा ।

इसी बीच जब साईस के पिसामतिक-प्रथम (633 से 609 ई पू) ने देखा कि असीरियाई सेना बेबीलोन और ईलम के अभियानो मे व्यस्त हो गयी है तो उसने छब्बीसवे राजवश की नीव डाली और मिस्र मे केन्द्रीय शासन की पुन स्थापना की । उसके काल मे मिस्र मे फिर से स्वदेशी शासन की स्थापना हुई तथा शान्ति और समृद्धि लौट आयी । उसने आक्रमणकारी सिथियनो को फिलिस्तीन मे ही पराजित कर दिया । साई राजवश के जमाने मे मिस्र ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे पहल की और उदीयमान राष्ट्र यूनान के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए ।

नेको—मिसामतिक के बाद उसका बेटा नेको (Necho) राजा बना और उसने फिलस्तिया पर आक्रमण करके गाजा तथा अश्केलोन पर कब्जा कर लिया । मेगिड्डो के ऐतिहासिक मैदान मे उसकी मुठभेड जोसिया के मुट्ठी भर सैनिको के साथ हुई, जिन्हे उसने काट डाला और अपने पूर्ववर्ती फराओ की तरह फरात नदी की घाटी तक विजय का डका बजाता चला गया । लेकिन मिस्र के लिए एशिया मे एक नया साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न शीघ्र ही खडित हो गया । बेबीलोन के राजा का बेटा राजकुमार नेबूचैडनेजर, जो शीघ्र ही अपने देश का राजा बन गया, 605 ई पू मे कार्केमिश के मैदान मे नेको से भिड गया और उसने नेको की सेना को पूरी तरह नेस्तनाबूद कर दिया । इसके बाद नेको ने अपना ध्यान मिस्र पर ही केन्द्रित रखा ।

नेको के बाद उसके पिसामतिक-द्वितीय ने भी स्वय को मिस्र तक ही सीमित रखा । उसके बेटे एप्रीज (होफ्रा) ने फिलिस्तीन पर नेबूचैडनेजर के आक्रमण का सामना किया जिसमे वह हार गया और येरूशलम उसके हाथो से निकल गया ।

नेबूचैडनेजर ने अगले राजा अमासिस के काल मे मिस्र पर चढाई की। अमासिस के जीवन के अन्तिम दिनो मे फारस देश मे सायरस-महान् का अभ्युदय हुआ। अमासिस के बेटे पिसामतिक-तृतीय को राज सम्भाले चन्द ही महीने बीते थे कि सायरस के बेटे तथा उत्तराधिकारी केम्बिसेस-द्वितीय ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया तथा 525 ई पू मे वह पेलूसियम में उसके हाथो पराजित हो गया।

सत्ताईसवें से तीसवें राजवंश के शासनकाल मे मिस्र फारस के अधीन रहा। 332 ई पू मे सिकन्दर महान् ने मिस्र पर विजय प्राप्त कर ली। 323 ई पू मे उसकी मृत्यु के बाद मिस्र पिटोलेमी राजवंश के हाथो मे रहा तथा 30 ई पू मे साम्राज्ञी क्लियोपेट्रा की मृत्यु के बाद आक्टेवियन की अधीनता मे रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत एक प्रान्त बन कर रह गया। इस प्रकार मिस्र की पाँच हजार वर्ष पुरानी सभ्यता का अन्त हो गया।

राजनीतिक चिन्तन और संस्थाएँ

मिस्र की सभ्यता के प्रागैतिहासिक काल को छोड दें तो शेष तीन हजार वर्षों मे राज्य के अन्तर्गत शासन और प्रशासन के क्षेत्र मे गहन चिन्तन और विकास हुआ, जिसका क्रमबद्ध इतिहास तो उपलब्ध नही है लेकिन समय-समय पर राजाओ द्वारा तैयार कराये गये शिलालेखो, भित्तिचित्रो और कब्रो आदि के भीतर मिले साक्ष्यो से यह बोध होता है कि इन तीन हजार वर्षों मे राजनीतिक चिन्तन तथा राजनीतिक संस्थाओ के क्षेत्र मे मिस्र काफी विकसित था।

प्राचीन मिस्र की राजनीतिक व्यवस्था पहले से निश्चित किये गये किसी राजनीतिक चिन्तन के अनुसार नही गढी गयी थी। मिस्र की सभ्यता का प्रारम्भिक युग मानवीय सभ्यता के उदय का युग था जिसमे भाषा, लिपि और चिन्तन सब धीरे-धीरे विकसित हुए। वास्तव मे मिस्र का राजनीतिक चिन्तन उसकी राजनीतिक संस्थाओ के बारे मे प्राप्त जानकारी के आधार पर निकाला गया निष्कर्ष ही हो सकता है।

कबायली सरदार या सामन्त

यह वह युग था जब मिस्र प्रागैतिहासिक सभ्यता से निकल कर एक नई सभ्यता के युग मे प्रवेश कर रहा था। उस समय राज्य और राष्ट्र की अवधारणाएँ आज की तरह विकसित न थी, उनका धीरे-धीरे विकास हुआ। शुरू मे लोग कबीलो मे रहते थे तथा कबीलो के सरदारो को कबीले का सर्वाधिकारी माना जाता था। धीरे-धीरे ये सरदार कबीले की भूमि के स्वामी भी माने जाने लगे और सरदार से सामन्त भी बन गए।

दूसरी ओर मिस्र वास्तव मे एक राज्य न था। उत्तरी (निचला) मिस्र और दक्षिणी (ऊपरी) मिस्र दो अलग राजनीतिक-इकाई थे। इनके नाम नील नदी के बहाव की दृष्टि से रखे गए थे—ऊपरी मिस्र नील नदी के ऊपरी भाग से और निचला मिस्र नील नदी के निचले अथवा अन्तिम चरण से बना था।

इन दोनो के पृथक् अस्तित्व की चेतना अन्त तक बनी रही। इसका प्रमाण यह तथ्य है कि मिस्र का सार्वभौम राजा जिस महल मे रहता था उसमे दो मुख्य द्वार होते थे। ये मिस्र के दोनो भागो के प्रतिनिधि थे। इतना ही नही, मिस्र का राजा सिर पर ऐसा मुकुट पहनता था जिसमे ऊपरी मिस्र के हैलमेट और निचले मिस्र के मुकुट का सम्मिश्रण था।

तीन स्तरीय शासन

मिस्र की शासन-व्यवस्था तीन-स्तरो पर चलती थी। सबसे निचले स्तर पर लगभग 54 क्षेत्र अथवा जिले थे जो दोनो भागो मे विभाजित थे। प्रत्येक क्षेत्र एक सामन्त अथवा सरदार के नियन्त्रण मे रहता था। ये सामन्त अथवा सरदार अपने प्रदेश के राज्यपाल अथवा गवर्नर के अधीन रहते थे।

बीच के स्तर पर मिस्र के निचले और ऊपरी भागो के शासक थे जिन्हे राज्यपाल या गवर्नर भी कहा जा सकता है। अन्त मे, सबसे ऊपर मिस्र का राजा अथवा फराओ होता था जो मिस्र का सार्वभौम शासक था।

वास्तव मे मिस्र की शासन-व्यवस्था फराओ की शक्ति पर निर्भर रहती थी। यदि फराओ शक्तिशाली होता तो प्रान्तो के गवर्नर फराओ के प्रतिनिधि के रूप मे काम करते और यदि फराओ कमजोर होता तो वे स्वच्छन्द हो जाते तथा फराओ उनका मुँह जोहने लगता।

यह एक परिसघात्मक व्यवस्था थी, लेकिन इसमे राजा के प्रति जनता की आस्था राज्य की एकता बनाये रखने मे बहुत मदद करती थी। फराओ को ईश्वर का रूप माना जाता था। आम जनता फराओ से पूरी तरह कटी रहती थी। फराओ अपने गवर्नरो सामतो और सरदारो तथा सेनापतियो के द्वारा शासन करता था।

परिसघात्मक व्यवस्था

प्राचीन मिस्र मे केन्द्रीय सरकार राष्ट्र के समूचे प्रशासन मे हस्तक्षेप नही करती थी। प्रशासन की वास्तविक सत्ता जिलो अथवा नोम (Nome) के प्रशासको के पास थी जिन्हे प्रथम अधिकारी कहा जाता था। ये अधिकारी जनता पर कर लगाते, कर वसूल करते और न्यायाधीश के रूप मे भी काम करते थे। ऊपरी मिस्र मे बीस नोम थे, जिनके अधिकारी एक गवर्नर के अधीन होते थे और गवर्नर फराओ अथवा राजा के प्रति उत्तरदायी होता था।

फराओ का केन्द्रीय शासन मुख्यत तीन काम करता था—प्रान्तो के गवर्नरो के मार्फत नोम-अधिकारियो से राजस्व वसूल करना, सेना का सगठन और साम्राज्य के अन्तर्गत मिस्र से बाहर के प्रदेशो के गवर्नरो से सम्पर्क, उन पर नियन्त्रण तथा उनसे धन प्राप्त करना।

राजा अथवा फराओ

राज्य का केन्द्र बिन्दु राजा अथवा फराओ होता था। वह धरती पर परमात्मा का रूप और प्रतिनिधि तो था ही, राज्य का प्रधान पुरोहित भी होता

था। मृत्यु के बाद वह देवता के रूप मे पूज्य बन जाता था, उसके मन्दिर बनाये जाते और इन्हे पिरामिड कहा जाता। इन पिरामिडो मे फराओ के लिए सब प्रकार की भोग-विलास की सामग्री, सम्पदा, सोना, बहुमूल्य आभूषण और राज्य के रेकार्ड, दस्तावेज तथा पुस्तकालय भी रखे जाते। फराओ के शव को रासायनिक लेपो द्वारा सुरक्षित रखा जाता, जिन्हें ममी कहा गया। मिस्र की खुदाइयो मे तीन हजार वर्ष पुराने शव भी इतने सुरक्षित निकले हैं कि उन्हे देखकर यह नही कहा जा सकता कि ये शव हैं। वे ऐसे सजीव और सुरक्षित हैं कि आने वाले सहस्रो वर्षों तक उनका कुछ नही बिगडेगा।

फराओ अपने अत पुर (हरम) मे असख्य स्त्रियो को रख सकता था, किन्तु उसकी पत्नी एक ही होती थी जो राजमहिषी मानी जाती थी तथा जिसकी सन्तान राजगद्दी की उत्तराधिकारी होती थी। फराओ का अत.पुर सैनिको की पूरी चौकसी मे रहता। राजमहल पर कडा पहरा रहता था। उसके अनेक खण्ड होते थे, उसके एक भाग मे वरिष्ठ राजकीय अधिकारी, जैसे—प्रधानमन्त्री (वजीर), प्रधान सेनापति और राजस्व अधिकारी तथा कोषाध्यक्ष रहते थे।

राजा अपने राज्य का प्रमुख न्यायाधीश और विधि-निर्माता भी था। उसका शब्द कानून होता था, लेकिन कोई भी समझदार फराओ अपने सरदारो और सामतो की सलाह के बिना कोई आदेश जारी नही करता था। उसके सरदार, नोम-अधिकारी, प्रान्तीय गवर्नर और मिस्र से बाहर साम्राज्य के विदेशी प्रदेशो के गवर्नर फराओ के सामने सात बार साष्टाँग प्रणाम करते थे तथा उसे भेंट देते थे। ...य के अन्तर्गत विदेशी राज्यो के शासक अथवा सरदार या व्यापारी जब ...ओ से भेंट करते तो उसे बहुमूल्य उपहार देते थे जो राजकोष मे जमा किये जाते थे। फराओ को राजकोष मे से उसके खर्च के लिये धन मिलता था, यह व्यवस्था राजस्व अधिकारी के हाथ मे थी।

फराओ सामान्यतया विलासी तो न होते थे, लेकिन काफी शान-शौकत से रहते थे। वे अपने राजकुमारो को बचपन से ही अलग रखते और उन्हे राज्य सचालन तथा शस्त्राभ्यास की शिक्षा देते थे जिससे वे आगे जाकर साम्राज्य की रक्षा कर सकें। अनेक फराओ स्वय शस्त्र उठाकर लीबिया, नूबिया और अरब देश मे फरात नदी-घाटी तक गये और दिग्विजय करके लौटे।

राजमहलो मे गुलाम भी रहते थे। ये इथियोपिया से लाये गये नीग्रो होते थे। गुलाम होने के बावजूद इन पर अत्याचार नही किया जाता था वरन् उनके साथ प्राय वैसा ही व्यवहार किया जाता था जैसा कि राज्य के मिस्री प्रजाजनो के साथ।

प्रधानमन्त्री

अनेक फराओ राजवश के ही किसी योग्य व्यक्ति को अपना प्रधानमन्त्री नियुक्त करते थे, जिसे प्रशासन और न्याय विभाग मे काफी महत्त्वपूर्ण अधिकार

प्राप्त होते थे। वास्तव मे, इस बारे मे, कोई सांविधानिक नियमावली या प्रक्रिया न थी, यह फराओ की मर्जी पर निर्भर करता था कि वह किस व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नियुक्त करे और उसे कितने अधिकार दे। कुछ फराओ ऐसे भी हुए जिन्होने प्रधानमन्त्री का कार्य स्वय ही किया, कुछ ने अपने पुरोहित को यह पद सौपा और कुछ ने अपने प्रमुख स्थापत्य-विद को। किसी फराओ ने अपने प्रधान सेनापति को अथवा प्रान्तीय गवर्नर को भी प्रधानमन्त्री के कार्य सौपे।

राजा अथवा फराओ का दरबार ही उसका मन्त्रि-मण्डल होता था, उसमे राजस्व-अधिकारी, कोषाध्यक्ष, सेनापति, प्रधानमन्त्री, वास्तुविद, स्थापत्य-अधिकारी, पुरोहित, प्रान्तीय गवर्नर तथा सरदार और सामत होते थे। राजदरबार मे राजमहिषी का प्रमुख स्थान रहता था। कोई-कोई फराओ अपने उत्तराधिकारी को भी राज-दरबार में महत्त्वपूर्ण स्थान और प्रशासन की प्रमुख जिम्मेदारी सौंपते थे। राजा के नाबालिग होने पर राजमहिषी अथवा राज्य के किसी प्रमुख अधिकारी को सरक्षक (रीजेंट) नियुक्त किया जाता था।

मध्यवर्ती राजतन्त्र के जमाने मे प्रशासन का तन्त्र अधिक विकसित हो गया था। विशेषत चुंगी, तटकर और नूबिया, लालसागर की तटवर्ती तथा सिनाई की खदानो से होने वाली आय केन्द्रीय राजकोष मे जमा होती थी। इस काल मे प्रशासन के कर्मचारियो की सख्या बहुत व्यापक हो गई थी, तथा गबन करने वाले या रिश्वत लेने वाले कर्मचारियो को कठोर दण्ड दिया जाता था। राज्य मे स्थायी सेना का निर्माण हो गया था तथा सैनिक राज्य के कर्मचारी होते थे। युद्धकाल मे प्रान्तो से तथा सरदारो और सामन्तो से भी सैनिक प्राप्त होते थे। सैनिकों को विदेशो मे लूटपाट का अधिकार था और वे जो सम्पत्ति लूटते वह उनकी होती थी।

हिक्सोस राजाओ द्वारा मिस्र पर आधिपत्य जमाने के बाद मिस्र की सेना को घोडो, रथो तथा नये शस्त्रो एव रण-कौशल की नयी विधाओ का ज्ञान हुआ जिसके बल पर उन्होने मिस्र के साम्राज्य का विस्तार किया।

प्राचीन मिस्र के गौरवशाली सम्राट् अखनातन ने अपना जीवन धर्म और सत्य की साधना मे लगाया तथा साम्राज्य की उपेक्षा की लेकिन इसका यह अर्थ नही है कि मिस्र के सभी राजाओ ने राजनीति के कठोर यथार्थ को पहचानने से इन्कार किया। फराओ अमेनेमहेत प्रथम ने अपनी मृत्यु से पूर्व अपने बेटे और उत्तराधिकारी राजकुमार सेनवोसरेत को राजनीति के नंगे यथार्थ का परिचय इन शब्दो मे दिया था—

"अपने सभी मातहतो के प्रति कर लो कठोर स्वय को ···
मत समझो अपने हृदय मे बन्धु किसी को भी,
कोई नही होता मित्र राजा का,
मत देना भेद अपने मन का किसी को····
जब तुम सोने लगो तो रहना सावधान—

अपने ही हृदय से अपने हितो के प्रति,
क्योकि बुरे समय मे नही होता
कोई भी हमारा अपना आदमी।"

यहाँ राजा ने अपने बेटे को रहस्यो की गोपनीयता का पाठ पढाया है और यह भी कि सोते समय अपने हृदय पर काबू रखना कि कही तुम्हारा हृदय किसी शत्रु की भेजी हुई जासूस सुन्दरी के मोहपाश मे फँसकर तुम्हारे हितो को खतरे मे न डाल दे।

यहाँ यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि राजमहल और राज-दरबार के षड्यन्त्रो को निष्प्रभाव करने के लिये फराम्रो के लिये यह उचित माना गया था कि वह अपनी सगी बहिन के सग विवाह करे। यह इसलिये भी आवश्यक था क्योकि फराम्रो को ईश्वर और उसका प्रतिनिधि तथा प्रधान पुरोहित माना जाता था अत उसके विवाह के लिये राज्य मे उसके जैसा दूसरा वश नही खोजा जा सकता था, और यदि राजा किसी अन्य वश मे विवाह कर लेता तो उस कुल को फराम्रो के समान आदर और महत्त्व प्राप्त हो जाता जो उस दैवी-राजतन्त्र के जमाने मे सहन नही किया जा सकता था। इस व्यवस्था के अनुसार राजा का एक पुत्र और एक पुत्री राजगद्दी पर बैठते थे, जिसके द्वारा भाई और बहिन अथवा उनकी पृथक्-पृथक् सन्तानो के बीच किसी भी प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता की सम्भावना समाप्त हो जाती थी क्योकि वे पति-पत्नी के रूप मे एक साथ सन्तान उत्पन्न करते थे। राजा की यह सतान ही राज्य की उत्तराधिकारी होती थी। यदि राजा किसी कन्या का पिता राजमहिषी से न बना हो तो वह अपने अन्त पुर हरम) की किसी अन्य स्त्री की बेटी के साथ अपने पुत्र का विवाह कर देता था। यदि राजा पुत्रहीन होता तो अत पुर की किसी अन्य स्त्री की कोख मे जन्मे अपने बेटे से अपनी पुत्री का विवाह करके राजवश को अपने रक्त की मर्यादा मे रखता। राजा को अधिकार था कि वह अपने पिता के अत.पुर मे जन्मी अपने पिता की सभी पुत्रियो को अपने अत पुर मे पत्नी बनाकर रख ले, और आम तौर पर ऐसा ही होता था।

लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा

प्राचीन मिस्र के राजनीतिक चिन्तन अथवा राज-दर्शन के बारे मे निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वहाँ उस जमाने मे अर्थात् ईसा से 3000 वर्ष पूर्व एक लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का जन्म हुआ और राजा अथवा फराम्रो के बारे मे यह माना गया कि वह तानाशाह नही वरन् एक उदार शासक होगा। यह धारणा 2050 ई पू के एक लेख से पुष्ट होती है। इस लेख का पुरातत्त्वविदो ने "मुखर कृषक का तर्क" (Plea of the Eloquent Peasant) कहा है। इस लेख मे यह अवधारणा निहित है कि राजा अपनी प्रजा के प्रति उदार होगा तथा उसके हित के लिये न्याय करेगा। राजा से निवेदन किया गया है कि वह अनाथो के लिये पिता, विधवा के लिये पति तथा निराश्रितो के लिये भाई

तथा आश्रयदाता के रूप मे कार्य करे। वह निष्पक्ष भाव से न्याय करे और जो लोग दड के पात्र है उन्हे दण्ड दे। राजा से यह अपेक्षा की गई है कि वह समाज मे ऐसा सामजस्य और समृद्धि उत्पन्न करे कि समाज का कोई भी सदस्य भूख, ठण्ड अथवा प्यास से न मरने पाये।[1]

विशेषत. मध्यवर्ती राजतन्त्र के शासनकाल से सम्बन्धित कतिपय लेखो मे गरीब लोगो की शिकायतो और तकलीफो के निवारण के लिए किये गये कार्यों का उल्लेख मिलता है। इनमे गरीबो और अमीरो के बीच की खाई तथा सशक्त सामाजिक वर्गो द्वारा कमजोर वर्गों के विरुद्ध किये जाने वाले अन्याय की ओर भी ध्यान खिचाया गया। कुछ विचारको ने ये सुझाव भी दिये कि मानवीय सम्बन्धो के नियमन के लिये राज्य को व्यापक कानून बनाने चाहिए।[2]

पिताहहोतेप से पहले तक ऐसा माना जाता था कि केवल धनी लोग और राजा तथा राजवश के लोग ही स्वर्ग मे प्रवेश कर सकते है। पिताहहोतेप की उक्तियो मे यह महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है कि ईश्वर के राज्य मे धनी और गरीब तथा राजा और प्रजा का भेद नही है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मो के आधार पर स्वर्ग में प्रवेश कर सकता है।

इस प्रकार राजा और प्रजा के बीच की खाई पाटने की कोशिश की गई है। वास्तव मे जिस समय मिस्र के फराओ विदेशी आक्रमणकारी रथारूढ एव अश्वारोही हाइक्सोस सेना से पराजित हो गए तब प्रजा की दृष्टि मे वे ईश्वर की गद्दी से गिर गए। वे यह नही मान सकते थे कि ईश्वर को कोई पराजित कर सकता है। फराओ अपराजेय नही थे, अर्थात् वे ईश्वर न थे, मानव थे। इस प्रकार प्राचीन मिस्र की राजनीति मे आम आदमी के महत्त्व का बोध प्रकट हुआ तथा राजा का दैवी-स्वरूप मद पड गया।

1 *E M Burns* Western Civilizations, 1968, p 38
2 *A C. Binng, R. H. Shryock & Morris Wolf* : This Our World, 1958, p. 38

समाज, अर्थ-व्यवस्था और प्रौद्योगिकी

(Society, Economy & Technology)

समाज

प्राचीन मिस्र में बुनियादी सामाजिक इकाई परिवार था। परिवार एक-विवाह-प्रधान होते थे। समाज में किसी भी पुरुष को यह अधिकार न था कि वह एक से अधिक विवाह करे, स्वयं फराओ को भी नहीं। लेकिन फराओ के हरम (अन्तःपुर) में बहुत सी स्त्रियाँ रहती थी और फराओ उनसे सन्तान भी उत्पन्न करता था। इसी प्रकार धनी व्यक्तियो, सामन्तो और वरिष्ठ राज-अधिकारियो में भी अनेक अवैधानिक पत्नियाँ रखने का रिवाज था, तथा यह प्रतिष्ठा का चिह्न माना जाता था।

समाज में स्त्रियो को प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। न उन्हें पर्दे में रखा जाता, न सामाजिक जीवन से अलग-थलग ही। व घर की चहारदीवारो में कैद नहीं रहती थी। वे पिता की सम्पत्ति मे भाइयो के समान उत्तराधिकारी होती थी और व्यापार-व्यवसाय जैसी प्रवृत्तियो मे भी भाग लेती थी। राज्य की उत्तराधिकारी होने पर उन्हे राज-सिंहासन पर बैठने और राजा का पद प्राप्त करने का भी अधिकार था, ऐसी ही एक साम्राज्ञी हातशेपसुत थी जिसने मिस्र को सुदृढ शासन प्रदान किया।

प्राचीन मिस्र की एक उल्लेखनीय सामाजिक प्रथा सगोत्र विवाह की थी। फराओ के लिए यह अनिवार्य था कि वह अपनी बहिन के संग विवाह करे। सगी बहिन के न होने पर वह अपनी सौतेली बहिनो मे से किसी के साथ विवाह करता था। यह प्रथा केवल राज-परिवार के लिए ही मान्य न थी, प्रजाजन भी इसका अनुसरण कर सकते थे। इस बात के प्रमाण मिले है कि अनेक प्रजाजनो में यह प्रथा प्रचलित थी।

सामाजिक संरचना

प्राचीन मिस्र मे समाज मोटे तौर पर सात वर्गों मे विभाजित था—राज-परिवार, पुरोहित, सामन्त, सैनिक अधिकारी, मध्यम वर्ग (सरकारी कर्मचारी, व्यापारी, दस्तकार और बड़े किसान), मजदूर और दास।

साम्राज्य के उत्कर्ष काल मे लीबिया, फिलीस्तीन, नूबिया आदि से हजारो दास पकडकर लाए जाते थे। इनसे सरकारी खदानो और मन्दिरो मे काम लिया जाता तथा इन्हे हेय दृष्टि से देखा जाता था, लेकिन धीरे-धीरे जब इन लोगो को सेना मे भर्ती कर लिया गया तथा फराओ के राजमहल मे सेवा का काम सौंप दिया गया तब इन्हे हेय मानना बन्द हो गया और ये समाज मे घुलने-मिलने लगे।

समाज मे इन विभिन्न वर्गों की स्थिति समय-समय पर बदलती रही। पुरातन राजतन्त्र के काल मे सामन्तो और पादरियो का स्थान समाज मे बहुत ऊँचा था, लेकिन मध्यवर्ती राजतन्त्र के जमाने मे सरकारी कर्मचारियो, व्यापारियो, दस्तकारो और बडे किसानो ने उनके विरुद्ध विद्रोह कर दिया तथा फराओ से अनेक सुविधाएँ प्राप्त कर ली। इस काल मे सामन्तो और पादरियो की अपेक्षा व्यापारियो और उद्योगपतियो ने समाज मे अधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त कर ली थी। साम्राज्य के विस्तार के साथ दो वर्गो का वर्चस्व बहुत बढ गया—उच्च सरकारी और व्यापारी। साम्राज्य का प्रबन्ध उच्च अधिकारियो के हाथो मे आ गया तथा व्यापारी साम्राज्य के विभिन्न भागो से व्यापार के द्वारा राज्य की समृद्धि मे योगदान करने लगे। उनसे प्राप्त होने वाले राजस्व से राजकोष भी समृद्ध होता गया।

फराओ अखनातन के जमाने मे जब धर्म का वर्चस्व फिर से लौटा तो पुरोहितो को उनकी खोई हुई सत्ता फिर से मिल गई और वे सामन्तो की अपेक्षा अधिक बलशाली हो गये, परन्तु अन्तिम चरण मे जब फराओ कमजोर पड गये और साम्राज्य बिखर गया तो सरदार और सामन्त धीरे-धीरे उससे स्वच्छन्द होते गए और वे फिर से समाज मे अपने पुराने स्थान पर लौट आये।

गरीब-अमीर के बीच की खाई

आज ससार के विकसित तथा विकासशील देशो मे अमीर और गरीब के बीच जो खाई है उससे भी चौडी खाई उन वर्गों के बीच प्राचीन मिस्र की सभ्यता मे मौजूद थी। अमीर, सामन्त, सरदार, पुरोहित और व्यापारी शानदार बगलो मे रहते जिनके साथ फलदार वृक्षो और सुगधिदार पौधो के उद्यान लगे रहते थे। उनका भोजन खूब समृद्ध था, उसमे मांस, फल, मदिरा, दूध, घी और मिठाइयो की प्रचुरता रहती थी। वे सोने, चाँदी के बरतनो मे भोजन करते और कीमती वस्त्र तथा आभूषण पहनते थे। उनके साथ उनकी कब्रो मे बहुमूल्य वस्तुएँ रखी जाती और भोजन की सामग्री का भडारण किया जाता।

दूसरी ओर समाज का बहुसख्यक गरीब वर्ग था, जो नगरो की गन्दी बस्तियो और गाँवो मे झोपडो मे रहता। ये झोपडे मिट्टी की कच्ची ईंटों से बनते तथा उन पर फूस का छप्पर डाला जाता। उनके पास फर्नीचर के नाम पर लकडी के मामूली तख्त और चौकियाँ होती थी। उनके बर्तन आम तौर पर मिट्टी के होते और वे अत्यन्त साधारण भोजन करते थे।

अमीर लोग आम तौर पर बढ़िया कपड़ा पहनते थे जिस पर प्राय: सोने-चाँदी के तारों से कसीदा किया होता था। इतने पुराने होने के बावजूद इनके बढ़िया होने के चिह्न बने हैं। पुरानी कब्रों में जो कपड़े मिले हैं, वे हजारों बरसों पुराने होने के बावजूद ज्यों के त्यों सुरक्षित हैं।

अमीर घरानों की महिलाएँ अपने बालों में, शरीर पर कीमती गहनों की भाँति तरह-तरह का भरपूर शृंगार करती थीं, जिसमें आँखों पर काजल और गालों पर लाली लगाना शामिल था। पुरुष भी कम शृंगारप्रिय न थे, वे भी खूब सजधज कर रहते थे।

आज की तरह उन दिनों भी गाना-बजाना और मनोरंजन में भी प्रचार था। अमीरों के बच्चे जमकर खेलते, गेंदें, खिलौने और गुड़ियाँ लकड़ी और मिट्टी की बनी होती थीं। अमीर लोग पशु-पक्षी भी पालते थे। वे जंगली पशु-पक्षियों का शिकार करते, तैरते और नील की धारा में नौकायन करते थे।

मिस्र के लोगों में मनोरंजन के अनेक साधन प्रचलित थे। धनी लोग जुआ खेलते तो गरीब लोग कुश्ती लड़ते। तीतर और बाज जैसे पक्षियों तथा मुर्गों को लड़ाना भी खूब प्रचलन में था। पतंगबाजी की कला का विकास हो चुका था।

प्राचीन मिस्र की सभ्यता में संगीत और नृत्य का महत्त्वपूर्ण स्थान था। कवि लोग गीत रचते जिन्हें वाद्य-यन्त्रों पर धुन के रूप में प्रस्तुत किया जाता और गायक उन्हें गाकर सुनाते थे। नाटक का रूप नृत्य-नाटिकाओं का था। मिस्र की महिलाओं ने नृत्य को चरम शिखर तक पहुँचाया। स्त्रियाँ आभूषण-प्रिय होती थीं, सोने-चाँदी और रत्नों के अतिरिक्त धनी वर्गों में हाथी दाँत के जेवर का भी प्रचलन था।

फर्नीचर में कुर्सी और मेज का आम प्रचलन था। फर्नीचर बहुत कलात्मक रीति से बनाया जाता था। रथों का भी अनेक प्रकार से निर्माण होता और उन्हें खूब सजाया जाता। घोड़ों की लगाम और रकाब तरह-तरह के कलात्मक नमूनों में बनायी जाती तथा घोड़ों के सर पर कलगियाँ लगायी जातीं।

स्त्रियाँ घरों में बड़े करघों पर ताना पूरती और उनमें बाना भरकर कपड़ा बुनती थीं। इस कला का पर्याप्त विकास हुआ था। नील घाटी में उत्कृष्ट कोटि की कपास उगायी जाती और उससे बहुत महीन तथा गोल सूत काता जाता।

अर्थ-व्यवस्था

प्राचीन मिस्र की अर्थ-व्यवस्था मुख्यत कृषि-प्रधान थी। खेती का पर्याप्त विकास किया गया था। नील घाटी की मिट्टी उपजाऊ तो थी ही, उसमें सिंचाई की भी पर्याप्त सुविधा थी। गेहूँ, जौ, बाजरा, फल, सब्जियाँ, कपास और सन (जूट) की भरपूर फसलें होती थीं। वर्षा का जल तो शताब्दियों में एकाध बार गिरता लेकिन नील मिस्रवासियों के लिए भगवान 'रा' का वरदान बनकर हिममंडित शिखरों से अवतरित हुई थी।

फराओ मिस्र की समस्त भूमि का अधिपति था, लेकिन उसने उसे अपने सामन्त, सरदारो और कृपापात्रो मे बाँट दिया था। भूमिपति भूमि पर स्वय परिश्रम न करते, श्रमिको से उस पर खेती कराते। इन श्रमिको की स्थिति दासो जैसी थी, लेकिन प्राय. इनके साथ क्रूरता का व्यवहार नही होता था।

भूमि को लोहे के फल वाले लकडी के हल से जोता जाता। हल को दो बैल खीचते। दो हलवाहे साथ-साथ चलते, जिनमे मे एक बैलो की रस्सी थामकर उन्हे नियन्त्रण मे रखता तथा दूसरा दोनो हाथो से हल को थामे रखता। हल के पीछे-पीछे एक अन्य मजदूर अपनी बगल मे बीज का थैला लटकाये चलता तथा बीज को खेत मे छिटकता जाता। उसके पीछे भेड बकरियो का रेवड चलता जो अपने खुरो से बीज को मिट्टी मे दवाने का काम करता तथा साथ ही उसकी मीगन से खेतो का बहुमूल्य खाद भी मिल जाता।

बाढ के समय जब नील का जल किनारो पर फैल जाता तो मिस्र के किसान गड्ढे खोदकर उसमे तालाब जैसे बना लेते जिनमे पानी भर जाता और उसके बाद जब सिंचाई की आवश्यकता होती तो नालियो द्वारा वह पानी खेतो तक ले जाते। नदी का स्तर भूमि के स्तर से नीचा है अत· पानी को उठाकर खेतो तक ले जाने के लिए उन्होने पहली बार ढेंकली का आविष्कार किया जिसे वे शाडूफ कहते थे।

फसल पकने पर वे उसे हँसिये से काटते तथा सूखने पर उसे खलिहान मे डालकर उस पर बैलो को चलाते जिनके खुरो से भूसा और अनाज अलग हो जाते। उनके खेतो मे मटर खूब होती, और वे खजूर, अजीर तथा तरबूज भी उगाते। मिस्र को उन दिनो भूमध्य सागर का खलिहान कहा जाता था।

उद्योग-धन्धे

प्राचीन मिस्र मे इस बात के प्रमाण मिले हैं कि ईसा से 3000 वर्ष पूर्व बहुत से लोग उद्योग धन्धो मे लगे हुए थे। एक ओर कृषि-आधारित पशु-पालन का धन्धा था, दूसरी ओर विभिन्न दस्तकारियाँ थी, जैसे—कपड़ा बुनना, बर्तन बनाना, आभूषण तैयार करना, भवन निर्माण, लकडी का सामान तैयार करना, धातुओ से बर्तन, हल इत्यादि बनाना, तीर और धनुष का निर्माण, नौकाओ का निर्माण आदि।

फराओ-शासन की स्थापना के बाद वहाँ काँच का सामान और कागज, वाद्य-यन्त्र, मन्दिर और पिरामिड, ताँबे के पात्र, खिलौने, शृगार और प्रसाधन सामग्री तथा बडे जहाजो का निर्माण शुरू हुआ जिसमे बहुत से लोग लगे तथा उन्हे इन क्षेत्रो मे अपने कौशल के विकास और प्रदर्शन का अवसर मिला। खदानो की खुदाई का उद्योग भी विकसित हुआ।

हाइक्सोस जाति द्वारा मिस्र की विजय के पश्चात् मिस्र मे घोडो का प्रजनन और पालन शुरू हुआ तथा नाना प्रकार के रथो के निर्माण को भारी प्रोत्साहन

मिला। फराओ अखनातन के राज्यकाल में मन्दिरों और कलात्मक भवनों के निर्माण को बहुत प्रोत्साहन मिला।

भवन-निर्माण के सम्बन्ध में यह कहना उपयुक्त होगा कि प्राचीन मिस्र में यह एक बड़ा उद्योग बन गया था। एक ओर नील की काली चिकनी मिट्टी से ईंटें बनाने का धन्धा जोर पकड़ता जा रहा था, दूसरी ओर पहाड़ों से पत्थर निकालने और ग्रेनाइट की चट्टानें काटने का धन्धा विकसित होने लगा। पिरामिडों के लिए जो टनों भार के पत्थर सम-चतुर्भुज आकार में काटे जाते थे उनमें भारी संख्या में लोग लगते थे। ईंट बनाने का धन्धा भी वैज्ञानिक स्वरूप ले रहा था। ईंटें बाकायदा मिट्टी को गूँधकर साँचों में ढालकर बनाई जाती थीं और उन्हें धूप में सुखाया जाता था।

मन्दिरों की दीवारों, उनके गुम्बदों और स्तम्भों तथा शिलाओं पर खुदाई का काम बहुत तेजी से बढ़ता गया। मिस्र के कुशल कारीगर एशिया के अनेक अन्य देशों में आमन्त्रित किए जाने लगे थे।

जहाजों के निर्माण के लिए लेबनान से मजबूत लकड़ी का आयात किया जाता था। मिस्र के नौका-निर्माण पर मैसोपोटामिया के नौका-निर्माण का प्रभाव पड़ रहा था। हायराकोनपोलिस की कब्र में जिस नाव का चित्रण किया गया है वह मिस्र की परम्परागत पटेर-नौका से भिन्न और मैसोपोटामियाई नौका से मिलती-जुलती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

मिस्र के पास उसकी आवश्यकता से अधिक अनाज तथा अन्य सामान होता था, जिसके आधार पर उसने एक सुदृढ़ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास कर लिया था। यह व्यापार भूमि के रास्ते और पानी के रास्ते—दोनों रास्तों से होता था। भू-मार्गों से होने वाले व्यापार के लिए गधों का इस्तेमाल होता था और जल-परिवहन के लिए नौकाओं का। मिस्र के व्यापारी गधों पर अपना माल लादकर अफ्रीका के अन्य भागों में जाते और वस्तु-विनिमय प्रणाली से व्यापार करते।

फराओ ने नील की पूर्वी धारा को लालसागर से जोड़ने के लिए एक नहर खुदवा दी थी जिसमें होकर मिस्र की नौकाएँ लालसागर होती हुई स्वेज की खाड़ी पार करतीं और सिनाई प्रायद्वीप पहुँचतीं जहाँ से भूमि के रास्ते दूर के प्रदेशों तक व्यापार होता।

मिस्र में पहली बार पाल वाली नौकाओं का निर्माण हुआ जिससे कि उनमें सन्तुलन और गति का तत्त्व आ गया। इन नौकाओं पर सीरिया और एशिया-माइनर से पशु, मछली तथा मदिरा का आयात और इन देशों को अनाज, कपड़े, मिट्टी और काँच के बर्तनों तथा धातुओं का निर्यात किया जाता।

नील नदी के डेल्टा से भूमध्यसागर के तटवर्ती देशों के साथ व्यापार होता, विशेषत: क्रीट, फिलिस्तीन और यूनान के साथ। इन देशों को भी अनाज, कपड़ा,

धातुएँ और मिट्टी तथा काँच के उत्तम कोटि के बर्तन निर्यात किये जाते तथा वहाँ से सोना, चाँदी, हाथी दाँत और कीमती लकड़ी का आयात किया जाता। हाथी दाँत का एक अन्य स्रोत मध्य अफ्रीका था। रेगिस्तानी मार्ग से होकर अफ्रीका के अन्य देशो मे आने-जाने वाले मिस्री-काफिले मिस्र मे उत्पादित माल लेकर जाते और वापसी मे आबनूस, हाथी दाँत और वृक्षो का गोद लेकर आते। मिस्र मे पटेर से कागज बनाने मे गोद का भारी मात्रा मे उपयोग होता था।

मुद्रिका—मुद्रा, वहीखाता और लिखित सविदा-पत्र

प्राचीन मिस्र के राजाओ ने व्यापार की सुविधा के लिए किसी भी प्रकार की मुद्रा (Currency) जारी नही की थी, तथापि वहाँ अर्थ-व्यवस्था का आधार वस्तु-परिवर्तन न होकर मुद्रा पर आधारित था। ताँबे और सोने की निश्चित वजन की अँगूठियाँ मुद्रा के रूप मे प्रयोग में आती थी। मुद्रिका या अँगूठी शब्द से ही मुद्रा शब्द बना है। विश्व मे मुद्रा का आरम्भ राजाओ द्वारा ढाले गए सिक्को अथवा जारी किए गए अनुबन्ध-पत्रो से नही वरन् मुद्रिका से हुआ।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है कि प्राचीन मिस्र मे वजन तौलने के लिए तराजू का अविष्कार हो चुका था तथा नाप-तौल के बाट और मानदण्ड भी निर्धारित हो चुके थे। अनेक चित्रो में प्राणी की मृत्यु के बाद स्वर्ग के दूतो को उसका हृदय तौलते हुए दर्शाया गया है। उसके हृदय को पवित्रता के वजन के आधार पर ही उसे स्वर्ग मे प्रवेश की अनुमति दी जाती थी। इन चित्रो मे कलाकारीपूर्ण तराजू का इस्तेमाल दिखाया गया है, जिसके मध्य मे पूँछ वाला बन्दर चित्रित किया गया है।

व्यापारी अपने हिसाब-किताब को व्यवस्थित रीति से रखते थे। उन्हे वहीखाता लिखने की कला का ज्ञान था। अनेक चित्रो मे सरकारी कर्मचारियो को कर वसूल करके उसे वहीखाते मे लिखते हुए दर्शाया गया है। व्यापारी माल मगाने के लिए एक विशेप प्रकार के परिपत्र का इस्तेमाल करते थे जिसे आधुनिक सन्दर्भ मे ऑर्डर-फार्म कहा जा सकता है। सविदाएँ अथवा अनुबन्ध (Contracts) लिखित होते थे। धनी-मानी लोग वसीयत लिखते थे, जो न्यायालयो मे मान्य होती थी। सम्पत्ति की खरीद अथवा बिक्री के लिए लिखित दस्तावेज होते थे और रसीद जारी करने का रिवाज था।

धनी लोग साहूकारी (बैंकिंग) का धन्धा भी करते थे। विशेप तौर पर गरीब लोग उनसे वस्तुएँ उधार लेते थे, और फसल आने अथवा माल तैयार होने पर कर्ज लेने वाले निर्धारित मात्रा मे वस्तुएँ लौटा देते थे। व्यापारियो के आपसी लेन-देन मे मुद्रिकाओ का प्रयोग होता था और यद्यपि ब्याज की धारणा स्पष्ट न थी तथापि कर्ज लेने वाला व्यक्ति जितनी वस्तु अथवा मुद्रिका कर्ज मे प्राप्त करता था, कर्ज लौटाते समय अवधि के हिसाब से उसका सवाया या ड्योढा लौटाता था। गरीब लोग आम तौर पर कर्ज मे डूबे ही रहते थे और इसी कारण वे बड़े जमीदारो अथवा उद्योगपतियो के यहाँ एक प्रकार से बन्धुआ मजदूरो की तरह काम करते थे।

सामूहिक अर्थव्यवस्था

प्राचीन मिस्र मे आरम्भ से ही सामूहिकता की धारणा बलवती रही। वहाँ व्यक्ति और समाज अथवा राज्य के हितो के बीच पूर्ण समन्वय और सामजस्य की धारणा पनपी तथा राजा और प्रजा के हितो के बीच किसी प्रकार के टकराव की कल्पना ही नही की जा सकती थी। ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक है कि वहाँ अर्थव्यवस्था भी सामूहिक अर्थव्यवस्था के रूप मे उभरी।

राज्य उस जमाने मे मिस्र का सबसे बडा उद्यमी होता था और सबसे अधिक सख्या मे मजदूरो को रोजगार प्रदान करता था। राज्य के उद्यमो मे मोटे तौर पर छह प्रकार की गतिविधि प्रमुख थी—खदानो की खुदाई, सडको और नहरो का निर्माण, राजमहलो, मन्दिरो तथा पिरामिडो का निर्माण, राज्य की भूमि पर राज्य अथवा फराओ की ओर से खेती, बडे जहाजो का निर्माण, और सरकारी नौकरियाँ—पुरोहित, वास्तुविद, चित्रकार, स्थापत्यकार, प्रशासक, कोषाधिकारी, कर वसूल करने वाले कर्मचारी, राजमहल के कर्मचारी, शिक्षक, साम्राज्य के अन्तर्गत आने वाल विदेशी प्रदेशो मे नियुक्त किए जाने वाले गवर्नर और उनके कर्मचारी, तथा सैनिक और सेनापति।

विदेशो के साथ होने वाले व्यापार पर भी राज्य का नियन्त्रण था, लेकिन धीरे-धीरे राज्य का नियन्त्रण शिथिल होता गया, भूमि जमीदारो, सरदारो और सामन्तो को दे दी गई, तथा व्यापारियो को व्यापार करने की छूट दे दी गई। उनसे बस यह अपेक्षा की जाती थी कि वे नियमित रूप से राजा को भेंट देते रहे जो राजकोष का आमदनी का एक महत्त्वपूर्ण भाग थी। दस्तकार लोग स्वतन्त्र धन्धा करने लगे, उन्होने अपनी दुकानें भी खोल ली और उनके माल के लिए व्यापारियो के बीच होड के कारण उनके माल के दाम बढने लगे। कुछ उद्योग तो मुख्यत राज्य के आश्रय पर ही पनपते थे, जैसे शस्त्रास्त्र, रथ और सैनिको के लिए कवच बनाने के उद्योग, अथवा राजमहलो और पिरामिडो मे काम आने वाली सामग्री, विशेषत शृगार, सौन्दर्य-प्रसाधन, बहुत बारीक कपडा और जरी का काम, मँहगे आभूषण तथा मूर्तियाँ।

वास्तव मे, मिस्र के आर्थिक जीवन पर राज्य का नियन्त्रण साम्राज्य-विस्तार के काल मे शुरू हुआ। उस दौरान उत्पादन मे अप्रत्याशित वृद्धि हुई और देश मे समृद्धि आई, विदेशो के साथ होने वाला व्यापार अन्धाधुन्ध बढा और राज्य को उससे भारी आय होने लगी। यह स्थिति तब तक बनी रही जब तक कि साम्राज्य शिथिल न होने लगा।

अर्थव्यवस्था के दोष

एडवर्ड एम बर्न्स का विचार है कि अखनातन के शासनकाल को छोडकर शेष काल मे फराओ और पुरोहित-वर्ग के बीच एक भ्रष्ट गठबन्धन रहा। सत्ता और लूट के माल के लोभी पुरोहित निरकुश शासन के इच्छुक और महत्त्वाकांक्षी फराओ-राजाओ का समर्थन करते रहे। राजा उन्हे इसके लिए पुरस्कृत करता था,

बड़ी-बड़ी जागीरें देता, और उन्हें कर से मुक्त कर देता। युद्ध में बन्दी बनाए गए विदेशी नागरिको को पुरोहितो के हवाले कर दिया जाता जो उन्हे मन्दिरो मे दासो की तरह रखते और उनसे काम लेते थे। ये पुरोहित बहुत से कारीगरो को अपने यहाँ बन्धक बनाकर रख लेते तथा उनसे तावीज आदि बनवाते जिन्हे अन्धविश्वासी लोगो के हाथो बेचकर वे भारी मुनाफा कमाते थे। अन्त मे जब राज्य की सम्पत्ति मन्दिरो और पुरोहितो, राजमहलों और पिरामिडो के अन्धाधुन्ध निर्माण और विदेश-विजय के अभियानो पर खुले हाथ लुटाई जाने लगी तो मिस्र की अर्थव्यवस्था का चौपट हो जाना बहुत स्वाभाविक था। वही हुआ।[1]

प्रौद्योगिकी की स्थिति

जब हम प्राचीन मिस्र मे प्रौद्योगिकी के विकास के बारे मे सोचते हैं तो हम उसे सामान्यतया विज्ञान और गणित के विकास से अलग करके देखते हैं, हालाँकि इस प्रकार का अलगाव पूरी तरह सम्भव नही है।

प्रौद्योगिकी से यहाँ हमारा अभिप्राय उस प्रौद्योगिकी से है जिसका उपयोग आर्थिक प्रक्रियाओ मे होता था। इस दृष्टि से मिस्र की प्रौद्योगिकी को चार मोटे वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—कृषि-प्रौद्योगिकी, औद्योगिक-प्रौद्योगिकी, भू एव नौ-परिवहन प्रौद्योगिकी, तथा स्थापत्य प्रौद्योगिकी।

जहाँ तक कृषि प्रौद्योगिकी का प्रश्न है उसका उल्लेख पीछे किया गया है। यहाँ इस बारे मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसके दो प्रमुख विभाग थे—पहला खेती तथा अनाज की गहाई और दूसरा सिंचाई।

खेती के क्षेत्र मे मिस्रवासियों का प्रमुख आधार गाय थी, यही कारण है कि उसे देवी का स्थान दिया गया और दुर्गों तथा मन्दिरो मे चोटी पर बिठलाया गया। बैल मिस्र मे शक्ति और पुरुषार्थ का प्रतीक रहा। हल जोतने, अनाज की गहाई, बोझा ढोने और रथो मे जोतने के लिए बैलो का ही इस्तेमाल किया जाता था। मध्य अफ्रीका के साथ व्यापार के लिए जाने वाले काफिले बैल का उपयोग नही करते थे क्योकि बैलो के लिए आवश्यक चारे और पानी की व्यवस्था हो पाना कठिन था, अत वे जगली गधो को पालतू बनाकर उन्हे बोझा ढोने के काम मे लेते थे।

गाय मिस्रवासियो के लिए श्रेष्ठ गोरस—दूध, घी, दही और पनीर का भी साधन थी। माँस के लिए मछलियो, मुर्गों और बकरो का इस्तेमाल किया जाता था। ऊन के लिए भेड़ें पाली जाती थी। भेडो का दूसरा उपयोग खेतो मे बुवाई के समय उनके खुरो द्वारा बीज का भूमि मे दबाया जाना और मीगनी का खाद जुटाना था। आम तौर पर मिस्र का जलवायु गरम और खुश्क होने के कारण ऊनी वस्त्रो की आवश्यकता नही होती थी अत ऊन का प्राय निर्यात किया जाता था।

हल मे लोहे की फाल होती थी और लकडी का हत्था और मूठ। बालियो से अन्न के दाने निकालने के लिए भी बैलो का ही इस्तेमाल होता था। सिंचाई के

1 op cit, p 47

लिए शुरू में ढेंकली का इस्तेमाल होता रहा, लेकिन जैसे ही मिस्र के प्राचीन निवासियों को पहिये के उपयोग का ज्ञान हुआ, उन्होंने चरस की किस्म के साधनों का निर्माण कर लिया। पानी को खेतों तक ले जाने के लिए नालियाँ बनाई जाती और धरातल के समतलपन का ध्यान रखा जाता। वास्तव में यह ज्ञान भी उन्हें पानी के प्रवाह से ही हुआ।

औद्योगिक प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में मिट्टी और काँच के कलात्मक पात्र, सोने-चाँदी के जेवर, आबनूस और हाथी दाँत का काम, लकड़ी पर नक्काशी, महीन वस्त्र बुनना और उस पर जरी का बारीक काम, सिलाई, फर्नीचर, बारीक गोल सूत की कताई, धातु तथा पत्थर की खानों की खुदाई, धातुओं का शुद्धिकरण और उनसे ताँबे एवं लोहे के पात्रों तथा औजारों की गढाई, विभिन्न प्रकार के शृंगार-प्रसाधनों की प्रौद्योगिकी तथा रंगों का निर्माण प्रमुख हैं।

प्राचीन मिस्र के लोग विदेशों से प्रायः कच्चे माल का आयात करते और उसका पक्का माल अपने यहाँ तैयार करते थे। वे जीवन की लगभग प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति अपनी प्रौद्योगिकी के बल पर ही कर लेते थे तथा विदेशों को अपने पक्के माल का निर्यात भी करते थे। कच्चे माल में अन्न का निर्यात ही होता था। सन (जूट) के मजबूत रस्से बनाने का उद्योग मिस्र में खूब समृद्ध था। इनका उपयोग नौ-परिवहन के अतिरिक्त पिरामिडों के लिए विशाल शिलाखण्डों को खींचने में भी होता था। इस काम के लिए लोहे की मजबूत साँकलें भी बनाई जाती थीं। साँकलों को शिलाखण्डों में लपेटा जाता और बाद में उन्हें रस्सों से खींचा जाता था।

हाइक्सोस जाति के आक्रमणकारियों द्वारा मिस्र में रथ लाये जाने के बाद वहाँ रथ-निर्माण की प्रौद्योगिकी का भी पर्याप्त विकास हुआ तथा अलग-अलग प्रयोजनों के लिए अलग-अलग किस्म के रथ बनाए जाने लगे। इतना ही नहीं, पहिया जीवन के विविध क्षेत्रों और उद्योगों में शामिल हो गया। पहिया मिस्रवासियों के लिए नया न था, उसका उपयोग वहाँ के कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाने के लिए पहले से ही करते आ रहे थे।

धर्म और दर्शन तथा साहित्य, कला और विज्ञान

(Religion and Philosophy & Literature, Arts and Science)

धर्म

धर्म ने मिस्र के प्राचीन निवासियों के जीवन पर गहरा प्रभाव डाला और यह प्रभाव उनके व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के प्रत्येक पक्ष में दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन मिस्र की कला, साहित्य, दर्शन स्थापत्य और राजनीति सभी पर धर्म की धार्मिक प्रतीकों और आस्थाओं की छाप गहराई से अंकित है। उसका प्राचीन राजतन्त्र धार्मिक राज्य था तथा उसके शासक ईश्वर के नाम पर राज्य करते थे तथा मन्दिरों, पुरोहितों और धार्मिक कर्मकाण्ड पर समाज के आर्थिक-संसाधनों का खुले रूप से दुरुपयोग भी करते थे।

प्रारम्भ में मिस्र में बहु-ईश्वरवाद प्रचलित था। लोग अनेक देवी-देवताओं की पूजा और उपासना करते थे, इनमें दो प्रमुख थे—ओसाइरिस और रे। ओसाइरिस नील नदी का देवता था और रे सूर्य देवता। यह एक प्रकार से प्राकृतिक शक्तियों की उपासना थी। ओसाइरिस इन्द्र के समान जल का देवता था और रे सूर्य के समान तेज का। मिस्र का एक फराओ औन के पुरोहित परिवार का था जो रे अथवा रा देवता का उपासक था। उस समय से इस देवता को मिस्र में सार्वभौम मान्यता प्राप्त हुई।

ओसाइरिस रे देवता का पुत्र था तथा वह उसी प्रकार नील का पिता कहलाता था, जिस प्रकार भारत में शिव नर्मदा के पिता कहलाते हैं। ओसाइरिस की उपासना इसलिये भी आवश्यक मानी गई थी कि प्राणी की मृत्यु के बाद वह उसकी आत्मा का मूल्यांकन करता था और उसको उसकी पवित्रता के आधार पर स्वर्ग अथवा नरक प्रदान करता था।

ओसाइरिस की पत्नी आइसिस देवी के रूप में मान्य थी। उसका पुत्र होरस भी देवता के रूप में पूज्य माना जाता था। मिस्र के प्राचीन धर्म में राक्षस

अथवा दैत्य की कल्पना भी विद्यमान थी तथा सेत नामक दैत्य को ओसाइरिस का शत्रु माना जाता था ।[1]

रा को जीवन का देवता माना गया था तथा फराओ को उसका प्रतिनिधि और प्रतीक । रा की कल्पना विश्व मे सत्य, न्याय और नैतिक सर्वोच्चता के प्रतीक के रूप मे की गयी । वह अपनी उपासना मे प्रसन्न होकर किसी को वरदान नही देता था, वरन् एक प्रकाश-स्तम्भ की भाँति नैतिकता, श्रेष्ठता का सन्देश प्रसारित करता था ।

ओसाइरिस और मरणोत्तर-जीवन की अवधारणा

ओसाइरिस प्रकृति की शक्तियो का प्रतीक और प्रतिनिधि देवता है । उसके बारे मे यह किवदन्ती प्रचलित है कि अतीत मे वह एक जनहितकारी शासक था जिसने अपनी प्रजा को खेती तथा अन्य कलाओ की शिक्षा तथा कानून प्रदान किये । कुछ समय बाद उसके धोखेबाज भाई ने उसकी हत्या कर दी । इस भाई का नाम सेत था । सेत ने ओसाइरिस के शरीर के टुकडे कर दिए । ओसाइरिस की पत्नी आइसिस जो उसकी सगी बहिन भी थी, अपने पति के शरीर के टुकडो को खोज लाई और उसने उनको जोडकर चमत्कारपूर्ण रीति से उसको जीवित कर दिया । इस प्रकार पुनर्जीवित राजा ने अपना राज्य पुन प्राप्त कर लिया और कुछ समय तक शासन किया, परन्तु अत मे वह पाताल लोक मे चला गया और वहाँ मृतको का न्यायाधीश बन गया । उसकी मृत्यु के बाद उसकी पत्नी आइसिस ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम होरस रखा गया । होरस ने बडा होने पर सेत को मारकर अपने पिता की हत्या का बदला ले लिया ।

प्रारम्भ मे तो ओसाइरिस की मृत्यु और उसका पुनर्जीवित हो जाना नील नदी के सूखने और फिर से बह निकलने की घटना का सूचक मात्र था, लेकिन धीरे-धीरे वह गहन अर्थ प्राप्त करता गया । इस गाथा से यह नैतिक मूल्य सम्पन्न किया जाने लगा कि जिस प्रकार ओसाइरिस प्रजा-हितैषी था प्रत्येक राजा को वैसा ही होना चाहिए, तथा प्रत्येक पत्नी और बेटे को अपने पति और पिता के प्रति आइसिस और होरस की भाँति पतिपरायण तथा पिता-निष्ठ होना चाहिए । ओसाइरिस का देहात और उसका पुनर्जीवित हो उठना इस बात का आश्वासन बन गया कि यदि मनुष्य नैतिक आचरण करे तो वह अमरत्व प्राप्त कर सकता है । जिस प्रकार देवता ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की उसी प्रकार उसकी उपासना करने वाले भक्त भी मौत को जीत सकते है । होरस द्वारा सेत की हत्या इस बात की द्योतक है कि असत असत्य पर सत्य की विजय होती है ।

मृतको की पुस्तक (Book of the Dead) से ज्ञात होता है कि प्राचीन मिस्र के धर्म मे मरणोत्तर जीवन की अवधारणा गहराइयो के साथ पैठी हुई थी । इसी कारण वहाँ के लोग अपने मृतको को रासायनिक लेप लगाकर कब्रो मे सुला

1 *Davies* : An Outline History of the World, 1986, p 34

देते थे। वे उन पर मिट्टी नही डालते थे, न उन्हे नष्ट होने के लिए छोडते। कब्रे महलो की तरह लम्बी चौडी होती और उनमे खाने-पीने तथा मनोरजन का सब सामान रखा जाता। ये कब्रें क्या मरे पूरे सग्रहालय हैं, पुस्तकालय हैं। मिस्र की प्राचीन सभ्यता का लगभग समस्त इतिहास इन कब्रो से प्राप्त सामग्री के आधार पर ही तैयार किया गया है।

पुरोहितो का भ्रष्टाचार

मिस्र की प्राचीन सभ्यता के लिए सबसे अधिक दुर्भाग्य पूर्ण यह था कि वहाँ पुरोहितो ने अपनी सत्ता की स्थापना और लाभ कमाने की दृष्टि से लोगो मे अन्धविश्वास फैलाना शुरू कर दिया। वे तावीज और गडे बेचने लगे तथा लोगो मे यह भ्रम फैलाया गया कि मरने के बाद न्याय के समय इनकी मदद से ओसाइरिस उनके पापो को पहचान नही पायेगा तथा वे दण्ड से बच जायेगे।

पुरोहितो ने पारपत्र भी बेचने शुरू कर दिये जिन्हे मृतको के सम्बन्धी इस आशा से उनके शवो के साथ कब्रो मे रखने लगे कि इनकी मदद से उन्हे स्वर्ग मे प्रवेश मिल जायेगा।

मन्दिरो का निर्माण

मिस्र के प्राचीन कालीन धर्म के साथ मन्दिरो का निर्माण भी जुडा हुआ था। मिश्रियो मे यह विश्वास प्रचलित था कि उनका देवता रे (सूर्य) आकाश की गौ देवी हैथोर का पुत्र है जिसे वह प्रतिदिन जन्म देती है। अठारहवें राजवश के शासनकाल मे हैथोर देवी की उपासना बहुत व्यापक रूप मे की जाती थी। इस वश के प्रतापी राजा अमेनहोतेप की स्मृति मे जो मूर्ति बनवाई गई उसमे उसे हैथोर देवी (गाय) की मूर्ति के नीचे उसके सरक्षण मे दिखाया गया है।

हेलियोपोलिस मे सूर्य की उपासना रे नाम से होती थी, थेबेस मे उसे वहाँ के स्थानीय देवता अमुन के साथ जोडकर अमुन-रे अथवा अमेन-रे कहा जाने लगा।

जिन दिनो थेबेस मिश्र की राजधानी थी उन दिनो करनाक से लक्सर तक अमेन-रे के विशाल मन्दिर बनाए गए। करनाक के मन्दिर का निर्माण तुतमोस-प्रथम ने शुरू कराया, जिसमे उसकी बेटी हातशेपसुत ने दो विशाल मन्दिर जोडे। इस मन्दिर में अनेक पूजा-कक्ष (हाल) और दालान थे। उसके मध्यवर्ती भाग मे पत्थर के 12 विशाल स्तम्भ थे जिन्हे दो समानान्तर कतारो मे खडा किया गया था। प्रत्येक स्तम्भ 79 फुट ऊँचा था और उसका ऊपरी सिरा इतना चौडा था कि उस पर सौ व्यक्ति एक साथ खडे हो सकते थे। स्तम्भो की मोटाई इतनी थी कि छह व्यक्ति बाँह फैलाकर उसे घेर सकते थे। उसका बडा कक्ष 338 फुट चौडा, 178 फुट गहरा था। स्तम्भो और दीवारो पर खुदाई का आश्चर्यजनक काम किया गया था जिसमे लाल, हरा और नीला रग भरा गया था। इस मन्दिर का निर्माण कार्य पूरे 1800 वर्षो तक चलता रहा था।

धार्मिक क्रान्ति : अखनातन

सम्राट् अखनातन ने मिश्र के धर्म मे क्रान्तिकारी परिवर्तन किए। उसने

सूर्य को एकमात्र ईश्वर के रूप मे प्रतिष्ठित किया। सूर्य अब अमेन-रे से अतन-रा हो गया। अखनातन ने घोषणा कर दी कि अतन निराकार है, उसकी मूर्ति बनाना सम्भव नहीं है। वह सर्वव्यापी तथा दयालु है अत उसकी उपासना प्रात था साय के सन्धिकाल मे की जानी चाहिए जबकि उसकी किरणें दोपहर की तरह उग्र न होकर सौम्य होती है।

पूजा का विधान बहुत सरल रखा गया। कहा गया कि अतन दिखावे और भेट से प्रसन्न नही होता वह मनुष्य के नैतिक आचरण से प्रसन्न होता है। उसे पक्षियो का वृक्षो पर चहचहाना और बछडो का घास के मैदानो पर थिरकना प्रिय है न कि उन्हे मारकर उनका मांस उसके सामने परोसा जाना।

अखनातन इस धर्म का प्रधान पुरोहित, प्रवक्ता, दार्शनिक और विधि-निर्माता स्वय बना। उसने समस्त अन्धविश्वासो, भूत-प्रेतो, देवी-देवताओ, दैत्यो, नरक और स्वर्ग की मनगढत कहानियो और ओसाइरिस तक को अस्वीकार कर दिया। उसने कहा कि यह सब बकवास केवल पुरोहितो के दिमाग की खुराफात है जिसका उन्होने अपनी सत्ता और लाभ के लिए आविष्कार किया है।

नए धर्म मे कहा गया कि मरने के बाद व्यक्ति की आत्मा अव्यक्त रूप मे विद्यमान रहती है, आत्मा अमर है। अखनातन ने नरक की कल्पना को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि ईश्वर दयालु है, वह अपनी सतान को नरक के कष्ट नही दे सकता।

अखनातन ने अतन की स्तुति मे कहा—

"स्वर्ग के क्षितिज पर सुन्दर है तेरा उदय,
हे सजीव अतन, जीवन का आदिस्रोत है तू,
होता है उदय पूर्व के क्षितिज पर,
भरता है विश्व समूचा अपनी आभा से।
अति सुन्दर, ज्योतिर्मय और पृथ्वी पर बहुत उन्नत है तू,
किरणें तेरी विस्तृत हैं समस्त भूमि पर जो कृति है तेरी।
तू ही है सूर्य, निर्धारित करता सीमाएँ सब देशो की,
अति दूर है तू, किरणें किन्तु तेरी बहुत निकट धरती पर,
अति ऊँचाई पर है तू, पर दिन गुजर जाता है तेरे गुजर जाने पर।
असख्य वस्तुएँ निर्मित हैं तुझसे
अपनी इच्छा से गढता धरा, केवल तू ही,
मनुष्यो, पशु-झुंडो और पक्षी-झुंडो से सकुल।
सब कुछ इस पृथ्वी पर चलते जो पाँवो पर,
सब कुछ जो वायु मे उडते अपने पखो पर।"

1 Quoted by *Davies*, op. cit., pp. 38–39

अखनातन ने घोषणा की अतन को युद्ध और लाशो पर साम्राज्यो का विस्तार अप्रिय है, तथा वह अपने विश्वास से डिगा नही । उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया लेकिन उसने विद्रोहियो के विरुद्ध शस्त्र नही उठाया ।

अखनातन द्वारा प्रचारित धर्म उसके जीवन के साथ ही समाप्त हो गया । उसके दामाद और उत्तराधिकारी तूतनखामेन ने पुराने अमेन-रे और ओसाइरिस की पूजा वाले धर्म को पुन प्रतिष्ठित कर दिया । अखनातन की राजधानी अमर्ना का परित्याग कर दिया और उसे धर्म-विरोधी घोषित कर दिया । अखनातन की ममी (सरक्षित शव) को भी नही बख्शा गया, उसके चारो ओर लिपटा सोने का पट्टा काट दिया गया जिससे कि आम धारणा के अनुसार उसकी आत्मा स्वर्ग मे प्रवेश न कर सके तथा इधर-उधर भटकती रहे ।

आर्थर वीगाल ने उसके बारे मे लिखा है—"अन्ध-विश्वासो के युग मे तथा एक ऐसे देश मे जहाँ बहु-ईश्वरवाद का बोलबाला था अखनातन ने एक एकेश्वरवादी धर्म का विकास किया ।.... वह इस धरती पर पैदा होने वाला पहला आदमी था जिसने दैवत्व का अर्थ सही रूप मे समझा । जिस समय विश्व युद्ध मे ग्रस्त था उसने मानव जाति के ज्ञात इतिहास मे पहली बार शान्ति का पाठ पढाया । .... वह पहला आदमी था जिसने सादगी, ईमानदारी, सत्यवादिता और हार्दिकता का उपदेश दिया, और सबसे बडी बात तो यह है कि उसने यह उपदेश सिंहासन पर से दिया । वह पहला मानवतावादी फराओ था, पहला आदमी था जिसके हृदय मे बर्बरता का लेशमात्र अंश भी न था । उसने तीन हजार वर्ष पूर्व एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जिसका अनुसरण आज भी किया जा सकता है । उसने ऐसा उदाहरण रखा कि एक आदर्श पति अथवा पिता कैसा होना चाहिए, एक ईमानदार मनुष्य को क्या करना चाहिए, कवि की सवेदना कैसी होनी चाहिए, उपदेशक को क्या सिखाना चाहिए, कलाकार को क्या चित्रित करने का प्रयास करना चाहिए, वैज्ञानिक की क्या आस्था होनी चाहिए, और दार्शनिक को किस प्रकार सोचना चाहिए । अन्य महान् गुरुओ की भाँति उसने अपने सिद्धान्तो के लिए सर्वस्व बलिदान कर दिया, और अन्तत· उसका जीवन केवल यही सिद्ध कर पाया कि 'खेद है कि उसके सिद्धान्त अव्यावहारिक थे', तथापि इस बात पर सन्देह नही किया जा सकता कि उसके आदर्श तब तक सच्चे माने जाते रहेगे जब तक कि बत्तख काली नही हो जाती, कौआ सफेद नही हो जाता, पहाडियाँ यात्रा पर नही निकल पडती और धरती का गर्म नदियो मे मिलकर दौडने नही लगता ।"[1]

अखनातन के प्रजाजनो और उत्तराधिकारियो ने उसको सनकी और मूर्ख कहा तथा उसमे हजारो दोष निकाले, लेकिन वे इस सत्य को नही झुठला सके कि

1 Life and Times of Akhnaton, by *Arthur Weigall* in Davies, op. cit , pp 40–41.

वह सदाचारी था, उसने केवल एक विवाह किया, उसने हरम का निर्माण नही किया और वह अपनी रानी (जो उसकी बहिन भी थी) नोफ्रेतीती के प्रति सच्चा रहा। नोफ्रेतीती मिस्र की सबसे सुन्दर महिला थी, जिसकी तुलना मिस्र की ही उसके बाद आने वाली एक महारानी क्लियोपेट्रा से की जा सकती है।

दर्शन
(Philosophy)

प्राचीन मिस्र का दर्शन मूलत नीति-शास्त्र की भित्ति पर खडा है। उसका तात्कालिक सन्दर्भ मोटे तौर पर राजनीतिक था। उसमे ब्रह्माण्ड, उसके आदि तत्त्व तथा भौतिक एव परा-भौतिक के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन विरले ही मिलता है। उस काल मे शायद एक भी ऐसा विद्वान् नही हुआ जिसे हम शुद्ध रूप मे दार्शनिक कह सकें। इमहोतेप, पिताह्होतेप, अमेनेमोप तथा स्वय फराओ अखनातन सरीखे अनेक दार्शनिक उन तीन हजार वर्षो मे हुए, लेकिन इनमे से कोई भी महज दार्शनिक न था। इमहोतेप स्थापत्यकार, चिकित्सक, पुरोहित तथा चमत्कारी पुरुष था, साथ ही दार्शनिक भी। उसने तीसरे राजवश के सम्राट् दिजोसेर के लिए एक अभूतपूर्व समाधि का निर्माण कराया जिसे परवर्ती पिरामिडो का पूर्ववर्ती माना जाता है। पिताहहोतेप पाँचवें राजवश के फराओ का प्रधानमन्त्री था। इसी तरह कागेमनी और हार्डेदेफ पुरोहित और शिक्षक थे, और अखनातन तो स्वय अतन धर्म का प्रवर्तक और मिस्र का शासक था। इनमे अमेनेमोप एक ऐसा दार्शनिक था जो मुख्यत चिंतन और शिक्षण का काम करता था। लेकिन यदि गहराई और निष्पक्षता से समीक्षा की जाए तो दार्शनिक के तत्त्व हमे अखनातन के चिंतन मे ही मिलते हैं हालाँकि वे काफी विकसित नही हैं।

नीति-दर्शन
(Ethics)

प्राचीन मिस्र की सभ्यता यद्यपि भोग की वर्जनाओ से नही घिरी थी तथापि वह भोगवादी नही थी। उसका मूल आधार नैतिक था तथा उसमे सामाजिक नैतिकता की गहराई के साथ समावेश हुआ था।

पिताहहोतेप अपने बेटे को लक्ष्य करके कहता है—"अपने ज्ञान पर घमण्ड मत करो और यह सोचकर फूलो मत कि तुम विद्वान पुरुष हो।" सौजन्यपूर्ण सम्भाषण बहुमूल्य मरकत मणि की तरह गहराई मे छिपा होता है, फिर भी यदि तुम चाहो तो वह तुम्हे चक्की पीसने वाली दासियो मे मिलेगा। जिस प्रकार विद्वानो से परामर्श करते हो वैसे ही उनसे भी करो जिन्हे तुम अबोध समझते हो। लोभ एक असाध्य व्याधि है। यदि कोई सदाचारी हो तो वह सही अर्थ मे सम्पन्न होगा।" इससे पहले ज्ञात साहित्य मे इस प्रकार का नीति-दर्शन उपलब्ध नही था।

अमेनेमोप ईश्वर परायणता का पाठ सिखाता है। वह कहता है—"ईश्वर के हाथो मे स्वय को समर्पित करना ही श्रेष्ठ है भले ही उससे गरीबी का जीवन

ीना पड़े। वह गरीबी संग्रह की अमीरी से अच्छी है। अप्रसन्नता की मालदारी की ी अपेक्षा प्रसन्न हृदय की रूखी रोटियाँ अच्छी हैं।

संग्रह की मालदारी की अपेक्षा ऐसे व्यक्ति के रूप मे प्रशसा पाना अच्छा है जसे दूसरे लोग प्यार करें। गुस्सैले स्वभाव के आदमी के साथ भाईचारा मत थापित करो, और उससे बातचीत करने का आग्रह मत रखो। यदि तुम्हारी गावश्यकता पूरी हो रही हो तो अधिक प्राप्त करने की कोशिश मे स्वय को मत थकाओ। यदि तुमने डाका डालकर दौलत प्राप्त की है तो वह रात मे तुम्हारे ास नही रहेगी। खेतो पर लगे सीमा-चिह्न मत हटाओ, जमीन का लोभ मत करो और विधवा की जमीन पर से गुजरो भी मत। अपने सामने की थाली पर ही निगाह रखो, दूसरो की थाली पर निगाह मत डालो।

रहस्यवाद

अमेनेमोप के चिंतन मे ईश्वरवादिता और रहस्यवाद की झलक मिलती है। वह कहता है—

"आने वाले कल की चिंता करते हुए मत लेटो बिस्तर मे रात को;
दिन उगने पर आने वाला कल रह जाएगा बाकी कहाँ ?
नही जानता कोई भी वह कल होगा कैसा।

ईश्वर सदैव सक्षम है,
अक्षम रह जाता परन्तु मानव सर्वदा।
मनुष्यो के वचन एक बात हैं,
ईश्वर की कृति बिल्कुल दूसरी बात।

सफलता जैसा कुछ नही होता ईश्वर के लिए,
न विफलता हो तो उसके सामने,
यदि मनुष्य कोई मुडता उसकी ओर पाने को सफलता,
नष्ट कर देता वह उसे पल भर मे।

हृदय को रखो दृढ और मन को स्थिर,
जिह्वा से मत होना विचलित;
मनुष्य की जिह्वा है मस्तूल की तरह नाव के,
नाविक है उसका वह, जो स्वामी है सब का।"

इस दर्शन मे गीता के स्थित प्रज्ञ-दर्शन की झलक मिलती है, और यह मनुष्य को काल पर विजय पाने का सन्देश देती है, साथ ही ईश्वर निष्ठा भी सिखाती है।

अमेनेमोप मानसिक शान्ति का उपदेश देता है। वह कहता है कि शान्त मनुष्य उद्यान मे उगे वृक्ष की तरह होता है जो सदा हरा रहता है, अपनी उपज जगली वृक्ष की अपेक्षा दुगुनी कर लेता है, अपने स्वामी की आँखों के सामने रहता है, उसका फल मधुर होता है और छाया शीतल, उसका अन्त भी उद्यान मे ही होता है।

और चाँदी से मढी कुर्सियाँ मिली है जिन पर चमडे की गद्दियाँ हैं। उनके अलावा हीरो के बक्से, इत्र की टोकरियाँ, कलात्मक रीति से बनाया गया पलग और सोने से मढा रथ मिला है। इसी तरह तूतनखामेन की कब्र से आबनूस और हाथी दाँत जडे हुए बक्से तथा ऐसे रथ मिले हैं जो हीरो-पन्नो से जडे हुए थे, उन पर सोने से सजावट की गई थी, सोने से मढी हुई शाही कुर्सी तथा कीमती शाही पोशाकें भी मिली है। इन रथो को जब कब्र से निकाल कर बाहर धूप मे लाया गया तो वे ऐसे चमकने लगे मानो आज ही बनाए गए हो।

मिस्र की मूर्तियो और वास्तुकला के नमूनो के पीछे एक विशेष प्रयोजन रहा है, उनके आकार प्रकार का निर्धारण राज्य और फराओ की शक्ति और महत्ता का प्रदर्शन करने की दृष्टि से किया गया। जैसे साम्राज्य का विस्तार होता गया इनका आकार बढता गया। मूर्तियो के चेहरे पर कोई अन्य भाव नही आने दिया गया, वे शान्ति की प्रतिमूर्ति है।

यही बात चित्रो के बारे मे भी कही जा सकती है। चित्रकारो ने प्राय. यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया है और वे प्रकृति के काफी समीप रहे है।

विज्ञान

प्राचीन मिस्र की कृषि, उसके उद्योगो, उसकी कला और उसके स्थापत्य का जो विवरण यहाँ दिया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ विज्ञान विकसित अवस्था मे पहुँच गया था। मिस्र के वैज्ञानिको का ध्यान सबसे पहले खगोलशास्त्र और गणित ने आकर्षित किया। इसका प्रयोजन व्यावहारिक था। उनके सामने पहली समस्या नील की बाढ के समय का पूर्वज्ञान प्राप्त करना था। इसके बाद उनके सामने पिरामिडो और मन्दिरो के निर्माण के लिए परिमापन और दिशा इत्यादि का निर्धारण करना था।

जहाँ तक पिरामिडो का प्रश्न है, वे तो स्वय ही विज्ञान का एक उत्कृष्ट नमूना है। मिस्र के स्थापत्यकारो ने इस वैज्ञानिक सत्य का पता लगा लिया था कि पिरामिड के भीतर इस प्रकार का वातावरण निर्माण हो जाता है जिसमे कोई भी चीज खराब नही हो पाती। पिरामिड की त्रिकोणात्मक और त्रिभुजात्मक सरचना महज सयोग या स्थापत्य का नमूना नही है। तीन हजार वर्षों में उसमे कोई मौलिक फेरबदल नही किया गया।

मिस्र के वैज्ञानिको ने सौर वर्ष की खोज की, अन्तरिक्ष को माप लिया और विविध ग्रहो तथा तारो की स्थिति का पता लगाया।

गणित का विकास अन्य विज्ञानो की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित रीति से हुआ। गणित और ज्यामिति के क्षेत्र मे उन्होने बहुत प्रगति की। जोडना, घटाना, गुणा और भाग के अतिरिक्त उन्होने दशमलव प्रणाली की भी खोज की, लेकिन वे शून्य की खोज नही कर पाए। उन्होने पिरामिडो का क्षेत्रफल निकालने के लिए मेनसुरशेन के सिद्धान्तो का आविष्कार किया।

इसी तरह चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र मे प्राचीन मिस्र मे एक लगभग पूर्ण विज्ञान की खोज हुई। ईसा से 1700 वर्ष पूर्व वहाँ रोगो के निदान और चिकित्सा की विद्या विकसित अवस्था मे थी। चिकित्सक सामान्यत अपने क्षेत्र के विशेषज्ञ होते थे, जैसे कि दन्त-चिकित्सक, पेट के रोगो के चिकित्सक, शल्य-विशेषज्ञ आदि। वे हृदय की गति और नाडी की गति के आधार पर रोगो का निदान कर लेते थे। उन्होंने विश्व की सबसे पहली औषधि-संहिता का निर्माण किया।

मिस्र के विज्ञानियो ने सूर्य घडी का आविष्कार किया, कांच और कागज बनाया तथा एक लिपि भी तैयार की जिसका आदि-रूप चित्रो पर आधारित होता था। उन्होंने 24 सांकेतिक प्रतीक चुने जो मानवीय स्वर के प्रत्येक व्यंजन का प्रतिनिधित्व करते थे।

शवो तथा उनके साथ रखी गई वस्तुओ की सुरक्षा के लिए उन पर किए जाने वाले रासायनिक लेपो का विज्ञान प्राचीन मिस्रवासियों की शायद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक उपलब्धि है जिसके द्वारा पाँच हजार वर्ष बाद भी उस काल की सभ्यता का लगभग सम्पूर्ण इतिहास तैयार किया जा सका है।

नष्ट हो गईं, मैसोपोटामिया की सभ्यता भी साम्राज्य के पतन के साथ ही धराशायी हो गई।

मिस्र की सभ्यता के प्रकाश मे मैसोपोटामिया की सभ्यता का मूल्यांकन किया जाए तो कहा जा सकता है कि जहाँ मिस्र की सभ्यता नैतिकता, पूर्णता, सामाजिक सुबद्धता और धार्मिक एकेश्वरवाद की अवधारणा पर आधारित थी तथा मानवीय मूल्यो और सत्यनिष्ठा की सिद्धि के लिए लालायित थी वही मैसोपोटामिया की सभ्यता इनमे से किसी भी लक्ष्य को लेकर नही चली। वह लगभग नितान्त भौतिकवादी लक्ष्यो की ओर गतिमान रही तथा स्वय सभ्यता की ओर से बेखबर मैसोपोटामिया के लोग और शासक सभ्यता की ओर मे नितान्त उदासीन रहे, उनके मन मे उसकी कोई अवधारणा न थी। वे घोर पदार्थवादी जीवन की ओर अग्रसर रहे।

भूगोल और स्थलाकृति

जल और जीवन एक-दूसरे के पर्याय रहे हैं। विश्व की प्रत्येक सभ्यता जल के स्रोतो के समीप जन्मी और विकसित हुई। मैसोपोटामिया की सभ्यता भी इसमे अपवाद नही थी। उसका जन्म और विकास दजला-फरात घाटी (Tigris) फरात घाटी (Euphrates Valley) मे हुआ। यह क्षेत्र इस समय ईराक कहलाता है। इस घाटी को यूनानियो ने मैसोपोटामिया नाम दिया जिसका अर्थ यूनानी भाषा मे दोआबा अथवा दो नदियो के बीच का प्रदेश है। यह नाम यो तो दोआबा के उत्तरी प्रदेश पर ही लागू होता है परन्तु वास्तव मे मैसोपोटामिया मे फारस की खाडी तक विस्तृत दक्षिणी प्रदेश भी शामिल है जिसके प्रमुख नगर बेबीलोन के इर्द-गिर्द एक स्वतन्त्र सभ्यता का उदय हुआ जिसे बेबीलोनियाई सभ्यता कहा जाता है। बेबीलोनियाई सभ्यता के दो काल है—पुरातन काल और उत्तर काल। पुरातन कालीन बेबीलोनियाई सभ्यता मैसोपोटामिया की सभ्यता का अग मानी जाती है तथा उत्तरकालीन बेबीलोनियाई सभ्यता का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व माना गया है क्योंकि उस समय तक मैसोपोटामियाई सभ्यता का पतन हो चुका था।

इस प्रकार मैसोपोटामिया को तीन प्रदेशो मे बाँटा जा सकता है—दजला और फरात के बीच का दोआबा अर्थात् असीरिया, इनके सगम से सटा हुआ अक्कद (Akkad) और सुमेर।

दजला और फरात

दजला और फरात नदियो का उदय आर्मीनिया के उत्तरी पहाडो से होता है। इन पहाडो की 10,000 फुट ऊँची चोटियो पर भरपूर वर्षा होती है और उन पर बर्फ जम जाती है जो दजला और फरात नदियो को वर्ष भर भरपूर जल प्रदान करती है। ये नदियाँ रेगिस्तानी क्षेत्र मे होती हुई फारस की खाडी मे गिरती हैं। दजला तो शुरू से ही दक्षिण की ओर बहना शुरू करती है लेकिन फरात का प्रारम्भिक मार्ग यह सकेत देता है मानो उसका इरादा भूमध्यसागर पहुँचने का था,

लेकिन वह सीरियाई रेगिस्तान मे होकर बहने के बजाय उस दिशा को छोड़कर पूर्व को ओर मुड़ जाती है और कुर्दिस्तान की पहाड़ियो के चरणों मे बहती हुई अन्ततः दजला से जा मिलती है। पुरातत्त्वविदो और भूगोलवेत्ताओं का मानना है कि करीब 20,000 वर्ष पूर्व फारस की खाड़ी का विस्तार समर्रा तथा हिट तक था, तथा ये दोनो नदियाँ—दजला और फरात आपस मे मिलने के बजाय सीधे क्रमश. समर्रा और हिट के समीप खाड़ी मे गिरती थी। परन्तु ये नदियाँ अपने साथ बहुत-सी मिट्टी और कीचड लेकर आती थी जो अपने मुहाने पर इकट्ठी करती चली गईं तथा कालान्तर में खाड़ी भरती चली गई और नदियो ने मैदान अपनी मिट्टी से 300 मील लम्बा बना दिया जिसमे कही एक भी पत्थर नही है।

ईसा से 3000 वर्ष पूर्व फारस की खाड़ी उर के समीप रही होगी। उसके बाद भी खाड़ी का सिकुड़ना जारी रहा तो दोनो नदियाँ आपस मे मिलकर 100 मील लम्बा मैदान बनाने के बाद खाड़ी मे गिरती हैं। इस स्थल को ही शात-अल-अरब कहा जाता है। इस मैदान का विस्तार अभी रुका नही है, वह प्रतिवर्ष 72 फुट बढ जाता है यानी खाड़ी एक शताब्दी मे डेढ मील नीचे खिसक जाती है।

मैसोपोटामिया के इसी निचले भाग मे वर्तमान बगदाद से कोई 55 मील दक्षिण मे फरात पर एक शहर बसा हुआ था जिसका नाम था बाब-इलू (ईश्वर का द्वार)। हिब्रू भाषा मे बाब-इलू (Bab-Ilu) बेबेल हो गया। परवर्ती काल मे यूनानी और लातीनी भाषाओ के प्रभाव के अन्तर्गत बेबेल बेबीलोन हो गया।

बेबीलोन नगर कालान्तर में एक ऐसी सशक्त राजनीतिक सस्कृति का केन्द्र बना कि दजला और फरात द्वारा समुद्र से छीना गया अक्कद और सुमेर का चार सौ मील लम्बा समूचा मैदानी क्षेत्र बेबीलोनिया कहलाने लगा।

जलवायु

मैसोपोटामिया का मौसम सर्दियो मे बहुत ठण्डा और गर्मियो मे बेहद गर्म रहता है। गर्मियो मे धूल भरी आन्धियाँ और लू चलती है। जुलाई मे तो वर्षा नाममात्र की ही होती है, हाँ जनवरी मे उत्तरी मैसोपोटामिया-असीरिया मे लगभग 4 इच पानी गिरता है।

ऐसी स्थिति मे आसानी से कल्पना की जा सकती है कि यदि इस प्रदेश मे दजला और फरात नदियाँ न होती अथवा वे बारहमासी न होती तो यहाँ आदमी की बस्ती ही सम्भव न थी। दजला और फरात का दोआबा तथा दक्षिणी मैसोपोटामिया यानी बेबीलोनियाई प्रदेश खूब उपजाऊ था, और ऊपर से उस काल मे (ईसा से तीन हजार वर्ष पहले) वहाँ के राजाओं ने समूचे प्रदेश मे नहरो का जाल बिछा दिया था जिसके कारण वहाँ गेहूँ, मक्का, जौ, खजूर, अजीर और अनार भारी मात्रा मे पैदा होता था। गेहूँ का जन्म तो वही हुआ। यह इस आधार पर कहा जाता है कि वहाँ के जगलो मे गेहूँ अपने आप पैदा होता देखा गया है। समूचे प्रदेश के खेतिहर होने के कारण वहाँ आबादी भी सघन थी और अनेक सभ्यताओं को फलने-फूलने का पर्याप्त अवसर मिला।

स्थलाकृति

मैसोपोटामिया लगभग चारो ओर भूमि से घिरा प्रदेश है। समुद्र के साथ उसका सम्पर्क केवल फारस की खाडी के साथ ही था, वह भी शात-अल-अरब के सकरे जलमार्ग द्वारा। पूर्व मे वह फारस देश (ईरान) से जुडा है तथा पश्चिम मे सीरिया और अरब प्रायद्वीप से। उत्तर मे आर्मीनिया का पर्वतीय प्रदेश है जिससे उसकी नदियाँ निकलती है। ऊपरी मैसोपोटामिया का उत्तर-पूर्वी भाग पहाडो से घिरा है लेकिन दक्षिणी मैदान एकदम खुला है और सभ्यता के पलने के लिए उपयुक्त भी।

मैसोपोटामिया की स्थलाकृति को दजला और फरात नदियो ने बहुत प्रभावित किया है। ईसा से 3000 वर्ष पूर्व इन नदियो ने समूचे प्रदेश को तीन बार अपनी बाढ मे डुबोया। इन बाढो का सबसे अधिक प्रभाव बेबीलोनियाई क्षेत्र पर पडा जिसका निर्माण इन नदियो द्वारा ही हुआ। प्रत्येक बाढ ने भूमि का स्तर समुद्र तल से ऊँचा कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि नदियो को बहने के लिए और अधिक क्षेत्र मिलता गया। किंवदन्ती भले ही यह हो कि समुद्र ने प्रलय मे बेबीलोनिया को डुबोया, परन्तु वास्तविकता यह है कि प्रत्येक प्रलय के बाद समुद्र और अधिक पीछे हटने को विवश हुआ तथा नदियो ने उससे और भूमि छीन ली। आर्मीनिया के पहाडो और मैसोपोटामिया की उत्तरी घाटी से बह कर आने वाली मिट्टी ने समुद्र को लगभग 400 मील दूर तक पाट दिया।

इसका मैसोपोटामिया की संस्कृति पर बहुत निर्णायक और दूरगामी प्रभाव पडा। किसी जमाने मे फरात उर से सटकर बहती थी लेकिन बाद मे वह उससे दूर हटती गई और अब तो करीब 12 मील दूर चली गई है। आज जिस उर मे धूल और आँधी के सिवाय कुछ नही बचा वहाँ कभी एक सम्पन्न सभ्यता जी रही थी।

प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि
(Pre-histroic Background)

मैसोपोटामिया मे सभ्यता का विकास ईसा से 5000 वर्ष पूर्व शुरू हुआ, लेकिन इस लम्बी अवधि के पहले 2200 वर्षों मे विकास-क्रम का कदम बहुत धीमा रहा। इस काल का इतिहास भी क्रमबद्ध रीति से उपलब्ध नही हो पाया है, यही कारण है कि इसे प्रागैतिहासिक काल कहा जाता है जो 5000 ई पू से 2800 ई पू. तक विस्तृत है।

मैसोपोटामिया की खुदाइयो मे जो सबसे पुराने चिह्न मिले है वे नव-प्रस्तर युग (Neolithic Age) के है। उत्तरी मैसोपोटामिया मे इस काल की ग्रामीण बस्तियाँ मिली है। इनके निवासी पत्थर के धारदार हथियार इस्तेमाल करते थे और उनके मिट्टी के बर्तन भी बेडौल किस्म के है। कुछ समय पश्चात् उनके घर तो बेडौल ही रहे लेकिन उनके मृद्-भांड सुडौल होते गए और उन पर चित्रकारी की जाने लगी। ऐसी बस्तियाँ वर्तमान मौसुल नगर के दक्षिण मे तैल हसूना तथा उसके

लगभग समानान्तर दजला नदी के उस पार निनेवेह मे धरातल से 90 फुट नीचे मिले है।

एक अन्य नव-प्रस्तरकालीन गाँव निनेवेह के उत्तर-पूर्व मे कोई दस-बारह मील की दूरी पर टेपे गावरा 'विशाल टीले' मे मिले है। उनकी कब्रो मे शवो को अव्यवस्थित रीति से गाढा गया है लेकिन उनके पास मिट्टी के वर्तन मिले है।

ताँबा-प्रस्तर युग—नव-प्रस्तर युग के अवशेषो के वाद सभ्यता के विकास क्रम मे मैसोपोटामिया के उत्तर-पश्चिमी भाग मे तैल-हलफ (Tell Halaf) मे ताँबा-प्रस्तर युग (Chalcolithic Age) के अवशेष मिले है। तैल-हलफ फरात नदी की बारहमासी सहायक नदी खँबूर के किनारे है। ऐसे ही अवशेष तैल-हलफ से 100 मील पश्चिम की ओर कार्केमिश (Charchemish) मे, 50 मील पूर्व की ओर तैल चागर बाजार (Tell Chagar Bazar) मे, टेपे गावरा (Tepe Gawra) मे तथा 175 मील पूर्व की ओर तैल-अरपाचिया (Tell Arpachiya) मे मिले हैं।[1]

इन अवशेषो मे बहुत करीने से रगे हुए और चित्रकारी वाले मिट्टी के वर्त्तन मिले है। इन चित्रो मे ज्यामिति का प्रयोग हुआ है तथा पशुओ, पक्षियो और मनुष्यो का चित्रण भी। वर्तनो पर चमकदार रोगन लगा है तथा निश्चय ही उन्हे वन्द आवे मे तेज आँच मे पकाया गया होगा जिसके कारण वे देखने मे चीनी मिट्टी जैसे लगते हैं।

इस काल मे पहियेदार गाडियो का इस्तेमाल होने लगा था। तैल-हलफ से प्राप्त एक चित्र मे रथ की आकृति मिली है जिसमे आठ अरो वाले पहिये हैं और एक मानवाकृति भीतर वैठी हुई दर्शायी गई है।

तैल-अल-ओबैद संस्कृति (Tell El-Obeid Culture)

निचली मैसोपोटामिया घाटी (सुमेर) मे सभ्यता के उदय मे सम्भवत. थोडा समय लगा। नदियो द्वारा जमा की गई मिट्टी और वाढ से उत्पन्न दलदल सूखने पर ही वहाँ मानव की वसावट शुरू हुई होगी। इस काल की सस्कृति के अवशेष उर के लगभग डेढ मील उत्तर-पूर्व मे तैल-ओवैद मे मिले हैं, अत: यह सस्कृति उसी नाम से जानी जाती है। यह स्थल किसी समय फरात के किनारे वसा हुआ था, लेकिन कालान्तर मे फरात ने अपना वहाव वदल लिया और घाटी की दलदल सूखने पर वहाँ मानव-वस्तियाँ बसी। ये वस्तियाँ ईसा पूर्व पाँचवी सहस्राब्दि के अन्त अथवा चौथी सहस्राब्दि के आरम्भ की है। इस काल की सभ्यता के प्रमाण भी टेपे-गावरा मे ही मिले है।

वहाँ एक मुख्य चौक के इर्द-गिर्द तीन मन्दिर मिले। चौक मे घुसते ही दायी ओर पूर्वी मन्दिर है जिसमे दीवारो पर सफेद प्लास्तर किया गया है, वायी ओर उत्तरी मन्दिर है जिसकी दीवारे लाल रग की ईंटो की हैं। मध्यवर्ती मन्दिर

1 The New York Times, May 11, 1937, p. 26

के भीतर भी सफेद प्लास्तर है किन्तु गर्भगृह मे बैंजनी रग का। यह स्थापत्य फारसी सस्कृति से प्रभावित प्रतीत होता है।

इस सभ्यता के बारे मे यह तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है कि इसका भारतीय सभ्यता के साथ गहरा सम्बन्ध रहा होगा, क्योकि उर की कब्रो से बन्दर की ठीक उसी प्रकार की प्रतिमाएँ मिली है जैसी कि मोएँ-जो-डेरो की खुदाई से प्राप्त हुई।[1]

उरुक संस्कृति (Uruk Culture)

मैसोपोटामिया की प्रागैतिहासिक सभ्यता का चौथा चरण ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दि के अन्तिम काल की उरुक सस्कृति की खोज से सामने आता है। यह स्थल तैल-अल-ओवैद से 35 मील दूर सुमेर मे है। यहाँ की खुदाई मे लाल, काले और भूरे रगो के बर्तन मिले है, जिनका निर्माण निश्चय ही कुम्हार के चाक पर हुआ तथा उन पर रोगन भी किया गया।[2]

यहाँ मैसोपोटामिया मे पहली बार खुरदरे पत्थरो का फर्श मिला है। यही पत्थरो से बनाया गया कृत्रिम पर्वत जिगुरत (Ziggurat) भी मिला है जिसकी चोटी पर मन्दिर का निर्माण किया गया था। मैसोपोटामिया मे लगभग दो दर्जन स्थानो पर ऐसा स्थापत्य मिला है। मन्दिर का निर्माण मिट्टी और धूप मे सुखाई गई मिट्टी की ईंटो से हुआ है। गीली मिट्टी मे मिट्टी के पकाये हुए बर्तन जडे गये है। जिगुरत 140 फुट चौडे, 150 फुट लम्बे और 30 फुट ऊँचे है। उनकी चोटियो पर मन्दिर बनाया गया जिसकी लम्बाई-चौडाई कमश 65 और 50 फीट है। मन्दिर मे प्रवेश के लिए 14 फुट का सकरा गलियारा है। आज से छह हजार साल पहले बनाये गए इन मन्दिरो की दीवारो की पुताई मूल रूप मे आज भी ज्यो की त्यो अपनी सफेदी बनाये हुए है, तभी तो जर्मन पुरातत्त्वविदो ने इन्हे श्वेत-मन्दिर नाम दिया था।

उरुक सस्कृति की एक अन्य उपलब्धि गोलाकार सील (Cylinder Seal) और लिपि है। श्वेत मन्दिर मे जिप्सम प्लास्तर की एक पट्टिका मिली है जिस पर गोलाकार मुहर की छाप है। ये मुहरें गोलाकार पत्थरो पर बनाई जाती थी तथा छाप लगाने के लिए उन्हे लुढकाना होता था जिससे कि मुहर पर बने चित्र अथवा अक्षर गीली मिट्टी की उस सतह पर उभर आते थे जिस पर उसे लुढकाया गया हो। इस प्रकार की मुहरें वहाँ लगभग तीन हजार वर्षो तक प्रचलित रही। इन गोलाकार मुहरो पर तरह-तरह की कलात्मक धार्मिक अथवा प्राकृतिक गाथाएँ अथवा दृश्य उत्कीर्ण होते थे।

उरुक के लाल-मन्दिर से मिट्टी की कुछ ऐसी पट्टिकाएँ मिली हैं जिन पर चित्रलिपि अकित है। इन पट्टिकाओ पर अक भी मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उस काल मे मैसोपोटामियावासियो को दशमलव प्रणाली का ज्ञान था तथा वे

1 *Ernest MacKay* The Indus Civilization, 1935, pp 170, 191-1933
2 *Jack Finegan* Light from the Ancient Past, 1954, p 19

गणना के लिए षाष्ठिक (साठ की गणना) पद्धति का प्रयोग करते थे। तभी से काल-गणना साठ की गणना-पद्धति से होती आ रही है—साठ सेकिण्ड का एक मिनट और साठ मिनट का एक घंटा।

जेमदेत नस्र (Jemdet Nasr)

ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दि के आरम्भ मे मैसोपोटामिया मे धातु का प्रयोग शुरू हो गया था। इसके प्रमाण बेबीलोन नगर के समीप जेमदेत नस्र की खुदाई मे मिले। इसमे ताँबे की वस्तुएँ मिली है तथा पट्टिकाओ पर अंकित लिपि भी अधिक विकसित किस्म की है। इस काल मे वास्तुकला का भी विकास हुआ और पत्थरो को काट-छाँटकर मूर्ति गढी जाने लगी। उरुक से इस काल का एक असिताश्म खण्ड (Block of Basalt) मिला है जिस पर शिकार का दृश्य उभारा गया है जिसमे दो दाढी वाले पुरुष तीन सिंहो से लड रहे हैं। उर मे इस काल की वास्तुकला का एक नमूना मिला है जिसमे सेलखडी (Soap Stone) पर पसरे हुए सूअर का चित्र उकेरा गया है। यह एक उत्कृष्ट कलाकृति है।

जेमदेत नस्र काल मे शुरुप्पक (Shuruppak)—सुमेर मे, एश्नुन्ना (Eshnunna)—वर्तमान बगदाद के पास और किश (Kish)—बेबीलोन के समीप, नगरो की नीव रखी गई। इन नगरो का मैसोपोटामिया के इतिहास और उसकी सभ्यता के विकास के साथ गहरा सम्बन्ध है।[1]

प्रलय और पुनर्निर्माण

मैसोपोटामिया की सभ्यता का सबसे बडा शत्रु प्रलय का ताण्डव था, और वह भी एक बार नही, खुदाई मे मिले प्रमाणो के अनुसार, कम से कम तीन बार यह ताण्डव इस धरती पर हुआ। किवदन्ती और गाथाओ के अनुसार वह सचमुच प्रलय थी यानी समुद्र क्रुद्ध होकर मैसोपोटामिया को अपने जल से डुबो गया, किन्तु सामान्य अनुमान के अनुसार यह दजला और फरात की बाढ रही होगी जिसने इस सभ्यता को तीन बार डुबोया। मगर सबसे बडी बात तो यह कि मैसोपोटामिया के लोगो की जीवट भी बहुत प्रबल रही कि उन्होने हर बार अपने प्रदेश को बसा लिया, अथवा यो कहे कि प्रत्येक बाढ के बाद यह क्षेत्र बसा और सभ्यता के अंकुर नये सिरे से फूटने लगे, वही से जहाँ से बाढ ने उसे ग्रसित किया था।

किवदन्ती और गाथा केवल एक प्रलय का उल्लेख करती है, लेकिन पुरातत्त्वविदो ने इस तथ्य के अकाट्य प्रमाण एकत्र किए है कि बाढ ने तीन बार इस क्षेत्र मे विनाश लीला की। पहली बाढ ने जेमदेत सभ्यता के मकानो और मन्दिरो को पूरी तरह आप्लावित कर लिया, उसे मिट्टी से भर दिया और उसके ऊपर आठ फुट मिट्टी की परत जमा दी। दूसरी बाढ शायद जल्दी ही लौटी और उस परत पर डेढ-दो फुट की एक अन्य परत चढा गई। उसके बाद क्षेत्र फिर से बसा और तीसरी बाढ ने नई बसावट को भी आठ फुट मिट्टी के नीचे दबा दिया।

1 *E Mackay & S Langdon*. Report on Excavations at Jemdet Nasr, Iraq, 1931

बाढ ने शुरुप्पक नगर को मिट्टी के नीचे दबा दिया। उसके बाद किश मे नये राज्य का निर्माण हुआ। किश और शुरुप्पक के बीच निप्पुर (Nippur) की खुदाई मे सुमेरियन काल की एक पट्टिका मिली जिस पर प्रलय की कहानी अंकित है। यह कहानी पट्टिका के दोनो ओर तीन-तीन कॉलमो मे लिखी गई है। प्रथम कॉलम मे कहानी किसी देवता के मुँह से कहलाई गई है जो पहले की किसी विनाश लीला का वर्णन करता है तथा बताता है कि मनुष्यो और पशुओ का निर्माण किस प्रकार हुआ। दूसरे कॉलम मे वह कहता है कि किसी देवता ने पाँच नगर बसाये जिनमे एरिडू, सिप्पार और शुरुप्पक भी थे। देवता ने प्रत्येक नगर की सुरक्षा एक सरक्षक देवता को सौप दी तथा सिंचाई के लिए नहरो का निर्माण भी किया। तीसरे कॉलम मे प्रलय का वर्णन है जिसके कारण इश्तर (निनहुरसाग) अपनी प्रजा के विनाश पर रुदन करती है। उस समय जियूसूद्र (Ziusudra) राजा और पुरोहित था। जियूसूद्र शब्द का अर्थ है 'जीवन-दिवस का विस्तार'। इस राजा ने मुख्य देवता की लकडी की एक मूर्ति निर्मित कराई थी जिसके सम्मुख वह प्रतिदिन साष्टाँग प्रणाम करता था तथा उससे मार्गदर्शन प्राप्त करता था। पट्टिका की दूसरी ओर के प्रथम कॉलम मे उसका इष्ट देवता उससे कहता है कि तुम दीवार के पास खडे हो जाओ, वहाँ तुमसे कोई देवता बात करेगा। यह देवता उसे मानव जाति को नष्ट करने के लिए देवताओ द्वारा रचे गए प्रलय के षड्यन्त्र की जानकारी देता है। वह कहता है—

"मेरे हाथो द्वारा भेजा जाएगा धरती पर प्रलय को ···
बीज मानव जाति का हो जाएगा नष्ट।
यह है निर्णय, देवताओ की सभा का आदेश।"

पाँचवाँ कॉलम खण्डित है, उसके सही सलामत अश मे प्रलय का वर्णन है—

"वर्षा के तूफान, बलशाली आँधियाँ, सब, भेज दी उन्होने एक साथ।
बाढ आ गई
जब सात दिनो और सात रातो तक
बाढ फुफकारती रही भूमि पर—
और विशाल नौका पानी पर डोलती रही डगमग तूफानो मे विराट जलराशि पर,
उदित हुआ सूर्य-देवता तब, बिखेरता हुआ प्रकाश स्वर्ग और धरा पर।"

प्रलय समाप्त हो गई और जियूसूद्र राजा ने सूर्य को भेंट चढाई तथा एनलिल नामक देवता को सिर झुकाया तब एनलिल ने राजा को "प्राणिमात्र और मानव जाति के बीज का सरक्षक तथा उसे अमरत्व प्रदान कर दिया।"[1]

गिलगमेश की गाथा

इस गाथा को अन्तत. गिलगमेश की गाथा मे समाहित कर लिया गया जिसका उल्लेख सातवी शताब्दी ईसा पूर्व मे असुरबनीपाल के निनेवेह पुस्तकालय

1 *S Langden* Semetic Mythology, 1931, pp 206-208.

के लिए तैयार कराई गई प्रति मे मिलता है। यह गाथा बेबीलोनियाई स्रोतो से ली गई है। बेबीलोनियाई भाषा मे जियूनूद्र का नाम उत्नपिश्तिम है। इस शब्द का अर्थ भी जीवन का दिन है। गिलगमेश उरुक का राजा था। उसके परम प्रिय मित्र एनकिदू (Enkidu) के निधन की पीडा उसके लिए असह्य हो गई और वह दुखी मन से विलाप करने लगा—

"मेरा मित्र जो प्यारा है मुझे, हो गया है मिट्टी जैसा, एनकिदू मेरा परम प्रिय हो गया है मिट्टी जैसा।
क्या नही सो पाऊँगा मै उसके जैसा ?
क्या नही आ सकूँगा पार मे सम्पूर्ण अनन्तता के ?"

गिलगमेश अपने प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए उत्नपिश्तिम की तलाश मे पहाडो की चोटियो पर और समुद्र के किनारे भटकने लगा। इसी समय सूर्य देवता उसे उपदेश करता है—

"ओ गिलगमेश, कहाँ जाएगा तू ?
खोज रहा है जिस जीवन को, नही पाएगा तू।
देवताओ ने जब सृजन किया मानव जाति का—
निर्माण किया उन्होने तब मृत्यु का मनुष्य के लिए,
लेकिन रख लिया जीवन को अपने हाथो मे।
भरता रह, ओ गिलगमेश, अपना उदर।
मौज मे रह दिन-रात।
प्रतिदिन तैयारी कर प्रसन्नता की।
नृत्य कर और गीत गा दिन-रात।
वस्त्र रख अपने स्वच्छ।
जल से धो सिर अपना और कर स्नान।
उस अबला का ध्यान रख जो थामती है हाथ तेरा।
पत्नी को हार्दिक प्रसन्नता प्रदान कर।
क्योकि यही है प्रयोजन मानव जीवन का।"[1]

यह सुन कर गिलगमेश हताश हो गया। अन्ततः उत्नपिश्तिम से उसकी भेट हुई और उसके निर्देश के अनुसार वह जीवन का पौधा भी ले आया लेकिन उसे एक साँप ने चुरा लिया। गिलगमेश निराश होकर घर लौट गया। उत्नपिश्तिम ने गिलगमेश को सात्वना देने की भरसक कोशिश की और उसे प्रलय तथा अपनी अमरता की कहानी भी सुनाई। उसने गिलगमेश से कहा कि तुम जानते ही हो एक नगर है शुरुप्पक जिसकी स्थापना फरात नदी के तट पर की गई थी। नगर पुराना हो गया था और उसके निवासी देवताओ ने, उन महान् देवताओ ने, उसे नष्ट करने के लिए प्रलय को भेजने का निश्चय कर लिया।

1 *Fungen* : op. cit., p. 28.

इन्ही देवताओ मे से एक ईया (Ea) ने देवताओं की परिषद् मे भाग लिया और उनकी योजना का रहस्य उत्नपिश्तिम को घास की दीवार के माध्यम से बता दिया। वह घास की दीवार को सम्बोधित करता है—"ओ घास की दीवार, घास की दीवार, ओ दीवार, दीवार सुन। ओ शुरुप्पक के पुरुष, उबर-तूतू के पुत्र, तू अपना घर उजाड दे, एक जहाज बना ले। सम्पत्ति का परित्याग कर दे, जीवन की चिन्ता कर। सम्पत्ति से घृणा कर, जीवन को बचा ले।

समग्र प्राणियो का बीज जहाज पर लाद ले। तू जो जहाज बनाएगा उसकी लम्बाई-चौडाई समान अनुपात मे रखना।"

उत्नपिश्तिम ने ऐसा ही किया। उसने 200 फुट लम्बा और इतना ही चौडा जहाज बनाया और उस पर सात मजिलें निर्मित करा ली। प्रत्येक मजिल में 9 कमरे थे। उसने समस्त सोना, चाँदी और जीवमात्र को जहाज पर चढाया और स्वय भी सपरिवार जहाज पर चढ गया। निर्धारित समय आ गया। शाम को भयानक तूफान आया। अगले सवेरे पूर्वी क्षितिज से गहरा काला बादल घुमडकर आया और धरती पर अन्धेरा छा गया। प्रलय से देवता भी डर गए और कुत्तो की तरह स्वर्ग की दीवारो के सहारे पसर गए अथवा हताश होकर बैठ गए और रोने लगे। बाढ की चरम पराकाष्ठा यह हुई कि उत्नपिश्तिम का जहाज और दजला के पूर्व मे जैब नदी के समीप निसिर पर्वत की चोटी मे जा अटका।

छह दिन और छह रात प्रलय और तूफानी आंधी ने धरती को उजाड मारा। सातवें दिन प्रलय और आँधी का वेग मन्द पड गया। समुद्र शान्त हो गया चक्रवात थम गया। प्रलय का अन्त हो गया। समुद्र की आवाजें खामोश हो गईं, समूची मानव जाति मिट्टी मे मिल गई।

अब उत्नपिश्तिम ने अपने जहाज की खिडकी खोली और महसूस किया कि रोशनी उसके गाल पर पड रही है। वह घुटनो के बल प्रणाम के लिए झुका और रोने लगा। उसका जहाज निसिर पर्वत से जकडा हुआ था और एनलिल उसके इस तरह बच निकलने पर क्रुद्ध थी, लेकिन ईया ने उससे कहा कि प्रलय का प्रयोजन पापियो को नष्ट करना था, उनके साथ सत्पुरुषो को क्यो नष्ट किया जाना चाहिए। एनलिल मान गई और उसने राजा तथा महारानी को बाँह थामकर उन्हे जहाज से उतारा तथा उन दोनो को मनुष्य से देवता बना दिया।

इस गाथा के साथ ही मैसोपोटामिया के प्रागैतिहासिक काल की गाथा भी पूरी होती है। अब आगे उसकी प्राचीन सभ्यता का इतिहास आरम्भ होता है। यह ईसा पूर्व 2800 के आसपास का काल है।

मैसोपोटामिया : राजनीतिक इतिहास की रूपरेखा, राजनीतिक चिंतन और संस्थाएँ

(Mesopotamia : Outline of Political History, Political Ideas & Institutions)

राजनीतिक दृष्टि से मैसोपोटामिया दो भागो मे विभक्त था—उत्तरी भाग अथवा दजला और फरात का दोआवा असीरिया कहलाता था, तथा दक्षिणी भाग जिसमे कुछ दूर तक दोनो नदियाँ अलग-अलग बहती है और उसके बाद मिलकर सौ मील की यात्रा करके फारस की खाडी मे गिरती हैं, बेबीलोनिया कहलाया। बेबीलोनिया के दो प्रमुख भाग थे—अकद (Akkad) और सुमेर (Sumer)। अकद सुमेर के उत्तर मे है।

मैसोपोटामिया की सभ्यता का उदय सुमेर क्षेत्र मे हुआ। इस क्षेत्र की खुदाइयो मे राजाओ की सूचियाँ मिली है। पहली सूची मे कहा गया है कि जब राजपद को स्वर्ग से पृथ्वी पर भेजा गया तो राजपद एरिडू (Eridu) मे अवतरित हुआ। सूची मे एरिडू राजवश के अलुलिम और अलगर का कार्यकाल क्रमश: 24,800 और 36,000 वर्ष, बदटिबिरा राजवश एनमेनलु-अन्ना, एनमगल-अन्ना और दैवी दुमुजो का क्रमश 43,200, 28,800 और 36,000 वर्ष, लरक राजवंश एनसिपाजी-अन्ना का 28,800 वर्ष, सिप्पार राजवश के एनमेदुर-अन्ना का 21,000 वर्ष और शुरुप्पक राजवश के उबर-तूतू का कार्यकाल 18,600 वर्ष बताया गया है।

ऐसा लगता है कि इस सूची मे वर्ष-गणना का आधार आधुनिक वर्ष-गणना से भिन्न था अथवा इसमे अतिशयोक्ति है। इसी प्रकार इस सुमेरियाई राजा-सूची मे प्रलय के बाद के राजाओ का कार्यकाल इस प्रकार वर्णित है—किश के प्रथम राजवश के 23 राजाओ का कार्यकाल 24,510 वर्ष, उरुक के प्रथम राजवश के 12 राजाओ का 2,310 वर्ष, उर के प्रथम राजवश के चार राजाओ का 177 वर्ष, अवान के राजवंश के तीन राजाओ का 356 वर्ष, किश के द्वितीय राजवश के आठ

देवता निनगिरसु (Ningirsu) की प्रेरणा से अनेक सामाजिक सुधार किये जिनमे मृतको के साथ दफनायी जाने वाली खाद्य-सामग्री की सीमा तय करना भी था।

उर-काजिना (Ur-kagina) को उम्मा के गवर्नर लुगलजागेसी ने पराजित करके लागाश पर अधिकार कर लिया और वह उर तथा उरुक का राजा बन बैठा। सुमेर राजाओ मे उसका एक विशिष्ट स्थान है। उसने 25 वर्ष राज किया। राजा-सूची के अनुसार उसकी गणना तीसरे उरुक राजवंश मे हुई है। निप्पुर (Nippur) नगर मे एक लेख मिला है जिससे ज्ञात होता है कि उसने वायु के देवता एनलिल (Enlil) से अपने शासन के स्थायित्व के लिए प्रार्थना की। इस लेख मे निचले और ऊपरी समुद्र का उल्लेख है। निचला समुद्र फारस की खाडी है और ऊपरी समुद्र से सकेत भूमध्यसागर की ओर है। इस प्रकार सुमेरियाई साम्राज्य पूरे मैसोपोटामिया ही नही सीरिया मे भी फैल गया था। इस लेख मे कहा गया है—

"भूमि के अधिपति एनलिल ने लुगलजागेसी को भूमि का राजा बनाया, लोगो की निगाहे उसकी ओर मोडी, देशो को उसके चरणो मे झुकाया। फिर उसने निचले समुद्र से दजला और फरात के रास्ते उसका मार्ग ऊपरी समुद्र तक साफ कर दिया। पूर्व से पश्चिम तक एनलिल ने उसके किसी प्रतिद्वन्द्वी को नही डटने दिया। लुगलजागेसी ने देशो मे शान्ति स्थापित की, आनन्द के जल से भूमि को सीचा...। फिर उसने उरुक को ऊँचे गगनचुम्बी भवनो से चमकाया, उर का सिर ऊँचा किया, सूर्य देवता के प्यारे नगर लारसा को आनन्द के जल से सीचा, शारा के प्रिय नगर उम्मा को शान-शौकत प्रदान की....।"

"मेरी प्रार्थना है कि भूमि का अधिपति एनलिल अपने पिता एन के सम्मुख मेरी प्रार्थना प्रस्तुत करे। मेरे जीवन मे वृद्धि करे, देश को मेरे साथ शान्ति बनाये रखने की प्रेरणा दे। वह मुक्त हस्त से मुझे इतने प्रजाजन प्रदान करे जितनी कि मेरे राज मे सुगन्धित झाडियाँ है, मुझे एन की प्रजा की सेवा करने का मार्ग दिखाये, मुझ पर कृपा करके देश पर कृपा करे। देवताओ ने मुझे जो नियति प्रदान कर दी है उसे वे बनाये रखें। मै सदा तक चरवाहा, नेता बना रहूँ।"

पुरातन अक्कदी काल (2360 से 2180 ई पू. तक)
(Old Accadian Age)

जिस समय मैसोपोटामिया पर लुगलजागेसी शासन कर रहा था, बेबीलोन मे सेमेटिक नस्ल का सारगोन शक्तिशाली बनता जा रहा था। वह गरीब घराने मे पैदा हुआ था। उसने अपने बारे मे कहा है—"मेरी माँ छोटे घर की थी, मेरे पिता के बारे मे मुझे कोई ज्ञान नही है। मेरे पिता के भाई पहाड मे रहते थे। मेरे नगर का नाम अजूपिरानो है जो फरात के तट पर बसा है। मेरी गरीब माँ ने मुझे गर्भ मे धारण किया, गोपनीय रीति से जन्म दिया, नरकुल की छोटी-सी नाव मे नरकुल की पेटी बुनकर मुझे उसमे रख दिया और पेटी को मजबूती से बन्द करके उसको नदी मे छोड दिया। नदी ने मुझे डुबोया नही। उसने मुझे ऊपर उठाया और उसकी धारा मुझे नदी के जल से खेत सीच रहे अक्की के पास ले गयी। अक्की

ने मुझे नदी मे से निकाल लिया और अपना बेटा बना मानकर मेरा पालन-पोषण किया।"

बेबीलोन का शासक बनने बाद उसने अगादे (Agade) नामक नगर बसाया जिससे बेबीलोन के मैदानी इलाके को अक्कद नाम प्राप्त हुआ। सारगौन शक्तिशाली होता गया और अन्तत उसने लुगलजागेसी को परास्त करके मैसोपोटामिया का शासन स्वय सम्भाल लिया। उसने अपनी बेटी को उर के चन्द्र-देवता नन्नार की प्रधान पुजारिन बना दिया। कुछ ही दिनो मे सुमेरियाई साम्राज्य भाषा और सस्कृति की दृष्टि से सेमेटिक बन गया। कालान्तर मे सारगौन ने अपना राज्य पूर्व मे एलम तक फैला लिया तथा पश्चिम मे सीरिया और भूमध्यसागर तक। इस प्रकार सारगौन मैसोपोटामिया का सबसे अधिक शक्तिशाली बन गया।

पुरातन अक्कदी साम्राज्य का एक छोटा किन्तु महत्त्वपूर्ण नगर गासुर है जो आधुनिक किरकुक के दक्षिण-पूर्व मे कोई दस-बारह मील दूर उस स्थान पर था जिसे आजकल योरगान टेपा (Yorgan Tepa) कहा जाता है। इस स्थल पर की गई खुदाइयो से मिट्टी की अनेक पट्टिकाएँ मिली हैं जो पुरातन अक्कदी काल की है जिनसे उस जमाने की सघन व्यापारिक गतिविधि का बोध होता है। उस काल मे इस नगर की आबादी प्रधानत सेमेटिक लोगो की थी। इन पट्टिकाओ पर व्यापारिक दस्तावेजो के अलावा एक नक्शा भी मिला है जिस पर किसी वृहद् परिसर का मानचित्र है। इसे ससार के सबसे पुराने मानचित्रो मे गिना जाता है। इन दस्तावेजो से यह प्रमाणित होता है कि खरीद-फरोख्त किस्तो के आधार पर भी होती थी तथा इस नगर के व्यापारी सारगौन के व्यापक साम्राज्य के दूर-दराज इलाको के साथ व्यापार करते थे।

इस राजवश के पतन के बाद यह नगर हुर्रा नस्ल के लोगो के हाथो मे आ गया और उन्होने इसका नाम नूजू (Nuzu) रख दिया।[1]

सारगौन का बेटा कोई महान् शासक न था लेकिन उसका पोता नारम सिन (Naram Sin) एक महान् शासक हुआ। उसकी पूरी उपाधि 'दैवी नारम सिन, बलशाली, अगादे का स्वामी, चारो दिशाओ का राजा' था। उसने ऊँचे पर्वतो के निवासी लुलुबी जाति के लोगो को पराजित किया। उसका साम्राज्य मध्य फारस से भूमध्यसागर तक तथा उत्तर-पूर्व अरब से टोरस पर्वत तक फैल गया। लेकिन उसके बाद यह राजवश अधिक नही चल पाया तथा उसके बेटे शारगलीशारी (Shargalishari) के शासनकाल के बाद मैसोपोटामिया पर काकेशस के गुटियम प्रदेश के निवासियो ने बेबीलोन पर अधिकार कर लिया। किन्तु इनका शासन केवल 110 वर्ष टिका। 2070 ई० पूर्व मे नव-सुमेरियाई काल आरम्भ हो गया जो 1960 ई० पूर्व तक चला।

1 *T J. Meek* Old Akkadian, Sumerian and Cappadocian Texts from Nuzi (Harvard Semitic Series, 10, 1935), p XV.

नव-सुमेरियाई काल (2070 से 1960 ई पू.)
(The Neo-Sumerian Period)

गुडिया (Gudea)

गुटिया राजवंश जब ह्रास पर था उन दिनो लागाश प्रदेश का गवर्नर गुडिया उस राजवंश को उखाड फेंकने के लिए योजना बना रहा था। गुडिया सुमेरियाई था। वह सिर पर साफा बांधता था, दाढी-मूंछ साफ करा लेता था, तथा स्वभाव से गम्भीर और दयालु था।[1] उसने सच्चे अर्थ मे अपनी प्रजा का चरवाहा और देवताओ का दास बनने की कोशिश की। वह मन्दिर मे प्रार्थना किया करता था कि "मेरे माता-पिता सब कुछ तुम्ही हो।" एक बार उसे स्वप्न मे आदेश मिला कि पचास देवताओ वाले लागाश के एनिन्नू (Eninnu) मन्दिर का पुनरुद्धार करो। निन्दुब (Nindub) देवता ने उसे स्वप्न मे ही मन्दिर का नमूना दिखाया और निनगिरसू (Ningirsu) नामक देवता ने उसे मन्दिर का पुनर्निर्माण कराने का आदेश दिया।

गुडिया ने तुरन्त कार्य शुरू करा दिया और नीव की ईंट अपने हाथ से रखी। उसने मन्दिर के लिए उत्तरी सीरिया के उसी अमानुस (Amanus) पर्वत से लकडी मँगाई जिससे सोलोमन ने येरुशलम के मन्दिर के लिए लकडी काटी थी। गुडिया ने मन्दिर के पुनर्निर्माण का कार्य अपने जीवनकाल मे पूरा कराया।

उर-नम्मू (Ur-Nammu)

गुडिया ने जो भूमिका तैयार की थी उस पर उर के तीसरे राजवंश की नीव उर-नम्मू ने रखी जिसने 'सुमेर और अक्कद का राजा' की पदवी धारण की। उसने उर मे एक महान् जिग्गुरत का निर्माण कराया।

उर-नम्मू के उसका बेटा डूंगी गद्दी पर बैठा। उसने अपना नाम बदलकर शुल्गी (Shulgi) रख लिया। वह बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुआ तथा उसके जीवनकाल मे और मरणोपरान्त उसे देवता के रूप मे पूजा गया तथा उसके लिए मन्दिर बनाए गए जिनमे उसके लिए बलि चढाई जाती थी।

शुल्गी के बाद उसका बेटा बुरसिन, उसके बाद उसका बेटा गिमिल-सिन (Gimil-Sin) और अन्त मे इबि-सिन (Ibi-Sin) गद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल मे ही पहाडो के उस पार से एलामी (Elamite) लोगो ने बेबीलोन पर आक्रमण कर दिया और इबि-सिन को बन्दी बना लिया। उन्होने उसकी राजधानी उर को जमकर लूटा। इसके बाद एक एलामी शासक किरीकिरी (Kirikiri) ने एशनुन्ना (Eshnunna) मे अपना राज्य स्थापित कर लिया। इसी समय अमोरी (Amorite) सरदारो इशबी-इर्रा और नेप्लनम (Naplanum) ने उस पर आक्रमण किया तथा वे क्रमश. आइसिन (Isin) और लारसा (Larsa) मे राज करने लगे।

1 *Simon Harcourt-Smith* : 'Babylonian Art' 1928, p. 63.

प्राचीन बेबीलोनियाई काल (1830 से 1550 ई पू)
(The Old Babylonian Period)

एलामी और अमोरी आक्रमणों तथा शासन का दौर 1960 से 1830 ई पू तक चला। 1830 मे जब इन अनेक नगर-राज्यो की प्रतिस्पर्द्धा सघर्ष विन्दु पर जा पहुँची तो एक अमोरी सुम्मू-आबू (Summu-Abu) किश के 9 मील पश्चिम मे एक महत्त्वहीन कस्बे बाब-इलू का शासक बन बैठा। तब किसी को मालूम न था कि यह महत्त्वहीन कस्बा एक दिन मानव जाति के इतिहास मे प्राचीन सभ्यता का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन जाएगा। यह बाब-इलू (Bab-Ilu) ही बेबीलोन के नाम से प्रसिद्ध हुआ और सुम्मू-आबू ने अनजाने मे ही बेबीलोन के प्रथम राजवश की नीव रखी।

नगर-राज्यो की होड चलती रही लेकिन अन्तत बेबीलोन और लारसा दो ही ऐसे नगर राज्य रह गए जो मैसोपोटामिया की सत्ता के दावेदार बने। लारसा मे एलामी सरदार कुदुर-माबुग ने अपने बेटे वाराद-सिन (Warad-Sin) को बाकायदा राजसिंहासन पर बैठाया। वाराद-सिन के बाद उसका छोटा भाई रिम-सिन (Rim-Sin) राजा बना। बेबीलोन मे सुम्मू-आबू के बाद सुमु-ला-अल, माबुम, एपिल-सिन और सिनमुबाल्लित राजा बने। अत मे हम्मूराबी गद्दी पर बैठा। शीघ्र ही रिम-सिन और हम्मूराबी (Hammurabi) के बीच युद्ध छिड गया। हम्मूराबी अनूठा व्यूह रचनाकार था। रिम-सिन और उसके साथी राजा उनसे हार गए और सुमेर का राज हम्मूराबी के हाथो मे आ गया। उसने लारसा को अपनी दक्षिणी प्रशासकीय राजधानी बना लिया। आइसिन को पहले ही कब्जे मे ले लिया गया था, एशनुन्ना पर भी शीघ्र ही अधिकार कर लिया गया।

उत्तरी सीमान्त पर इशबो इर्रा का नगर मारी ही एकमात्र शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी बचा, जिसे जीत लेने पर भूमध्यसागर तक पहुँचा जा सकता था। अपने राज के 32वें वर्ष मे हम्मूराबी ने मारी (Mari) नगर को जीत लिया। इस प्रकार उसने बेबीलोनियाई साम्राज्य की सीमाएँ भूमध्यसागर तक पहुँचा दी और समूचे मैसोपोटामिया पर अधिकार कर लिया।

हम्मूराबी के बाद इस राजवश के राजाओ को पूर्वी पर्वतीय क्षेत्रो के उस पार से कैस्साई (Kassite) और पश्चिम की ओर से हित्ती (Hittite) आक्रमणकारियो का सामना करना पडा। हम्मूराबी के उत्तराधिकारी सम्सूइलुना (Samsuiluna) ने कैस्साइयो के एक भारी आक्रमण का जमकर सामना किया और इन्हे मार भगाया, लेकिन कैस्साई युद्ध का मार्ग छोडकर शान्तिपूर्वक मैसोपोटामिया मे घुसपैठ करते रहे। यह क्रम 150 वर्षों तक चला। इस काल के बेबीलोनियाई दस्तावेजो मे कैस्साई नस्ल के अनेक मजदूरो, खेतिहर श्रमिको इत्यादि के नामो का उल्लेख मिलता है।

अतत कैस्साइयो ने बेबीलोनिया पर कब्जा कर लिया और अपने राजवश की स्थापना कर ली। यह राजवश लगभग 500 वर्ष तक चला। इसके राजाओ मे

गदाश अथवा गद्दाश (Gandash/Gaddash), अगुम (Agum), कश्तीलियाश (Kashtiliash), अबिरत्ताश (Abirattash) आदि का उल्लेख मिलता है। कैस्साई सभ्य जाति न थे, उन्होंने हम्मूराबी द्वारा स्थापित राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था को ज्यों का त्यों बनाए रखा। वे अपने साथ कोई संस्कृति नहीं लाए थे अत उन्होंने स्वय बेबीलोनियाई सभ्यता अंगीकार कर ली।

पाशे राजवश (Pashe Dynasty)

कैस्साई राजवश के अन्तिम राजा विलासी और कमजोर थे। बारहवीं शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य मे बेबीलोनिया मे पाशे राजवश की स्थापना हुई। यह वश केवल सवा सौ वर्ष ही राज कर पाया। इसका सबसे प्रतापी राजा ने बुचैडनेजर-प्रथम (Nebuchadnezzar-I) था। इस राजवश के बाद एलमी राजाओ ने बेबीलोन पर कब्जा कर लिया, लेकिन उनका शासन भी शीघ्र ही समाप्त हो गया। उनका स्थान असीरियाइयो ने लिया। यहाँ से मैसोपोटामिया की सभ्यता मे असीरियाई प्रभुत्व का काल शुरू होता है जो लगभग 400 वर्ष चला।

असीरियाई सभ्यता
(Assyrian Civilization)

मैसोपोटामिया के सन्दर्भ मे यह बात बार-बार दोहराई गई है कि मैसोपोटामिया वास्तव में एक राष्ट्र जैसा न था। उसका उत्तरी भाग असीरिया कहलाता था और दक्षिणी भाग मे तीन प्रमुख सभ्यताएँ पलती रही—अक्कद, बेबीलोनियाई और सुमेरियाई।

मैसोपोटामिया पर साम्राज्य स्थापित करने वाला सबसे पहला राजवश सुमेरिया का था। उसके बाद अक्कद और बेबीलोन की बारी आई। प्रथम बेबीलोनियाई राजवश के पतन के छह सौ वर्षो के बाद असीरियाई राजवश ने मैसोपोटामिया पर प्रभुत्व स्थापित किया। वास्तव मे असीरियाई सभ्यता की नींव दजला नदी के उत्तर-पूर्व के पठार पर ईसा से 3000 वर्ष पूर्व अशुर नामक देवता की स्थापना के साथ हुई।

धीरे-धीरे अशुर जाति विकसित होती गई और मैसोपोटामिया पर स्थापित होने वाले साम्राज्यो और सभ्यताओ के सम्पर्क मे आई। जैसे-जैसे बेबीलोन की शक्ति कम होती गई असीरिया शक्तिशाली होता गया और पहली बार असीरिया का शासन असीरिया राजवश के प्रथम शासक अशुर-उबल्लित-प्रथम (अशुर ने जीवन प्रदान किया है—Ashur-Uballiti–I) के हाथो मे आया। उसने स्वय को मिस्र के फराओ के समान महान् घोषित किया। उसने असीरिया के इस राजवश की नींव 1362 ई पू मे रखी और वह 1327 ई पू. तक गद्दी पर रहा। उसने असीरियाई राज्य को साम्राज्य बनाने की भरसक चेष्टा की लेकिन इस काम मे वास्तविक सफलता तुकुलती-एपिल-एशार्रा-प्रथम (Tukulti-Apil-Esharra–I–1114 से 1076 ई पू) को मिली जिसको इतिहास मे तिगलथ-पिलेसर-प्रथम (Tiglath-Pileser-I) के नाम से जाना जाता है।

लेकिन उसके शासन के अन्तिम वर्षों मे उसके विरुद्ध विद्रोह भड़क उठा जिसका सामना उसके बेटे शसी-अदाद-पचम (Shamsi-Adad V, 810 से 783 ई. पू) को करना पडा। उसने असीरिया के साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखा लेकिन उसके बाद शालमनेसेर-चतुर्थ (Shalmanesar-IV, 782 से 773 ई.पू), अशुर-दान तृतीय (Ashur-Dan-III, 772 से 755 ई पू) तथा अशुर-निरारी-पचम (Ashur-Nirari V, 754 से 745 ई पू) के जमाने मे असीरिया के साम्राज्य की स्थिति बिगड गई।

तिलगथ पिलेसर-तृतीय (744 से 727 ई. पू)
(Tiglath Pileser-III)

अतत एक महान् सेनापति और राजपुरुष ने अशुर-निरारी-पंचम से सिंहासन छीन लिया और तिगलथ-पिलेसर-तृतीय के नाम से उसने असीरिया के खोये वैभव की पुन: स्थापना की।

यह पहला असीरियाई राजा था जो पूर्व और पश्चिम के साथ ही दक्षिण मे बेबीलोन तक गया और वहाँ राजा के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया। बेबीलोनियाई लोग उसे पुल के नाम से पुकारते थे। उसके जमाने मे इजरायल और सीरिया ने मिलकर असीरियाई प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह छेड दिया तब इस राजा ने उनका बुरी तरह दमन किया। उसके बाद उसका बेटा शालमनेसेर-पचम गद्दी पर बैठा। वह इजरायल मे युद्ध कर ही रहा था कि उसे अपदस्थ करके उसका सेनापति शर्रुकिन-द्वितीय अथवा सारगौन-द्वितीय गद्दी पर बैठा।

सारगौन-द्वितीय (721 से 705 ई पू.)
(Sargon–II)

सारगौन-द्वितीय एक प्रतापी राजा था। उसने अपनी राजधानी पहले अशुर मे बनायी, उसके बाद कलाह मे और अन्त मे निनेवेह (Nineveh) मे। उसने निनेवेह का नाम बदलकर अपने नाम पर दर-शार्रुकिन रख दिया।

सारगौन-द्वितीय ने इजरायल के विरुद्ध युद्ध जारी रखा और उसे परास्त कर दिया। एक लेख मे वह कहता है कि मैंने तीर-कमान, तलवार और गदा की मदद से समरिया के लोगो को जीत लिया लेकिन मेरे ये हथियार टिड्डी दल के आक्रमण को विफल नही कर पाए जिसने समूची फसल को नष्ट कर दिया।

704 ई पू मे सारगौन-द्वितीय युद्ध मे मारा गया और उसका स्थान उसके बेटे सेन्नाकेरिब (Sennacherib) ने लिया जिसने 681 ई पू. तक मैसोपोटामिया पर शासन किया। उसने फिलिस्तीन और यहूदियो पर विजय प्राप्त की और उनसे भारी रकमे वसूल की।

681 ई पू. मे सेन्नाकेरिब की हत्या कर दी गई। उसकी वसीयत के अनुसार उसके प्रिय पुत्र ईसारहद्दोन (Esarhaddon) को राजा बनाया गया। उसने 680 से 669 ई. पू तक मैसोपोटामिया पर राज किया। उसका सबसे बड़ा काम बेबीलोन शहर का पुनर्निर्माण था जिसे उसके पिता ने नष्ट कर दिया था। उसने

अपना साम्राज्य मिस्र तक फैलाया और 'मिस्र के राजाओं का सम्राट्' उपाधि धारण की। वह अपने बारे में स्वयं कहता है—"मैं शक्तिशाली हूँ, मैं सम्पूर्ण शक्ति का स्वामी हूँ, मैं वीर हूँ, मैं विराट हूँ, मैं अपराजेय हूँ।"[1]

अशुर बनीपाल (669 से 633 ई. पू.)
(Ashur Banipal)

ईमारहद्दोन अगले मिश्र-अभियान के दौरान मारा गया तब उसका बेटा अशुर बनीपाल राजा बना। हिब्रू भाषा में उसे ओसनैप्पर और यूनानी भाषा में सरदानापेलस कहा गया। वह एक महान् शासक था। उसने मिश्र पर आक्रमण करके थेबेस और मेम्फिस दोनों राज्यों पर विजय प्राप्त की। थेबेस के राजमहल के बारे में वह कहता है—"चाँदी, सोना, कीमती जवाहरात, राजमहल की वस्तुएँ-वहाँ सब कुछ था, चमकदार रंगों वाले और सूती कपड़े की पोशाकें, शानदार घोड़े, लोग, पुरुष, स्त्रियाँ—मैंने जो चाहा अपने साथ असीरिया ले आया। मिश्र और इथियोपिया के विरुद्ध मैंने घमासान युद्ध लड़ा और मैंने वहाँ अपना साम्राज्य स्थापित किया। खूब सम्पन्न होकर मैं वहाँ से सकुशल निनेवेह लौटा, निनेवेह मेरी राजधानी।"

अशुर बनीपाल ने असंख्य युद्ध लड़े और वह अपनी क्रूरता के लिए विख्यात था, लेकिन साथ ही वह अपनी शालीनता के लिए भी प्रसिद्ध है। एक लेख में वह कहता है—"मैं, अशुर बनीपाल, ने नाबू की विद्या सीखी, मिट्टी की पट्टिकाओं पर लिखने की सम्पूर्ण कला, ··मैंने धनुष चलाना सीखा, घोड़े की सवारी सीखी, रथ चलाना सीखा और लगाम सम्भालना सीखा।....मैंने बुद्धिमान अदापा (Adapa) से दैवी ज्ञान प्राप्त किया··लेखनकाल का लुप्त खजाना ·मैंने विद्वान गुरुओं के साथ बैठकर अन्तरिक्ष का अध्ययन किया। ·मेरी दैनिक गतिविधि इस प्रकार थी—मैं अपने घोड़े की पीठ पर चढ़ता, प्रसन्नतापूर्वक उसकी सवारी करता· मैं धनुष सम्भालता—मैं अपना रथ हाँकता और सारथी की तरह लगाम सम्भाल लेता। मैं रथ के पहियों को खूब घुमाता—साथ ही मैंने राजसी शिष्टाचार सीखा और राजा की तरह चलना सीखा।"[2]

खल्द राजवंश (612 से 539 ई पू)
(Chaldean Dynasty)

दजला-फरात घाटी के दक्षिण-पूर्व में खल्द नामक जाति निवास करती थी। ईसा से कोई 1000 वर्ष पहले इस जाति के लोग बेबीलोन में आ बसे थे। उन्होंने असीरियाई शासन के विरुद्ध असन्तोष पैदा करना शुरू कर दिया था और सारगौन-द्वितीय के काल में एक खल्द सरदार मेरोडैक-बालादान (Merodach-Baladan) कुछ समय के लिए बेबीलोन का शासक बन गया था। खल्द सरदारों के नेतृत्व में बेबीलोन की सतत विद्रोह-शीलता के लिए सेन्नाकेरिब ने उसे इतना कठोर दण्ड

1 Arab II, 577, 583
2 Quoted by *J Finegan* in Light from the Ancient Past, 1854, p. 181

दिया कि पूरा शहर ही उजाड़ दिया, जिसे उसके बेटे ने यह सोचकर फिर से बसाया कि बेबीलोन के लोग उसका समर्थन करेंगे। उसने अपने छोटे बेटे और अशुर बनीपाल के छोटे भाई शमश-शुम-उकिन (Shamash-Shum-Ukın) को बेबीलोन का राजा बना दिया था। लेकिन उसकी मृत्यु के बाद फिर से विद्रोह भड़क उठा और शमश-शुम-उकिन की मृत्यु हो गई। इस पर अशुर बनीपाल ने विद्रोह का दमन कर दिया और स्वयं बेबीलोन का राजा बन गया।

नेबोपोलास्सर (Nabopolassar)

अशुर बनीपाल की मृत्यु के बाद मेरोडैक-बालादान का वंशज खल्द सरदार नेबोपोलास्सर बेबीलोन का राजा बन गया और उसने स्वतन्त्र खल्द-राजवंश एव नव-बेबीलोनियाई साम्राज्य की नींव रखी। 612 ई. पू मे नेबोपोलास्सर ने मीड और सिथिया के राजाओ के साथ मिलकर असीरियाई साम्राज्य को नष्ट कर दिया और उसकी राजधानी निनेवेह पर अधिकार कर लिया। राजधानी का घेरा जून से अगस्त तक रहा अतत अन्तिम असीरियाई राजा सिन-शार-इश्कुन (Sın-Shar-Ishkun) मर गया तथा साम्राज्य का पतन हो गया।

इसके बावजूद अशुर-उबल्लित-द्वितीय ने पश्चिमी असीरिया के नगर हारन (Haran) को राजधानी बनाकर वहाँ से छह वर्ष तक (612 से 606 ई पू) शासन किया, लेकिन अतत. सिथियनो ने उस पर भी अधिकार कर लिया। असीरियाई साम्राज्य मे तीनो को बराबर भाग मिला—मीड राजा ने दजला के पूर्व और उत्तर के भाग लिए। बेबीलोनिया के राजा ने दजला के पश्चिम और दक्षिण के क्षेत्र लिए। सिथियन लोग पहले ही पश्चिमोत्तर का हारन प्रदेश ले चुके थे। इस समझौते की पुष्टि के लिए मीड राजा सायक्सरस (Cyaxares) के पुत्र एस्टियेजेज (Astyages) की बेटी एमाइटिस (Amytıs) का विवाह नेबोपोलास्सर के बेटे नेबूचैडनेजर (Nebuchadnezzar) द्वितीय के साथ कर दी गई। यह वही नेबूचैडनेजर है जिसने मिस्र के राजा नेको को परास्त किया था।

नेबूचैडनेजर-द्वितीय (Nebuchaıdnezzar-II)

नेबूचैडनेजर-द्वितीय ने 605 से 562 ई पू. तक शासन किया और भू-मध्यसागर से फारस की खाडी तक मैसोपोटामियाई साम्राज्य की सुरक्षा की। वास्तव मे वह नव-बेबीलोनियाई साम्राज्य का संस्थापक है, तथा उसकी पहचान मैसोपोटामिया के नाते नही बेबीलोनिया के नाते है। उसके बाद उसके उत्तराधिकारी फारस मे नए सूर्य को उगते हुए सायरस का सामना करने मे समर्थ न थे। नेबूचैडनेजर की मृत्यु के 23 वर्ष बाद 13 अक्तूबर, 539 ई पू को बेबीलोन ने सायरस महान् के सामने शस्त्र डाल दिए तथा मैसोपोटामियाई सभ्यता का सूर्यास्त हो गया।

मैसोपोटामिया : राजनीतिक चिन्तन और संस्थाएँ

(Masopotamia : Political Ideas & Institutions)

मैसोपोटामिया की प्राचीन सभ्यता का इतिहास वास्तव में साम्राज्यों के निर्माण और विस्तार का इतिहास है। वह एक के बाद दूसरे संघर्ष और युद्ध का तीन हजार वर्ष लम्बा इतिहास है अत उसमे किसी सुबद्ध राजनीतिक चिन्तन और विचारो की खोज करना एक मुश्किल काम है। इस सन्दर्भ में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मैसोपोटामिया के इतिहास मे विविध जातियों और उनकी सभ्यताओं का अपना-अपना अलग चरित्र है अत ऐसा कुछ भी नही है जिसे समग्र मैसोपोटामियाई राजनीतिक चिन्तन कहा जा सके।

इसके बावजूद तीन हजार वर्षों के अन्तराल में फैली मैसोपोटामियाई प्राचीन सभ्यता मे समय-समय पर राजनीतिक चिन्तन की धाराएँ मिलती हैं। राजनीतिक चिन्तन का सबसे पहला प्रमाण लुगलजागेसी मे मिलता है। यह चिन्तन लुगलजागेसी के मस्तिष्क मे उत्पन्न नही होता वरन् उसे लागाश के देवता निनगिरसू के आदेश मे प्राप्त होता है। यह चिन्तन इस बात पर बल देता है कि राजा को प्रजा के हित का ध्यान रखना चाहिए तथा उसके आचरण को इस प्रकार मर्यादित करना चाहिए जिससे कि वह अभावो से बच सके। निनगिरसू राजा को आदेश देता है कि तुम मृतको के साथ उनकी कब्रो मे रखी जाने वाली जीवनोपयोगी सामग्री की मात्रा पर नियन्त्रण लगाओ, साम्राज्य मे शान्ति स्थापित करो और दजला और फरात नदियो से नहरें निकलवाकर खेतो की सिंचाई की व्यवस्था करो। यह लोकहितकारी राज्य की कल्पना है, जिसका लुगलजागेसी ने पालन करने की भरसक चेष्टा की।

सुमेरियाई राजनीतिक चिन्तन और सस्थाएँ

लुगलजागेसी को प्राप्त लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा सुमेरियाई राजनीतिक चिन्तन का मूल स्रोत है। सुमेरिया मे राज्य और साम्राज्य की अवधारणाओ का विकास बहुत देर मे हुआ। प्रारम्भिक काल मे वहाँ नगर राज्य बने—उर, एरिडू, तैल-एल-ओवैद, लारसा, लागाश, उम्मा, शुरुप्पक, अदाब, आइसिन और निप्पुर। ये सब प्रारम्भ मे नगर-राज्य थे तथा समय-समय पर इनके

बीच सीमाओ के प्रभुत्व के तथा अन्य प्रकार के झगडे चलते रहते थे, बाद में इनमें राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हुई, और अन्तत जब सुमेर राजवशो की स्थापना हुई तब भी राज्य एक राष्ट्र अथवा केन्द्रीय शासन न होकर एक ढीला-ढाला परिसंघ जैसा था जिसमे राजा अपने अधीन नगर-राज्यो के सरदारो से राजस्व वसूल करता और सैनिक प्राप्त करता था। नगर-राज्य का मुखिया पटेसी (Patesi) कहलाता था।

कालान्तर मे जब राजतन्त्र ने जड़ें जमा ली, तब नगर-राज्यो के शासक पटेसी अथवा राजा न रहे वरन् सुमेर के राजा के प्रतिनिधि अथवा गवर्नर हो गए। गवर्नर को सुमेरियाई भाषा मे इसाग (Issag) कहा जाता था। प्रारम्भ मे परम्परागत पटेसी ही इसाग नियुक्त किए जाते थे लेकिन बाद मे राजा जब सशक्त हुए तो उन्होने इसाग की नियुक्ति मे स्वेच्छा और स्वविवेक का इस्तेमाल शुरू कर दिया।

नगर-राज्यो के ये शासक अथवा गवर्नर अथवा इसाग राजा बनने की ताक मे लगे रहते थे और भीतर ही भीतर सैनिक शक्ति बटोर कर विद्रोह का झण्डा खडा कर देते थे। लुगलजागेसी उम्मा का इसाग (गवर्नर) ही था जो बाद मे उर और उरुक का राजा बना। इसी प्रकार गुडिया लागाश का गवर्नर था जिसने गुटियन राजवश के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा ऊँचा किया और अन्तत. उर का तीसरा राजवश सुमेर और अक्काद का शासक बना। इस वश का सस्थापक उर-नम्मू भी प्रारम्भ मे उर का शासक था, वह गुटियनो को हरा कर सुमेर पर अपना आधिपत्य जमाने मे सफल रहा।

इस प्रकार सुमेर मे नगर-राज्य के सरदार (पटेसी) सुमेर का राजा बनने के लिए अन्त तक परस्पर होड करते रहे, और वहाँ ये तीन राजनीतिक सस्थाएँ आपस मे टकराती रही—पटेसी (नगर-राज्य के सरदार), इसाग (नगर-राज्यो के गवर्नर) और राजा।

पटेसी के पद मे भी चार राजनीतिक सस्थाएँ जुडी हुई थी। पटेसी नगर-राज्य का सरदार अथवा मुखिया तो होता ही था, वह अपने राज्य का मुख्य पुरोहित, सेनापति और मुख्य सिंचाई निरीक्षक भी होता था। वास्तव मे इन पदो से उस समय की सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति का बोध होता है। तीन चीजें जीवन के लिए अनिवार्य मानी गई थी—धर्म, सेना और सिंचाई, और इन तीनो की अन्तिम सत्ता पटेसी को सौपी गई थी। वह नगर-राज्य का मुख्य पुरोहित, सेनापति और मुख्य सिंचाई निरीक्षक भी होता था इसी कारण वह पटेसी या राजा या इसाग अथवा गवर्नर होता था। नगर-राज्य का मुखिया भले ही उसे पटेसी कहा गया हो या इसाग, वह मुख्य पुरोहित, सेनापति और मुख्य सिंचाई निरीक्षक के काम करता रहा। सिंचाई सुमेर के जीवन का आधार थी, उसके बिना फसले पैदा ही नही की जा सकती थी। मिट्टी तो एकदम कुँआरी और उपजाऊ थी लेकिन समूचे सुमेर मे वर्ष भर मे चार-छह इंच से अधिक वर्षा नही होती थी।

सुमेर के नगर-राज्यों के सरदारो मे सुमेर की राजनीतिक इकाई और

उसकी एकता का बोध सदा बना रहा, अथवा यो कहें कि सुमेर ने एक-राष्ट्रीयता का रूप ले लिया था जिसके कारण इस क्षेत्र के नगर-राज्यो के सरदार सुमेर का राजा बनने पर सुमेर क्षेत्र के नगरो अथवा नागरिको को न लूटते, न उनके जीवन को हानि पहुँचाते, लेकिन वही सुमेरियाई शासक साम्राज्य-स्थापना के लिए निकले तो उन्होने अपनी तलवार का रक्त सागर के जल से धोया और वे असीरिया, सीरिया अथवा इजरायल से लूट का माल लेकर लौटे। तथापि, वे असीरियाई राजाओ की भाँति बर्बर न थे, न उन्होने अपनी विजयगाथाओ मे रक्तपात का उल्लेख गौरव के साथ किया है।

कानून की सुमेरियाई अवधारणा

सुमेरिया की राजनीतिक व्यवस्था मे सबसे अधिक महत्त्व कानून की अवधारणा को मिला है। इस अवधारणा का विकास नगर-राज्यो मे स्थानीय तौर पर व्यवहार के नियमो के रूप मे हुआ तथा कालान्तर मे उसे राज्य की मान्यता प्राप्त हो गई। आम तौर पर ऐसा माना जाता था कि मैसोपोटामियाई सभ्यता मे कानून की अवधारणा का मूल स्रोत बेबीलोन के राजा हम्मूराबी की सहिता है, परन्तु जैसे-जैसे तथ्य सामने आते चले गये यह सिद्ध होता गया कि सुमेरिया मे कानून की जो अवधारणा विकसित हुई थी उसे ही हम्मूराबी ने सशोधित रूप मे प्रस्तुत किया है।

कानून की सुमेरियाई अवधारणा की एक विशेष बात यह भी है कि यह समूचे मैसोपोटामिया मे अर्थात् असीरियाई, बेबीलोनियाई, खल्द और यहाँ तक कि यहूदी क्षेत्रो की कानून-सहिता बन गई।

सुमेरियाई कानून का पहला प्रधान लक्षण यह है कि उसमे प्रतिशोध को कानून का आधार स्वीकार किया गया है, यानी आँख के लिए आँख और हाथ के लिए हाथ, शठे शाठ्य समाचरेत। जैसे को तैसा। यह न्याय की आदिम अवधारणा है। इस कानून का मूल प्रयोजन बदला लेना है न कि अपराधो को रोकना, अपराधी को सुधारना अथवा न्याय और दण्ड को सामाजिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों मे पुन परिभाषित करना।

इसका दूसरा प्रधान लक्षण भी इस आदिम अवधारणा पर आधारित है कि अपराधी को सजा देने का अधिकार उस व्यक्ति को है जिसके विरुद्ध अपराध किया गया है। इस अवधारणा को प्रथम प्रधान लक्षण का विस्तार ही मानना चाहिए। यदि कानून का प्रयोजन बदला लेना है तब बदला लेने का अधिकार उस व्यक्ति को ही मिलता है जिसके विरुद्ध अपराध किया गया है। इस अवधारणा के अनुसार राज्य का काम महज पच की तरह निष्पक्षतापूर्वक अपराध और अपराधी की घोषणा करना है। अपराधी कौन है और उसका क्या अपराध है, यह फैसला कर देने के बाद राज्य का काम दण्ड की घोषणा करना नहीं है, दण्ड बदले के सिद्धान्त पर पहले से ही तय है, दण्ड क्षमा की घोषणा करना अथवा दण्ड को घटाना—उस व्यक्ति का ही अधिकार-क्षेत्र है जिसके विरुद्ध अपराध किया गया है।

दण्ड की घोषणा हो जाने के बाद राज्य का केवल यह काम बचता है कि वह दण्ड को क्रियान्वित करे अर्थात् अपराधी को दण्ड प्रदान करे। यह काम न्यायालयो से सम्बद्ध पुलिस की मदद से किया जाता था।

सुमेरियाई विधि सहिता का तीसरा प्रमुख तत्त्व उसका समाज के विभिन्न स्तरो पर असमान रूप मे लागू होना है। यह सहिता समाज को तीन वर्गों मे विभाजित करती है—अभिजात अथवा वैभवशाली वर्ग, जन-साधारण, और बन्धुआ अथवा दास वर्ग। दण्ड की व्यवस्था दोहरी थी, उसमे अपराधी और अपराध से प्रभावित होने वाले लोगो का सामाजिक स्तर देखा जाता था। दास की अपेक्षा जन-साधारण की तथा जन-साधारण की अपेक्षा अभिजात वर्ग के व्यक्ति की हत्या गम्भीर अपराध माना जाता था। दूसरी ओर यदि अपराधी अभिजात वर्गीय होता तो उसे दूसरे वर्गो के लोगो की अपेक्षा अधिक कठोर दण्ड दिया जाता। इसका कारण यह था कि अभिजात वर्ग मे मुख्यत सेना के अधिकारी होते थे जिनको राज्य का रक्षक माना गया था अत उनसे यह अपेक्षा नही की जाती थी कि वे राज्य के कानून का उल्लघन करेंगे, और यदि वे ऐसा करते तो उन्हे दूसरे वर्गो के लोगो की अपेक्षा समान अपराध के लिए अधिक कठोर दण्ड देना उचित माना गया।

इस विधि सहिता का चौथा प्रमुख लक्षण यह था कि इसके अन्तर्गत अपराधी के प्रयोजनो पर विचार नही किया जाता था। जान-बूझकर किए गए अपराध और अनजाने मे अथवा दुर्घटनावश हुए अपराधो मे भेद नही किया जाता था। अपराध की गम्भीरता का आँकलन उस व्यक्ति या उन व्यक्तियो की हानि की दृष्टि से किया जाता था जो अपराध से प्रभावित हुए हो। कानून को इस बात से कुछ लेना-देना न था कि किसी व्यक्ति ने दूसरे की हत्या जान-बूझकर की या अनजाने मे, उसे तो देखना यह होता था कि उसकी हत्या से जिन लोगो को हानि पहुँची है उसकी क्षतिपूर्ति अपराधी द्वारा की ही जानी चाहिए।

बेबीलोनियाई राजनीतिक चिन्तन और सस्थाएँ

मैसोपोटामिया की सम्यता के विकास मे सुमेर के बाद बेबीलोन का अवदान महत्त्वपूर्ण है। बेबीलोन भौगोलिक दृष्टि से सुमेर का पडौसी है तथा भू-ऐतिहासिक दृष्टि से उसका अस्तित्व सुमेर की अपेक्षा पुराना है क्योकि सुमेर प्रदेश उस समय तक फारस की खाडी का भाग रहा जब तक कि दजला और फरात ने खाडी को अपनी मिट्टी से पाटकर उसे समुद्र की सतह मे ऊँचा नही कर दिया। सुमेर ने तीन प्रलय सरीखी बाढ देखी और तीनो बार वह जलमग्न हुआ। लेकिन यही सुमेर का सौभाग्य भी था क्योकि उसकी भूमि नई थी, एकदम कुँआरी थी और जब बाढ का प्रकोप शान्त हो गया तो सुमेर का मैदान खेती और पशुपालन के लिए विश्व का सर्वश्रेष्ठ क्षेत्र बन गया, और उस पर बारह महीने जल से भरपूर दजला और फरात ने सिंचाई व्यवस्था को सम्भव बना दिया।

सुमेर की अपेक्षा पुराना होने के बावजूद बेबीलोन मे सुमेर से पहले सम्यता का कोई विशेष विकास नही हुआ; बल्कि यो कहे कि सुमेरियाई सार्वभौमता की

स्थापना के बाद ही बेबीलोनिया मे राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएँ जाग्रत हुईं। उसने सुमेरियाई कानून-संहिता पर अपने कानून की भित्ति खड़ी की और राजपद की धारणा भी वहीं से ली।

बेबीलोन ने राजतन्त्र को अधिक केन्द्रीय आधार प्रदान किया तथा नगर-राज्यों की सत्ता समाप्त कर दी। राजा को उसने देवत्व मे अभिमण्डित किया तथा उनकी पूजा तथा मन्दिरो में उनकी मूर्तियों की स्थापना शुरू की। उसने राजतन्त्र को अधिक निरंकुश बनाया तथा राजा को न तो किसी के प्रति उत्तरदायी माना, न उनके साथ लोक-कल्याण की कल्पना ही जोड़ी।

सुमेरियाई काल मे कराधान नगर-राज्य करते थे तथा राजा नगर-राज्यो से उनकी आमदनी का एक अंश वसूल करता था, परन्तु बेबीलोनिया ने राजा द्वारा नगरो की प्रजा पर सीधे कराधान की प्रणाली शुरू की। इसी प्रकार सैनिक सेवा के क्षेत्र मे भी उन्होंने राजतन्त्र को सीधा शामिल कर लिया, अब राजा की सेना नगर-राज्यो की सेना से गठित नहीं होती थी वरन् राजा अपनी सेना को सीधे भर्ती करता था। सैनिक सेवा प्रजा के लिए अनिवार्य कर दी गयी। इसका प्रयोजन राजा का प्रभुत्व प्रजा पर प्रत्यक्ष रूप मे स्थापित करना था, साथ ही परिसंघात्मक व्यवस्था को समाप्त करना और नगर-राज्यों के सरदारो की सत्ता को लगभग नष्ट करके राजा के विरुद्ध उनके षड्यन्त्रो की सम्भावनाओं का अन्त करना था।

राज्य के अधिकारियो का कार्यक्षेत्र तथा उनकी सत्ता मे वृद्धि की गयी। राज्य के विरुद्ध अपराधो की सूची पहले की अपेक्षा लम्बी हो गयी और उनके लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की गयी। अपराधियो को पकड़ने के मामले मे राज्य के अधिकारियो की भूमिका अधिक सक्रिय कर दी गयी।

राजा के विरुद्ध द्रोह अथवा षड्यन्त्र करने पर कठोरतम दण्ड का प्रावधान किया गया। प्रजा के मस्तिष्क मे सुमेर राजाओ का प्रजा-पालक के रूप मे जो बिम्ब था उसे लगभग पूरी तरह नष्ट कर दिया गया। प्रजा राजा से आतंकित रहने लगी तथा उसके मन मे राजा के प्रति दैवी श्रद्धा जगाने का जो प्रयास किया गया वह भी आतंक के बल पर ही किया गया। वह राजा को किसी कल्याणकारी देवता के रूप मे ही नही वरन् क्रुद्ध होने पर भस्म कर देने वाले दैत्य के रूप मे भी देखने लगी।

बेबीलोनियाई राजनीतिक और वैधानिक व्यवस्था मे दास प्रथा को सुमेरिया की अपेक्षा अधिक रूढ बना दिया गया। अब किसी दास को अपने मालिक के इस दावे के विरुद्ध आवाज उठाने का अधिकार नहीं रहा कि वह उसका मालिक नहीं है, ऐसा करने पर उसका कान काटने की व्यवस्था कर दी गयी जिससे कि वह जीवन भर अपमानित होता रहे। दूसरे के दासो को अपने यहाँ शरण देना भी भयंकर अपराध मान लिया गया और शरण देने वाले को मौत की सजा की व्यवस्था की गयी।

बेबीलोनियाई काल मे व्यापार और व्यवसाय का काफी विस्तार हुआ था अत राज्य की ओर से उसके नियन्त्रण की व्यवस्था की गयी। व्यापारियो के बीच होने वाले अनुबन्धो पर सरकारी स्वीकृति अनिवार्य मानी गयी। बेचने वाले के अधिकारो को अधिक सुरक्षा प्रदान की गयी तथा खरीददार को उसकी दया पर छोड दिया गया। व्यापार मे साझेदारी, वस्तुओ के सग्रह और बिचौलियो को एजेंसी देने, साहूकारी तथा उद्योगो को नियमित करने के लिए विशद् नियम और कानून बनाये गये। वसीयत, व्याज, रेहन तथा अन्य लेनदेन के मामलो मे कठोर कानून थे। यदि व्यापारी आपस मे कोई अलिखित सौदा कर लेते तो उन्हे मौत की सजा दी जा सकती थी।

खेती का क्षेत्र भी सरकारी नियन्त्रण से मुक्त न था। खेती करना कानूनी कर्त्तव्य माना गया, यदि कोई जमीदार अपनी जमीन मे खेती न करता तो वह दण्ड का पात्र माना जाता था। इसी तरह बाँधो और नहरो को क्षति पहुँचाना अथवा उनकी देखभाल न करना अपराध माना गया था। भूमि सरकारी स्वामित्व मे थी और उस पर राज्य व्यक्तिगत मिलकियत का अधिकार भी दे सकता था, लेकिन चाहे किसान खेत का मालिक हो या जोतदार, उसे हर हालत मे अपनी उपज का दो-तिहाई अश सरकार को देना अनिवार्य था।

इस प्रकार बेबीलोनियाई राज्य सर्वसत्तावादी बन गया था तथा राजा स्वेच्छाचारी। वह अपना प्रधान सेनापति तथा प्रधान पुरोहित भी स्वय ही होता था। राजा मे राजनीतिक, सैनिक और धार्मिक तीनो सत्ताएँ केन्द्रित कर दी गयी थी।

असीरियाई राजनीतिक चिन्तन और सस्थाएँ

मैसोपोटामिया की विविध जातियो मे असुर जाति ही ऐसी थी जिसमे अपने पृथक् अस्तित्व तथा जातीय चरित्र और गौरव की चेतना थी। यह जाति पठारी क्षेत्र मे असुर देवता की उपासना करने वाले असुर लोगो से बनी थी। आरम्भ से ही इन्हे विदेशी आक्रमणो का सामना करना पडा अत असीरियाई लोग युद्धप्रिय और सैनिक जाति बन गये। इन्होने अपने देश मे आक्रमणकारियो मे भूमि का लोभ देखा था अत इनके मन मे सहज ही दो वासनाएँ प्रबल हो उठी—पहली तो यह कि असीरिया मे एक सुदृढ सैनिक राज्य की स्थापना की जाये जिससे कि किसी की हिम्मत न हो सके कि इनकी ओर आँख उठा कर देख सके, दूसरी यह कि असीरिया की सीमाओ का विस्तार किया जाये।

असीरियाइयो के लिये राज्य एक विराट् सैनिक यन्त्र और तन्त्र बन गया, अत यह स्वाभाविक था कि राज्य की सत्ता सेनापतियो के हाथो मे चली गयी और सेनापति ही समाज का समृद्धतम वर्ग बन गये। वे युद्धो मे विदेशी प्रजा को लूटकर धन लाते तथा विदेशो मे जीत मिलने पर उन्हे राज्य की ओर से बडी जागीरे इनाम मे मिलती जिनके बलबूते पर वे मालदार बनते चले गये।

असीरियाइयो ने अपने सैनिक सगठन के प्रत्येक पक्ष पर ध्यान दिया, शस्त्रो पर भी। वे बहुत तेज, नुकीले और विषैले तीर, लोहे की तलवारे, पैने बरछे और भाले तथा भारी गदाएँ इस्तेमाल करते, शरीर पर कवच पहनते और सिर पर लोहे के टोप (हैलमेट) पहनते। उन्होने इस प्रकार के शस्त्र ढोने के लिए विशेष प्रकार की कवचबद्ध गाडियाँ भी बनायी।

असीरिया की सभ्यता का सबसे कमजोर पहलू यह था कि उनमें सैनिक-नैतिकता और गरिमा लेशमात्र न थी। वे शत्रु के प्रति पूरी बर्बरता से पेश आते। युद्धबन्दियों के अंगभंग कर देते, लिंग तक, और उन्हें पिंजरो में बन्द करके उनका सार्वजनिक प्रदर्शन करते जिससे कि प्रजा में आतंक फैल जाये। वे केवल सैनिकों के साथ यह दुर्व्यवहार नहीं करते, असैनिकों के साथ भी ऐसा ही क्रूरतापूर्ण व्यवहार करते। इससे वे गौरव महसूस करते थे और उन्होंने स्वयं इन क्रूरताओं का बखान अपने मुँह से किया जिनका उल्लेख अनेक शिलालेखों और मिट्टी की पट्टिकाओं पर मिलता है।

असीरियाई राजा और सैनिक विदेशों में ही नहीं मैसोपोटामिया के अन्य भागों में भी असभ्य और घृणित माने जाते थे। वे मैसोपोटामिया के अन्य भागों के लोगों के साथ वैसा ही व्यवहार करते जैसा कि विदेशियों के साथ करते थे। वे बर्बर लुटेरे थे उनमें साम्राज्यवादियों जैसी दूरदृष्टि और शालीनता न थी।

यही कारण था कि उसने अपने चारों ओर शत्रु बना लिये जो हर समय उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करते रहते थे। एक विशाल और सुसज्जित सेना के बावजूद असीरिया अपने विस्तृत साम्राज्य को एक शताब्दी से अधिक समय तक न रख सका। इतना ही नहीं, उसके शत्रुओं ने उससे उसकी बर्बरताओं का बर्बरतापूर्वक बदला लिया। केवल राजाओं, सेनापतियों और सैनिकों ही नहीं, असीरिया की आम जनता को भी भारी तादाद में मौत के घाट उतार दिया गया और जो लोग जीवित बचे केवल इसलिए कि उन्होंने दास बनना स्वीकार कर लिया। असीरिया की सभ्यता पूरी तरह समाप्त हो गयी और उसके बाद मानव जाति के इतिहास पर असीरिया का न कोई प्रभाव रहा न नामोनिशान ही बाकी रहा।[1]

असीरिया के बारे में यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है कि प्रारम्भिक काल में वहाँ की राजनीतिक संस्थाएँ असुर देवता की प्रतिनिधि मानी जाती थी। यद्यपि राजा सेना का सर्वोच्च नायक होता था तथापि वह एक सेनाध्यक्ष की नियुक्ति करता था जिसे लिम्मू (Limmu) पदाधिकारी अथवा तुर्तानू (Turtanu) कहते थे। यह राजा का विश्वासपात्र होता था। तुर्तानू सेनाध्यक्ष के अलावा अपने जिले का प्रशासक अथवा गवर्नर भी होता था। जिलों के गवर्नरों की नियुक्ति राजा करता था।

राजा की ओर से जीते गये प्रदेशों में भी प्रशासक नियुक्त किये जाते थे जिन्हें शक्नू अथवा उरासू (Shaknu/Urasu) कहा जाता था। उन प्रदेशों में शक्नू की इच्छा ही कानून होती थी।

कालान्तर में जब प्रशासन को और अधिक चुस्त बनाने तथा जिलों में विद्रोह की सम्भावनाओं को समाप्त करने की आवश्यकता उत्पन्न हुई तो जिलों को छोटा किया गया और उन्हें पखाती (Pakhatu) नाम से पुकारा जाने लगा। असुर जिला जिसमें असुर देवता का मन्दिर था, दो भागों में बाँटा गया। मन्दिर वाला जिला असुर ही कहलाया और दूसरे पखाती को एकाल्लेत (Ekatlate) नाम दिया गया।

1 *E. M. Burns* : Western Civilizations, 1968, p. 60

पखाती के प्रहशासक की नियुक्ति राजा करता था तथा उसको बेल पखाती (Bel Pakhatı) अथवा शक्नू कहा गया। सहायक प्रशासक को आमेलू-शक्नू (Amelu-Shaknu) कहा गया। नगरो का प्रबन्ध अलग अधिकारी को सौपा गया तथा प्रत्येक नगर मे एक खाजानू (Khazanu) को नियुक्त की गयी। इनके अतिरिक्त बहुत से अधिकारी इनकी सहायता के लिए नियुक्त किये जाते थे। इतने अधिकारियो की नियुक्ति का प्रयोजनन शेरो और जिलो मे विद्रोह और षड्यन्त्रो की सम्भावना को समाप्त करना था। प्रशासन का कोई भी अधिकारी जिला अधिकारी के प्रति जिम्मेदार नही होता था, वे सब सीधे राजा के प्रति उत्तरदायी होते थे और राजा की ओर से दूसरे अधिकारियो के विरुद्ध जासूसी करते थे। जिला प्रशासन को पुनर्संगठित करने का काम तिगलथ पिलेसर-तृतीय के जमाने मे किया गया।

राजा प्राय युद्धो मे व्यस्त रहते और राजधानी से महीनो तक बाहर रहते थे। उनके पीछे शासक चलाने का भार राजमहिषी और युवराज पर होता था। वे दोनो शान्तिकाल मे भी राजा के साथ शासन-प्रबन्ध मे भाग लेते थे। दोनो के अपने राजमहल, दरबार और सेवक होते थे। असीरिया के प्रशासन मे उनका भारी महत्त्व था।

खल्द राजनीतिक चिन्तन और सस्थाएँ

खल्द शासक किसी विकसित सभ्यता के उत्तराधिकारी न थे। असीरियाइयों की तरह वे भी एक सैनिक जाति थे, लेकिन प्रकृतिश वे असीरियाइयो से भिन्न थे। उन्होने बेबीलोन की सभ्यता की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया था तथा वे उसे अपनाने मे लगे रहे।

खल्द-राजवश मैसोपोटामिया का अन्तिम राजवश था। उसने बेबीलोनियाई सभ्यता को पुन स्थापित करने की भरसक कोशिश की, तथा राजनीतिक व्यवस्था को पुन नगर-राज्यो पर आधारित करना चाहा, लेकिन वास्तव मे असीरियाई शासनकाल मे सब कुछ इतना अधिक बदल चुका था कि उससे पीछे मुडना आसान न था। राजनीतिक सस्थाएँ नष्ट हो चुकी थी, एक अमोरियाई राजा ने बेबीलोन को नष्ट कर दिया, दूसरे ने उसका पुनर्निर्माण करा दिया, इससे वहाँ के लोगो के मन मे एक अजीब किस्म की कटुता आ गयी थी और समूची राज्य-व्यवस्था को शका की दृष्टि से देखने लगे थे। खल्द शासक बेबीलोनियाई न थे, यह बात वे जानते थे और बेबीलोनवासी भी जानते थे अत वे बेबीलोन मे फिर से न तो आत्मविश्वास ही जगा पाये न राष्ट्रीय चेतना ही।

मैसोपोटामिया का दुर्भाग्य यह था कि उसके विभिन्न क्षेत्रो के लोग एक-दूसरे को तबाह कर रहे थे, इस तरह वे सभी तबाह हो गये और जो प्रदेश किसी जमाने मे समृद्ध और सम्पन्न था, आज तक दुर्दिन से नही उबर पाया है।[1]

---

1 *Edward McNall Burns* : Western Civilizations, 1968, p. 59-60

मैसोपोटामिया : समाज, अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकी

(Mesopotamia : Society, Economy & Technology)

पिछले अध्यायो मे यह बात स्पष्ट हो गई है कि मैसोपोटामिया एक राष्ट्र के रूप मे विकसित नही हो पाया, उसमे उनके राष्ट्रीय समूह प्रभुता के लिए संघर्ष करते रहे। ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक था कि मैसोपोटामिया किसी एक समान सामाजिक अवधारणा का विकास नही कर पाया तथा असीरिया, बेबीलोनिया और सुमेर मे अलग-अलग समाज-व्यवस्थाएँ पनपती रही।

सुमेरियाई सामाजिक व्यवस्था

मैसोपोटामिया मे सभ्यता के अकुर पहले-पहल सुमेर क्षेत्र मे फूटे और उसने ही मैसोपोटामिया को एक राष्ट्र बनाने की चेष्टा की, लेकिन नियति को वह मजूर न था। सुमेर क्षेत्र मे समाज की व्यवस्था विषमताओ पर खडी हुई थी। राजा और नगर-राज्यो के प्रमुख समाज से अलग और परे थे। वे स्वेच्छाचारी थे तथा उन पर समाज की कोई व्यवस्था लागू नही होती थी। कालान्तर मे नगर-राज्यो के प्रमुख राजा के नियन्त्रण मे तो आ गए लेकिन वे समाज के भीतर शामिल नही हो पाये, उनका वर्ग समाज से अलग ही रहा।

समाज तीन स्तरो पर सगठित था। सबसे निचले स्तर पर बँधक, खेतिहर मजदूर और दास थे, उनके ऊपर जन-साधारण अथवा मध्यम वर्ग तथा सबसे ऊपर कीसीढी पर अभिजात वर्ग अथवा समृद्ध वर्ग।

खेतिहर मजदूरो और दासो की स्थिति मे विशेष अन्तर न था, हाँ इतना अवश्य था कि दास प्राय विदेशी होने के कारण समाज मे हेय की दृष्टि से देखे जाते थे, जबकि खेतिहर मजदूर समाज का अभिन्न अग माने जाते थे। इन वर्गों के बीच

संचार की व्यवस्था सेना के माध्यम से स्थापित हुई थी। खेतिहर मजदूर जब सेना मे भर्ती हो जाते और ऊँचे पदों पर पहुँच जाते तो वे जन-साधारण अथवा अभिजात वर्ग मे शामिल हो जाते थे। दासो को भी जब सेना मे भर्ती कर लिया जाता तब उनका स्तर बदल जाता था और वे सामान्यतया जन-साधारण वर्ग में गिने जाने लगते थे।

जन-साधारण मे छोटे व्यापारी, दस्तकार, राज्य के साधारण कर्मचारी, छोटे जमीदार और साहूकार शामिल थे। यह समाज का बहुसंख्यक वर्ग था तथा जब इस वर्ग का कोई व्यक्ति सेना अथवा राज्य मे कोई उच्च पद प्राप्त कर लेता अथवा व्यापार तथा उद्योग के द्वारा खूब सम्पन्न हो जाता तो वह अभिजात वर्ग में स्थान प्राप्त कर लेता था।

अभिजात वर्ग मे उच्च सैनिक अधिकारी, राज्य के उच्च अधिकारी, धनी व्यापारी और ऐसे जमीदार शामिल होते थे जिन्हें राजा की ओर से बडी जागीरें भेंट अथवा पुरस्कार मे दी जाती थी। यह समाज का सर्वोच्च वर्ग था। इस वर्ग के व्यक्ति के जीवन का मूल्य जन-साधारण अथवा निम्न वर्ग की अपेक्षा अधिक माना जाता था, लेकिन जब इस वर्ग का सदस्य कोई अपराध करता था, तब भले ही वह अपराध राज्य के विरुद्ध हो या आम लोगों के प्रति, वह एक गम्भीर अपराध माना जाता था और उसकी सजा वैसे ही अपराध करने वाले दोनो निचले वर्गों के व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक होती थी।

यह व्यवस्था सामाजिक न्याय की इस धारणा पर आधारित थी कि अभिजात वर्ग के लोग राज्य और समाज के हित-रक्षक हैं, उन्हे दोनों की ओर से अधिक सुविधाएँ और सम्पत्ति प्राप्त हुई है अतः उनसे अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार और आचरण की अपेक्षा होती है। यदि बाड़ ही खेत को खाने लग जाये तब उस बाड को नष्ट करना ही खेत की रक्षा का एकमात्र उपाय रह जाता है। इस तर्क के आधार पर ही अभिजात वर्ग के लोगो द्वारा किए गए अपराधो के लिए अधिक भारी दण्ड का प्रावधान किया गया था।

सुमेरिया मे समाज का नियमन सामान्यतया धार्मिक मर्यादा द्वारा होता था तथा यदि कभी राज्य को उसमें हस्तक्षेप करना पडता तो धर्म और देवता के आदेश की आड मे ही वैसा किया जाता था। राजा से यह अपेक्षा की गई थी कि अभिजात वर्ग की तरह वह भी प्रजा के हितो का ध्यान रखेगा, लेकिन राजा पर राज्य की रक्षा और उसके विस्तार का भार होता था अतः उसे अपने प्रजाजनो को सेना मे भर्ती होने और अपने जीवन तथा आर्थिक साधनो को राज्य के लिए समर्पित करने का कठोर आदेश देना पडता था।

बेबीलोन की सामाजिक व्यवस्था

बेबीलोन मे भी समाज इसी प्रकार के तीन वर्गों मे बँटा हुआ था। वहाँ दासो को उनके स्वामियो की सम्पत्ति माना जाता था तथा किसी दास द्वारा अपने स्वामी के अधिकार को चुनौती दिये जाने पर उसके कान काट लिए जाते थे। दासो

की खरीद-बिक्री के नियमो का निर्धारण राज्य द्वारा किया गया था। स्वामी अपने दासो को स्वतन्त्र भी कर सकता था। युद्ध के समय बन्दी बनाये गए लोग भी दास होते थे।

बेबीलोनिया मे दास हेय दृष्टि मे नही देखे जाते थे, मध्यम वर्ग की स्वतन्त्र स्त्रियाँ भी दासो के साथ विवाह कर लेती थी और उनके बच्चे अपनी माँ की तरह स्वतन्त्र होते थे, दास नही। इसी प्रकार स्वतन्त्र वर्ग का पुरुष अपनी दासी को अपनी उप-पत्नी बना सकता था और जैसे ही उस पुरुष की मृत्यु होती उसको उस उप-पत्नी और उससे होने वाले बच्चो को स्वतन्त्र नागरिक मान लिया जाता था। पिता द्वारा वसीयत मे उनको उत्तराधिकार दे दिया जाता तो वे उसकी सम्पत्ति के उत्तराधिकारी भी मान लिए जाते थे। सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवस्था यह थी कि यदि कोई दास कर्ज लेकर अथवा अपनी कमाई मे से पैसे बचा कर अपने मालिक को वह कीमत चुका देता जिसमे उसे खरीदा गया था, तो उसे मुक्त कर दिया जाता था।

परिवार—बेबीलोनिया मे सामान्यतया एक-विवाह प्रथा थी, लेकिन पुरुषो को अनेक उप-पत्नियाँ रखने का अधिकार था। विवाह को अनुबन्ध माना गया था, लेकिन वह अनुबन्ध एकतरफा शर्तों के आधार पर होता था जिनका निर्धारण पति द्वारा किया जाता था, मगर स्त्रियो के हक मे यह व्यवस्था बहुत महत्त्वपूर्ण थी कि पति और पत्नी का सम्पत्ति पर सयुक्त अधिकार होता था और दोनो की सहमति के बिना सम्पत्ति का आदान-प्रदान नही किया जा सकता था।

स्त्रियो को तलाक का अधिकार तो था ही, पुनर्विवाह का अधिकार भी था। सैनिको की पत्नियो को अपने पतियो के लम्बे समय तक घर से बाहर रहने पर भी पुनर्विवाह का अधिकार न था। स्त्रियाँ अपने पतियो को पुरुषो की तरह बिना अदालत मे जाए तलाक नही दे सकती थी, किन्तु यदि कोई पत्नी पति के विरुद्ध शिकायत लेकर अदालत मे जाती तो अदालत उसे तलाक प्रदान कर सकती थी, मगर उसमें शर्त यही थी कि पत्नी का किसी अन्य व्यक्ति के साथ अनुचित सम्बन्ध न रहा हो। यदि तलाक माँगने वाली पत्नी का चरित्र दोषपूर्ण पाया जाता तो उसे डुबोकर मार दिया जाता था।

बेबीलोनिया मे सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित बनाने के लिए राजाओ ने, विशेषत हम्मूराबी ने तरह-तरह के कानून बनाए। उसका दृष्टिकोण यह था कि पुरुषो को सेना मे भर्ती होकर लम्बे समय के लिए बाहर जाना पडता है, ऐसी स्थिति मे स्त्रियो को देशकाल की परिस्थिति समझकर सच्चरित्र रहना चाहिए, फिर भी उन्हे इस बात की छूट थी कि यदि वे पति की अनुपस्थिति मे आर्थिक दृष्टि से विपन्न हो जायें तो पुनर्विवाह कर सकती हैं और यौन-जीवन व्यतीत कर सकती हैं, नये पति से सन्तान उत्पन्न कर सकती हैं, लेकिन पति के युद्ध से लौटने पर यदि वह चाहे तो उसके साथ ही रहना होता था और दूसरा पति अपनी सन्तान को लेकर उसे छोडने के लिए विवश होता था।

असीरियाई समाज और सामाजिक संस्थाएँ

असीरिया मे समाज दो स्तरो पर विभक्त था—पहला तो स्वतन्त्र और दास के आधार पर और दूसरे स्तर पर स्वतन्त्र वर्ग तीन वर्गों में विभक्त था—मारबानूती (Marbanutı), उन्मने (Unmane) और मजदूर वर्ग। मारबनूती समाज का अभिजात वर्ग था, उन्मने मध्यम वर्ग।

इन वर्गो की संरचना लगभग सुमेर और बेबीलोन जैसी ही थी। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि असीरिया की शासन-व्यवस्था मे महिलाओ को प्रदेशो के गवर्नर पद तक प्रदान किये जाते थे। ये महिलाएँ प्रायः अभिजात वर्ग की ही होती थी।

उन्मने वर्ग मे समाज के व्यवसायी, दस्तकार तथा साहूकार जैसे लोग होते थे जो अपने-अपने धन्धो मे लगे होते थे। अलग-अलग व्यवसायियो की अलग बस्तियाँ होती थी तथा वे अपने मामलो का फैसला अपनी पचायतो मे करते थे। असीरिया मे सैनिक सेवा अनिवार्य होने के कारण लोग अपने दासो को सेना मे भेजकर खुद सैनिक-सेवा से बच जाते थे।

असीरिया एक सैनिक व्यवस्था वाला राज्य था, अत. उसमे सामाजिक दृष्टि से घोर विसगतियाँ उत्पन्न हो गई थी। एक ओर असीरिया ससार का पहला प्राचीन राज्य था जहाँ स्त्रियो को ऊँचे शासकीय पद दिये जाते थे, दूसरी ओर वहाँ अभिजात वर्ग को छोडकर अन्य वर्गों की स्त्रियो को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता न थी। यदि कोई स्त्री गर्भपात करा लेती तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। स्त्रियो के लिए अधिक से अधिक सन्तान पैदा करना अनिवार्य था जिससे कि सैनिको की कमी न पडने पाये। पत्नियाँ पतियो की गुलाम होती थी। पुरुष चाहे जितने विवाह कर सकता था। पत्नियो को किसी प्रकार के अधिकार न थे। पति बिना कारण बताये अपनी पत्नी को तलाक दे सकता था। स्त्रियाँ सार्वजनिक स्थानो पर नही जा सकती थी और यदि उन्हे किसी अवसर पर बाहर निकलना ही पडता तो अपना सिर और चेहरा ढँकना पडता था। स्त्रियो के पर्दे की शुरुआत यही से हुई।[1]

सबसे अधिक दुर्दशा युद्ध मे बन्दी बनाकर लाये गये दासो की होती थी, उनसे राजमहलो, मन्दिरो, नहरो और सडको के निर्माण का काम लिया जाता था। उन्हे जजीरो से बाँधकर रखा जाता, खाने के लिए मामूली भोजन दिया जाता और इस सीमा तक काम लिया जाता कि वे थककर चूर हो जाते और दम तोड देते।

असीरिया मे स्त्रियो की दुर्दशा का पता इस बात से चलता है कि पिता को यह अधिकार था कि वह अपनी बेटी का विवाह किसी भी पुरुष के साथ कर सकता था, और वह चाहता तो उसे अपने ऋणदाता के पास जमानत के तौर पर भी रख सकता था। हालांकि पिता का यह कर्त्तव्य माना गया था कि वह उसे जमानत से मुक्ति दिलाये तथापि प्राय. पिता बिना ऐसा किये ही कर्जे मे मर जाते थे और

1 *A. T E Olmstead*. History of Assyria, p 553.

कानून भाइयो को बहिन की मुक्ति के लिए जिम्मेदार मानता। यदि उसे एक निश्चित अवधि के भीतर मुक्त न कराया जाता तो उस पर ऋणदाता का अधिकार हो जाता था तथा वह उसके साथ विवाह कर सकता था। वह उसके साथ दुराचार करते रहने के बावजूद विवाह से इन्कार कर सकता था। इस तरह एक कन्या का जीवन अपने पिता का ऋण चुकाने मे तबाह हो सकता था। ऐसा प्राय होता था।

पिता को अपनी सन्तान को बेचने का पूरा अधिकार था। ऐसे बच्चे जीवन भर दास बनकर जीते थे और पिता को कोसते रहते थे। लडकियो की खरीद-फरोख्त भी आम बात थी। कुछ लोग अपने लिए पत्नियाँ खरीद लेते थे। पत्नियो की सख्या पर तो प्रतिबन्ध न था लेकिन पहली पत्नी को ही पत्नी के कानूनी अधिकार थे, अन्य पत्नियो और उनकी सन्तानो को वे अधिकार तब तक नही मिलते थे जब तक कि वसीयत मे उन्हे वे अधिकार न दे दिये गए हो। स्त्रियाँ पिता के घर से जो सम्पत्ति लाती थी वह उनकी ही रहती थी और उनके बाद उनके ही बच्चो को मिलती थी, उस पर उनके पतियो तथा पतियो के अन्य पत्नियो से उत्पन्न होने वाले बच्चो का अधिकार नही होता था।

अर्थव्यवस्था

सुमेरिया

सुमेरिया की प्राचीन सभ्यता मे अर्थव्यवस्था पर राज्य का कठोर नियन्त्रण न था। प्रदेश की अधिकांश भूमि पर निजी स्वामित्व था। कुछ भूमि पर मन्दिरो का स्वामित्व था। अधिसख्य नागरिक खेती पर निर्भर थे। जमीदार स्वय खेती नही करते थे, वे अपने बन्धक, खेतिहर मजदूरो और दासो से खेती कराते थे। सुमेरिया के लोग कुशल किसान होते थे और उन्हे सिंचाई का उत्तम कोटि का ज्ञान था अत वे अनाज, दलहन, तिलहन, कपास और फलो की भरपूर फसलें उगाते थे। नदियो द्वारा अपने साथ लायी गई दुम्मट मिट्टी बहुत ही उपजाऊ थी। सिंचाई के लिए दजला और फरात का जल बारह महीने प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध रहता था।

समाज मे जैसे-जैसे पुरोहितो और अभिजात वर्ग का फैलाव होता गया वैसे-वैसे अधिकांश भूमि उनके पास चली गई और छोटी जोतें बहुत ही कम रह गयी। अधिसख्य किसान बँटाई पर खेती करते।

आम लोगो के पास दो जून रोटी का भी ठिकाना न था, वे मजदूरी पर निर्वाह करते थे। किसानो को अपने खेतो की दो-तिहाई उपज जमीनो के मालिको का देनी पडती थी, और एक-तिहाई मे वे अपना और मजदूरो तथा दासो का गुजारा करने को विवश थे।

सुमेरिया मे राज्य की आय का दूसरा स्रोत व्यापार था। जैसे-जैसे सुमेरियाई साम्राज्य का विस्तार हुआ, मैसोपोटामिया के अन्य भागो और विदेशो के साथ सुमेरियाई व्यापार मे वृद्धि होती गई, लेकिन यह भी सामान्य जनो के हाथ मे न

था। अधिकांश व्यापार मन्दिरों के पुजारियों और पुरोहितों के हाथों मे था, अभिजात वर्ग के अन्य लोग भी व्यापार मे भाग लेते थे। व्यापार की आय का बड़ा भाग राजा ले लेता था और शेष अभिजात वर्ग के पास चला जाता था, सामान्य जन को कुछ नही मिल पाता था।

यह उल्लेख पीछे किया जा चुका है कि सुमेरिया मे व्यापार-व्यवसाय को नियन्त्रित करने के लिए अनेक कानून बनाये गये। व्यापार के सिलसिले में प्रयोग मे आने वाले विविध अनुबन्ध-पत्रों—जैसे बिल, रसीद, हुण्डी आदि का प्रयोग सुमेरिया में आम तौर पर किया जाता था। राज्य के कानून व्यापारिक और व्यावसायिक विवादो का निपटारा अनुबन्ध-पत्रों के आधार पर करता था तथा इन अनुबन्धो का सरकारी कार्यालयों में पजीयन अनिवार्य माना गया था।[1]

उद्योगो के क्षेत्र में सुमेरिया के लोग कपडा बुनना, हथियार बनाना, धातुओ के बर्तन, लकडी का सामान और मन्दिरो, भवनो तथा सडको और नहरों का निर्माण जानते थे तथा इन उद्योगों मे काफी लोगो को काम मिलता था, मगर मजदूरी की दरें बहुत कम थीं और आम आदमी किसी तरह गुजर ही कर पाता था, न बच्चो को शिक्षा दे पाता, न ढग के कपड़े पहना पाता।

बेबीलोनिया

बेबीलोनिया मे भी अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि ही थी। भूमि को तीन श्रेणियो मे बाँटा गया था—कृषि की भूमि, चरागाह तथा नदियो की वन-सकुल घाटियाँ, तथा उद्यान। चरागाह और घाटियाँ सबके उपयोग के लिए खुले थे और उनमे पशु बे-रोकटोक चरते थे। उद्यान अभिजात वर्गों के लोगों के पास ही होते थे तथा उनमें तरह-तरह के फल उगाये जाते थे। इनमे दास अथवा बन्धक मजदूर काम करते थे और मालिक उन्हे मजदूरी चुकाते थे।

खेतो की भूमि का स्वामित्व चार प्रकार का था—राजा की भूमि, मन्दिरों की भूमि, सार्वजनिक भूमि और व्यक्तिगत भूमि। जो किसान परती भूमि को खेतो के योग्य बनाते थे वह उन्हे ही दे दी जाती थी। राजा की भूमि, मन्दिरो की भूमि और व्यक्तिगत भूमि पर बँटाई पद्धति से खेती कराई जाती थी। सार्वजनिक सम्पत्ति मे जो भूमि आती थी उसका राजा की ओर से ट्रस्टी नियुक्त किया जाता था, जिसको वह भूमि बेचने का अधिकार नही होता था। व्यक्तिगत भूमि को भी केवल ऋण चुकाने के लिए ही बेचा जा सकता था। इस भूमि पर उत्तराधिकार के नियम लागू होते थे।

बँटाई मे मालिक का हिस्सा उपज के अनुपात मे तय होता था, यदि फसल को बाढ, टिड्डी दल अथवा भेड़ों आदि पशुओं के चर जाने से नुकसान पहुँच जाता तो मालिक के हिस्से मे नुकसान के अनुपात मे कमी कर दी जाती थी। भेड़ों द्वारा फसल चर जाने पर उनके मालिक को मुआवजा देना पड़ता था।

1 *S. N. Karmer* : History Begins at Sumer, pp. 106-107.

सिंचाई के लिए कुछ नहरें राज्य की ओर से बनायी जाती थी, कुछ मन्दिरो की ओर से, और कुछ व्यक्तिगत मालिको की ओर से। इनकी देखभाल की सावधानी रखी जाती थी और नहरो को नुकसान पहुँचाने वालो को कठोर दण्ड दिया जाता था। नहरें सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत दोनो क्षेत्रो मे आती थी लेकिन उनके रख-रखाव की जिम्मेदारी नहरो के क्षेत्र मे पडने वाले किसानो की होती थी।

नहरो का दूसरा उपयोग फसलो को बाजारो तक लाने ले-जाने तथा अन्य यातायात के लिए भी किया जाता था। नहरो मे मछली भी खूब होती थी तथा नहरें जिन गाँवो के पास से होकर जाती और जो गाँव नहरो की देखभाल के लिए जिम्मेदार ठहराये जाते उन्हे बिना कोई शुल्क दिए मछली पकडने का अधिकार दिया गया था।

बेबीलोनिया मे उद्योगो का भी भारी विकास हुआ था। इनमे शस्त्रास्त्र, औजार, मिट्टी के बर्तन, कपडा, ईंट तथा आभूषण बनाने के उद्योग प्रमुख थे। लेकिन इन उद्योगो मे निर्मित वस्तुओ का प्राय निर्यात नही हो पाता था। निर्यात के लिए इस क्षेत्र के निवासियो के पास खेती की उपज ही प्रमुख वस्तु थी। कुछ मात्रा मे ऊन भी निर्यात की जाती थी।

बेबीलोनिया का व्यापार मैसोपोटामिया के भीतर और उसके बाहर भी खूब विकसित था। वहाँ लकडी और पत्थर का अभाव था अत इनका आयात किया जाता था, विशेषत आबनूस की लकडी और हाथी दाँत का।

औजारो, नौकाओ, घरो और दासो को किराए पर लेने-देने का रिवाज था। किराए की दरो का नियमन राज्य के कानूनो द्वारा किया जाता था। कर्ज और उस पर ब्याज की दरो के बारे मे भी निश्चित नियम थे जिनके उल्लघन पर दण्ड की व्यवस्था थी। विनिमय के लिए किसी प्रकार की मुद्रा का प्रचलन न था, विनिमय का मुख्य माध्यम जौ था। राज्य के अधिकारियो और कर्मचारियो का वेतन जौ के रूप मे चुकाया जाता था। व्यापारियो के बडे लेन-देनो के लिए चाँदी और ताँबे का प्रयोग भी होता था, लेकिन उनका मूल्य जौ मे निकालना होता था।

असीरियाई अर्थ-प्रणाली

असीरिया मे भी अर्थ-व्यवस्था कृषि-प्रधान थी। भूमि पर परम्परागत स्वामित्व चला आता था, तथा बहुत बार राजा अपने कृपापात्रो को गाँव के गाँव जागीर मे दे देता था। सेनापतियो तथा अभिजात वर्ग के पास सबसे अधिक भूमि होती थी। घर बनाने के लिए सबको भूमि नि शुल्क दी जाती थी। खेती या तो बन्धक खेतिहर मजदूरो से कराई जाती या बँटाई पर दे दी जाती। किसानो की हालत बहुत खराब थी और जमीदार मौज करते थे। समूची अर्थव्यवस्था अभिजात वर्ग के लिए खडी की गई थी। जन-साधारण, मजदूरो और दासो के लिए कच्चे घरो और रूखी रोटियो के सिवाय कुछ न था। उनका मुख्य काम सन्तान पैदा करना और राजा को सेना के लिए सैनिक जुटाना था जिन्हे राजा अपने

विजय-अभियानो मे गाजर-मूली की तरह कटवा देते थे। माता-पिता से उनके लडके जबर्दस्ती छीन लिए जाते थे।

यो तो राज्य मे निर्माण का काम बडी मात्रा मे चलता रहता था लेकिन उसमे ज्यादातर वे दास लगाए जाते थे जिन्हे युद्धो मे बन्दी बनाकर लाया जाता था। कुशल कारीगरी के लिए असीरियाई कलाकारो, वास्तुविदो और स्थापत्यकारों का सहयोग लिया जाता था तथा उन्हे पुरस्कृत किया जाता था।

असीरिया मे उद्योगो का भी विकास हुआ, लेकिन वे सब राजा, सेना और अभिजात वर्ग के इर्दगिर्द पनपे, जैसे शस्त्रास्त्र और रथो का निर्माण, आभूषणो और शृगार की विविध सामग्री का उत्पादन, राजमहलो और अभिजात वर्ग के भवनो के लिए फर्नीचर--कुर्सी, मेज, पलग। राजसी फर्नीचर मे तो सोने, चाँदी और हीरे-जवाहरात का प्रयोग भी होता था। हाँ, कभी-कभी जन-साधारण के लिए भी ताँबे का जेवर बनाया जाता था जिस पर सोने की पालिश या मुलम्मा चढाया जाता था।

असीरिया मे राज्य व्यापार और वाणिज्य की उन्नति के लिए प्रोत्साहन देता था। व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा की व्यवस्था की जाती थी। व्यापारियो के बडे काफिले देश-विदेश मे व्यापार के लिए निकलते थे। व्यापारी साहूकारो से ब्याज पर सम्पत्ति उधार लेकर व्यापार करते और 25 प्रतिशत तक ब्याज चुकाते थे। इससे यह ज्ञात होता है कि व्यापार मे मुनाफे की दर काफी ऊँची थी। व्यापारियो को राज्य-कर भी देने पडते थे।

असीरिया किसी जमाने मे एक समृद्ध राष्ट्र बन गया था, लेकिन यह भ्रम रखना ठीक नही होगा कि यह समृद्धि असीरिया के उद्योग, व्यापार और कृषि का परिणाम थी। वास्तविकता यह है कि असीरियाई राजा बर्बर लुटेरे थे। वे जब विदेशो मे सैनिक अभियान पर निकलते तो अन्धाधुन्ध लूटपाट मचाते थे। उनके लेखो से पता चलता है कि वे सीरिया, मिस्र, इजरायल आदि से भारी मात्रा मे सम्पत्ति लूटकर असीरिया लाते थे। इस लूट मे बडा हिस्सा राजा का होता था, उसके बाद सेनापतियो तथा अन्य सैनिक अधिकारियो का हिस्सा रहता तथा अन्त मे एक भाग उस सैनिक के पास भी रह जाता था जो लूट करता था। असीरिया मे शायद ही कोई ऐसा घर बचा हो जिसके पति, पिता, भाई, पुत्र या दामाद युद्ध मे काम न आए हो, और ऐसा भी शायद कोई घर न बचा हो जिसका कोई न कोई पुरुष सैनिक-अभियानो से सम्पत्ति लूटकर न लाया हो।

यह सही है कि असीरिया की खुदाइयो मे समृद्धि के लक्षण मिले है, लेकिन वह समृद्धि किसी अर्थ-व्यवस्था का फल न थी, वह समृद्धि युद्ध मे से पैदा हुई थी। असीरिया के शासक इतने बर्बर और विवेकहीन हो गए थे कि वे जब मैसोपोटामिया के ही एक प्रदेश बेबीलोनिया पहुँचे तो उन्होने उसे भी विदेश ही माना तथा वहाँ भी हत्या और लूटपाट का ऐसा नग्न ताण्डव किया कि सम्पन्न बेबीलोन नगर तबाह हो गया। यह सम्पन्नता युद्ध मे ही नष्ट भी हुई, पूर्णतया नष्ट हो गई।

प्रौद्योगिकी
(Technology)

असीरिया की खुदाइयो मे मिले प्रमाणो से सिद्ध होता है कि समकालीन मिस्र, बेबीलोन और सुमेर जैसे विकसित प्रदेशो मे जिस प्रौद्योगिकी का विकास हुआ था वह असीरिया मे भी पहुँच गई थी। असीरिया मे इस प्रौद्योगिकी का विकास स्थानीय तौर पर नही हुआ था, वरन् जव असीरियाई राजा मिस्र, सीरिया अथवा इजरायल के अभियानो पर निकलते तो वहाँ से सम्पत्ति तो लूट कर लाते ही थे, वहाँ के कुशल स्थापत्यकारो, कलाकारो, कारीगरो और वास्तुकारो का अपहरण करके अथवा उन्हे युद्ध वन्दी बनाकर साथ ले आते थे। वे उनकी प्रौद्योगिकी का लाभ निर्माण कायो मे तो लेते ही थे, अपने नागरिको को उसकी शिक्षा भी दिलाते थे, उसके वाद यह प्रौद्योगिकी पीढी-दर-पीढी विकसित होती जाती।

यहाँ हम जिस प्रौद्योगिकी का वर्णन कर रहे है उसमे कृषि, उद्योगो और निर्माण की प्रौद्योगिकी शामिल है। जहाँ तक कृषि का प्रश्न है, समूचे मैसोपोटामिया मे खेती के लिए लकडी के हल का प्रयोग किया जाता था जिसका फाल लोहे का होता था। फसल काटने के लिए हँसिये का इस्तेमाल होता था और अनाज को भूसे से अलग करने के लिए उसे बैलो के पैरो के नीचे कुचला जाता था।

खेती मे सवसे अधिक महत्त्व सिंचाई का था। दजला और फरात मे पूरे साल पानी की कमी न थी लेकिन मूल प्रश्न सिंचाई का था। सुमेरिया से लेकर असीरिया तक समूचे मैसोपोटामिया मे सिंचाई की प्रौद्योगिकी उपलब्ध थी। वास्तव मे यह प्रौद्योगिकी पहले-पहल सुमेरिया मे विकसित हुई और यह मैसोपोटामिया का सौभाग्य था कि उस पर सबसे पहले सुमेरियाई राजवश का शासन स्थापित हुआ जिसने सिंचाई और खेती की प्रौद्योगिकी असीरिया और बेबीलोन को भी प्रदान की। खेती के क्षेत्र मे मैसोपोटामिया के लिए यह वात वहुत महत्त्व की थी कि दजला और फरात की वाढ के समय का पता लगाकार उस ओर से सावधान रहा जाए जिससे कि वाढ खडी फसल को वर्बाद न कर सके। इसके लिए सुमेरियाई विद्वानो ने चन्द्र-पचाँग (Lunar Calendar) का निर्माण किया। उनका महीना नए चाँद से शुरू होता था। भारत मे भी चन्द्र-पचाग का प्रयोग होता रहा है, यहाँ भी मास का आरम्भ प्रतिपदा से होता है लेकिन हमारे यहाँ यह प्रतिपदा अमावस्या के वाद वाले नवचन्द्र को नही वरन् पूर्णिमा के वाद पूर्णचन्द्र वाली होती है। चन्द्र-पचाँग के अनुसार वारह महीने मे केवल 354 दिन होते हैं जवकि सौर वर्ष के अनुसार वर्ष मे 365दिन होने चाहिएँ, इस कारण सुमेरिया के लोग भी हिन्दू पचाँग की भाँति हर चौथे साल एक अतिरिक्त मास जोडते थे।

इस प्रकार वे नदियो के पानी के घटने-बढने का हिसाब लगाकर फसलो के बोने काटने का समय निश्चित करते थे। उन्होने नाप-तौल की प्रणाली भी विकसित कर ली थी जिसके द्वारा उपज का वजन तथा वस्तु-विनिमय किया जा सकता था।

यह सही है कि सुमेरिया के लोग गणित की पद्धति तो विकसित कर पाए लेकिन रेखागणित अथवा ज्यामिति मे वे कमजोर रहे, लेकिन इसके बावजूद वे धरातल की ऊँचाई नापने की कला का विकास कर पाए जिसके बल पर उन्होने नहरो का निर्माण किया। इतना ही नही, उसी के बल पर उन्होने विशाल भवनो, मन्दिरो और कब्रो का भी निर्माण किया।

गोलाई नापने और कोणो का सही-सही आँकलन करने की विद्या के बल पर उन्होने रथ बनाए तथा जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुओ का निर्माण किया। सुमेरियाई लोगो ने कीलाकार (Cuneiform Writing) लेखन-कला अथवा लिपि का विकास किया जो उनके साम्राज्य के पतन के बाद भी एक हजार वर्ष तक मैसोपोटामिया की लिपि बनी रही। वे मिट्टी की तख्तियो पर लिखते थे। शुरू मे यह चित्रलिपि थी, बाद मे स्वर और व्यजन के आधार पर एक सम्पूर्ण भाषा का विकास कर लिया गया। उन्होंने पानी घडी का आविष्कार भी किया।

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सुमेरियाई प्रोद्योगिकी केवल सुमेरिया तक सीमित न रखे उससे असीरिया और बेबोलौनिया ने भी लाभ उठाया, या यो कहे कि इस नीव पर हो उन्होंने अपनी सभ्यताओ का निर्माण किया।

भवन-निर्माण के क्षेत्र मे सबसे पहली प्रौद्योगिकी सुमेरिया ने दी। वहाँ पत्थर नही होते थे अत मिट्टी की ईंटें धूप में पकाकर भवन-निर्माण मे इस्तेमाल की जाती थी। बेबीलोनिया मे भी यही पद्धति अपनाई गई और असीरिया मे भी, जबकि विशेषत असीरिया मे पत्थर भारी मात्रा मे उपलब्ध था। असीरिया मे अधिक निर्माण कार्य युद्ध बन्दियो से कराया गया अत ईंटो का निर्माण अधिक सुविधाजनक रहा। दीवारो पर मिट्टी का प्लास्तर उन पर चित्र अकित करने की दृष्टि से बहुत अनुकूल रहता था। मैसोपोटामिया की गर्म जलवायु मे मिट्टी का सूखना समस्या न थी।

पत्थरो से मन्दिरो अथवा राजमहलो के वे भाग ही बनाए जाते थे जिन पर खुदाई की जाती थी। प्रत्येक राजा अपने महल मे अपनी यशोगाथा अकित कराने के लिए लालायित रहता था। उसके लिए भित्ति-चित्रो और प्रस्तर-लेखो का सहारा लिया जाता था। इतिहास का लेखन मिट्टी की तख्तियो पर किया जाता था और उन्हे सम्भालकर अभिलेखागार मे रख दिया जाता था, अथवा कब्रो मे सुरक्षित रख दिया जाता था। जाहिर है कि उस काल के शासको के मन मे इतिहास की चेतना थी, वे अपनी समकालीन स्थिति का बोध आने वाली पीढियो को कराना चाहते थे।

राजमहलो के लिए बनाए गए फर्नीचर मे भी तत्कालीन प्रौद्योगिकी का दर्शन होता है। उनमे जहाँ कला थी वहीं कोण, जोड इत्यादि का कौशल भी है। ऐसा ही प्रौद्योगिकी का एक अन्य नमूना सिर मे लगाने के लिए सुगन्धित तेल, इत्र तथा श्रृंगार के अन्य साधन और आभूषण हैं। असीरिया मे मिट्टी, पत्थर और शीशे से बहुत सुन्दर कलश बनाए जाते थे जिनका उपयोग मन्दिरो में होता था।

शस्त्रास्त्र-प्रौद्योगिकी का भी उन्होने पर्याप्त विकास कर लिया था। वे युद्ध के समय सीने पर ताँबे का कवच बाँधते थे और सिर पर लोहे का हैलमेट लगाते थे। युद्ध के लिए विशेष प्रकार के रथो का निर्माण किया जाता था जिनमे भार कम से कम रहता और योद्धा को चारो ओर के वार झेलने और चारो ओर वार करने की सुविधा रहती। उनके धनुष और तीर, बरछे, बल्लम, भाले और खुखरीनुमा तलवारें, युद्ध के मैदान मे शस्त्र ढोने के लिए कवचबद्ध गाडियाँ आदि उन्नत प्रौद्योगिकी का परिचय देती हैं।

मैसोपोटामिया मे प्रौद्योगिकी का विकास उस समय अधिक हुआ जब बेबीलोनिया और असीरिया के राजाओ ने अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए मिस्र, सीरिया, फिलिस्तीन और इजरायल तक आक्रमण किए। उन दिनो इन देशो मे प्रौद्योगिकी अधिक विकसित थी, विशेषत मिस्र और इजरायल मे, जहाँ से विशेषत असीरियाई शासको ने प्रौद्योगिकी का अपहरण और आयात किया।

मैसोपोटामिया : धर्म और दर्शन

(Mesopotamia Religion : & Philosophy)

मैसोपोटामिया के अलग-अलग प्रदेशो मे अलग-अलग धार्मिक धारणाओ, देवी-देवताओ और पूजा-अर्चना के विधि-विधान का उदय हुआ। सबसे पहले सुमेरियाई सभ्यता आई और उसने धर्म की एक विशिष्ट धारणा प्रदान की।

सुमेरियाई धर्म

सुमेरिया मे ईसा से लगभग 3000 वर्ष पूर्व जिस धर्म का उदय हुआ उसे एक सुव्यवस्थित और गहन आध्यात्मिक आधारो पर निर्मित धर्म तो नही कहा जा सकता लेकिन उससे सुमेरिया की सामाजिक प्रवृत्तियो और उसकी सभ्यता के चरित्र पर अवश्य प्रकाश पडता है। सुमेरिया मे धर्म जन-जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अग था।

सुमेरिया का धर्म बहु-ईश्वरवादी था और उसमे देवी-देवताओ पर मानवीय प्रकृति, चरित्र और गुणो का आरोपण किया गया था। सूर्य की उपासना शमस (Shamas) के रूप मे की जाती थी, एनलिल वायु और वर्षा का देवता था। इश्तर प्रकृति की प्रतिनिधि देवी थी, उपासना शक्ति तथा प्रजनन की देवी के रूप मे की जाती थी। सुमेरिया मे प्लेग का प्रकोप बहुधा होता था, उसका एक पृथक् देवता नेरगल (Nergal) था।

सुमेरियाई देवी-देवता केवल कल्याण ही नही विनाश भी करते थे अत उनको प्रसन्न रखना अत्यन्त आवश्यक माना गया था। वास्तव मे सुमेरिया मे इस जगत् से परे किसी तत्त्व अथवा जीवन की धारणा का विकास नही हुआ जिसका परिणाम यह रहा कि धर्म का सम्बन्ध परलोक अथवा परातत्व के साथ न होकर केवल जगत् के हितो के साथ था। मरणोत्तर जीवन की कल्पना भी जागतिक ही थी तात्विक नही। मरणोत्तर जीवन बहुत क्षणिक माना गया था। शियोल (Sheol) के नाम से एक ऐसे छायालोक की कल्पना की गई जहाँ जीवात्माएँ मृत्यु के बाद कुछ समय के लिए चली जाती थी। एकाध पीढी तक प्रेतात्मा के रूप मे शियोल मे निवास करने के बाद जीवात्माएँ नष्ट हो जाती हैं, ऐसा माना गया था। उन्होने एक ऐसे मरणोत्तर जीवन की कल्पना नही की थी जिसमे इस

जगत् जैसे कष्ट न हों तथा आनन्द ही आनन्द हो। शाश्वत अस्तित्व की धारणा उनमें प्रचलित न थी। इसी कारण सुमेरिया के लोग अपने मृतकों के शरीर (शवों) पर अधिक ध्यान नहीं देते थे, मिस्र की तरह शवों को सुरक्षित रखने के लिए उन पर रासायनिक लेप लगाकर उनकी ममी बनाने का रिवाज न था। उस तरह की विशाल कब्रें भी नही बनाई जाती थी जैसी कि मिस्र मे बनाई गयीं। आम तौर पर शवो को बिना ताबूत के ही घर के फर्श के नीचे गाड दिया जाता था, तथा उनके साथ अधिक सामग्री नही रखी जाती थी।

इस धर्म में आध्यात्मिकता लेश मात्र भी न थी। देवी-देवता आध्यात्मिक नही वरन् जागतिक होते थे तथा उनमें वे सब दुर्बलताएँ होती थी जो मनुष्यों में होती हैं। इस धर्म मे ईश्वर के साथ एकाकार होने, आत्मा के उन्नयन अथवा दैवी तत्त्व के जाग्रत होने की कल्पना नही की गई थी। इस धर्म का प्रयोजन मनुष्य को इस जगत् की भौतिक सुख-सामग्री—भरपूर फसलें, व्यापार मे समृद्धि और युद्धो मे विजय प्रदान करना था।

धर्म नैतिक और अनैतिक धारणाओ से युक्त था। सुमेरियाई मानते थे कि उनके देवता सत्य, अच्छाई और न्याय के प्रेमी है, साथ ही वे यह भी मानते थे कि वे ही मनुष्य में बुराइयाँ, पाप और अनैतिकता भी उत्पन्न करते हैं। उन्होने ही प्रत्येक मनुष्य को पापमूलक प्रकृति प्रदान की है। उनका मानना था कि आज तक किसी भी माँ की कोख से किसी निष्पाप बालक का जन्म नही हुआ है।[1]

सुमेरियाई धर्म मे मनुष्य को देवताओ का सेवक माना गया था। उसमे कहा गया था कि देवताओ ने मनुष्यो की उत्पत्ति अपनी सेवा और भोजन जुटाने के लिए की है। यह धर्म मनुष्य को लक्ष्य नहीं वरन् साधन मानता है। इस धारणा को प्रलय और पुनर्रचना के महाकाव्यो मे विस्तार से प्रतिपादित किया गया है। पुनर्रचना महाकाव्य मे कहा गया है कि मरडूक नामक देवता ने उन ईर्ष्यालु और कायर देवताओ पर चमत्कारिक रीति से विजय प्राप्त की जिन्होने उसका सृजन किया था। उसमे यह भी कहा गया है कि उन देवताओ ने मरडूक के एक हताहत प्रतिद्वन्द्वी की लाश से इस जगत् का निर्माण किया तथा मिट्टी के मनुष्य बनाकर उनमे विषधर दैत्य का रक्त भर दिया जिससे कि वे उनकी सेवा कर सकें और उन्हें भोजन प्रदान कर सकें।

प्रलय के पीछे भी ऐसी ही लोमहर्षक और बर्बरतापूर्ण धारणा है। उसमें कहा गया है कि देवताओ के मन मे मनुष्य के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो गई अतः उन्होने बाढ़ के द्वारा प्रलय उत्पन्न कर दी, और उन देवताओ मे से ही एक देवता ने राजा को इस षड्यंत्र का रहस्य बता दिया तथा यह भी समझा दिया कि प्रलय

1 S. N. Kramer: History Begins at Sumer, pp. 106–107.

से कैसे बचा जा सकता है और मनुष्य तथा अन्य प्राणियो और वनस्पतियों के बीज की कसे रक्षा की जा सकती है।

प्रारम्भ मे प्रत्येक नगर के देवता अलग होते थे, लेकिन बाद में जैसे-जैसे विभिन्न नगरो के लोग समीप आये वैसे-वैसे इन देवताओ में भी तरह-तरह के सम्बन्ध उत्पन्न हो गए जो ईर्ष्या से लेकर प्रेम और विवाह तक के थे। उरुक नगर मे उर्वरता की देवी के रूप मे इन्नेनी (Inneni) की उपासना होती थी। बाद में सेमाइट लोगों ने इसका नाम बदलकर इश्तर (Eshtar) रख दिया। शीघ्र ही इश्तर समूचे मैसोपोटामिया, सीरिया, इजरायल और फिलिस्तीन की सबसे अधिक प्रतिष्ठित देवी बन गई। आकाश देवता अनु (Anu) की पत्नी अन्तु (Antu) जो प्रजनन की देवी थी, इश्तर की ख्याति से अप्रसन्न हो गई और उससे ईर्ष्या करने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि उर्वरता और प्रजनन की देवी इश्तर अन्तु के उपासकों में वेश्यावृत्ति की प्रतीक बन गई। इश्तर के उपासकों ने बदले की भावना से अन्तु को वेश्या के रूप में चित्रित करना शुरू कर दिया।

इसी प्रकार इश्तर का सम्बन्ध अनाज, फूलों और वनस्पतियो के देवता तम्मुज (Tammuz) के साथ स्थापित हो गया। दोनो में प्रेम हो गया और दोनों ने आपस मे विवाह कर लिया। इसके बाद तम्मुज का देहान्त हो गया और इश्तर विरह से पागल होकर उसकी खोज मे भटकती रही, अन्त में वह उसे पा लेती है। इश्तर द्वारा तम्मुज की पुनः प्राप्ति का उत्सव सुमेरियाई उत्सवो में बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता था।

बेबीलोनियाई धर्म और दर्शन

सुमेरियाई लोगो की तरह बेबीलोनियावासियों ने भी धर्म को पराजागतिक नही माना अत: वे भी किसी सुव्यवस्थित दर्शन का निर्माण नहीं कर पाए। जिस प्रकार सुमेरियाई धर्म कृपालु और साथ ही ईर्ष्यालु देवी-देवताओं और उनसे सम्बन्धित मिथकों के इर्दगिर्द घूमता रहा उसी प्रकार बेबीलोनियाई धर्म में भी होता रहा। बेबीलोनियाई धर्म मे पुरोहितवाद का वर्चस्व बढ़ जाने के कारण धर्म के साथ अन्धविश्वासो और जादू-टोने का संयोग भी हो गया।

बेबीलोनिया का धर्म दैत्यों और डाकिनों से संत्रस्त रहा तथा उनसे रक्षा करने के लिए जहाँ तावीज और गंडों का प्रयोग किया जाता रहा वहीं कानून द्वारा शैतान की उपासना तथा डाकिनो पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

बेबीलोन मे धर्म तीन स्तरो पर प्रचलित था—परिवार, नगर और राज्य। प्रत्येक परिवार का अपना कुलदेवता होता था जिसकी उपासना की जाती थी। मूर्तियाँ प्रायः मिट्टी की बनायी जाती थी। परिवार का मुखिया कुलदेवता का प्रधान पुजारी तथा पुरोहित माना जाता था।

नगर-देवता के लिए मन्दिर बनाये जाते थे और उनकी पूजा के लिए पुजारी नियुक्त किये जाते थे। ऐसा माना जाता था कि इन मन्दिरो मे देवता अकेले नहीं वरन् अपने परिवार और दासो के साथ रहते हैं। इसी कारण इन देवताओं को

चढायी जाने वाली बलि मन्दिर के द्वार के बाहर दी जाती थी। पूजा मे पुरोहित-पुजारी और नगर के शासक अथवा अभिजातवर्गीय लोग ही शामिल होते थे, जन-साधारण को उसमें भाग लेने का अवसर नही मिलता था।

राज्य के देवताओ के लिए राजधानी मे मन्दिर बनाये जाते और राजा को उस देवता का प्रतीक और प्रतिनिधि माना जाता था। राजा ही उसका प्रधान पुरोहित और पुजारी होता था तथापि पूजा का काम पेशेवर पुजारी करते थे।

बेबीलोन ने सुमेर और अक्कद के देवताओ मे से त्रिमूर्ति को अपना लिया था—अनु, एनलिल और इया। इनमे अनु आकाश का, एनलिल अन्तरिक्ष (वायु) और पृथ्वी का और इया जल का देवता था। इनमे अनु प्राचीनतम था और सृष्टि का देवता माना जाता था, अर्थात् वह विधाता या स्रष्टा था। लोग इन देवताओ से डरते थे तथा इन्हे प्रसन्न करने के लिए पशु-बलि देते थे। इनके मन्दिरो मे कर्मकाण्ड बहुत विशद् हो गया था और पुजारी जनता को लूटने लगे थे।

असीरिया मे धर्म और दर्शन

असीरिया का प्रधान तथा सस्थापक देवता अशुर था। वह समूची सृष्टि का सृजनहार माना जाता था। स्वर्ग और नरक की रचना भी उसने ही की थी। वह समस्त प्राणिमात्र का स्वामी माना जाता था। युद्ध का देवता भी अशुर ही था, उसके हाथ मे एक धनुष रहता था जिससे तीर छूटता हुआ दिखाया जाता था। उस बाण का सधान एक पखदार चक्र को लक्ष्य मानकर छोडा जाता था।

असीरियाइयो ने सुमेरिया की इश्तर देवी को अशुर की पत्नी बना दिया था जिसे उसके असीरियाई नाम बेलित से पुकारा जाता था। इश्तर भी युद्ध की देवी मानी गयी तथा देवमण्डल मे अशुर के बाद उसका ही स्थान था। असीरिया मे यह विश्वास प्रचलित था कि वह अशुर देवता के शत्रुओ को निश्चय ही मारती है।

अशुर देवता जहाँ हितैषी और शुभचिन्तक था वही वह अपने शत्रुओ के प्रति नितान्त अमानवीय और दुर्दान्त बर्बर भी था। उसकी ही बर्बरता का असीरिया के राजाओ ने अनुसरण किया अथवा यो कहे कि बर्बर राजाओ ने अपने अशुर देवता को अपना चरित्र प्रदान कर दिया। असीरियाई राजाओ के झण्डे पर अशुर का प्रतीक-चिह्न अकित रहता था। असीरियाई सैनिक जिन प्रदेशो मे जाते वहाँ के लोग अशुर से डरते थे तथा असीरियाई सेना का सामना करने मे उनका मनोबल क्षीण हो जाता था।[1]

असीरियाई लोग मूर्तिपूजक थे तथा अपने देवताओं के लिए विशाल मन्दिर बनवाते थे। इन मन्दिरो को राजा की ओर से बडी-बडी जागीरें मिलती थी और दासो के रूप मे युद्धबन्दी भी। मन्दिरो मे पुरोहितों का वर्चस्व था। अशुर का प्रधान पुरोहित नाममात्र के लिए राजा होता था लेकिन पूजा इत्यादि का सब काम पुरोहित करते थे।

1 *A. T. E. Olmstead*, History of Assyria, p. 553.

पुरोहित तीन कार्य करते थे और इनमे से प्रत्येक कार्य के लिए अलग पुरोहित वर्ग था—जादू-टोने द्वारा एवं मन्त्रों से प्राणियो एवं निर्जीव पदार्थों को पवित्रता, स्वास्थ्य तथा समृद्धि प्रदान करना, मन्दिरो मे पूजा, सेवा तथा चढावा आदि लेकर प्रसाद देना। ये लोग मन्दिरों मे गायन-वादन भी करते थे। तीसरा वर्ग उन पुरोहितो का था जो 'खगोलशास्त्र और ज्योतिष का अध्ययन करके लोगों का भविष्य बताते' तथा खोटे ग्रहों के शमन के लिए अनुष्ठान आदि कराते थे। पुरोहित वर्ग मे उच्च कुलो की महिलाएँ भी होती थी जिनसे पवित्र जीवन की अपेक्षा रहती थी लेकिन अभिजात वर्ग की पुजारिनें प्रायः अपने परिवार और पति की शक्ति के बल पर यह पद प्राप्त करती थी तथा उनमे बहुत बार गम्भीर चरित्र-दोष पाये जाते थे।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है राजा राष्ट्र की ओर से देवता का प्रधान पुरोहित भी होता था और इस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए वह महत्त्वपूर्ण अवसरो तथा देवताओ की यात्रा के अवसर पर निकाले जाने वाले जुलूसो के समय देवता की पूजा-अर्चना करता था। अनेक शिलालेखो मे राजाओ को इश्तर देवी की पूजा करते हुए दिखाया गया है।

राज्य के सभी त्यौहार मन्दिरो और देवताओ के इर्दगिर्द घूमते थे। नगर के भीतर और बाहर दोनो स्थानो पर देवताओ के मन्दिर होते थे। वर्ष मे एक बार प्रत्येक देवता नगर के भीतरी मन्दिर से नगर के बाहरी मन्दिर मे जाता और कुछ समय वहाँ रुककर लौटता था। ये यात्राएँ समारोहपूर्वक मनायी जाती तथा बडे जुलूस निकाले जाते, इनमे राजा नेतृत्व और पूजन करता था। देवी-देवताओ को अन्न तथा पशु-माँस की भेंट चढायी जाती थी।

पूजा करना प्रत्येक नागरिक का धर्म माना गया था तथा पूजा न करने वाले को राज्य की ओर से दण्ड दिया जाता था। जो लोग धार्मिक विधि-विधान अथवा अनुशासन को तोडते थे वे भी दण्ड के पात्र माने जाते थे। देवता का अपमान अपराध माना गया था, राजा इसे सहन नही कर सकता था।

असीरिया के सभी देवी-देवता मैसोपोटामिया के अन्य भागो के देवी-देवताओं की भाँति इहलौकिक जीवन मे सुख-समृद्धि का ही वरदान दे सकते थे। न तो लोग उनसे मोक्ष माँगते थे, न वे मोक्ष देने मे समर्थ ही थे। धर्म का सदाचार से करीब का रिश्ता न था, हाँ नैतिकता कही दूर जाकर धर्म से जुडती थी।

राजा जब किसी सैनिक अभियान पर निकलता तो असुर देवता के मन्दिर जाता तथा विधि-विधान के अनुसार पूजा करने के बाद देवता से अभियान पर निकलने की अनुमति माँगता था। इन अभियानो से राजधानी लौटने पर राजा देवता के सम्मुख अभियान की लम्बी रिपोर्ट पेश करता था जिसमे कहा जाता था कि हे असुर देवता, आपके राज्य में अब अमुक प्रदेश भी शामिल हो गया है, आप उसे स्वीकार करें। विजित राज्यो से लाया गया नजराना और लूट का माल देवता के चरणो मे रखा जाता तथा उसका एक अंश देवता के मन्दिर के लिए दिया जाता। असीरिया के राजा असुर देवता के प्रतिनिधि बनकर राज करते थे।

खल्द धर्म और दर्शन

असीरिया की सभ्यता के पतन के बाद जब खल्द जाति के शासकों ने मेसोपोटामिया पर अपना झण्डा फहराया तो उन्होने देवताओ को लौकिक स्तर से उठाकर ग्रहो के स्तर पर स्थापित कर दिया। उन्होने देवताओ को मानवीय प्रकृति से ऊपर उठाकर पराजागतिक, सर्वशक्तिमान् और आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। उन्होने देवताओ को ग्रहो का प्रतीक मान लिया, जैसे कि मरडूक को गुरु अथवा बृहस्पति और इश्तर को शुक्र का। खल्द लोगो ने देवताओं को जादू और टोने से परे, अनुल्लघनीय और मानव की पहुँच से परे दैवी शक्ति के रूप में स्वीकार किया।

देवताओ के बारे में इस नयी धारणा का परिणाम यह हुआ कि मनुष्य के सामने इन देवताओ के प्रति समर्पण के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नही बचा। उसे इन पर भरोसा करने के लिए विवश होना पडा। ऐसा कोई भी उपाय नही बचा जिससे इनके प्रयोजनो का पता लगाया जा सके अथवा इन्हे विवश किया जा सके। वास्तव मे खल्द धर्म मे देवता कल्याण के ही प्रतीक रह गए। असोरियाइयों ने उनमें जो दैत्य-प्रकृति आरोपित कर दी थी उसे खल्द धार्मिकों ने अस्वीकार कर दिया।

इस अवधारणा ने भक्ति-भावना को जन्म दिया जो आगे जाकर मनुष्य की आस्था और उसका सबल तथा प्राय: सभी परवर्ती धर्मों का आधार बनी।

लेकिन इसका यह अर्थ नही है कि खल्द लोग इस जगत् से परे किसी परलोक मे विश्वास करते थे। उन्हे परलोक की कल्पना में तनिक दिलचस्पी न थी। भक्ति अथवा देवता के प्रति बिना शर्त समर्पण के द्वारा वे इस जीवन और इस जगत् में ही उनके वरदानो की कामना और अपेक्षा करते थे न कि किसी मरणोत्तर जीवन और परलोक में।

भक्ति अथवा समर्पण का यह भाव किसी दर्शन पर आधारित न था, वरन् प्रकृति और सृष्टि के रहस्यो को न समझ पाने पर उन्हें देवताओ के भरोसे छोडकर एक हताशपूर्ण परिस्थिति से उबरने के लिए अपनाया गया मार्ग था। दैव की इच्छा मानकर कष्टो को सहन करने का मानसिक बल इस भावना से प्राप्त हो जाता था।

देवताओ को जागतिक के स्थान पर दैवी चरित्र प्रदान करने का एक परिणाम यह भी हुआ कि आस्थावान लोगो मे एक प्रकार की आध्यात्मिक चेतना का विकास हुआ और देवताओं की प्रार्थना के लिए लिखे गए मन्त्रो और गीतो मे यह भाव प्रकट हुआ कि देवता इन लोगो पर ही प्रसन्न होते हैं जो सदाचारी, न्यायप्रिय और नैतिक होते हैं। इस समय तक आचार का दर्शन विकसित नहीं हो पाया था तथा यह स्पष्ट नहीं था कि व्यक्ति से केवल कर्मकाण्ड के आचार की अपेक्षा की जाती है या चिन्तन और कर्म के व्यापक स्तर पर नैतिक-आचरण की।[1]

1 *Morris Jastrow*. The Civilizations of Babylonia & Assyria, p. 217.

देवताओं को इस प्रकार उन्नत स्तर पर बिठलाने और उनमें दैवी चरित्र के आरोपण ने उन्हे वासना, पापाचार, ईर्ष्या और क्रोध से मुक्त कर दिया, लेकिन इसके साथ ही अब उनके सामने मनुष्य नितान्त हेय बन गया क्योंकि वह बुराइयों और वासनाओं में डूबा है तथा उनकी कृपा की आकांक्षा करता है। विशेषतः असीरिया के धर्म मे पाप की जो चेतना विद्यमान थी वह खल्द धर्म में सघन हो गयी और मनुष्य पाप की चेतना के कारण हीनग्रन्थि से ग्रस्त हो गया।

यह पाप-चेतना प्राय. सभी परवर्ती धर्मों का आधार बनी। इन देवताओं की स्तुति मे जो प्रार्थनाएँ लिखी गयी उनमें मनुष्य को वासनाओं का बन्दी बताया गया और हाथ-पाँव बँधे हुए अँधेरे मे भटकता हुआ दर्शाया गया। यह ऐसा ही था जैसा कि भारत में हुआ। भक्त भगवान से प्रार्थना करते समय स्वयं को दीन-हीन और दास कहता है—मो सम कौन कुटिल खल कामी"" मो सम दीन न दीनहित तुम समान ""। खल्द धर्म कहता है कि मनुष्य अंधकार की सात पर्तों मे पडा हुआ है और यह अधकार हर बार सात गुना बढता ही जाता है क्योंकि मनुष्य की प्रकृति ही ऐसी है कि वह जाने-अनजाने पाप करता ही जाता है। मनुष्य की चेतना मानव-इतिहास में पहली बार पाप की भावना से ग्रस्त हुई तथा उसे नैतिकता और देवकृपा दोनो की आवश्यकता महसूस हुई। यहीं से मनुष्य में बुराई से बचने के लिए आन्तरिक संघर्ष की शुरूआत हो सकती थी लेकिन खल्द समाज मे नैतिकता के किसी विशद् दर्शन के निर्माण अथवा नैतिक आचरण के प्रति आकर्षण के प्रमाण नही मिलते। पाप से घबराकर उन्होंने भोगो का निषेध नही किया, न तप का मार्ग ही अपनाया। आम तौर पर यह धारणा व्याप्त रही कि मनुष्य पाप करने के लिए विवश है। पाप ही उसकी नियति है।

इस धारणा का उलटा ही परिणाम हुआ कि इस धर्म मे आस्था रखने वाले लोगों को पाप मे लिप्त रहने का बहाना मिल गया। वे और अधिक स्वार्थी तथा विलासी बन गये। उनकी प्रार्थनाओं मे श्रद्धा, करुणा, हृदय की पवित्रता आदि गुणों की प्रशसा तथा क्रोध, परनिन्दा और अत्याचार जैसे दुर्गुणों की निन्दा की जाती रही, साथ ही देवताओ से भौतिक इच्छाओ की पूर्ति के लिए विनती भी की जाती रही। वे अपने देवताओं से उनके जैसा पवित्र जीवन और सदाचरण प्राप्त करने के लिए नहीं वरन् सत्ता, दौलत, साम्राज्य और भोग-विलास प्रदान करने के लिए प्रार्थना करते थे।

मन्दिरों का निर्माण—खल्द राजाओं ने अपने शासनकाल मे अनेक मन्दिरो का निर्माण कराया। नेबूचैडनेजर ने बोरसिप्पा में एजिदा के तथा बेबीलोन मे एसागिला के उन मन्दिरो का पुनर्निर्माण कराया जिन्हें असीरियाइयो ने नष्ट कर दिया था। उसने बेबीलोन की उस सड़क को भी चौड़ा कराया जिस पर से देवता की सवारी का जुलूस निकलता था।

इस वंश का राजा नेबोनिडुस (Nabonidus) तो पूरी तरह धार्मिक प्रवृत्ति का राजा था। उसने अनेक मन्दिरो का पुनर्निर्माण कराया। उसने इन

मन्दिरो का इतिहास तैयार कराया और अपनी बेटी बेल-शाल्ति-निन्नार (Bel-Shalti-Ninnar) को चन्द्रमा के मन्दिर की प्रधान पुजारिन नियुक्त किया।

मैसोपोटामिया मे दार्शनिक चिन्तन का अभाव

मैसोपोटामिया की कोई भी सभ्यता दार्शनिकों को जन्म नही दे पायी। वहाँ जगत् के मूल तत्त्व, पदार्थ और मनस के द्वन्द्व, ब्रह्मांड की रचना-प्रक्रिया, सत्य के निरूपण और क्षणभगुर जगत् के पीछे छिपे शाश्वत तत्त्व के बारे में चिन्तन नही हुआ। वहाँ धर्म स्वय ही जागतिक था, धर्म के चिन्तको ने आध्यात्मिक तत्त्वों की शोध की ही नहीं जिसमे से दर्शन का जन्म होता।

वहाँ तात्त्विक चिन्तन तो हुआ ही नहीं सामाजिक चिन्तन भी नहीं हुआ, जिसके कारण किसी भी प्रकार के सामाजिक दर्शन, राजनीतिक दर्शन, न्याय दर्शन अथवा आर्थिक दर्शन का सृजन नही हो पाया।

समाज और राज्य धन और सत्ता पर आधारित रहे, जिन्हें आदिम आधार कहा जा सकता है। समाज में अभिजात वर्ग का प्रभुत्व 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाले न्याय पर आधारित था। राजनीति में राजा को स्वेच्छाचारिता और धर्म के क्षेत्र मे देवता, राजा और पुरोहित की स्वेच्छाचारिता के पीछे कोई तात्त्विक दृष्टि न थी, उसके पीछे निरकुश सत्ता का अधिष्ठान था। इसी तरह न्याय का मूल आधार बदले की भावना थी। जो व्यक्ति असुर देवता का शत्रु है असुर देवता उसे नष्ट कर देगा, जो राजा का द्रोही है राजा उसे नष्ट कर देगा और जो किसी व्यक्ति का अहित करता है वह उससे दण्ड पायेगा। न्याय केवल दण्डमूलक बन गया, उसके पीछे कोई सामाजिक दृष्टि न थी। व्यक्ति समाज के प्रति उत्तरदायी था लेकिन समाज कही भी व्यक्ति के लिए जिम्मेदार न था, न वह क्षमा से विभूषित था, न उसके पास अपराधी को सुधारने का कोई उपाय था। कानून श्रद्धाहीन की गर्दन उतार लेता था उसे श्रद्धा की सीख देने का साधन उसके पास न था। समूची व्यवस्था किसी विचार के अधिष्ठान पर प्रतिष्ठित नहीं की गयी थी।

आर्थिक व्यवस्था के पीछे भी कोई तत्त्व-दर्शन नही था। मनुष्य को दास बनाकर रखने, युद्धबन्दियो के प्रति बर्बरतापूर्ण व्यवहार करने और बेगार लेने तथा शत्रु की सम्पत्ति, स्त्रियो और सभ्यता को लूटने के पीछे भी कोई विचार न था। विचार के लिए न किसी के पास अवकाश था, न साहस, क्योंकि यदि किसी ने कमर सीधी करके यह कह दिया होता कि दास-प्रथा मानव जाति पर कलंक है तो उसका वाक्य पूरा होने से पहले ही उसका सिर धरती पर लुढ़क जाता। जो जाति स्त्रियों को युद्ध की बलिवेदी पर होमने के लिए बच्चे पैदा करने का उपकरण भर मानती हो उसमें दार्शनिक चिन्तन की क्षमता कहाँ से आती। जिस जाति के देवता भी पदार्थ-जगत् की उपज हों तथा साधारण मानव की तरह व्यवहार करते हों उस जाति से किसी दार्शनिक चिन्तन की अपेक्षा ही नहीं की जा सकती थी।

10

मैसोपोटामिया : साहित्य, कला और विज्ञान

(Mesopotamia : Literature, Arts & Science)

1894 मे फ्रांसीसी पुरातत्ववेत्ताओं को बेबीलोन मे एक खुदाई के दौरान एक विद्यालय-भवन के अवशेष मिले। उसकी एक दीवार पर एक लेख खुदा हुआ था—"जो बालक पट्टिका-लेखन मे उत्कृष्टता प्राप्त कर लेगा वह सूर्य की भाँति चमकेगा।" यह भवन वर्गाकार था—55 फुट लम्बा और इतना ही चौडा।

मैसोपोटामिया के लगभग प्रत्येक प्रदेश मे सुमेरियाई की लाकार (Cuneiform) लिपि प्रचलित हो गई थी, तथा वहाँ मिट्टी की तख्तियो अथवा पट्टिकाओ पर लिखने का आविष्कार हुआ था। मिस्र की तरह वहाँ कागज का आविष्कार नही हो पाया था लेकिन नरकुल अथवा सरकडे की कलम की खोज उन्होने कर ली थी। शुरू मे वे गीली मिट्टी पर अक्षर खोदते थे, बाद मे चित्रलिपि का आविष्कार हुआ और मिट्टी की तख्ती पर रग और नरकुल के कलम से चित्रांकन करने की प्रथा विकसित हुई। उसके पश्चात् स्वर के आधार पर सांकेतिक लिपि तैयार की गई जिसमे प्रारम्भ मे 350 सकेत थे, जिनका सीखना काफी कठिन होता था। धीरे-धीरे ये सकेत सशोधित होकर घटते गए और अतत. 41 अक्षरो मे सिमट गए।

प्रलय और गिलगमेश की गाथाएँ

मैसोपोटामिया का सबसे प्राचीन साहित्य सुमेरियाई साहित्य है। इस साहित्य के दो विभाग किए जा सकते हैं—एक भाग मे राजनीतिक इतिहास, राजाओ की सूचियाँ, आर्थिक दस्तावेज और कानूनी-सहिताएँ है, तथा दूसरे भाग मे महागाथाएँ।

महागाथाएँ मोटे तौर पर दो भागो मे विभक्त हैं—प्रलय की गाथा और प्रलय के पश्चात् पुनर्रचना की गाथा। प्रलय गाथा सम्बन्धी पट्टिकाएँ निप्पुर मे मिली, जिनमे शुरूप्पक की बाढ का विस्तार से वर्णन है जो राजा जियूसूद्र के काल मे आई थी। इस गाथा का उल्लेख इस पुस्तक के पाँचवें अध्याय मे किया गया है।

इस गाथा मे एक मुख्य सकेत यह है कि देवताओ मे आपस मे रागद्वेष पलता रहता था। जब अन्य देवता मानव को नष्ट करने के लिए प्रलय का षड्यन्त्र रच चुके तो उनमे से ही एक देवता जिसका नाम इया (Ea) है शुरुप्पक के अन्तिम सम्राट् उवर-तूतू के बेटे जियूसूद्र (जिसको बेबीलोनिया भाषा मे उत्लपिश्तिम कहा गया) को इस षड्यन्त्र के बारे मे सावधान करता है और उसे आदमी के बीज की रक्षा का उपाय बताता है।

प्रलय आती है तथा चारो ओर जीवन का विनाश कर देती है, वनस्पति और सृष्टि का निर्माण करने वाली देवी इश्तर (Eshter) अपनी सृष्टि के विनाश पर दु.ख करती है तथा नए सिरे मे नई सृष्टि रचती है। बेबीलोन मे इस गाथा को गिलगमेश की गाथा के साथ जोडकर महागाथा का रूप दे दिया गया।

गिलगमेश बेबीलोनिया प्रदेश मे उरुक नगर का राजा था, उसकी गाथा जिस पट्टिका पर प्राप्त हुई वह नगर निप्पुर गाथा मे वर्णित शुरुप्पक और किश नगरो के बीच स्थित है।

सृष्टि की नवरचना सम्बन्धी गाथा मे कहा गया है कि प्रलय के बाद चार देवताओं ने मिलकर नए सिरे से सृष्टि का निर्माण किया। ये देवता हैं—अनु, एनलिल, एनकी और निनहुरसाग। अनु आकाश का देवता है, एनलिल अन्तरिक्ष अर्थात् वायु और पृथ्वी का, एनकी जिसे इया भी कहा गया है जल का देवता है और निनहुरसाग जिसे इश्तर भी कहा गया मातृत्व की प्रतीक है तथा अग्नि की देवी मानी गई है।

इस प्रकार मैसोपोटामिया मे सृष्टि के निर्माण मे पाँच तत्त्वो का उल्लेख है—आकाश, पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सुमेर प्रदेश के लोग सृष्टि को पच-भूतात्मक मानते थे। आर्य गाथाओ के अनुसार सुमेर अथवा सुमेरु मे ही समुद्र-मथन के बाद पचभूतात्मक सृष्टि का निर्माण हुआ। सम्भव है समुद्र मथन से बाढ की ओर सकेत हो। गिलगमेश की गाथा मे उत्लपिश्तिम कहता है कि निसिर पर्वत की चोटी के चारो ओर जल का मथन हो रहा था और यह मथन इतना तीव्र था कि उसके भँवर मे उत्लपिश्तिम की विराट नौका जिसमे उसने मानव का बीज सुरक्षित रख छोडा था निसिर पर्वत की चोटी से जकड गई थी अर्थात् स्थिर हो गई थी।

गिलगमेश की यह गाथा मानव के प्राचीनतम साहित्य की कोटि मे आती है। मैसोपोटामिया मे एक अन्य गाथा असीरिया के अशुर नगर की खुदाइयो मे मिली है। यहाँ यह तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है कि असीरिया के प्रबुद्ध राजा अशुर बनीपाल के शासनकाल मे साहित्य-निर्माण और सरक्षण की दिशा मे बहुत भारी काम हुआ। अशुर बनीपाल का एक पूरा पुस्तकालय ही सुरक्षित मिला है जिसमें 30,000 से अधिक मृत्तिका-पट्टिकाएँ थी। गिलगमेश की गाथा का प्रामाणिक

विवरण भी इसी पुस्तकालय मे मिला। इस पुस्तकालय की रचना ईसा पूर्व सातवी शताब्दी मे हुई। इसमे लगभग 1000 ई पू की वे सात पट्टिकाएँ भी हैं जिन पर मरडूक की यह गाथा अकित है। प्रमाणो के आधार पर पुरातत्त्वविद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस गाथा का अकन हम्मूराबी के शासनकाल मे हुआ। यह वह काल था जब बेबीलोनिया अपनी सभ्यता के उत्कर्ष पर था और मरडूक देवता का स्थान अन्य देवताओ की अपेक्षा ऊँचा था। यह गाथा नव-सृजन की गाथा है। यह गाथा सात पट्टिकाओ पर लगभग 1000 पक्तियो मे अकित की गई है। गाथा उस काल से शुरू होती है जब दो मिथकीय तत्त्वो आप्सू (Apsu) और तियामत (Tiamat) का ही अस्तित्व था। आप्सू आदिकालीन मीठे जल का सागर है, और तियामत आदिकालीन खारे जल का सागर। दूसरी पट्टिका की 111वी पक्ति मे तियामत को स्त्री बताया गया है। इससे उस धारणा का खण्डन होता है जिसके अनुसार तियामत को अजगर मान लिया गया था। मिथक के अनुसार तियामत और आप्सू देवताओ के माता-पिता बने। कालान्तर मे इन देवताओ ने ऐसी आपत्तिजनक करतूतें की जिनसे रुष्ट होकर उनके पिता आप्सू ने उनको नष्ट करने का निश्चय कर लिया। आप्सू के एक पुत्र इया देवता ने अपने पिता की इस घोषणा से अप्रसन्न होकर उसके पाँवो मे बेडी डाल दी और उसकी हत्या कर दी। इसके बाद इस गाथा के नायक देवता मरडूक (Marduk) का जन्म हुआ जो बेबीलोन का नगर-देवता भी है।

यहाँ गाथा मे एक मोड आता है। अशुर नगर की खुदाई मे प्राप्त प्रति मे असीरियाई लेखको ने नायक का नाम मरडूक के स्थान पर अशुर कर दिया है। मिथक मे आगे कहा गया है कि तियामत ने अनेक भयकर दैत्यो के शरीर बनाकर उनमे रक्त के स्थान पर विष भर दिया। उसने इस सेना का सर्वोच्च सेनापति अपने बेटे किंगू को बनाया। तियामत ने यह सेना अपनी सन्तान के विरुद्ध बनाई थी क्योकि वह अपने पति आप्सू की हत्या का उनसे बदला लेना चाहती थी।

देवताओ को जब अपनी माँ के सकल्प के बारे मे ज्ञात हुआ तो वे बहुत घबराए लेकिन उनमे से एक, अर्थात् इस गाथा का नायक मरडूक (अशुर) आत्म-विश्वासपूर्वक उनसे बोला कि यदि वह तियामत का सहार करने मे सफल हो जाये तो उसे सर्वोच्च देवता मान लिया जाये।

तीसरी पट्टिका मे कहा गया है कि देवता युद्ध-परिषद् की बैठक के लिए एक भोज पर एकत्र हुए। चौथी पट्टिका मे नायक धनुष, तीर गदा उठाकर सघर्ष के लिए तैयार होता है। उसने अपने चेहरे के सामने वज्र धारण कर लिया। उसने तियामत को बन्दी बनाने के लिए एक विराट् जाल लिया और आँधी को अपना हथियार बनाया। वह तूफान के रथ पर आरूढ हो गया जिसे चार घोडे खींच रहे थे—विध्वसक, निर्दयी, पदाक्रांतक और जहाजी-बेडा।

अब नायक मरडूक (अशुर) तियामत के सामने पहुँचता है और उसे ललकारता है—"आओ, हमारे (मेरे और तुम्हारे) बीच युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।" इसके आगे का कथानक बहुत काव्यात्मक और रोमाँचक है—

"तियामत और देवो मे सर्वाधिक मेधावी मरदूक (असुर) ने सम्भाल लिए—

मोर्चे एक-दूसरे के विरुद्ध।
वे युद्ध मे हो गए निमग्न, और बढ़े परस्पर भिडने के लिए।
स्वामी (मरदूक अथवा असुर) ने फैला दिया जाल अपना और बन्दी बना लिया उसे,
भीषण आँधी को, इसके बाद, छोड दिया उस (नायक) ने उस (तियामत) के चेहरे पर।
खोला मुँह जब तियामत ने खाने को उसे,
घुसा दिया उसने आँधी को उसमें और बन्द नही कर पाई वह ओठ अपने।
दौडती हवा ने भर दिया जैसे ही उसका उदर,
फूल गया पेट उसका, और खोल दिया उसने मुँह अपना और भी चौड़ा।
उस (नायक) ने छोडा पव तीर एक, फाड डाला जिसने पेट उस (तियामत) का,
और काट डाली अंतड़ियाँ उसकी, बेध दिया हृदय उसका।
यों पा लेने के बाद काबू उस पर कर दिया नष्ट उसने जीवन उस (तियामत) का,
गिराकर लाश उसकी धरती पर खडा हो गया उस पर वह (मरदूक अथवा असुर)।"

तियामत की हत्या हो जाने पर उसके समर्थक भाग खड़े हुए लेकिन उन्हें पकड़ कर जेल में डाल दिया गया। उसके बाद नायक तियामत की लाश के पास लौटता है। वह रुक कर उसकी लाश को देखता रहता है और सोचता रहता है कि वह उस विराट शव के किस प्रकार टुकडे करे और उनसे अद्भुत वस्तुओं की रचना करे। उसने उसको बीच से चीर कर दो भागों मे विभाजित कर दिया। एक भाग को उसने वही रख दिया और उससे आकाश का निर्माण किया। उसके बाद उसने अपने पिता की लाश पर माँ की लाश के एक टुकडे से एक वितान तानकर पृथ्वी का निर्माण किया। उसको उसने काव्यात्मक भाषा में एशारा (Esharra) नाम दिया। इसके बाद उसने देवताओं के निवास के बारे मे निश्चय किया। अनु को आकाश मे निवास प्रदान किया गया, एनलिल को वायु मे, इया को धरती के नीचे पानी मे।

पाँचवी पट्टिका का अधिकांश भाग नष्ट हो गया है, लेकिन जो कुछ बचा है उसमे यह बताया गया है कि उसके बाद नायक (मरदूक अथवा असुर) ने ग्रहो का निर्माण किया जिनसे वर्ष के महीने निर्धारित होते हैं। उसने चाँद चमकाया और रात उसे सौंप दी।

छठी पट्टिका मे मनुष्य के निर्माण का वर्णन है। नायक महान् देवताओं की परिषद् बुलाता है और तियामत के द्रोह का अपराध उसकी सेना के नेता किंगु के

सिर पर मढ दिया जाता है। किंगू की हत्या कर दी जाती है। जब उसकी शिरायें काटी गईं तो देवताओ ने उसके रक्त से मनुष्यो का सृजन किया। देवताओ ने निश्चय किया कि मनुष्य उनकी सेवा करेगा। इसके साथ ही देवता पूरे एक वर्ष तक ईंट बनाते रहे जिनसे बेबीलोन मे मरडूक का मन्दिर-बुर्ज—एसागिला (Esagila) बनाया गया।

अन्तिम अर्थात् सातवी पट्टिका मे अन्तिम दृश्य उभरता है जिसमे सभी देवता एक भोज पर एकत्र होकर मरडूक की प्रशसा के गीत गाते हैं और मरडूक को समस्त देवताओ से श्रेष्ठ तथा उनका मुखिया बना दिया जाता है। यह ठीक ऐसा ही है जैसे कि हिन्दू धार्मिक गाथाओ मे इन्द्र का पद। इन्द्र देवताओ का राजा होता है, वैसे ही मरडूक अथवा अशुर देवताओ का राजा बन गया।

इस महागाथा एनुमा-एलिश (Enuma Elish) का विश्व की आदि महागाथाओ मे एक प्रमुख स्थान है। यह साहित्य की एक उत्कृष्ट कृति है तथा उस काल के मानव की इस उत्कंठा को शान्त करती है कि इस ब्रह्माण्ड का निर्माण किसने, किस प्रकार और किस पदार्थ से किया।

सुमेरियाई काल मे और उसके बाद भी मैसोपोटामिया मे काव्य-सृजन हुआ, लेकिन उसमे प्रकृति अथवा शृ गार का वर्णन विरले ही मिलता है, अधिकतर कविताओ मे देवताओ की प्रार्थनाएँ, गाथाएँ और राजाओं की स्तुति अथवा यशोगाथा मिलती है। गिलगमेश सुमेरियाई साहित्य की धुरी है। उसे लेकर अनेक गाथाएँ लिखी गईं। इनमे एक यह भी है कि इश्तर देवी गिलगमेश से प्रेम करने लगती है, लेकिन गिलगमेश अपने मित्र की मृत्यु के कारण परेशान है और वह इश्तर के प्रेम की ओर ध्यान नही देता जिसके कारण इश्तर इससे नाराज हो जाती है। गिलगमेश समुद्र के भीतर चला जाता है जहाँ वह मरणोत्तर जीवन का रहस्य प्राप्त करता है।

बेबीलोनिया के उत्कर्ष काल में अधिकांश साहित्य राजनीतिक और धार्मिक इतिहास तथा व्यापारिक दस्तावेजो और कानून की सहिताओ के रूप मे सामने आता है। उस काल मे भी काव्य और कहानियो की रचना हुई, लेकिन सबसे अधिक साहित्य की रचना असीरियाई उत्कर्ष काल मे हुई। इस काल मे पुरोहितो ने देवताओ की वाणी को लिपिबद्ध किया, ज्योतिषियो ने भविष्य-विज्ञान को लेकर साहित्य तैयार किया तथा शकुन-विचार पर भी काफी लिखा गया। समाज में प्रचलित अन्धविश्वास और आस्थाएँ साहित्य का आधार बनी। इसके अतिरिक्त इतिहास और राजाओ की अतिरजित यशोगाथाएँ तो प्रचुर मात्रा मे लिखी ही गईं। इस काल मे सबसे बडा काम यह हुआ कि उस समय तक जो भी सुमेरियाई या बेबीलोनियाई साहित्य उपलब्ध था अथवा किंवदन्ती या कहानी के रूप मे शेष था उस सबको सुमेरियाई साहित्यकारो ने अपनी भाषा और शैली मे लिखा तथा अशुर बनीपाल जैसे दूरदर्शी राजाओ ने उस साहित्य को सुरक्षित रखने के लिए सग्रहालय बनवाये। साहित्य को समाज का दर्पण माना गया है, यह बात प्राचीन

मैसोपोटामिया पर बहुत सटीक बैठती है। उस सभ्यता के साहित्यकारों ने अपने समाज और काल का काफी सटीक और यथार्थपरक चित्रण किया जिससे आज भी हमे उस जमाने के जीवन और कर्म का बोध मिलता है।

कला

मैसोपोटामिया मे कला का विकास विभिन्न रूपो में और विभिन्न चरणों में हुआ। सबसे पहले सुमेर मे लिखने की कला का विकास हुआ जो समूचे मैसोपोटामिया की लिपि बनी। सुमेरिया में अन्य कलाओं का विकास भी हुआ—धातु-काम, बहुमूल्य जवाहरात पर खुदाई और नक्काशी का काम, वास्तुकला और स्थापत्य। उन लोगों ने अपनी सहज प्रेरणा से कलात्मक अभिव्यक्तियाँ कीं। ये अभिव्यक्तियाँ तलवार की मूठ से लेकर आभूषणो, पात्रों तथा खिलौनो और मूर्तियो में मुक्त रूप से हुई जिनमे तकनीकी कौशल के साथ-साथ कल्पना का सम्यक पुट है। इस जमाने मे स्थापत्य का भी विकास हुआ लेकिन वह वास्तुकला की अपेक्षा हेय है। उसका प्रमुख कारण पहाड़ो और वनों के अभाव के कारण उत्कृष्ट निर्माण-सामग्री का न मिल पाना रहा। स्थापत्य मे मूल सामग्री धूप मे सुखाई गई ईंट थी। सुमेरियाई स्थापत्यकारो ने विशाल स्थापत्य मे केवल जिगुरतों का निर्माण किया। इनमे किसी प्रकार की कलात्मक प्रतिभा का दर्शन नही होता। इनकी अपेक्षा तो निजी भवनो और राजाओ की कब्रों तथा उनके महलों मे यह प्रतिभा अधिक मात्रा मे प्रकट हुई। सुमेरियाई स्थापत्यकारो ने मेहराब, गर्भ-गृह और गुम्बज बनाने की कला मे दक्षता प्राप्त की। इन्हें एक प्रकार से उसकी देन माना जा सकता है।

असीरियाई कलाएँ

मैसोपोटामिया मे कला का इतिहास मुख्यतः असीरिया का इतिहास है। वहाँ कला का अनेक क्षेत्रो में विकास हुआ—भवन-निर्माण कला, मूर्तिकला, चित्रकला, औद्योगिक कला।

सबसे पहले भवन-निर्माण को लें। वहाँ प्रत्येक नया राजा अपने लिए अलग महल बनवाता और उसकी दीवारो पर अपने यश और अपनी कीर्ति की गाथा चित्रो मे अंकित कराता। वहाँ युद्ध की घटनाओ को नाटकीय ढग से पत्थरो पर उत्कीर्ण कराने की प्रथा थी। सबसे बडा राजमहल सारगौन-द्वितीय ने बनवाया था। दर-शारुकिन मे यह महल पहाडी पर 25 एकड क्षेत्रफल मे बनाया गया। इसमे दो सौ कमरे और चहारदीवारी थी। इसमे निवास के कमरे, स्वागत-कक्ष और पूजा के लिए मन्दिर अलग-अलग बनाये गये थे। सिंहद्वार पर पखों वाले बैलो को द्वारपाल अथवा सरक्षक के रूप मे दर्शाया गया था। एक मूर्ति गिलगमेश की भी है जिसमें उसे शेर का गला घोटते हुए दिखलाया गया है। ये सिंहद्वार इतने प्रशस्त थे कि इनमें से होकर घोडे जुते हुए रथ आसानी से आ-जा सकते थे।

महल के परिसर में ही भण्डार घर बनाया गया था जिसमें विदेशों से लाया गया लूट का माल रखा जाता था। भण्डार घर मे कडा पहरा रहता था तथा

पहरेदारो और भण्डारघर के मुखिया का आवास भी समीप ही था। थोडी दूर पर महल के दासों, सेवकों और सैनिको के लिए निवास बने हुए थे। इनका निर्माण प्राय युद्ध मे बन्दी बना कर लाये गए विदेशी नागरिक करते थे। प्राय स्थापत्यकार भी बाहर से लाये जाते थे। इन भवनो का निर्माण कच्ची ईंटो से किया गया था तथा उन पर गीली मिट्टी का प्लास्तर किया जाता था जिससे कि चित्र आसानी से बनाये जा सकें। महलो मे तथा मन्दिरो मे स्थान-स्थान पर शिलालेख अथवा पत्थर के स्तम्भ भी लगाये जाते थे।

परवर्ती काल मे मन्दिरो और महलो मे पहाड़ियों से काटकर लाये गए पत्थर का इस्तेमाल होने लगा था। पत्थर काटने का काम प्राय उन दासो से लिया जाता था जो पराजित देशो से युद्धवन्दी के रूप मे लाये जाते थे।

वास्तुकला एव चित्रकला

असीरिया मे भवन-निर्माण-कला (स्थापत्य) की अपेक्षा वास्तुकला (Sculpture) अथवा मूर्तिकला और चित्रकला (Painting) मे अधिक भव्यता दिखाई देती है। इस पर बेबीलोनियाई प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, लेकिन यह इस अर्थ मे बेबीलोनिया से भिन्न है कि यहाँ धार्मिक कथावस्तु का प्राधान्य न होकर युद्ध अथवा युद्ध-गाथा को ही प्राथमिक रूप मे पाषाणो मे उकेरा गया तथा मिट्टी की दीवारो पर चित्रांकित किया गया।

अशुर देवता का प्रधान नगर अशुर असीरिया की मूर्तिकला का प्रधान केन्द्र था, वहाँ की खुदाइयो में नाना प्रकार की मूर्तियाँ मिली हैं। सर्वश्रेष्ठ मूर्तियाँ वहाँ ईसा से 900 वर्ष पूर्व के काल में बनायी गयी। युद्ध के साथ ही शिकार को भी बहुत यथार्थ रूप मे दर्शाया गया है। चित्रो मे पशु-पक्षियों की आकृतियो का भरपूर उपयोग किया गया है। पत्थर पर की गई नक्काशी मे अशुर बनीपाल के तीर से आहत सिंह एक उत्कृष्ट कलाकृति है। सेन्नाकेरिब के महल मे एक घायल शेरनी की पीडा को कलाकार ने बहुत यथार्थ रूप मे दर्शाया है।

औद्योगिक कलाएँ

राजाओ के महलो और अभिजात वर्ग के निवास पर उस जमाने मे तरह-तरह के फर्नीचर का प्रयोग होता था। उसके कुछ श्रेष्ठ नमूने खुदाइयो मे मिले हैं जिनसे यह बोध होता है कि उनका निर्माण कुशल कलाकारो ने किया था। कला और कारीगरी दोनो को अलग-अलग रखें तो भी यह पता चलता है कि जिन कलाकारो ने उस फर्नीचर के डिजाइन तैयार किये होंगे वे स्वय जितने महान् कलाकार थे उतने ही महान् कलाकार उस फर्नीचर को बनाने वाले कारीगर भी थे। राजसी पलग, कुर्सियाँ, सिंहासन, मेज तथा आराम-कुर्सियो मे नक्काशी ही नहीं जवाहरात की जडाई का काम भी मिला है।

इसी प्रकार असीरिया मे उत्कृष्ट आकार-प्रकार के आभूषण तैयार किये जाते थे जिनमें सोने, चाँदी और ताँबे का तो उपयोग होता ही था, हीरे,

जवाहरात भी जड़े जाते थे—उस जमाने के हार, अँगूठियाँ, कर्णफूल, नाक और कानो की वालियाँ, बाजूबन्द, तगड़ियाँ आदि की कला देखते ही बनती है। गले मे पहने जाने वाले हारो मे देवी-देवताओ की लघु आकार की मूर्तियाँ भी लटकाई जाती थी।

असीरिया मे पानी भरने के घड़े से लेकर राजा की तलवार की मूठ तक सब कुछ कला से सपृक्त होता था। रथो के पहियो, जुए आदि को कलात्मक ढग से सजाया जाता था। दिग्विजय से लौटने वाले राजा और सेनापतियो के सम्मान मे निकाला जाने वाला जुलूस भी एक कलाकृति होता था। घरों की दीवारें उत्कृष्ट चित्रो से सजायी जाती और स्वागत-द्वारो तथा वदनवारो से कला टपकती थी।

विज्ञान

खेती, उद्योग और युद्ध की प्रौद्योगिकी तथा नाना कलाओ का विकास इस बात का प्रमाण है कि मैसोपोटामिया के विभिन्न जाति-समूहो ने विज्ञान के क्षेत्र में ईसा से अढाई हजार वर्ष पूर्व के काल मे भी अच्छी खासी प्रगति कर ली थी।

मैसोपोटामिया की पहली सभ्यता सुमेरियाई थी। उस काल मे गणित का विकास समकालीन मिस्र से भी अधिक हो चुका था। सुमेर के लोगो को जोड़, घटाना, गुणा, भाग, वर्गमूल और घनमूल का ज्ञान था। ज्यामिति में ये उतना आगे न थे, लेकिन उन्हें नक्शे बनाने की कला का ज्ञान था और वे मेसुरेशन के सिद्धान्तो से परिचित थे, तभी इतने विशाल मन्दिर, किले और राजमहल बना पाये। वे माप-तौल मे बारह की सख्या का प्रयोग करते थे तथा समय की गणना 60 की इकाइयो मे। उसी समय से समय की गणना 60 मिनट का घण्टा और 60 सेकिंड के मिनट के हिसाब से होती आ रही है।

उन्होने पानी की घड़ी भी बनाई। चन्द्रमा के आधार पर महीनो की रचना की और सौर वर्ष की खोज की। चन्द्र-पचाँग और सौर-पचाँग के अन्तर दूर करने के लिए अतिरिक्त मास की गणना का नियम बनाया। उन्होने खगोल विद्या का अध्ययन किया लेकिन ज्योतिष में, उनकी अधिक पैठ थी। रोगो की चिकित्सा के लिए वे जड़ी-बूटी का इस्तेमाल करते और जहाँ वह इलाज काम न करता झाड़-फूंक और जादू-टोने का सहारा लेते।

विज्ञान के क्षेत्र मे इस काल में काफी काम हुआ। असीरिया मे वृत्त को 360 डिग्रियो में विभाजित किया गया तथा पृथ्वी पर विभिन्न स्थानो का पता लगाने के लिए अक्षांश और देशान्तर का निर्धारण भी हुआ। उन्होने पाँच ग्रहो की पहचान की तथा उनके नाम भी रखे। उन्होने चन्द्र ग्रहण और सूर्य ग्रहण की भविष्यवाणी करने की विद्या भी खोज निकाली।

सैनिक राष्ट्र होने के कारण सैनिको का स्वास्थ्य राज्य का प्रथम दायित्व हो गया था अतः उस क्षेत्र मे व्यापक काम किया गया। उन्होंने रोगो के लक्षण निर्धारित किये जिनके आधार पर उनका निदान किया जाता और रोगो को देवी-

देवताओ का प्रकोप मानने के बजाय प्राकृतिक कारणो का परिणाम स्वीकार किया। केवल प्लेग के मामले मे वे कोई उपचार विधि न खोज पाये अत: उसे उन्होने नर्गिल देवता के भरोसे छोड दिया। उन्होने जडी-बूटी और धातुओ के आधार पर 500 औषधियो का निर्माण किया जो विविध रोगो मे प्रभावशाली थी।

खल्द सभ्यता मे विज्ञान

विज्ञान के क्षेत्र मे सबसे अधिक प्रगति खल्द शासनकाल मे हुई। उन्होने विशेषत खगोल-विज्ञान के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण प्रगति की। उन्होने काल-विभाजन के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त की। मानव जाति के इतिहास मे सात दिन का सप्ताह इसी काल मे निर्धारित किया गया। दिन-रात को 24 घण्टो मे बाँटने का काम भी उन्होने ही किया। उन्होने ग्रहण का सही-सही हिसाब रखा तथा लगातार 350 वर्ष तक अन्तरिक्ष मे ग्रहो की गति पर निगाह रखी।

खल्द लोगो को शून्य का ज्ञान भी हो गया था और वे बीजगणित के रहस्यो का आविष्कार करने लगे थे।

11

यूनान : सभ्यता की अवधारणा, भूगोल, स्थलाकृति और प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि

(Greece : Concept of Civilization, Geography, Topography & Pre-Historic Background)

सभ्यता की अवधारणा

यूनान की प्राचीन सभ्यता को विद्वानो ने तीन कालो मे विभाजित किया है—1. हैलाडिक (Helladic), 2. हैलेनिक (Hellenic) और हैलेनिस्टिक (Hellenistic) ।

'हैलाडिक' शब्द का अर्थ है यूनान की सभ्यता। 'हैलेनिक' का अर्थ है यूनानियों की सभ्यता, और 'हैलेनिस्टिक' का अर्थ है यूनानियो से प्रभावित सभ्यता। इन तीनों सभ्यताओ के अलग-अलग काल हैं। हैलाडिक सभ्यता का काल ईसा से 3000 वर्ष पूर्व आरम्भ होता है और लगभग 1100 ई पू मे समाप्त हो जाता है। अगले लगभग साढे तीन सौ वर्ष आक्रमण, युद्ध, सामाजिक पुनर्रचना और नयी यूनानी सस्कृति के प्रसव काल माने जाते है। यह काल ताम्बे के युग की समाप्ति से शुरू होता है और लौह-युग की प्रारम्भिक शताब्दियो तक विस्तृत है। हैलेनिस्टिक सभ्यता का उदय सिकन्दर महान् के पश्चात् उसकी दिग्विजय और विश्व पर यूनानी सभ्यता के प्रभाव के फलस्वरूप होता है। इस सभ्यता का काल सिकन्दर की मृत्यु के वर्ष 323 ई पू मे शुरू होता है तथा 30 ई पू. मे उस समय समाप्त हो जाता है जब समूचा यूनान और उसका प्रभाव-क्षेत्र रोमन-साम्राज्य का अग बन गया।

इन तीनो कालो मे सभ्यता के विकास की दृष्टि से एक गहरा नाता और सातत्य होते हुए भी इनमे से प्रत्येक काल की सभ्यता का चरित्र अलग है और उसकी एक भिन्न अवधारणा मिलती है।

हैलाडिक अवधारणा

हैलाडिक सभ्यता लगभग एक शताब्दी पहले तक पूर्णतया विस्मृत और धरती की परतो के नीचे दबी हुई थी। यह सभ्यता पुरातत्त्वविदो के अनुसार मिनोआन-माइसीनियन सभ्यता (Minoan-Mycenaean Civilization) कहलाती

है। इसका उदय ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व यूनान के क्रीट द्वीप पर हुआ। वहाँ से यह सभ्यता यूनान की मुख्य भूमि पर फैली और वहाँ से एशिया माइनर तक।

यह वह युग था जब यूनान नव-प्रस्तर युग (Neolithic Age) को लाँघकर ताम्र-युग (Bronze Age) मे प्रवेश कर रहा था। इस युग मे सभ्यता के लगभग प्रत्येक चरण का गहराथी के साथ विकास हुआ—भाषा विकसित हुई, समाज मे समानता की चेतना जाग्रत हुई, धर्म अपने मूल रूप मे मातृदेवी की पूजा से आरम्भ हुआ और बुनियादी अर्थ मे एकेश्वरवादी रहा, सरकार का चरित्र उदार रहा, कलाओ और विज्ञान का तेजी से विकास हुआ, पत्थर की सडकें बनी और 250 कमरो वाले आलीशान राजमहल बने, नृत्य, गायन फले फूले; मुक्केबाजी, दौड़ तथा शतरज जैसे खेल अस्तित्व मे आये; खूबसूरत बर्तन बने और जेवर भी।

इस प्रकार इस काल मे सभ्यता की एक सम्पूर्ण परिकल्पना रही जिसमे उसके प्राय प्रत्येक पक्ष का चिन्तन और विकास हुआ।

हैलेनिक अवधारणा

हैलेनिक अथवा यूनानियो की सभ्यता दो प्रमुख अवधारणाओ पर आधारित थी—पहली तो यह कि धर्म और पुरोहित वर्ग सभ्यता, सस्कृति और समग्र सामाजिक-राजनीतिक जीवन के नियता और निर्णायक नही हो सकते, तथा दूसरी यह कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता, उसका हित और उसके व्यक्तित्व की गरिमा सर्वोपरि है।

हैलेनिक अथवा यूनानियो की सभ्यता ने धर्म-निरपेक्षता की दिशा मे एक निर्णायक क़दम बढाया और राज्य तथा धर्म की निरकुशता अथवा सामूहिकता के दबाव से व्यक्ति को मुक्त करके एक व्यक्ति व प्रधान सस्कृति की दागबेल डाली।

हैलेनिक अथवा यूनानियो की सभ्यता ने मनुष्य के व्यक्तित्व को केन्द्र मे रखकर समाज, धर्म और राज्य के तत्त्व तथा उनकी सस्थाओ के बारे मे चिन्तन शुरू किया। इस सभ्यता ने मानव जाति को चिन्तन की वसीयत सौपी और सभ्यता की वह अवधारणा भी जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसके कर्त्तव्य की श्रेष्ठता में विश्वास करे।

इस काल मे एक ऐसे प्रबल दार्शनिक चिन्तन का ज्वार आया जिसने मनुष्य के व्यक्तित्व को मनुष्य के सामने तो क्या देवताओ के सामने भी हेय-दीन-हीन और पापमूलक मानने से इन्कार कर दिया। यह दृष्टिकोण मूलत धर्मनिरपेक्ष, अधविश्वासो से मुक्त और विवेकपरक था। इस काल मे जानने की उत्कठा को बढावा मिला और ज्ञान को आस्था से ऊँचा स्थान दिया गया।

हैलेनिक सभ्यता का मूल लक्षण यह है कि उसने सभ्यता के लिए एक मूल कसौटी निर्धारित कर दी, और वह कसौटी है व्यक्ति के व्यक्तित्व की गरिमा, उसका आदर, उसकी स्वतन्त्रता और उसका हित। इस अवधारणा के अनुसार उस रीति-नीति और आचरण सहिता को सभ्यता नही कहा जा सकता जो मनुष्य के व्यक्तित्व की उपेक्षा अथवा उसका दमन करे, जो उसको अपने मन की बात मन

मे ही दवा लेने के लिए विवश करे अथवा जो उसके बुनियादी मानवीय हितो की उपेक्षा करे।

यह एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। यह राज्य और समाज के सामूहिक व्यक्तित्व को व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रतिद्वन्द्वी नही मानती तथा दोनो के बीच समवाय और सामजस्य का प्रतिपादन करती है।

हैलेनिस्टिक अवधारणा

यूयान मे सभ्यता के विकास का तीसरा चरण सिकन्दर महान् की दिग्विजय के फलस्वरूप विश्व के विभिन्न भागो तथा यूनानियो की सस्कृतियो के बीच सम्पर्क के साथ शुरू होता है। यूनान की सभ्यता जिन एशियाई और यूरोपीय सभ्यताओ के सम्पर्क मे आयी उसने उन पर अपनी कतिपय बुनियादी अवधारणाओ और मौलिक विशेषताओ की छाप छोडी और एक नयी यूनान-प्रस्तावित सभ्यता को जन्म दिया।

इस नयी सभ्यता की बुनियादी अवधारणा लोकतन्त्र के दर्शन की अस्वीकृति पर निर्मित हुई। इसमे लोकतन्त्र का स्थान स्वेच्छाचारिता ने ले लिया, जिसकी शुरुआत सिकन्दर महान् से हुई। यूनान के चन्द नगर-राज्यो मे लोकतन्त्र बच रहा लेकिन उसे लोकतन्त्र का अन्तिम चरण ही माना जा सकता है।

इस सभ्यता ने यूनानी सभ्यता की सादगी और मितव्ययता को भी तिलाञ्जलि दे दी तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे चाहे वह वास्तुकला हो, चित्रकला, स्थापत्य कला अथवा निजी जीवन आडम्बर, प्रदर्शन, शान-शौकत और विलासिता का उदय हुआ। उत्पादन और व्यापार-व्यवसाय के क्षेत्र मे यूनानी सभ्यता की छोटी इकाइयो का स्थान इस नयी सभ्यता मे बडे पैमाने के उत्पादन और व्यापार ने ले लिया। जीवन की आन्तरिक सघनता और मानवीय सवेदनशीलता का स्थान प्रदर्शन और आडम्बर ने ले लिया तथा राज्यो के विस्तार और व्यापार मे मुनाफे के फैलाव पर ध्यान केन्द्रित किया जाने लगा। यूनानी सभ्यता ने जिस आत्म-सन्तुष्ट नगर-राज्य का निर्माण करके साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओ को सीमित किया था उसके परकोटे टूटने लगे और राज्य का विस्तार सभ्यता की श्रेष्ठता की कसौटी बन गया।

इस प्रकार यूनान की सभ्यता अपने तीसरे चरण मे उसी राजतन्त्र की ओर लौट गयी जिसका निर्माण उसने अपने प्रथम चरण मे किया था। वास्तव मे शुद्ध यूनानी सभ्यता का काल ईसा पूर्व 1100 से लेकर चौथी शताब्दी के मध्य तक ही सीमित है जिसमे उस सभ्यता का निर्माण हुआ जिसने समूचे विश्व पर अपनी छाप छोडी और सभ्यता की एक सभ्य कल्पना प्रदान की।

भूगोल और स्थलाकृति

यहाँ हम जिस यूनान के भूगोल का वर्णन कर रहे हैं उस यूनान को अनिवार्यत. आज के यूनान की राजनीतिक सीमाओ मे कैद नही किया जा सकता। ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व के यूनान और आज के यूनान की सीमाओ मे अन्तर

होना स्वाभाविक है, वैसे भी राजनीतिक भूगोल प्राय. साँस्कृतिक भूगोल की अपेक्षा अधिक लचीला और व्यापक हुआ करता है।

तत्कालीन यूनान की उत्तरी सीमाएँ थ्रेस, मेसीडोनिया और एपीरस तक, पूर्वी सीमा ट्रॉय से रोड्स द्वीप तक, दक्षिणी सीमा क्रीट द्वीप तक और पश्चिमी सीमा आयोनियन सागर के द्वीपो तक फैली हुई थी। समय-समय पर इनमे राजनीतिक दृष्टि से भले ही फेरबदल हुए हो, सभ्यता के विकास की दृष्टि से यह समूचा क्षेत्र महत्त्वपूर्ण रहा।

भौगोलिक दृष्टि से मुख्य भूमि और द्वीपो का अधिकाँश भाग उत्तर से दक्षिण तक फैले हुए चूने के पत्थर के पहाडो से भरा है। मेसीडोनिया और थेसेलो प्रदेशो मे विशाल और समृद्ध मैदानी क्षेत्र है, दूसरे क्षेत्रो मे भी छोटे-छोटे मैदानी क्षेत्र हैं। इनसे बोयोतिया, पैलोपोनीज के उत्तरी तटवर्ती क्षेत्र, आरगोस के समीप, स्पार्टा के चारो ओर तथा मेसेनिया के मैदान काफी समृद्ध है।

वर्षा सर्दियो मे होती है। पश्चिमी तट पर भारी वर्षा हो जाती है तथा ऊँचे पहाडो की चोटियो पर बर्फ पडती है। गर्मियो का मौसम बहुत लम्बा, सूखा तथा गर्म होता है। पिछले पाँच हजार वर्षों मे इस क्षेत्र के मौसम मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ है।

अधिकाँश भूमि पहाडी और पथरीली है। लगभग 20 प्रतिशत भूमि खेती के लायक है। पहाडो की चपटी तलहटियो मे छोटे-छोटे खेत होते है, तथा पहाडो पर भी कही-कही सीढीनुमा क्यारियाँ बनाकर खेती की जाती रही है। पठारी और पहाडी इलाको मे कही-कही अच्छे चरागाह हैं जिनमे बकरी और भेड चरती हैं। आज तो थोडे से ही जगल बचे है लेकिन प्राचीन काल मे पहाडो पर घने जगल थे।

मुख्यत· मक्का, अगूर और जैतून की खेती की जाती थी। समुद्र से मछली पकडी जाती थी। कही-कही ताँबे, लोहे और चाँदी की छोटी-छोटी खदानें भी खोदी गयी थी। भवन-निर्माण के निर्माण के लिए मिट्टी, चूने का पत्थर और कही-कही सगमरमर भी उपलब्ध था।

उत्तर से दक्षिण की ओर सडक-मार्ग न थे, कुछ पहाडी रास्ते थे। मुख्य भूमि पर मेसीडोनिया के दक्षिण मे पूर्व से पश्चिम तक चार मार्ग थे लेकिन उन पर उन दिनो रथ और गाडियाँ नही जा सकती थी। समुद्र से यात्रा करना सुगम और सस्ता पडता था। मुख्य भूमि पर नावें चलाने के लिए नदी-मार्ग न थे, उनमे से अधिसख्य गर्मियो मे सूख जाती है।

इन भौगोलिक परिस्थितियो ने यूनान की सभ्यता के विकास और राजनीतिक इतिहास पर प्रभाव डाला। साधनो की कमी के कारण बड़े राज्यो का निर्माण प्राचीन काल मे सम्भव ही न था।[1] छोटे-छोटे जनपदो को जोड़कर बड़े

1 *H G. Wells* A Short History of the World, Penguin Books, 1965, p. 84,

समाज और राज्य की रचना के सचार और यातायात तथा परिवहन के साधन न थे।

स्थलाकृति की विलक्षणता

यूनान की स्थलाकृति की सबसे बडी विलक्षणता यह थी कि इसके तीन ओर समुद्र रहा, और एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि समुद्र के भीतर बने यूनान (टापुओं) का यूनान की संस्कृति को महान् दाय रहा। इनमें क्रीट का विशेष तौर पर उल्लेख किया जा सकता है।

यूनान की स्थलाकृति की दूसरी विलक्षणता यह है कि उसकी मुख्य भूमि दो भागो मे विभक्त है और दोनो को कोरिन्थ सकरा थलडमरूमध्य जोड़ता है जिसके आसपास समुद्रों तथा भूमि मार्गों के आ मिलन से इस क्षेत्र को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्राप्त हो गया।

प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि

सन् 1870 ईस्वी तक यूनान के बाहर यह धारणा प्रचलित थी कि यूनान की सभ्यता का जन्म ईसा से केवल आठ सौ वर्ष पहले हुआ। यूनान और विश्व के पुरातत्त्वविदो के पास कोई भी ऐसा प्रमाण न था जिसके आधार पर आठवीं शताब्दी ई पू. से पीछे के यूनान के बारे मे कुछ कहा जा सकता। यूनान के पास होमर के ईलियड और ओडिसी महाकाव्य के रूप मे अवश्य मौजूद थे जिन्हें वहाँ के लोग धार्मिक श्रद्धा और साहित्यिक कृतियो के रूप मे सम्मान की दृष्टि से देखते थे, उन्हें यह कल्पना भी न थी कि होमर के महाकाव्यो की गाथाएँ यूनान के अतीत की किसी महत्त्वपूर्ण घटना की ओर सकेत करती हैं तथा ईलियड की गाथा किसी सजीव और साकार सभ्यता का वर्णन करती है जो पाँच हजार वर्षों से धरती के गर्भ मे दबी पडी है।

मगर जर्मनी के एक युवक होनरिख श्लीमान के मन मे न जाने कहाँ से यह विश्वास पैदा हो गया कि ईलियड इतिहास है और उसमे जिस सभ्यता का वर्णन है वह अवश्य ही यूनान और ट्रॉय मे कही दबी पडी होगी। उसने तय किया कि पहले व्यापार से धन कमाया जाए फिर ईलियड की सभ्यता को खोजा जाये। उसने ऐसा ही किया। उसने ईलियड के उस अश को बार-बार पढा जिसमे कहा गया था कि ट्रॉय मे एक विचित्र जाति के लोग रहते थे जो यूनानकी साम्राज्ञी हेलेन का अपहरण करके उसे अपने साथ ले गए जिसके लिए यूनान के लोगो ने दस साल तक ट्रॉय की घेराबन्दी की तथा अन्त मे उसे नष्ट करके उससे बदला लिया।[1]

अच्छा पैसा कमाने के बाद श्लोमान ट्रॉय जा पहुँचा और उसने सर्वेक्षण के बाद खुदाई शुरू कर दी। फिर तो कहना ही क्या था उसने धरती के भीतर परत दर परत नौ शहरो के अवशेष खोज निकाले जो वहाँ पनपी एक के बाद एक नौ

1 *H G Wells* A Short History of the World, Penguin-Books, 1965, p 82.

सभ्यताओं के प्रतीक थे। ट्रॉय के अवशेष सातवे परत मे निकले। उसके बाद तो अन्य पुरातत्त्वविद भी खोज मे शामिल हो गए और अन्तत यूनानी सभ्यता के इतिहास के पूर्व का वह काल उजागर हो गया जिसे पुरातत्त्वविदो ने मिनोअन-माईसोनियन सभ्यता कहा।

परवर्ती खोजो से यह ज्ञात हुआ कि यह सभ्यता क्रीट मे जन्मी और समूचे यूनान मे फैल गयी। क्रीट का जलवायु समशीतोष्ण और भूमि उपजाऊ है। धीरे-धीरे जनसख्या बढती गयी और आय के नये साधनो की खोज शुरु हुई। कुछ लोग यूनान की मुख्य भूमि पर चले गये और कुछ लोग समुद्री मार्गों से व्यापार के लिए निकल पडे। क्रीटवासियो ने अब उद्योगो के विकास की दिशा मे काम शुरू किया और शीघ्र ही वे निर्यात के लिए अगूर की शराब, जैतून का तेल, जवाहरात, जडे जेवर, मिट्टी और पत्थर के बर्तन, चाकू और खुखरियाँ आदि तैयार करने लगे। इनके बदले में कच्ची धातुओ और खाद्य वस्तुओ का आयात किया जाने लगा।

यह ईसा से 3000 वर्ष पूर्व का काल था जब क्रीटवासियो ने नव-प्रस्तर युग की देहरी लाँघकर ताम्र-प्रस्तर युग मे और अन्तत. ताम्र-युग मे प्रवेश किया। यह सभ्यता ससार की आदि सभ्यताओ मे से एक है। क्रीट में यह सभ्यता मुख्यत. नोसोस, फेस्तोस और काटो जैक्रोस जैसे शहरो मे विकसित हुई। काटो जैक्रोस मे एक महल के अवशेष मिले है जिसमे 250 विशाल कमरे थे तथा एक तरणताल भी था।[1] यह महल 1450 ई पू के आसपास ज्वालामुखी फूटने से नष्ट हो गया था। इस आपदा मे अनेक शहर नष्ट हुए। इनमे से नोसोस और फेस्तोस का पुनर्निर्माण कर लिया गया था। क्रीट का समूचे एजियनसागर के तट पर अधिकार हो गया। उसने यूनान की मुख्य भूमि पर भी अधिकार कर लिया, और जब उसकी परम सुन्दरी साम्राज्ञी का अपहरण करके उसे ट्रॉय ले जाया गया तो दस वर्ष की घेराबन्दी के बाद यूनान के लोग ट्रॉय शहर को नष्ट करने में सफल हो गये। ऐसे प्रमाण मिले हैं कि नष्ट ट्रॉय का भी नये सिरे से निर्माण कर लिया गया था। वह क्रीट की प्रभुता मे यूनानियो के वैदेशिक व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र बन गया था।

मिनोअन-माइसीनियन सभ्यता का उत्स

इस सभ्यता के प्रतिपादक क्रीट के मूल निवासी न थे। वे सीरिया और अनातोलिया से आये थे और हिट्टाइट जाति के निकट सम्बन्धी थे। वे यूनान मे आकर बसे और उन्होने यूनान की सभ्यता प्रदान की लेकिन वे मूलत यूनानी न थे।

इस जाति के राजा मिस्र के फराओ की भाँति मिनोस (Minos) उपाधि धारण करते थे, जिस कारण यह जाति और इसके द्वारा निर्मित सभ्यता मिनोअन कहलाई। मिनोस उपाधि उनके मिनोस नामक देवता से ली गई थी क्योंकि राजा को मिनोस देवता का प्रतीक और प्रतिनिधि माना जाता था।

1 *Davies* : An Outline History of the World, 5th Ed 1986, p 90

यह सभ्यता क्रीट से यूनान के दक्षिण-पश्चिम क्षेत्र माइसीनिया मे अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची अत इसे मिनोअन के साथ-साथ माइसीनियन भी कहा गया। जिन दिनो यह सभ्यता समूचे यूनान पर अपने पाँव पसार रही थी तभी सोलहवी शताब्दी ईसा पूर्व मे उत्तरी पेलोपोनेसस के मूल यूनानी निवासियो ने जिन्हें बाद में एकियन्स कहा गया और जो नितान्त असभ्य थे, माइसीनिया पर अधिकार कर लिया। ये मूल यूनानी विजेता शीघ्र ही माइसीनियन सभ्यता के रग में रंग गये और उन्होने एक सशक्त समुद्री सत्ता का रूप ग्रहण कर लिया। 1400 ई. पू. में उन्होंने नोमोस पर और शीघ्र ही समूचे क्रीट पर अधिकार कर लिया। तेरहवीं शती ई पू मे माइसीनियन लोगो ने भयकर सघर्ष द्वारा पुन सत्ता प्राप्त कर ली, लेकिन वे उसकी रक्षा केवल अगले दो सौ वर्षों तक ही कर सके। ग्यारहवीं शताब्दी ई. पू. मे उन पर एक अन्य यूनानी-मूल की जाति डोरियन ने आक्रमण किया जो वल्कान प्रदेशो से आकर काफी समय पहले यूनान मे बस गई थी। डोरियनों की सभ्यता आदिम किस्म की थी, लेकिन वे माइसीनियनों पर इस कारण विजयी हो गये क्योंकि उनके पास लोहे के हथियार थे।

प्रारम्भिक लौह-युग (Early Iron Age)

इस प्रकार यूनान में ताम्रयुगीन माइसीनियन सभ्यता के बाद लौह-युगीन डोरियन सभ्यता का उदय हुआ। धीरे-धीरे डोरियन जाति समूचे यूनान पर अपना अधिकार जमाने में सफल हो गयी और उसने एशिया माइनर के पश्चिमी एजियन सागर के तटवर्ती क्षेत्र पर भी अधिकार कर लिया।

माइसीनिया अब मेसोनिया हो गया था, उसके अतिरिक्त लैकोनिया, आर्गोलिड, कोरिंथ, सिक्योन, क्रीट, मेगारा, एजिना, दक्षिण और पूर्व पेलोपोनेसिया में डोरियन राज्य स्थापित हो गए। यहाँ राज्य के लिए बहुवचन का प्रयोग जान-बूझकर किया जा रहा है क्योंकि ये सब अलग-अलग राज्य थे, एक साम्राज्य नहीं। दूर पश्चिम मे एलियन थे जो डोरियनो के सगे सम्बन्धी थे। मुख्य भूमि पर एटिका ने और यूबोया द्वीप-राज्य ने डोरियनों को अपने यहाँ प्रवेश नही करने दिया। वे कैलकिस और एरोट्रिया तथा बोयोतिया के थेबेस आदि राज्यो को भी नहीं जीत पाये। दूर उत्तर मे थेसली के लोग चार समूहो मे विभाजित थे। उनसे भी परे मैसीडोनिया मे यूनानी भाषा बोली जाती थी, लेकिन वहाँ के निवासियो को यूनानी नही माना जाता था। चौथी शताब्दी ई. पू के आसपास वे यूनान का अभिन्न अग बन गए। पश्चिम मे एतोलियन, एकेरनेनियन और एपिरोट जातियाँ बसी हुई थीं, लेकिन सभ्यता अथवा राजनीति की दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व नही था। उत्तर मे इलीरियन और पूर्व में थ्रेसियन जातियाँ यूनानी नहीं मानी जाती थी और वे राजनीतिक दृष्टि से सगठित भी न थी।

एजियन सागर के समस्त दक्षिणी यूनानी द्वीपो पर डोरियनों ने अधिकार कर लिया था, उत्तरी द्वीपो पर एयोलियन जाति ने और बीच के द्वीपो पर आयोनियनों ने अपनी प्रभुता बनाये रखी।

धीरे-धीरे डोरियन, आयोनियन, एयोलियन और एकियन जातियों मे यूनानी होने की चेतना प्रबल होती गई । उनके बीच इस चेतना के विकास मे उनकी भाषा और सामाजिक राजनीतिक संस्थाओं का प्रमुख योगदान रहा, नस्ल की दृष्टि से वे सर्वथा भिन्न और पृथक् थे । इन जातियों के नामों का होमर के महाकाव्यों मे उल्लेख नही मिलता क्योंकि होमर गाथाएँ मिनोअन-माइनीसियन काल का प्रतिनिधित्व करती है, लेकिन यूनान के एक अन्य महागाथाकार हेसियोड ने यूनान के देवता हेलेन को एयोलस, डोरस और जूथस का पिता माना है । जूथस उसके अनुसार आयोन और एकियस का पिता है ।

प्रागैतिहासिक सभ्यता का चरित्र और स्वरूप

मिनोअन-माइनीसियन और प्रारम्भिक लौह-युग की डोरियन इत्यादि सभ्यताएँ प्रागैतिहासिक भले ही मानी जाये, उन्हे आदिम नही कहा जा सकता । दोनो ही सभ्यताएँ काफी विकसित थी और जिसे हम यूनानियो की सभ्यता (Hellenic Civilization) कहते हैं उस पर इन प्रागैतिहासिक सभ्यताओं का गहरा प्रभाव रहा है क्योंकि यह उन सभ्यताओं की उत्तराधिकारी है ।

मिनोअन-माइनीसियन सभ्यता मे राजा अर्थात् मिनोस तथा उसकी सरकार का चरित्र उदारवादी था । इस काल मे राज्य की नौ-सेना बहुत विकसित थी लेकिन उसका प्रयोजन देश की प्रतिरक्षा करना तथा दिग्विजय करना था न कि नागरिको को आतंकित करना ।

इस सभ्यता मे मिनोस अपने राज्य का प्रधान पूँजीपति और उद्योगपति होता था । उसके स्वामित्व मे अनेक कारखाने काम करते थे जो चीनी मिट्टी के बर्तन, कपड़ा और धातुओं का सामान (शस्त्र आदि) बनाते थे जिनका राजमहल और सेना के लिए उपयोग होता था तथा बचा हुआ सामान निर्यात भी किया जाता था । ये सचमुच कारखाने थे, भले ही इनमे मशीनें भाप या बिजली से नही चलती थी लेकिन इनमे उत्पादन बड़े पैमाने पर होता था । कपड़ा बनाने के कारखाने का नियन्त्रण स्वयं महारानी करती थी । इस कारखाने मे सैकड़ो महिलाएँ काम करती थी ।

समाज मे सभी वर्गों के बीच समानता व्याप्त थी । दासता का अस्तित्व प्रमाणित नही हो पाया है, यदि दासता का प्रचलन रहा भी होगा तो दासों तथा अन्य वर्गों के बीच गहरी असमानता न थी । गोरनिया जैसे औद्योगिक नगरो मे मजदूरो के रहने के मकान भी करीने से और टिकाऊ सामग्री से बनाये जाते थे तथा काफी बड़े होते थे । उनमे से प्रत्येक मे छह से आठ कमरे होते थे । सामान्य लोगो के घरो से जो लिखित दस्तावेज मिले है उनसे जाहिर होता है कि शिक्षा का लगभग शत-प्रतिशत प्रसार था । स्त्रियो को पुरुषो के समान अधिकार थे, उन्हें समाज की प्रत्येक गतिविधि मे भाग लेने का अधिकार था और वे प्रत्येक धन्धे मे प्रवेश कर सकती थी, यहाँ तक कि क्रीट की महिलाएँ साँडों के साथ लड़ाई मे और मुक्केबाजी

की प्रतियोगिताओं मे भी भाग लेती थी। उच्च वर्ग की महिलाएँ आधुनिकाओं की तरह फैशन करती और पुरुषो का ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा करती थी।[1]

इस काल मे खेलो का विकास हुआ—शतरज, दौडना, नृत्य, मुक्केबाजी, साँडो से युद्ध। क्रीट के लोगो ने ईसा से दो हजार वर्ष पहले पत्थर के थियेटर बनाये जिनमे सार्वजनिक समारोह, नाटक, सगीत और खेलो का प्रदर्शन होता था।

मिनोअन-माइनीसियन काल में धर्म मातृ-सत्तात्मक था। पूजा अधिष्ठात्री देवी की होती थी जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की स्वामिनी मानी जाती थी। शुरू में कोई पुरुष देवता न था लेकिन बाद मे देवी के एक बेटे की कल्पना देवता के रूप मे की गई। यह देवता बाद मे मर जाता है और पुनर्जीवित भी हो जाता है। इस देवता की कल्पना तो कर ली गई लेकिन इसे कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। मृत्यु को जीवन-चक्र का अनिवार्य अग मान लिया गया था। मातृदेवी अपने साथ आँधी और विनाश भी लाती थी लेकिन इसे उसका दुष्ट पक्ष नही वरन् पुनर्निर्माण की प्रक्रिया मे रचनात्मक पक्ष मान लिया गया था।

एक विलक्षण बात यह थी कि एकेश्वरवाद के बावजूद नन्दी, सर्प, कबूतर, पवित्र वृक्षो तथा पवित्र प्रतीको की भी पूजा की जाती थी। मन्दिरो मे पुजारी नही पुजारिनें होती थी। बडे त्योहारो के अवसर पर सैकडो पशुओ की बलि चढाई जाती तथा अन्न, फल आदि की भेंट भी।

इस काल मे लेखनकला का विकास हुआ। आरम्भ मे चित्र-लिपि का प्रयोग होता था, बाद मे पंक्ति मे लिखी जाने वाली अक्षर-लिपियाँ ईजाद की गयी। इनमें एक लिपि तो वस्तुतः यूनानी लिपि की माँ मानी जा सकती है। उस काल की कोई भी साहित्यिक कृति उपलब्ध नही हो सकी है, लेकिन वैज्ञानिक प्रगति के प्रमाण मिले है। क्रीट मे 11 फुट चौडी पक्की सडकें मिली है तथा जल और मल की निकासी के आधुनिकतम साधन उन्होने विकसित कर लिए थे। कला के क्षेत्र मे इस काल मे बहुत उत्कृष्ट कार्य हुआ। इस काल की चित्रकला तो विश्व की उत्कृष्टतम चित्रकलाओ मे मान्य है ही, दैनंदिन प्रयोग की मामूली से मामूली चीजें भी कलात्मक ढग से बनाई जाती थी। राजमहलो का निर्माण स्थापत्य की दृष्टि से बहुत विकसित नही था लेकिन उनकी दीवारो पर की गई चित्रकारी उत्कृष्ट कोटि की है। भवनो में आराम का विशेष ध्यान रखा जाता था, बाहरी सजावट का कम। क्रीट मे मिनोस राजमहल के भित्ति-चित्र अपनी नाटकीयता, लयशीलता, प्रकृति-निष्ठा और मनोभावो के उतार-चढावो के दिग्दर्शन के लिए प्रसिद्ध हैं।

इस युग मे वास्तुकला, जवाहरात पर नक्काशी और बर्तनो के निर्माण की कलाओ का भरपूर विकास हुआ लेकिन इस सभ्यता मे विशालकाय मूर्तियाँ नहीं बनायी गयीं।

क्रीट की मिनोअन सभ्यता जब माइसीनिया मे फैली तो दोनों मे क्रीट और

1 *E. M Burns*. Western Civilizations, 8th Ed., 1968, pp 99-100.

माइसीनिया के निवासियों के चरित्र का अन्तर बना रहा। क्रीटवासी सौम्य, सभ्य और उदार थे जबकि माइसीनियावासी अपेक्षाकृत बर्बर कहे जा सकते हैं। लेकिन वे असीरियनों की तरह बर्बर न थे कि चित्रकला और वास्तुकला में भी संहार का गौरव अंकित करते, उन्होंने प्रकृति के सौष्ठव और सौन्दर्य को चित्रित किया।

मिनोअन-माइनोसियन सभ्यता पारलौकिक नहीं थी, वह धर्म की महत्ता को स्वीकार करती थी तथापि लौकिक थी और उसका दृष्टिकोण प्रगतिशील था। उसने लोगों में जीवन के प्रति उत्साह उत्पन्न किया, जीवन के साधनों में रुचि जगायी और प्रयोगों को प्रोत्साहन दिया।

प्रारम्भिक लौह-युग की सभ्यता

मिनोअन-माइसीनियन सभ्यता के पतन के बाद यूनान में लौह-युग का उदय हुआ। इस काल की राजनीतिक व्यवस्था पूर्ववर्ती व्यवस्था की भाँति ही रही—वंशगत राजा राज्य का प्रधान सेनापति, प्रधान धर्म-पुरोहित और प्रधान न्यायाधीश होता था। समाज के कुलीन वर्ग में से एक परिषद् का गठन किया जाता था जिसका कार्यक्षेत्र राज्य की समस्याओं के बारे में विचार-विमर्श करने और राजा को सलाह देने तक सीमित था।

इस काल में एक नई राजनीतिक संस्था का उदय हुआ जिसका आने वाले काल की राजनीतिक सस्थाओं की दृष्टि से बहुत भारी महत्त्व है। यह संस्था है जन-ससद्। समय-समय पर राजा के प्रस्तावों को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने के लिए राज्य के समस्त नागरिकों की ससद् बुलाई जाती थी। यहाँ यह ध्यान में रखना होगा कि उस समय यूनान में अधिकांशत नगर-राज्य थे। बन्धुआ मजदूरों अथवा दासों को जन-संसद् में भाग लेने का अधिकार न था। राज्य और सरकार का खर्च राजा की सम्पत्ति से पूरा किया जाता था तथा कभी-कभी जनता पर कर भी लगाया जाता था।

होमर के वृत्तांत के अनुसार राजा साधारण महलों में रहते थे जिन्हें दुर्ग नहीं कहा जा सकता और अपने सामन्त-सरदारों से परामर्श करने के लिए बाध्य थे। इस काल के अन्त तक राजतन्त्र समाप्त हो गया। धार्मिक कृत्यों की पूर्ति के लिए भले ही राजा का पद बनाए रखा गया हो, उसकी शक्तियाँ कुलीनतन्त्रात्मक परिषद् और उसके अधिकारियों के हाथों में चली गई। अधिकारियों और परिषद् की नियुक्ति एक वर्ष के लिए की जाती थी जिससे कि वह बहुत शक्तिशाली न बनने पाए। लेकिन नई व्यवस्था का परिणाम उल्टा ही हुआ। राजा के विरुद्ध कुलीन वर्ग एक संतुलनकारी तत्त्व के रूप में काम करता था, लेकिन कुलीन वर्ग द्वारा सत्ता सम्भाल लेने के बाद उसको सन्तुलित रखने के लिए जनता के पास कोई शक्ति न रही अतः उसे कुलीन वर्ग की स्वेच्छाचारिता का शिकार होना पड़ा। एपिरस और मेसीडोनिया में इस समय भी राजतन्त्र जीवित रहा और स्वेच्छाचारी भी रहा। थेसेली में पुराने राजतन्त्रात्मक राज्य युद्धकाल में एक संयुक्त प्रधान

सेनापति का चयन करते थे। लेकोनिया मे दो वशगत राजाओ का एक साथ राज रहा। आरगोस मे राजतन्त्र सातवी शताब्दी ई पू के अन्त तक प्रभावशाली बना रहा, लेकिन आम तौर पर राजतन्त्र आठवी और दसवी शताब्दी ई. पू के बीच पराभव की स्थिति मे था। इस काल मे जिन नए उपनिवेशो का उदय हुआ वे सभी गणतन्त्रात्मक थे। कुलीनतन्त्र प्रभावशाली होता जा रहा था।

सामाजिक सरचना मे कोई विशेष अन्तर नही आया। सामान्त वर्ग पारिवारिक सम्बन्धो के आधार पर कुलो (Clans Orgenos) मे सगठित था। इसी प्रकार जनसाधारण भी कबीलो मे सगठित थे जिन्हे फायल (Phyle) कहा जाता था। मूलत इन कुलो और कबीलो का काम सैनिक इकाइयो के रूप मे कार्य करना था। बाद मे ये नागरिक प्रशासन की इकाइयाँ भी बन गए।[1]

लौहयुग के यूनानवासी अशिक्षित थे। प्रारम्भिक काल मे चारो ओर दरिद्रता व्याप्त थी। आय का मुख्य स्रोत खेती थी, वैदेशिक व्यापार लगभग समाप्त हो गया था और उद्योगो तथा कलाओ का पतन हो गया था। दस्तकारो मे लोहार और तांबे के बर्तन बनाने वाले बचे थे। मिट्टी के बर्तन अपनी चित्रकला के लिए प्रसिद्ध थे। सूत कातने, कपड़ा बुनने और रगने का काम स्त्रियाँ घर पर ही करती थी।

खेती बैलो से होती थी और घोड़ों का उपयोग धनी लोग सवारी के लिए और रथो मे जोतने के लिए अथवा सैनिक युद्ध के समय करते थे।

इस काल मे यूनानियो के प्रधान देवता ओलम्पिया परिवार के थे जिसका मुखिया जीयस (Zeus) था जिसे मनुष्यो और देवताओ का पिता कहा गया। जीयस का मूल निवास स्थान आकाश था और मुख्य शस्त्र वज्र। उसकी पत्नी का नाम हेरा (Hera) था। बुद्धि, हस्तकौशल और युद्ध का देवता अथेना (Athena) और प्रकाश, स्वास्थ्य, पवित्रता और काव्य का देवता अपोलो (Apollo) कहलाता था। उसकी कुँआरी बहिन आर्तेमिस (Artemis) चन्द्रमा की देवी और शिकार-प्रिय थी। समुद्र, भूचाल और घोडो का देवता पोसीडॉन (Posidon) पशुओ के झुण्डो, यात्रियो तथा चोरो का सरक्षक और जीयस का सदेशवाहक हर्मीस (Hermes) था। वनस्पति की आत्मा डायोनीसस (बेकस) (Dionysus : Bacchus) मदिरा और नाटक का सरक्षक देवता था और दिमित्र (Demeter) अन्न की देवी। दिमित्र के साथ ही उसकी बेटी पर्सीफोन अथवा कोर (Persephone or Kore) अर्थात् कुँआरी कन्या की पूजा होती थी। देवी विश्वकर्मा हैफैस्तस (Hephaestus) दस्तकारो का सरक्षक था और एफ्रोडाईट (Aphrodite) प्रेम और समस्त पवित्र वस्तुओ की देवी थी, उसका बेटा इरोस (Eros) भी देवता था। युद्ध के देवता आरेस (Ares) का स्तर अन्य देवताओ से नीचा माना जाता था। चूल्हे की देवी हेस्तिया (Hestia) थी और चोर-डाकुओ का देवता हादेस

1 *The Greeks* : R M. Cook, Thames and Hudson, London, 1961, pp. 23–30

(Hades) अथवा प्लूटो (Pluto) था। इन देवताओ को यूनान भर मे पूजा जाता था।

साहित्य : होमर और हेसियोड

लौह-युग के यूनानवासी अशिक्षित थे, लेकिन उनका अशिक्षित होना होमर (Homer) के महाकाव्यो ईलियड (Iliad) और ओडिसी (Odyssey) को उनके द्वारा कठस्थ किए जाने मे बाधक न था। ये महाकाव्य यूनान की श्रुतियाँ हैं जिन्हे लोग एक दूसरे से सुनकर कटस्थ कर लेते थे। ईलियड को वर्तमान रूप मे पहली बार 750 ई पूर्व मे लिपिबद्ध किया गया और ओडिसी को उसके भी 50 वर्ष बाद। इन दोनो महाकाव्यो मे जिन गाथाओं का वर्णन है वे मिनोअन-माइनीसियन सभ्यता के काल की हैं।

हैसियोड (Hesiod) को होमर का समकालीन माना जाता है तथा उसकी दो कृतियाँ परम्परा से प्राप्त हुई है—थियोगोनी (Theogony) और वर्क्स एण्ड डेज (Works and Days)। होमर और हैसियोड ने एक ही बोली का प्रयोग किया है। होमर ने यूनान को एक दीर्घ इतिहास की चेतना प्रदान की तथा हैसियोड ने देवताओ की वशावली और पचाँग का बोध।

इस प्रकार यूनान आठवी शताब्दी ई पू के अन्तिम चरण मे जा पहुँचा जहाँ उसकी सभ्यता ने एक निर्णयक मोड लिया और यूनानियो की सभ्यता का रूप ग्रहण कर लिया।

12

यूनान : राजनीतिक इतिहास की रूपरेखा, राजनीतिक चिंतन और संस्थाएँ

(Greece : Outline of Political History, Political Ideas & Institutions)

यूनान की प्राचीन सभ्यता का इतिहास लौह-युग के पश्चात् 800 ई पू के आसपास शुरू होता है। इस समय सगठित कबीलो ने नगर-राज्यो की स्थापना कर ली थी और प्रतिरक्षा के लिए ऊँचाई पर दुर्ग भी बना लिए थे। मुख्य भूमि पर एथेंस, थेबेस और मेगारा, पेलोपोनेसिस मे स्पार्टा और कोरिंथ, एशिया माइनर मे एजियन सागर के तटवर्ती क्षेत्र मे मिलेटस तथा एजियन के द्वीपो पर मिताईलिन और सैमोस के नगर राज्य आकार-प्रकार और शक्ति की दृष्टि से कुछ प्रमुख राज्यो मे से थे। स्पार्टा 3000 वर्गमील मे, एथेंस लगभग 1000 वर्गमील मे तथा अन्य नगर-राज्य प्राय. 100 वर्गमील से भी कम क्षेत्र मे बसे हुए थे। जनसख्या की दृष्टि से भी उनमे काफी अन्तर था। दो प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्वी राज्यो एथेंस और स्पार्टा की जनसख्या लगभग समान थी—चार लाख के आसपास। साँस्कृतिक विकास, अर्थव्यवस्था, कला, साहित्य तथा राजनीतिक चिंतन इत्यादि के मामले में भी नगर राज्यो मे नाना प्रकार की विशेषताएँ थी।

औपनिवेशिक युग का आरम्भ

नगर राज्यो की अर्थव्यवस्था थमाव के बिन्दु पर जा पहुँची थी, जनसख्या तेजी से बढ रही थी, भूमि सीमित मात्रा मे उपलब्ध थी तथा नागरिको मे अनेक प्रकार का असन्तोष उत्पन्न हो रहा था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि यूनान के नगर राज्यो के लोगो ने बडी सख्या मे प्रवान करके समुद्रपारीय क्षेत्रो मे उपनिवेश बसाना शुरू कर दिया। विशेषत: कोरिंथ, कैलकिस और मिलेटस नगर राज्यों ने इस प्रकार के उपनिवेशीकरण को बढ़ावा दिया और उनके नागरिकों ने एजियन सागर के तटवर्ती क्षेत्रो तथा दूसरी ओर इटली और सिसली

तक के क्षेत्रो मे उपनिवेश कायम कर लिए। उन्होने मिस्र और बेबीलोन मे व्यापारिक केन्द्रो की भी स्थापना की।

इस सबका परिणाम यह हुआ कि वैदेशिक व्यापार मे असाधारण वृद्धि हुई और भूमिपति वर्ग के समानान्तर एक व्यापारी मध्यम वर्ग खडा हो गया जो राजनीतिक क्षेत्र मे भूमिपति सामन्तो के वर्चस्व को चुनौती देने लगा।

जैसा कि पिछले अध्याय मे कहा गया है लौह-युग के अन्त तक यूनान के नगर राज्यो मे कुलीन वर्ग (Aristocracy) ने राजतन्त्र को लगभग समाप्त कर दिया था और एक ऐसे कुलीनतन्त्र की स्थापना कर ली थी जिसकी बागडोर भूमिपतियो और सामन्तो के हाथो मे थी। यह वर्ग राजा की अपेक्षा अधिक स्वेच्छाचारी होता जा रहा था क्योकि इसके विरुद्ध कोई राजनीतिक सन्तुलनकारी शक्ति समाज मे न थी। औपनिवेशिक युग आरम्भ होने पर यह सन्तुलनकारी शक्ति धनिक कुलीन वर्ग (Oligarchy) के विकास द्वारा उत्पन्न हुई और उसने भूमिपतियो के वर्चस्व को चुनौती देना शुरू किया।

एथेंस मे लोकतन्त्र का विकास

आठवी शताब्दी ई पू तक एथेंस मे भी अन्य यूनानी नगर राज्यो की भाँति राजतन्त्र था, लेकिन अगली एक शताब्दी के भीतर वहाँ राजा की शक्तियाँ सामन्त-परिषद् (Council of the Areopagus) के हाथों मे आ गईं और राजा शक्तिहीन हो गया।

एथेंस के जीवन मे यह सकट का समय था। वहाँ समूची भूमि पर अंगूर और जैतून के पेड रोप दिए गए थे तथा खाने के लिए अनाज विदेशो से मँगाना पडता था। ये दोनो फसलें तैयार होने मे लम्बा समय ले लेती हैं अत· छोटे किसान थक गए और उन्होने भुखमरी तथा कर्ज से तग आकर अपनी जमीने धनी सामन्तो के हाथो कौडियो के भाव बेच डाली। समाज के मध्यम और निम्न वर्ग मे हाहाकार मच गया और सामन्त वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति का स्वर प्रबल होने लगा। इस सबसे घबराकर सरकार ने 594 ई पू मे एथेंस के बुद्धिमान पुरुष सोलन को राज्य की समूची सत्ता सौप दी और उसे यह अधिकार दे दिया कि वह शासन-व्यवस्था मे जिस प्रकार सुधार करना चाहे कर सकता है।

सोलन ने राजनीतिक और आर्थिक दोनो स्तरो पर सुधार किए। उसने चार सौ सदस्यो की एक नई परिषद् की स्थापना की जिसके सदस्यो मे मध्यम वर्ग के लोग भी थे। उसने निम्न स्तरीय नागरिको को असेम्बली के अन्तर्गत कार्य प्राप्त करने की स्वतन्त्रता दी। एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की जिसके न्यायाधीशो का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर किया गया जिसमे प्रत्येक नागरिक को भाग लेने का अधिकार था। इस न्यायालय को निचले न्यायालयो के फैसलो के विरुद्ध अपीलो की सुनवाई का अधिकार दिया गया। इसके अलावा सोलन ने अनेक आर्थिक सुधार किए जिनमे कुछ प्रमुख इस प्रकार थे—उस समय गिरवी रखी

भूमियो को देनदारी से मुक्त कर दिया गया, भविष्य में कर्ज न चुका पाने के कारण दास बनाए जाने पर रोक लगा दी, तथा व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्तर्गत आने वाली भूमि की सीमा निर्धारित कर दी।

सोलन ने नई मुद्रा-प्रणाली प्रचलित की जिससे वैदेशिक व्यापार में एथेंस-वासियो को लाभ हुआ। उसने आलसी और कामचोर लोगो के लिए दण्ड की व्यवस्था की, प्रत्येक पिता का यह कर्त्तव्य निश्चित किया कि वह अपने पुत्र को कोई न कोई कला सिखाएगा, तथा उन विदेशी कारीगरो को स्थायी नागरिकता प्रदान की जो एथेंस मे बसना पसन्द करें।[1]

सोलन के सुधार दूरगामी तो अवश्य थे लेकिन उनसे सामन्त और मध्यम वर्ग दोनो अप्रसन्न हो गए। यह देखकर सोलन ने राजाओं की घिसीपिटी तरकीब अपनाई। उसने मेगारा के साथ एथेंस के एक पुराने विवाद का बहाना लेकर उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। सोलन निरंकुश किन्तु उदार शासक था, लेकिन उसका बेटा स्वेच्छाचारी बन गया और दमन पर उतर आया। अन्ततः 510 ई. पू में सामन्तो ने स्पार्टा की मदद से उसका तख्ता पलट दिया। लेकिन इसके बाद सामन्तों के आपसी झगड़े शुरू हो गए जिनका अन्त तब हुआ जब क्लीस्थेनीज (Cleisthenes) ने अपने प्रतिद्वन्द्वियो को जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिए आम नागरिकों का आह्वान किया। उसने शासन-व्यवस्था मे आमूलचूल परिवर्तन कर दिये। उसे यूनान मे लोकतन्त्र का पिता कहा जाता है। एथेंस का लोकतन्त्र पैरीक्लीज (Pericles) के जमाने (461 से 429 ई पू.) मे अपनी परिपूर्णता को प्राप्त हुई।[2]

स्पार्टा में रूढ़िवाद

यूनान के राजनीतिक इतिहास का आगे वर्णन करने से पहले यह उचित होगा कि यूनान के दूसरे महत्त्वपूर्ण नगर राज्य स्पार्टा की राजनीति की ओर दृष्टि डाली जाए। इसका मुख्य कारण यह है कि स्पार्टा यूनान के नगर राज्यो के विकास क्रम से सर्वथा असंपृक्त और अपवाद स्वरूप था। स्पार्टा मे लोकतन्त्र की दिशा में कोई पहल नही हुई। इतना ही नहीं उसकी सरकार स्वेच्छाचारिता की दिशा में बढती गई। उसने यूनान के अन्य राज्यो और उनकी सभ्यता से स्वयं को अलग-थलग रखा, साथ ही वहाँ राज्य के आश्रय में सामूहिक नियन्त्रण की ऐसी कठोर व्यवस्था का निर्माण हुआ जिसके कारण उस मध्यम वर्ग का उदय ही नहीं हो पाया जो तानाशाही के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा ऊँचा किया करता है।

स्पार्टा के लोग पूर्वी पेलोपोनेसस में आक्रमणकारी के रूप में आए थे, उन्होंने माइसीनियन लोगों के साथ मिश्रित होने की कोशिश की लेकिन इसमें वे सफल रहे और अन्ततः उन्होंने विजय का मार्ग अपनाया। तब से ही स्पार्टा एक

1. *E. M. Burns* : op. cit., p. 125.
2. *H. G. Wells* : op. cit., p. 91.

सैनिक सभ्यता मे ढलता चला गया। माइसीनियन लोगो को जिन्हे अब मेसेनियन कहा जाने लगा था, दबाकर रखने की धुन मे उन्होने इतने कठोर सैनिक अनुशासन का निर्माण कर लिया जो उनके स्वय के लिए ही घातक बन गया। एडवर्ड एम बर्न्स ने इस बारे मे बहुत सटीक टिप्पणी की है। वे लिखते है—"अपने शत्रुओ के दमन और उनके शोषण की प्रक्रिया मे उन्होने अनजाने मे स्वय को ही दासो की स्थिति में पहुँचा दिया, क्योकि वे अपने इतिहास की शेष शताब्दियो मे विद्रोह के घातक भय मे जीते रहे।"[1]

स्पार्टा ने स्वयं को अन्धे युग मे धकेल दिया और वह यूनान की सभ्यता के साथ समरस नही हो पाया। वहाँ राजतन्त्र था लेकिन उसकी विलक्षणता यह थी कि उसमे एक की बजाय दो उच्च राजवशो के दो राजा एक साथ राज करते थे। उनके हाथो मे राजनीतिक सत्ता तो नाममात्र की ही थी, लेकिन धार्मिक और सैनिक सत्ता उन्ही के पास थी।

सरकार का दूसरा स्वेच्छाचारी अग थी परिषद्, और तीसरा असेम्बली और चौथा एफोरेट (Ephorate)। परिषद् मे दोनो राजा तथा साठ वर्ष से अधिक आयु वाले 28 सामन्त होते थे। परिषद् प्रशासन का अधीक्षण करती, असेम्बली के सम्मुख पेश करने के लिए प्रस्ताव तैयार करती और अपराधो के मामलो मे सर्वोच्च न्यायाधिकरण के दायित्वो का निर्वाह करती थी।

असेम्बली का काम परिषद् के प्रस्तावो को स्वीकार अथवा अस्वीकार करना, तथा राजाओ को छोडकर अन्य सभी सरकारी कर्मचारियो की नियुक्ति करना था। स्पार्टा के संविधान मे सर्वोच्च-सत्ता पाँच सदस्यो की सर्वोच्च-पचायत (Ephorate) के पास थी। इसके सदस्य ही वास्तव मे सरकार होते थे। वे ही असेम्बली और परिषद् की अध्यक्षता करते, शिक्षा-प्रणाली तथा सम्पत्ति के वितरण की व्यवस्था का नियन्त्रण करते, नागरिको के जीवन पर निगाह रखते तथा समूचे विधि-निर्माण पर निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकते थे। उन्हे नवजात शिशुओ के भाग्य का फैसला करने, परिषद् के सामने आए मुकदमो की सुनवाई और यदि धार्मिक शगुन प्रतिकूल हो तो राजाओ को पदच्युत् करने का अधिकार भी था। उनका निर्वाचन असेम्बली एक वर्ष के लिए करती थी लेकिन वे बार-बार चुने जा सकते थे। असेम्बली लोकतान्त्रिक आधारो पर नही चुनी जाती थी, उसकी सदस्यता सम्पत्ति की अर्हता पर आधारित थी। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि स्पार्टा की व्यवस्था और सभ्यता कट्टरपथी, रूढिवादी और संक्षेप मे धनिकतन्त्र (Oligarchy) थी जिसके साथ सैनिकतन्त्र (Timocracy) का सयोग बैठाया गया था।

युद्ध और आन्तरिक विग्रह

एथेंस को अपने लोकतन्त्र पर गर्व था लेकिन यह लोकतन्त्र एक शताब्दी

1 Western Civilizations, 8th Edition, 1968, p. 121.

से अधिक नही टिक पाया। 546 ई. पू मे फारस के प्रथम सम्राट् सायरस ने क्रोयसस को पराजित कर दिया तथा लीडिया और उसके यूनानी उपनिवेश सायरस के आधिपत्य मे चले गए। 538 मे सायरस ने मिस्र को जीत लिया और 525 मे वेबीलोन को। उसके बाद वह यूरोप मे घुसा और 512 मे थ्रेस को जीत लिया। अब यूनान के पूर्व का समस्त प्रदेश सायरस के साम्राज्य मे शामिल हो गया। यूनान के लोगो ने फारस के प्रसार को रोकने के लिए सामूहिक रूप से कोई विशेष प्रयास नही किया। 499 ई पू मे जब फारस की सेनाओ के विरुद्ध आयोनिया के लोगो ने विद्रोह किया तो एथेंस और एरोट्रिया ने उनकी मदद की, लेकिन वह भी पर्याप्त न थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि सायरस ने विद्रोह को एक ही झटके मे दबा दिया। 490 ई. पू मे सायरस ने एजियन सागर को पार किया और एरोट्रिया तथा एथेंस को आयोनिया की मदद के लिए सजा देने के विचार से एरोट्रिया पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया, लेकिन एथेंस ने फारस की सेना को पराजित करके पीछे खदेड़ दिया।

दस साल बाद फारस के राजा जरक्सीज ने यूनान पर पूरी तैयारी से चढाई की। थ्रेस और मेसीडोनिया से होते हुए वे यूनान की मुख्य भूमि की ओर उत्तर से बढ़ी। उनकी मदद के लिए एजियन सागर मे नौसैनिक बेड़ा भी आगे बढता रहा। थर्मोपली मे लियोनिडास और उसके तीन सौ स्पार्टन सैनिको ने फारस की सेना को छह दिन तक रोके रखा, अन्तत. वे उसे परास्त करके एथेंस मे घुसी तथा उन्होंने पूर्वी यूनान पर कब्जा कर लिया। शीघ्र ही यूनान के नगर-राज्यो ने मिलकर सलामिस तट के समीप फारस के नौसैनिक बेडे का सफाया कर दिया और 479 ई पू मे प्लाटेया के युद्ध मे फारस की स्थल-सेना भी पराजित होकर स्वदेश लौट गयी।[1] यह यूनान के नगर-राज्यो की एकता का श्रीगणेश था। इस समय यूनान के लगभग आधे राज्य एक-दूसरे के समीप आये। इन राज्यो ने प्रतिरक्षा तथा आक्रमण दोनो के लिए एक सैनिक सधि की जिसके परिणामस्वरूप डेलियन लीग (Delian League) का गठन हुआ। फारस की सेना के लौट जाने पर लीग को भग नहीं किया गया क्योंकि यह आशका समाप्त नहीं हुई थी कि फारस की सेनाएँ कभी भी लौट सकती हैं। एथेंस ने इस लीग का उपयोग अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए एक नौसैनिक शक्ति के रूप मे किया। उसने लीग के सदस्यो को अपने अधीन राज्यो के रूप मे इस्तेमाल करना शुरू कर दिया। जो राज्य उसकी अधीनता स्वीकार करने मे आनाकानी करते एथेंस उसकी नौसेना पर कब्जा कर लेता तथा उससे कर मांगता।

यह देखकर स्पार्टा चौकन्ना हो गया, उसे लगा कि इस तरह तो एथेंस समूचे यूनान पर कब्जा जमा लेगा। स्पार्टा पहले ही एथेंस के लोकतन्त्र से आशकित था, उसके शासको को भय था कि यदि एथेंस के लोकतन्त्र की छूत उनके देशवासियो

1 *H G. Wells : op cit.*, p 88.

को लग गयी तो उनकी सत्ता समाप्त हो जायेगी। इन सब कारणो से उन्होने यह आवश्यक समझा कि एथेंस को युद्ध मे पछाड़ा जाये।

पेलोपोनेशियन युद्ध

431 ई पू मे स्पार्टा और एथेंस के बीच युद्ध छिड़ गया जो 404 ई. पू. तक चलता रहा। एथेंस पर इस युद्ध के कारण मुसीबत का पहाड़ टूट पड़ा। उसका व्यापार चौपट हो गया, लोकतन्त्र समाप्त हो गया, तथा भयकर महामारी फैलने के फलस्वरूप उसकी आबादी बहुत कम रह गयी। उसकी पराजय से जनता का मनोबल भी टूट गया। एथेंस की सेना ऐसी बर्बर हो गयी कि मेलोस नगर-राज्य द्वारा युद्ध मे तटस्थता त्याग कर एथेस का समर्थन करने से इन्कार करने पर उसके सैनिको ने मेलोस के एक-एक पुरुष को चुन-चुनकर मार डाला तथा स्त्रियो और बच्चो को दास बना लिया। अन्तत· उसके मित्र-राष्ट्रों मे केवल सैमोस उसके साथ बच रहा, स्पार्टा की सेना ने उसके अन्न-आयात-मार्ग बन्द कर दिये। एथेस के सामने अब समर्पण के सिवाय दूसरा मार्ग ही नही बचा।

पेलोपोनेशियन युद्ध ने एथेस को तो पराजित कर ही दिया, उसने समूचे यूनान से लोकतन्त्र का सफाया भी कर दिया। समूचे यूनान पर स्पार्टा की धाक जम गयी और उसके द्वारा समर्थित धनिक तथा सैनिक वर्ग ने मिलकर प्रत्येक राज्य मे सत्ता सम्भाल ली।

स्पार्टा का पतन

शस्त्र के बल पर जमायी गयी सत्ता शस्त्र के बल पर ही समाप्त हो जाती है। 371 ई पू मे थेबेस के एपामिनोनडास (Epaminondas) ने लियुक्ट्रा मे स्पार्टा की सेना को परास्त कर दिया और यहाँ से थेबेस की प्रभुता का काल आरम्भ हुआ। मगर थेबेस ने भी स्पार्टा की तरह राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय नही दिया। परिणामत· 9 वर्ष बाद यूनान के नगर-राज्यो ने मिलकर मैनटोनिया के मैदान मे थेबेस की सेना से 'लोहा लिया। एपामिनोनडास मारा गया और साम्राज्य का पराभव हो गया।[1]

मेसोडोनिया का फिलिप

यूनान के नगर-राज्य युद्धो से थक गए थे, लेकिन उनकी सभ्यता मन्द नही पड़ी थी। यूनान राजनीतिक अस्थिरता मे जी रहा था। इसी समय मेसीडोनिया मे फिलिप राजगद्दी पर बैठा। फिलिप को पिछले युद्ध के समय थेबेस की सेना बन्दी बनाकर ले गयी थी। इसी समय उसने थेबेस की युद्धकला का अध्ययन किया, और वह यह भी समझ गया कि दक्षिणी राज्यो मे राजनीतिक अस्थिरता तथा सैनिक शिथिलता आ गयी है अत उसने उन्हे जीतने का निश्चय कर लिया। 338 ई. पू मे उसने यूनान पर निर्णायक विजय प्राप्त कर ली। केवल स्पार्टा उसके साम्राज्य के बाहर था। दो साल बाद ही एक पारिवारिक संघर्ष मे फिलिप

1 *E M Burns* op cit., p. 129.

की हत्या कर दी गयी और उनका बेटा सिकन्दर मेसीडोनिया का नया राजा बना। वह एक महान् योद्धा था उसने 12 वर्ष के भीतर समूचे यूनान को ही नहीं सिन्धु से नील तक समूचे प्रदेश पर अपना झण्डा फहरा दिया। वह लम्बी उम्र लेकर न आया था। 32 वर्ष की अल्पायु में ही बेबीलोनिया के दलदल में वह विजेता मात्र मच्छरों के डंक से मर गया जो पुरु जैसे बली सम्राट् को अपनी तलवार के बल पर नीचा दिखाने में सफल रहा था।

सिकन्दर की दिग्विजय के पीछे उसके स्वयं के प्रयोजन तो शायद अपने साम्राज्य के विस्तार के अतिरिक्त कुछ न थे, लेकिन उसके परिणामस्वरूप यूनान की सभ्यता का प्रभाव दूर देशों तक पर पड़ा और यूनान से प्रभावित एक नयी यूनानी सभ्यता का उदय हुआ। यह सभ्यता यूनानी और पौर्वात्य सभ्यताओं के मिश्रण से बनी।

साम्राज्य का विस्तार और उसके बाद

323 में सिकन्दर का देहान्त हो गया। जब उसकी मृत्यु निकट आ गयी तो उसके मित्रों ने उससे पूछा कि आपका उत्तराधिकारी किसे बनाया जाये। उसने उत्तर दिया—"योग्यतम व्यक्ति को।" उसने अपने पीछे कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ा था। परिणाम यह हुआ कि यूनान का वह साम्राज्य जिसका सिकन्दर ने अपने रक्त से निर्माण किया था उसके सेनापतियों के बीच बँट गया, मगर उसके पहले 301 ई पू. में उनके बीच इप्सस नामक रणक्षेत्र में भयंकर युद्ध हुआ। अन्तत: विजेताओं के बीच साम्राज्य का बँटवारा हुआ—सेल्यूकस (Seleucus) को फारस, मैसोपोटामिया और सीरिया, लाइसिमेकस (Lysimachus) को एशिया माइनर और थ्रेस, कैसान्डर (Cassander) को मेसीडोनिया तथा टोलेमी (Ptolemy) को मिस्र (जिसमें उसने फिलिस्तीन फिनोशिया को भी शामिल कर लिया) के प्रदेश मिले। बीस साल बाद सेल्यूकस ने लाइसिमेकस को मार डाला और उसके साम्राज्य को अपने कब्जे में ले लिया।

इस बीच यूनान के नगर-राज्य मेसीडोनिया के प्रभुत्व के विरुद्ध संघर्ष करते रहे तथा कभी उनमें सफल और कभी विफल होते रहे। अन्तत. एक शताब्दी के संघर्ष के बाद 30 ई. पू. में यूनान की स्वतन्त्रता समाप्त हो गयी और समूचा यूनान रोमन साम्राज्य के उदर में समा गया।

राजनीतिक चिन्तन और संस्थाएँ

यूनान की सभ्यता के प्रागैतिहासिक दौर में सर्वप्रथम जिस मिनोअन-माइसीनियन सभ्यता का उदय हुआ वह अपने आप में एक उच्च कोटि की सभ्यता थी तथापि उस दौर में राजनीतिक संस्थाओं के उदारवादी चरित्र और समाज के मानव-परायण होने के बावजूद शास्त्रीय चिन्तन व्यवस्थित रीति से नहीं हुआ। उसके बाद लौह युग आया जिसे अन्धकार का काल माना जाता है तथापि यह स्वीकार करना होगा कि इस युग के अन्तिम चरण में यूनान उन सामाजिक आदर्शों की देहली में प्रवेश कर रहा था जो आगामी शताब्दियों में यूनान की सभ्यता का

आधार बने। सबसे बडी बात तो यह है कि शास्त्रीय सभ्यता का युग आरम्भ होने से पहले ही प्रारम्भिक लौह-युग का यूनान व्यक्ति के व्यक्तित्व की गरिमा, स्वतन्त्रता और जीवतता को अँगीकार कर चुका था तथा उसने अपने देवताओ के सामने भी स्वय को दीन-हीन मानने से इन्कार कर दिया। यह थी वह पृष्ठभूमि जिस पर आठवी शताब्दी ई पू के पश्चात् यूनान के राजनीतिक चिन्तन, सामाजिक दर्शन, धर्म, अर्थ-व्यवस्था और दर्शन की नीव पडी।

पुरातन काल (आठवी शदाब्दी के उत्तरकाल से 480 ई. पू. तक)

यूनान की शास्त्रीय सभ्यता का युग 480 ई पू शुरू होता है। इससे पहले लगभग तीन सौ वर्ष यूनान मे राजनीतिक सस्थाओ के विकास के वर्ष थे। जिस समय प्रारम्भिक लौह-युग का अन्त हुआ उस समय आरगौस, मेसेनीया, एपीरस और मेसीडोनिया मे राजाओ का राज विद्यमान था, स्पार्टा मे एक साथ दो राजा राज करते थे, लेकिन यूनान के अधिसख्य राज्यो मे अभिजाततन्त्र अथवा कुलीनतन्त्र (Aristocracy) की स्थापना हो चुकी थी। सत्ता राजा के हाथो से निकल चुकी थी। एक वर्ष के लिए कार्यपालिका अधिकारियो (Magistrates) की नियुक्ति होती थी, उनके कार्य सीमित होते थे, एक स्थायी परिषद् होती थी और धनिक वर्ग के मतदाताओ द्वारा निर्वाचित एक असेम्बली भी होती थी जो परिषद् द्वारा कार्यपालिका अधिकारियो के चयन तथा उसकी ओर से रखे गए प्रस्तावो को स्वीकार अथवा अस्वीकार करती थी, लेकिन उसके पास वास्तविक सत्ता न थी।

धीरे-धीरे सामन्तो के कुलो पर आधारित कुलीनतन्त्र विकृत होकर धनिक-तन्त्र (Oligacrhy) मे परिवर्तित हो गया। धनिक वर्ग को अपनी सम्पत्ति, अपने अनुबन्धो तथा व्यापारिक-व्यावसायिक प्रथाओ, परम्पराओ और रीति-नीति की सुव्यवस्था की दृष्टि से कठोर और भली प्रकार परिभाषित कानूनो की आवश्यकता हुई और इन कानूनो को लागू कराने के लिए कठोर शासको की। बस यहीं से सेनापतिवर्ग भी धनिक वर्ग के साथ जुड गया और नयी व्यवस्था मे धनिकतन्त्र तथा सैनिकतन्त्र (Oligarchy & Timocracy) का गठबन्धन शुरू हुआ और अन्तत सत्ता सैनिकतन्त्र के हाथो मे चली गयी। ऐसे शासको को जो किसी सौंविधानिक व्यवस्था से बँधे हुए न थे और किसी के प्रति जिम्मेदार भी न थे, स्वेच्छाचारी (Tyrants) कहा गया। इस शब्द का अर्थ उस काल मे प्रजापीडक या दमनकर्त्ता न था। यह अर्थ तो बाद मे उस समय जुडा जब स्वेच्छाचारी शासकों के शत्रु उनकी भर्त्सना करने के लिए यह कहने लगे कि स्वेच्छाचारी शासक आततायी होता है।

स्वेच्छाचारी शासक वशगत शासन की स्थापना नही कर पाए तथा धनिक वर्ग (Oligarchy) ने पुनः सत्ता उनसे छीनकर अपने हाथो मे सम्भाल ली।[1]

कुलीनतन्त्रात्मक (Aristocratic), धनिकतन्त्रात्मक (Oligarchic) और

1 *R M Cook* : op. cit, pp. 67-70.

सैनिकतन्त्रात्मक (Timocratic) संविधानों के पश्चात् यूनान में जन-साधारण की सत्ता तथा समाज के सभी नागरिकों की, भले ही वे अमीर हों या गरीब, समानता की अवधारणा का उदय हुआ और सामान्य अर्थ में लोकतन्त्रात्मक संविधान (Democratic Constitution) अस्तित्व में आया। लोकतन्त्र अवश्य आया लेकिन संविधान की संस्थाएँ नहीं बदली—वही एक वर्ष के लिए चुने गए अधिकारी, वही परिषद् और वही असेम्बली रही। बदलाव केवल इतना आया कि इन संस्थाओं पर किसी वर्ग-विशेष की इजारेदारी संविधान की दृष्टि से समाप्त हो गयी।

प्रतिनिधि-शासन की धारणा
(Representative Government)

लोकतन्त्र की स्थापना हो जाने के बावजूद यूनान में अभी तक प्रतिनिधि-*शासन की धारणा विकसित नहीं हो पायी थी। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि प्रत्येक* नागरिक को असेम्बली की बैठकों में भाग लेने का अवसर मिल गया। इसके बावजूद उसे प्रतिनिधि-संसद् नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें शहरों के लोग ही भाग लेते थे तथा किसानों को उसमें भाग लेने का अवसर नहीं मिलता था। दास वर्ग को तो किसी भी प्रकार के नागरिक अधिकार थे ही नहीं, स्त्रियों को भी मताधिकार प्राप्त न था। दासों अथवा विदेशियों को नागरिकता प्रदान करने की कोई व्यवस्था ही न थी। बच्चों को नागरिकता केवल तभी प्राप्त हो सकती थी जबकि माता और पिता दोनों राज्य के नागरिक होते थे।

नगर-राज्य (City State)

प्राचीन यूनान की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संस्था नगर-राज्य था। वहाँ नगर-राज्यों के निर्माण के पीछे दो प्रमुख कारण रहे—पहला तो यूनान की स्थलाकृति (Topography), जिसने पहाड़ों और सागर के माध्यम से देश को अनेक क्षेत्रों में विभाजित कर दिया, तथा दूसरा कबीलों और कुलों (Tribes & Clans) के आधार पर गाँवों का निर्माण जो धीरे-धीरे कृषि-आधारित उद्योगों की स्थापना होने पर कस्बे बने जिन्होंने व्यापार शुरू होने पर नगरों का रूप ले लिया।

यूनान के ये नगर-राज्य सांस्कृतिक दृष्टि से काफी सम्पन्न हो गए थे, लेकिन उनकी संस्कृतियों में बहुत भेद था, तथा उनमें परस्पर द्वेष भी पनप रहा था। द्वेष का यही भाव था जिसने एथेंस और स्पार्टा को युद्ध में उलझने के लिए उकसाया।

शास्त्रीय काल (480 ई. पू. से 338 ई. पू.)

पाँचवी और चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में राजनीति का नियामक सूत्र सुरक्षा और भौतिक लाभ था। इस प्रयोजन को कभी स्वीकार कर लिया जाता और कभी छिपाने की कोशिश की जाती, लेकिन राजनीति प्रायः अवसरवादी तथा तात्कालिक लक्ष्यों तक सीमित रह गयी।

इस काल मे शासन पद्धतियो की दृष्टि से स्वेच्छाचारीतन्त्र सिसली के सिवाय पूरे यूनान मे अपना महत्त्व खो बैठा तथा दो ही पद्धतियाँ प्रचलन मे रह गयी धनिकतन्त्र (Oligarchy) और लोकतन्त्र (Democracy) जिनके प्रतीक क्रमश स्पार्टा और एथेंस नगर-राज्य बन गए। समाज मे तीन प्रमुख वर्ग उभर आये थे—धनिक वर्ग, किसान तथा दस्तकार, और गरीब मजदूर वर्ग। धनी अर्थात् सम्पन्न वर्ग दो प्रकार के थे—धनी व्यापारी तथा धनी सैनिक अधिकारी। ये दोनो ही धनिकतन्त्र के पक्षधर थे। थेसेलो और स्पार्टा मे व्यापारियो और सैनिक अधिकारियो के गठबन्धन से धनिकतन्त्र की स्थापना हुई थी तथा एथेंस मे नौसेना प्रमुख थी जिसमे जहाजो को खेने वाले साधारण मजदूरो का बाहुल्य था अथवा किसानो और दस्तकारो का, अत वहाँ लोकतन्त्रात्मक शासन था। यह लोकतन्त्र मध्यम कोटि का था। नगरो के अनिश्चित रोजगार वाले मजदूर उग्र लोकतन्त्र तथा समाज और राज्य के राजनीतिक जीवन मे समानता के हिमायती थे।

राज्य के विभिन्न वर्गों मे सत्ता का सघर्ष प्राय. बर्बरतापूर्ण और सिद्धान्तहीन रीति से होता था। विरोधियो की सामूहिक हत्याएँ कर दी जाती और धोखा तथा षडयन्त्र एक आम बात थी। स्पार्टा मे ऐसे अनेक षडयन्त्र प्रकाश मे आये। एथेंस मे भी राजनीतिक हत्याओ की सूची लम्बी है। इस सबका कारण सार्वजनिक नैतिकता मे गिरावट और राजनीतिज्ञो की सख्या मे असाधारण वृद्धि होना था। वे सब सत्ता मे प्रमुख स्थान प्राप्त करना चाहते थे।[1]

प्राचीन यूनान के नगर-राज्यो के चरित्र की एक विशेषता यह भी थी कि वे स्वतन्त्र रहना चाहते थे, लेकिन जहाँ यह सम्भव न होता वे अधिकतम स्वतन्त्रता की कोशिश करते, ऐसी स्थिति मे राज्यो के सघ अथवा परिसघ बनाये जाते।

वैदेशिक नीति के मामले मे यूनान के राज्य प्राय. रूढिवादी थे तथा उनकी विदेश नीति का मूल आधार उनकी अपनी सुरक्षा और समृद्धि था, फिर भी यूनान मे धनिकतन्त्रात्मक और लोकतन्त्रतात्मक दो राज्य-समूह बने हुए थे, पहला स्पार्टा के साथ और दूसरा एथेंस के साथ था।

सार्वजनिक वित्त तथा प्रशासन के मामले मे प्रत्येक राज्य की स्थिति अलग थी। जिन राज्यो का आकार बडा होता तथा आर्थिक विकास और सैनिक महत्त्वाकांक्षाएँ बढी-चढी होती, उनकी राजस्व की आवश्यकताएँ भी अधिक होती। सामान्यतया सार्वजनिक वित्त मे से प्रतिरक्षा, सार्वजनिक भवनो और स्थलो की सार-सम्भाल, उत्सव-समारोह, जल-आपूर्ति जैसी सेवाओ और सरकारी कर्मचारियो के वेतन तथा गरीबो के लिए जुटाई गई सुविधाओ पर खर्च होता था।

आय के प्रमुख स्रोत बाजारो, बन्दरगाहो पर लगाये गये कर, सार्वजनिक भूमि की आय, जुर्माना तथा धनियो द्वारा स्वेच्छा से दिया गया दान या उन पर लगाये गये विशेष करो से प्राप्त राजस्व थे। आयकर के मामले मे विषमता का व्यवहार किया जाता था, अर्थात् वह आय धनियो से ही वसूल किया जाता था।

1 *Cook*. op cit., pp. 121-122.

स्वावलम्बी खेतिहर राज्यो में सार्वजनिक व्यय कम ही होता था। किसानों और मजदूरो के लिए यह अनिवार्य था कि वे अपने खर्च पर अनिवार्य सैनिक-सेवा प्रदान करें।

आलेखों से पता चलता है कि 430 ई. पू. में एथेंस का वार्षिक राजस्व साठ लाख ड्राक्मा था। एक ड्राक्मा कुशल कारीगर का एक दिन का वेतन होता था जो एक भेड़ के मूल्य के बराबर था। इसमें से लगभग साठ प्रतिशत आय जो अधीन राज्यो से भेंट स्वरूप होती थी तथा शेष चालीस प्रतिशत घरेलू स्रोतों से प्राप्त होती थी, जैसे—बन्दरगाहो पर आयात और निर्यात शुल्क जिसकी दर 2 प्रतिशत थी, बाजार-कर जिसकी दर एक प्रतिशत थी, सार्वजनिक सम्पत्ति का किराया जिसमे लारियन की चाँदी की खदानो की आय भी शामिल थी, तथा विदेशी निवासियो से प्राप्त होने वाला कर।

शान्तिकाल के नौ-सेना के अधिकारियो और कर्मचारियो के वेतन तथा नये जहाजो के निर्माण पर कुल सार्वजनिक राजस्व का चौथाई खर्च हो जाता था, घुड़सवार सेना पर चार प्रतिशत। अन्य कई खर्च कर लेने पर भी जो बचत होती उसे एक्रोपोलिस जैसे नये निर्माण कार्यों पर खर्च कर दिया जाता और उसका एक अंश युद्ध के लिए बचाकर रखा जाता था।

एथेंस में दस सर्वोच्च कार्यपालिका अधिकारियों का निर्वाचन नागरिकों के बहुमत के आधार पर किया जाता था। इनके पास नागरिक और सैनिक मामलों की सर्वोच्च कार्यपालिका सत्ता होती थी। सरकारी काम-काज के संचालन के लिए दस-दस सदस्यों वाली 100 समितियाँ होती थीं जिनके सदस्य लाटरी द्वारा चुने जाते थे। इसके अतिरिक्त उन पाँच सौ पार्षदो का चयन भी इसी प्रकार किया जाता था, जो सर्वोच्च असेम्बली के सत्रों के लिए आदि तैयार करते, प्रशासन का निरीक्षण करते तथा अत्यावश्यक मामलो में प्रारम्भिक निर्णय लेते थे जिन्हें बाद में असेम्बली की स्वीकृति के लिए उसके सामने रखा जाता था।

राज्य तरह-तरह के कार्य करता था। एथेंस में अनाज के व्यापार का नियमन राज्य की ओर से किया जाता था। छठी शताब्दी ई. पू. में नगरों में पानी के लिए नल लगाये गए, सार्वजनिक फव्वारे लगाये गये और अगली शताब्दी में सार्वजनिक स्नान-गृह बनाये गए। राज्य की ओर से खुले में व्यायाम करने के लिए जिमनेजियम बनाये गए। अनेक नगर-राज्यो में राज्य की ओर से चिकित्सक नियुक्त किये जाते थे जो नागरिको, दासों और आगन्तुकों का इलाज निःशुल्क करते थे। युद्ध में जो बच्चे अनाथ हो जाते उनकी देखभाल राज्य की ओर से की जाती तथा गरीबो को आर्थिक मदद पहुँचाई जाती।

प्लेटो का राजनीतिक चिन्तन

इस काल में व्यवस्थित राजनीतिक चिन्तन की शुरूआत प्लेटो ने की। उसने एक ऐसे राज्य की परिकल्पना की जो संघर्ष, विप्लव, षड्यन्त्र और अशान्ति

से सर्वथा मुक्त हो तथा जिसके नागरिक व्यक्तिगत और जातीय स्वार्थों की सकीर्णता से ग्रस्त न हो। उसकी विचारधारा के अनुसार लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता का कोई महत्त्व न था, वह सबसे अधिक वल राज्य के भीतर सामंजस्य और कार्यकुशलता पर देता था।

उसने अपने राजनीतिक विचारो के प्रतिपादन के लिए 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमे आदर्श समाज की रचना के लिए उसने उसे तीन वर्गों मे बाँटा। यह विभाजन करते समय वह आत्मा के कृत्यो को तीन वर्गों में विभाजित करता है तथा प्रत्येक के अनुरूप एक-एक सामाजिक वर्ग की कल्पना करता है। आत्मा के कृत्यो मे प्लेटो के मतानुसार सबसे निचला कर्म वासना है जिसमे मनुष्य की भौतिक आवश्यकताएँ, सम्पत्ति और प्रजनन (सन्तानोत्पत्ति) शामिल है। इस कर्म की पूर्ति के लिए प्लेटो ने उत्पादक वर्ग की कल्पना की जिसमे किसान, दस्तकार, व्यापारी आदि का समावेश होता है। आत्मा का दूसरा कर्म सकल्प अथवा शौर्य है जिसका प्रतिनिधित्व समाज में सैनिक वर्ग करता है। तीसरा तथा सर्वोच्च कर्म विवेक है जिसका प्रतिनिधित्व समाज का बौद्धिक वर्ग अथवा दार्शनिक करता है।

प्लेटो कहता है कि सामाजिक सामजस्य की दृष्टि से प्रत्येक वर्ग को अपने कर्त्तव्य-कर्म का पालन करना अभीष्ट है। निम्नतम वर्ग का काम समूचे समाज के हितो की पूर्ति के लिए उपभोग की वस्तुओ का उत्पादन और वितरण करना और सन्तान उत्पन्न करना है। उसे यह कार्य समाज के हित की दृष्टि से करना चाहिए न कि धन के सग्रह और सन्तान के लोभ की दृष्टि से। उसका धर्म है कि वह जो सम्पत्ति प्राप्त करे उसे समाज के शेष दो वर्गों के पालन-पोषण पर व्यय करे। दार्शनिक और सैनिक न खेती करेंगे न व्यापार, वे समाज के हित का चिन्तन और शत्रु से उसकी रक्षा का भार उठायेंगे अत उत्पादक वर्ग का यह धर्म है कि वह इन दोनो वर्गों की भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करे।

प्लेटो राज्य मे सर्वोच्च स्थान दार्शनिक को देता है तथा राज्य की समूची राजनीतिक सत्ता उसके हाथो मे सौंपकर उससे कहता है कि यह सत्ता तुम्हारे हाथो मे समाज की ओर से सौपा गया न्यास (Trust) है अत तुम इसका उपयोग समूचे समाज के हित की दृष्टि से करो। प्लेटो उसे निरकुश सत्ता प्रदान करता है। वह समाज पर विवेक की सत्ता स्थापित करता है, ऐसी स्थिति मे विवेक पर नियन्त्रण लगाने वाला कोई बचता ही नही। उसकी कल्पना का दार्शनिक नि स्वार्थ होगा क्योंकि स्वार्थ का जन्म परिवार और सम्पत्ति की सस्थाओ के कारण होता है। दार्शनिक का न अपना परिवार होगा न वह सम्पत्ति का ही सग्रह करेगा। वह कहता है कि दार्शनिको के लिए सामूहिक स्त्रियाँ होंगी और सामूहिक सम्पत्ति। दार्शनिको की सन्तान समाज की जिम्मेदारी समझी जायेगी और दार्शनिक को यह पता भी नही होगा कि वह किस सन्तान का पिता है। वह स्वय को समूचे समाज का पिता और सरक्षक मानेगा। वह सामूहिक भोजनालय मे भोजन करेगा और

सामूहिक निवास (बैरक) मे रहेगा । उसके आगे-पीछे कुछ होगा ही नही तब वह सग्रह किसके लिए करेगा ? ऐसी स्थिति मे उसका ईमानदार बना रहना सुनिश्चित हो जाता है ।

ठीक यही आचरण-सहिता प्लेटो सैनिक वर्ग पर लागू करता है । यह वर्ग भी बैरको में रहेगा और सामूहिक पत्नियो के साथ सहवास करके अपनी वासना की पूर्ति करेगा । उसका न कोई निजी परिवार होगा न निजी सम्पत्ति । वह समूचे समाज के हितो का प्रहरी और सरक्षक होगा तथा विवेक अर्थात् दार्शनिक के नियन्त्रण में कार्य करेगा ।

प्लेटो कहता है कि इन वर्गों का निर्धारण जन्म के आधार पर नहीं वरन् चरित्र और बुद्धि के विकास के आधार पर किया जायेगा । जिन लोगो में उत्पादन और वितरण के प्रति लगाव है तथा जिनमें वीरता तथा विवेक का विकास पूरी तरह नही हुआ है वे उत्पादक वर्ग में रहेगे तथा जो वीर है और जिनके स्वभाव में सम्पत्ति और परिवार के प्रति विशेष लगाव नही है तथापि जिनका विवेक पूर्णरूपेण शुद्ध तथा ममत्व और मोहरहित नही हुआ है वे सैनिक वर्ग में । शुद्ध-बुद्ध विवेक वाले लोग दार्शनिक वर्ग मे रहेगे तथा राज्य के हितो की देखभाल का काम वे ही करेंगे ।

अरस्तू का राजनीतिक चिन्तन

प्लेटो का शिष्य अरस्तू अपने गुरु के राजनीतिक विचारो के साथ सहमत नही है । उसने अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' में सरकार की सरचना और उसके कार्यों के बारे में गहन विवेचना की । वह राज्य को मानवीय हितो की पूर्ति का सर्वोच्च और श्रेष्ठतम साधन मानता है । उसका लक्ष्य श्रेष्ठ जीवन की दशाओ का निर्माण है ।

अरस्तू पहला दार्शनिक है जो मनुष्य को राजनीतिक प्राणी मानता है और वह यह स्वीकार करने से इन्कार करता है कि राज्य का निर्माण शक्तिशाली लोगो ने कमजोर लोगो पर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए किया, अथवा स्वय ईश्वर ने किया । वह कहता है कि राज्य मनुष्य की प्रकृति में, उसके स्वभाव में निहित है । राज्य के बिना और उसके बाहर सभ्य जीवन सम्भव ही नही है ।

शासन-पद्धतियो की विवेचना करते समय वह कहता है कि श्रेष्ठतम शासन-पद्धति न तो राजतन्त्र है, न कुलीनतन्त्र अथवा धनिकतन्त्र, न लोकतन्त्र । अरस्तू के मतानुसार श्रेष्ठतम शासन-पद्धति 'पॉलिटी' (Polity) है जिसे धनिकतन्त्र तथा लोकतन्त्र के बीच की शासन-व्यवस्था माना जा सकता है ।

वास्तव मे अरस्तू अपने गुरु प्लेटो द्वारा प्रतिपादित 'दार्शनिक सम्राट् की स्वेच्छाचारिता' और लोकतन्त्रवादियो द्वारा 'प्रतिपादित' 'जन-साधारण की उच्छृ खलता' के बीच मध्यम मार्ग की खोज करता है । वह राज्य का नियन्त्रण उस मध्यम वर्ग के हाथो मे सौंपने का हिमायती है जिसकी सख्या राज्य मे काफी बडी

होती है। वह प्लेटो की तरह व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त करने के पक्ष मे नही है, साथ ही वह सम्पत्ति का थोडे से लोगो मे केन्द्रित हो जाना भी गलत मानता है। वह कहता है कि राज्य को चाहिए कि वह निर्धन लोगो को उत्पादन के साधन—भूमि, औजार इत्यादि खरीदने के लिए धन प्रदान करे जिससे कि वे समाजोपयोगी उत्पादक कार्यो मे लग कर अपनी आर्थिक स्थिति सुधार सकें और आत्म-सम्मानपूर्वक जी सके।[1]

राजनीतिक चिन्तन की यह परम्परा प्रच्छन्न रूप मे सोफिस्ट दार्शनिको से शुरू हुई तथा सुकरात, उसके शिष्य प्लेटो, उसके भी शिष्य अरस्तू और उनके बाद आने वाले दार्शनिको के माध्यम से अक्षुण्ण रही तथा इस चिन्तन ने समूचे विश्व के राजनीतिक चिन्तन और उसकी राजनीतिक सस्थाओ एव सविधानो को मूल प्रेरणा प्रदान की।

राजनीतिक चिन्तन और संस्थाएँ : सिकन्दर के बाद

इसे इतिहास की विडम्बना ही कहा जायेगा कि प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू के शिष्य मेसीडोनिया के राजकुमार और यूनान के सम्राट् सिकन्दर महान् ने यूनानी राजनीतिक दर्शन और दार्शनिको, विशेषत· अपने गुरु अरस्तू के विचारो को कूडे-करकट की तरह झाडू से बुहार कर एक ओर रख दिया और स्वय स्वेच्छाचारी शासक बन बैठा।

सिकन्दर ने अपने पीछे केवल एक राजनीतिक सस्था छोडी—स्वेच्छाचारी राजा जो किसी भी विचार, वर्ग अथवा प्रजा के प्रति उत्तरदायी न था। अरस्तू ने कहा था कि राज्य की स्थापना सत्ता या दैवेच्छा पर नही हुई है लेकिन सिकन्दर ने इन दोनो को ही राज्य का आधार बना दिया। उसने सैन्यबल की प्रतिष्ठा स्थापित की तथा यूनान की जनता (प्रजा) उसे ईश्वर के पुत्र के रूप में पूजने लगी। वह यूनान मे देवताओं की कोटि मे जा बैठा। उसकी देखा-देखी मिस्र और पश्चिमी एशिया के राजाओ ने भी अपने लिए दैवी-सिहासनो का दावा किया। सम्राट् अन्त्योकस-चतुर्थ ने तो एपिफेन्स (Epiphanes) अर्थात् 'साक्षात् ईश्वर' पदवी धारण कर ली, मिस्र मे टोलेमी ने जिस राजवश की स्थापना की उसके राजा तो अपने लिए थियोस (Theos) अर्थात् देवस या ईश्वर नाम का ही प्रयोग करने लगे। उन्होने बहिन के सग विवाह की वह प्रथा भी फिर से जारी कर दी जो फाराओ के साथ समाप्त हो गई थी।

सिकन्दर के बाद यूनान-प्रभावित सस्कृति ने यूनान मे एकियन और ईतोलियन सघो (Achaen & Aetolian) को भी जन्म दिया। उसकी मृत्यु के बाद यूनान के राज्यो ने मेसीडोनिया के प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह की प्रक्रिया मे अपने राजनीतिक सघ बनाये जिनका स्वरूप ढीले-ढाले परिसंघो जैसा था।

1 Politics, *M F. Egan* : (ed), pp 158-159.

इनमें से प्रत्येक परिसंघ में एक संघीय परिषद् (Federal Council), एक असेम्बली और अधिपति (General) होता था। संघीय परिषद् में परिसंघ के प्रत्येक सदस्य-नगर-राज्य के प्रतिनिधि होते थे जिन्हें साझा हित के मामलों में कानून बनाने की शक्ति प्राप्त थी। असेम्बली में सदस्य-नगर-राज्यों के सभी नागरिक प्रत्यक्ष रूप से भाग ले सकते थे और असेम्बली शान्ति तथा युद्ध के प्रश्नों का निर्णय एवं परिसंघ के अधिकारियों का निर्वाचन करती थी। परिसंघ की कार्यपालिका और सैनिक सत्ता अधिपति (General) में निवास करती थी।[1]

परिसंघ को अपने राजस्व तथा सैनिकों के लिए सदस्य-नगर-राज्यों पर निर्भर रहना पड़ता था तथा उसे सीमित विषय ही सौंपे गए थे—शान्ति और युद्ध, मुद्रा तथा नाप-तौल। उन परिसंघों का महत्त्व दो दृष्टियों से है—पहला तो इनके द्वारा यूनान में प्रतिनिधि-शासन का आरम्भ हुआ, दूसरे इनके माध्यम से यूनान की राष्ट्रीय एकता की नींव रखी गई।

1 *Burns* : op. cit., p. 159.

यूनान : समाज, अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकी

(Greece : Society, Economy & Technology)

यूनान की सामाजिक दशा का ज्ञान हमे मोटे तौर पर एथेंस और स्पार्टा नगर-राज्यो की खुदाइयो से प्राप्त प्रमाणो के आधार पर होता है। अत. यह उचित होगा कि इन दोनो नगरो के समाज का अलग-अलग वर्णन किया जाये।

एथेंस का सामाजिक जीवन

एथेंस मे तथा प्राय समूचे यूनान मे ही विवाह सामाजिक जीवन का आधार था। परिवार समाज की बुनियादी इकाई वन गया था, लेकिन इसका अर्थ यह नही कि वहाँ स्त्रियो की स्थिति पुरातन और शास्त्रीय काल मे मिनोअन-माइनीसियन सम्यता जैसी मुक्त और स्वाभिमानपूर्ण थी। इस काल मे आर्थिक निश्चितता, सामाजिक प्रतिष्ठा और नारी की यौन-शुचिता सरीखी धारणाओ के विकसित हो जाने के कारण नारी का स्थान घर के भीतर सीमित हो गया था।

सम्पन्न वर्गो के पुरुष अपना काफी समय घर और परिवार से अलग तथा दूर व्यतीत करने लगे। पत्नियो का स्थान गौण हो गया तथा सामाजिक और बौद्धिक संगिनी के रूप मे आयोनिया के नगरो की सुसस्कृत और सुन्दर महिलाओ ने ले ली, जो एथेंस मे विदेशी मानी जाती थीं लेकिन नगर के जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित कर रही थी। इस प्रकार की संगिनी को गणिका (Hetaera) कहा गया। विवाह मे से प्रेम का तत्त्व धीरे-धीरे तिरोहित होता चला गया और उसने राजनीतिक अथवा आर्थिक इकाई का रूप ले लिया। पुरुष विवाह इसलिए कर लेते थे जिससे कि वे वैधानिक सन्तान को जन्म दे सकें तथा ससुराल से दहेज के रूप मे सम्पत्ति प्राप्त कर सकें। तीसरा प्रयोजन यह भी था कि घर की देखभाल करने वाली स्त्री पत्नी के रूप मे प्राप्त हो जाती थी। पुरुष अपनी पत्नियो को अपने समान नही मानते थे और सामाजिक अवसरो पर उन्हे साथ नही ले जाते थे, न उन्हे किसी प्रकार की सामाजिक अथवा बौद्धिक गतिविधि मे भाग लेने के लिए प्रोत्साहित ही करते थे।[1]

1 *Cook* : op cit , p. 81,

खर्च और साँस्कृतिक गतिविधि जैसे नाटक तथा अन्य मनोरंजन-साधनों के खर्च के लिए धनियो से अलग से पैसा लिया जाता था।[1]

वहाँ शिक्षा का बहुत प्रचलन न था, राज्य की ओर से विद्यालय प्राय नही के बराबर ही चलाए जाते थे। कुछ निजी विद्यालय थे जिनमे लडकियो को भर्ती नही किया जाता था। उन्हे पढाना उचित नही माना जाता था, फिर भी कुछ माता-पिता अपनी लडकियो के लिए घर पर ही शिक्षक की व्यवस्था करते थे। शिक्षको, वास्तुकारो, मकान बनाने वाले मिस्त्रियो, बढई तथा आम मजदूरो को समान वेतन मिलता था, एक दाखमा प्रतिदिन।

आम लोगो के भोजन मे जौ की रोटी, प्याज, मछली और हल्की मदिरा होती थी। आम तौर पर लोग जूते नही पहनते थे, कुछ धनी लोग सैंडल पहनते थे। पाँवो के लिए मौजे नही होते थे। प्राय· चौकोर आकार का एक वस्त्र शरीर पर धारण किया जाता था जिसे कन्धे पर पिन से टाँक लिया जाता था और कमर पर रस्सी से बाँध दिया जाता था। घर से बाहर जाते समय शरीर पर एक चादर जैसी ओढ ली जाती थी।

आम लोगों मे सम्पत्ति का मोह नही था। सम्पत्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा सत्ता का आधार नही माना जाता था। राजनीति मे भाग लेने के लिए पैसे की नही फुरसत की आवश्यकता होती थी तथा आम नागरिक यह चाहते थे कि उनके पास एक ऐसा खेत या धन्धा हो जिससे वे आराम से अपना खर्च निकाल सकें और काफी फुरसत भी पा सके जिससे कि राजनीति मे भाग लिया जा सके। शरीर श्रम को नीचा काम नही माना जाता था, प्राय नागरिक, मेटिक और दास एक साथ मिलकर खेतो, कारखानो और व्यापारिक सस्थानो मे काम करते थे। केवल एक काम ऐसा था जिसे केवल दासो को सौपा जाता था—चाँदी की खानो की खुदाई। इसका कारण यह न था कि वह काम नीचा माना जाता था वरन् यह कि उसमे मेहनत बहुत करनी पडती थी।

समाज की तस्वीर विभिन्न स्रोतो से सामने आती है। कुछ गीतकारो ने सुगन्धि वाले इत्र और कीमती वस्त्रो का जिक्र किया है। इसी प्रकार आभूषणो और फर्नीचर का भी उल्लेख मिलता है। मनोरंजन के साधनो मे शिकार और खिलाडियो का खेल देखने का उल्लेख मिलता है।

घरो मे शाम का भोजन मुख्य भोजन माना जाता था जिस पर अतिथियो को भी आमन्त्रित किया जाता था। ऐसे अवसरो पर स्त्रियाँ प्राय: खाने मे शामिल नही होती थी। बायें हाथ की कुहनी टिकाकर कोच पर अधलेटी अवस्था मे भोजन करने का फैशन था। अमीर लोग भोजन के बाद मदिरापान की पार्टियो का आयोजन करते थे जिनमे विभिन्न दार्शनिक विषयो पर चर्चाएँ होती थी। गायन के आयोजन भी किए जाते थे।

1 *Burns* : op. cit , p. 148

सबसे बड़ा उद्योग चाँदी की खानो की खुदाई का था। खानो पर राज्य का स्वामित्व था, लेकिन खुदाई का काम छोटे-छोटे टुकड़ो मे ठेकेदारो को सौपा जाता था जो दासो से खुदाई कराते थे तथा उनसे बर्बरतापूर्वक काम लेते थे।

यहाँ यह उल्लेख करना ठीक रहेगा कि सिकन्दर के बाद के काल मे यूनान के व्यापार का मार्ग नील से सिन्धु नदी तक विस्तीर्ण हो गया था अतः उद्योग के क्षेत्र मे असाधारण प्रगति होना स्वाभाविक था। मिस्र के यूनानी शासको—टोलेमी वश—ने लगभग प्रत्येक गाँव मे राज्य की ओर से कारखाने खडे कर दिए थे और दुकानें खोल दी थी। उन्होने बाजारो मे मूल्यो का नियन्त्रण अपने हाथो मे ले लिया तथा अपने मुनाफे के लिए इस शक्ति का प्रयोग करने लगे। पश्चिमी एशिया के यूनानी सेलूसिड शासकों ने भी यही किया, लेकिन इन दोनो ने ही व्यापार को व्यापारियो के हाथो मे रहने दिया। व्यापारियो पर कर लगाकर राजस्व वसूल किया जाता तथा व्यापारियो को व्यापार बढाने के लिए सुविधाएँ दी जाती। टोलेमी शासको ने तो भूगोलविदों की मदद से व्यापार के नए मार्गों की खोज कराई। इस कारण सिकन्दरिया (Alexandria) उस क्षेत्र का सबसे बड़ा बन्दरगाह बन गया।

मुद्रा

सातवी शताब्दी ई पू मे यूनान मे मुद्रा का प्रचलन शुरू हुआ। सबसे पहले लीडिया राज्य मे मुद्रा जारी की गई। सोने और चाँदी को मिलाकर कीमती सिक्के बनाए गए जिसके कारण उनका उपयोग बडे लेनदेन के लिए ही होता था।

सिकन्दर के बाद मुद्रा का प्रचलन अधिक व्यापक हो गया तथा राज्य की ओर से बैंको की स्थापना की गई जिनसे कर्ज देने की सुविधा हो गई। इस काल मे सट्टेबाजी, बाजारो पर कब्जा जमाने, बडे व्यापारिक संस्थानो के विकास, विज्ञान तथा बीमे जैसी आर्थिक सस्थाओ का भी उदय हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

आठवी शताब्दी ई पू के मध्य मे यूनानियो द्वारा किए गए औपनिवेशीकरण के साथ ही यूनानियो ने पूर्व की सभ्यताओ के साथ सम्पर्क स्थापित कर लिया। सीरिया, मिस्र, इटली और सिसली जैसे देशो के साथ यूनान का व्यापार मिनोअन-माइसीनियन सभ्यता के काल मे ही शुरू हो गया था, लेकिन लौह-युग में वे सूत्र छिन्न-भिन्न हो गए थे, तथापि पूरी तरह समाप्त नही हुए थे। लौह-युग के बाद ये सूत्र फिर से जुड गए।

यूनान सीरिया को सजावटी बर्तन, आभूषण आदि भेजता था तथा वहाँ से मदिरा, तेल, दास, चाँदी, मक्का तथा कुछ अन्य कच्चा सामान आयात करता था। यूनान मे मक्का मिस्र से भी आती थी।

यूनान एक ऐसी चीज का भी निर्यात करता था जिसे उस काल में सामान्य समझा जाता था—भाड़े के सैनिक। विशेषत. मिस्र और बेबीलोन इनका आयात

करते थे। यूनान का अधिक वैदेशिक व्यापार यूनानी उपनिवेशों के साथ होता था। यूनानी राज्य अपने वैदेशिक व्यापार की रक्षा की व्यवस्था करते थे। एथेन्स अपने लिए यूक्रेन से मक्का मँगाता था जो काला सागर के मार्ग से आती थी अत. एथेंस ने अपनी नौसेना द्वारा काला सागर में मक्का लाने वाले जहाजों की सुरक्षा का प्रबन्ध किया था। एथेंस आयात और निर्यात दोनों पर 2 प्रतिशत कर वसूल करता था। स्वयं सोलन ने मिस्र के साथ व्यापार बढ़ाने के लिए मिस्र की यात्रा की थी।[1]

छठी और पाँचवीं शताब्दी ई पू में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे असाधारण वृद्धि हो गई तथा एथेंस जैसे कुछ नगर-राज्यों का अस्तित्व उस पर निर्भर हो गया। एथेंस ने एजियन सागर के पिरेयस (Piraeus) हार्बर की किलाबन्दी कर ली थी जहाँ यूक्रेन से मक्का, काला सागर से मछली, मेसीडोनिया से लकड़ी तथा थ्रेस से दास जहाजों पर लाए जाते थे। पश्चिमी देशों के साथ व्यापार का प्रमुख बन्दरगाह कोरिंथ था जहाँ मक्का और दास उतारे जाते थे। कोरिंथ से मदिरा, तेल, ऊनी वस्त्र, धातु का सामान और भाड़े के सैनिक निर्यात किये जाते थे। इस व्यापार मे तीन प्रकार के व्यवसायी लगे हुए थे—जहाजों के मालिक वो भाड़े पर माल लाते-ले जाते थे, थोक व्यापारी जो हमेशा पूँजी के अभाव से ग्रस्त रहते थे और फुटकर व्यापारी। पूँजी के अभाव को दूर करने के लिए चौथी शताब्दी ई पू में इन व्यापारियों को ऋण देने के लिए विशेष बैंक और कानून बनाए गए। इनके बावजूद कर्ज देने वालों में साहूकारों का स्थान सबसे बड़ा था जो अपने पास सुरक्षा के लिए रखे गए धन को भारी ब्याज लेकर कर्ज पर चढ़ाते थे। ब्याज की दर 12 प्रतिशत प्रति वर्ष तक थी। जहाजों के मालिकों से उनकी लागत के एक-तिहाई पर उनके जहाजों और माल का बीमा किया जाता था। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है सिकन्दर के बाद के काल में जहाजों की सुरक्षा का प्रबन्ध किया गया, नए हार्बर बनाए गए और व्यापार के नए मार्गों की खोज की गई, सरकारी बैंक खोले गए तथा समुद्रों को जोड़ने के लिए नहरें खोदी गईं। उस काल में चीन तक से व्यापार होने लगा तथा वहाँ से प्रसिद्ध सिल्क मंगायी जाती थी, भारत से मसाले और लकड़ी का आयात किया जाता था।

प्रौद्योगिकी

यूनान ने अपनी प्राचीन सभ्यता के विविध कालों में प्रौद्योगिकी की दिशा में विशेष ध्यान नहीं दिया। यूनानी कारीगर उत्कृष्ट कोटि के कलाकार थे लेकिन उनके पास न तो उतने उत्कृष्ट औजार थे, न उनके अनुरूप प्रौद्योगिकी ही थी। 11वीं शताब्दी ई.पू. में लोहे का प्रयोग शुरू हो गया था तथापि औजारों में विशेष सुधार नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि वहाँ मजदूरों की कमी न थी तथा

1 For detail study See *J. Hasebroek* : Trade and Politics in Ancient Greece (London, 1933).

औद्योगिक उत्पादन पर जोर नही दिया जाता था। आश्चर्य की बात यह है कि शुद्ध विज्ञान की दिशा मे महत्त्वपूर्ण काम होता रहा लेकिन प्रौद्योगिक विज्ञान के क्षेत्र मे लगभग शून्य बना रहा।

दो क्षेत्र ऐसे थे जिनमे प्रौद्योगिकी का आयात और विकास दोनो विवशता बन गए थे—युद्ध और जहाजो का निर्माण। तीसरा क्षेत्र चिकित्सा और औषधि विज्ञान का था जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती थी। आटे की पिसाई और सूत की कताई हाथ से होती थी। खड़े करघे पर कपड़ा प्राय घरो मे ही बुना जाता था। मिट्टी के बर्तन चाक पर हाथ से बनाए जाते और आवे मे पकाए जाते। चमड़ा पकाने और रगने के लिए वानस्पतिक रगो तथा रसायनो का इस्तेमाल किया जाता। औजारो मे कमानी से चलने वाला बरमा, आरी और खराद का इस्तेमाल होता था।

खेती के लिए हल का इस्तेमाल होता जिसे बैल से खीचा जाता। भूमि को जोत कर एक साल खाली छोड़ दिया जाता और अगले साल फसल बोयी जाती। बैलगाड़ियो के पहिए ठोस अथवा अरेदार होते थे। माल ढोने के लिए मजदूर, गधा, खच्चर और घोड़ा इस्तेमाल किया जाता था क्योकि बैलगाड़ी के लिए उपयुक्त सड़को का अभाव था।

युद्ध मे भालो का इस्तेमाल किया जाता तथा किले बनाए जाते जिनमे युद्ध-काल के दौरान नागरिको और पशुओ को भी शरण दी जाती। नौ-सेना के लिए लम्बी नौकाएँ बनाई जाती और व्यापार के लिए जहाज बनते, जिन्हे पतवारो से चलाया जाता। इस काम के लिए भारी सख्या मे मल्लाहो की नियुक्ति की जाती। नौ-सैनिक नौकाएँ और व्यापारिक जहाज बनाने की प्रौद्योगिकी का विकाससतोष-जनक माना जा सकता है। बाद के काल मे पाल के जहाज भी बनने लगे थे।

चाँदी की खानो के लिए सुरग खोदने तथा चाँदी की धुलाई के लिए बड़े-बड़े हौज बनाने की प्रौद्योगिकी के साथ ही साधारण रासायनिक प्रक्रियाओ की जानकारी भी कर ली गई थी जिनके द्वारा लोहे और चाँदी को साफ किया जाता तथा उन्हे पिघलाकर अथवा गरम करके उनके औजार, आभूषण और सिक्के बनाए जाते।

14

यूनान : धर्म और दर्शन
(Greece : Religion & Philosophy)

मिनोअन-माइनीसियन सभ्यता के दौरान यूनान मे धर्म मातृसत्तात्मक, एकेश्वरवादी तथा दैवी था, लेकिन लौह-युग मे धर्म की धारणा बदल गई वह पितृसत्तात्मक, बहुदेववादी और जागतिक हो गया। इस काल मे सभी देवता ओलंपिया परिवार के थे जिनका मुखिया जीयस था जो समूची सृष्टि का पिता माना गया, उसके वंश के अनेक देवी-देवताओ की प्रतिष्ठा की गई। ये कोई सर्व-शक्तिमान देवता न थे, वरन् मनुष्यो की भाँति रागद्वेष मे प्रेरित थे, इनके साथ सौदा किया जा सकता था और ये समय-समय पर मनुष्यो के साथ सम्बन्ध स्थापित करते तथा सन्तान भी उत्पन्न करते थे। ये स्वर्ग में नही वरन् उत्तरी यूनान में ओलिपस पर्वत की करीब 10,000 फुट ऊँची चोटी पर निवास करते थे।

इस काल मे यूनानवासियो को मरणोत्तर जीवन की चिन्ता न थी, वे इसी जीवन को एकमात्र जीवन मानते थे, हाँ वे भूत-प्रेत को मानते थे तथा यह भी कि ये कुछ समय भटकने के बाद पाताल लोक मे चले जाते हैं जहाँ न किसी कर्म के लिए पुरस्कार की व्यवस्था है न दण्ड की, वरन् जो व्यक्ति पृथ्वी पर जैसा जीवन व्यतीत करता रहा है उसे पाताल लोक मे भी वैसा ही जीवन प्राप्त हो जाता है।

उस धर्म मे सद् और असद् की कल्पना भी न थी, न नैतिकता और धर्म के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित किया गया था। उसमे पाप की धारणा भी न थी। देवताओ की उपासना महज एक ऐसे अनुबन्ध का भाग थी जिसके अनुसार उपासना करने वाला अपनी ओर से निश्चित बलि अथवा भेंट प्रस्तुत करता और देवता उसके बदले मे उसे वाँछित फल प्रदान करता।

पाँचवी और चौथी शताब्दी ईसा पूर्व मे यूनान के धर्म मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ।[1] कवि पिंडार(Pindar)तथा नाटककार एसकिलस (Aeschylus) और सोफोक्लीज जैसे दार्शनिको ने एकेश्वरवाद का पाठ पढाया तथा बुद्धिवादी वर्ग एक सर्वशक्तिमान ईश्वर मे विश्वास करने लगा।

1 See for Details, *Nilsson, M. P.*. A History of Greek Religion, New York, 1964

जीवन की निराशाओ मे आस्था का स्वर फूंकने के लिए विशेषतः एथेंस मे एल्यूसिस की दिमित्र का रहस्यवाद अस्तित्व मे आया जिसके अनुसार पाताल लोक के अधिष्ठाता देवता हेदेस (Hades) पर्सीफोन का अपहरण कर लेता है तथा धरती माता दिमित्र उसका उद्धार करती है। ऐसी ही एक रहस्यवादी गाथा ऑरफिक-सम्प्रदाय (Orphic-Cult) के नाम से प्रकाश मे आई जिसके अनुसार डायोनीसस की मृत्यु हो जाती है और वह फिर से जीवित हो उठता है। इन दोनो गाथाओ का मूल प्रयोजन तो यह बताना था कि प्रकृति के पास जीवनदायिनी शक्ति है, लेकिन धीरे-धीरे इन्होने गहरे अर्थ प्राप्त कर लिए। इनमे से यह अर्थ निकाला जाने लगा कि मनुष्य की मृत्यु के बाद उसकी आत्मा की पवित्रता के बारे मे फैसला होता है तथा यदि वह अपने पापो का प्रायश्चित कर लेती है तो उसे फिर से मानव जीवन प्राप्त हो जाता है। इस कल्पना ने आत्मा की अमरता की धारणा को जन्म दिया।

इन दोनो रहस्यवादी सम्प्रदायो मे ऑरफिक धारणा अधिक व्यवस्थित थी, उसके पीछे एक सम्पूर्ण दर्शन प्रतिपादित किया गया तथा पुरोहित वर्ग और कर्मकाण्ड का पूरा शास्त्र निश्चित किया गया। उसके अनुसार आत्मा के परिशुद्ध हो जाने पर वह दैवी स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

इन दोनो सम्प्रदायो में कर्म के अनुसार न्याय की धारणा निहित है, इसका लाभ उठाकर पायथागोरस ने न्याय की यह धारणा प्रतिपादित की कि मृत्यु के बाद जीवन नही रहता अत यह आवश्यक है कि उसके कुकर्मो का फल उसे इसी जीवन मे प्राप्त होना चाहिए, और यदि वह बच निकलता है तो उसके उत्तराधिकारियो को वह फल भोगना होगा।[1]

देवताओ की पारस्परिक ईर्ष्या ने एक और आम धारणा को जन्म दिया कि अत्यधिक समृद्धि होने पर व्यक्ति अतिवादी आचरण करने लगता है और यह अतिवाद उसका सर्वनाश कर देता है। इन दोनो निष्कर्षो—न्याय और मध्यम-मार्ग की पुष्टि धार्मिक मामलो की निर्णायक डेल्फी की पुरोहितिन ने भी की।

इस काल मे डायोनीसस की उपासना अधिक लोकप्रिय हुई क्योंकि वह समाधि का देवता है। वास्तव मे डायोनीसस मदिरा का देवता है, और मदिरा पीने से व्यक्ति सुख-दु ख से परे अपने ही अलग भावलोक में विचरण करने लगता है इसी कारण उस अवस्था को समाधि कहा गया है।

डायोनीसस के अलावा एफ्रोडाइट (पौरुष अथवा सम्भोग-सुख) और प्रेम की देवी (Aphrodite) तथा उसका बेटा ईरोस (Eros) भी लोकप्रिय हुए।

पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व के अन्त मे एस्क्लेपियोस (Asclepios) प्रायः समूचे यूनान मे सर्वमान्य देवता हो गया। उसके पीछे कोई विशेष मिथक न था। वह रोगमुक्ति और व्यावसायिक नैतिकता का देवता है। उसका मुख्य मन्दिर

1 Based on 'A Handbook of Greek Mythology', *H. J Rose* : Lond.

एपिडोरम के समीप था। जब से डेल्फी की देवी ने फारस के राजा का समर्थन किया तब से उनका महत्त्व कम हो गया था लेकिन मनुष्य का ग्रह उसे अन्धविश्वास को मान्यता देने के लिए किस प्रकार प्रेरित करता है उसका एक उदाहरण सुकरात का है। सुकरात अन्धविश्वासो पर चोट किया करता था, और डेल्फी की देवी के वचनो का भी मजाक उडाता था लेकिन जब डेल्फी की देवी ने स्वय सुकरात को यूनान का सबसे अधिक बुद्धिमान पुरुष घोषित कर दिया तो सुकरात उसके प्रति आस्थावान हो गए। शास्त्रीय सभ्यता के अन्तिम चरण मे यूनान ने अन्धविश्वासो की बाढ आ गई थी।

सिकन्दर महान् के बाद—सिकन्दर महान् के बाद के काल मे यूनान मे धर्म का बुरी तरह पतन हुआ। स्टोइक, इपीक्यूरियन तथा स्कैप्टिक (Stoic, Epicurrian, Skeptic) दार्शनिको ने धार्मिक आस्थाओ पर इतना कठोर प्रहार किया कि अधिसख्य पढे-लिखे लोग नास्तिक हो गए तथा यूनान मे एक ही देवी की उपासना शेप रह गई—भाग्य की देवी अथवा लक्ष्मी।

इसके बावजूद अशिक्षित बहुसख्यक वर्ग रहस्यवादी धारणाओ से प्रभावित था। कुछ समय के लिए मिस्र की मातृ-देवी आइसिस (Isis) के प्रति यूनान मे आस्था फैली और ऐसा लगा कि अब वही यूनान की मुख्य देवी हो जाएगी। इसी तरह मिस्र के खल्द-धर्म की खगोलशास्त्रीय धारणाओ का भी बहुत प्रचार हुआ और लोगो की ज्योतिप विद्या मे आस्था उत्पन्न होने लगी। इसी प्रकार फारस से पारसी धर्म भी यूनान पहुँचा और उसने अपना प्रभाव वहाँ स्थापित किया। यूनान मे इस काल मे यहूदी धर्म भी फैला। वास्तव मे सिकन्दर महान् के बाद यूनान का धर्म जैसा कुछ नही बचा, यूनान पडोसी देशो के धर्मों का सगम बन गया।

दर्शन

यूनानी दर्शन का जन्म छठी शताब्दी ई पू मे एशिया माइनर के समुद्र तट पर बसे एक बडे व्यापारिक नगर मिलेटस के दार्शनिको के दर्शन मे से हुआ। इस दर्शन को मिलेशियन स्कूल (Milesian School) का दर्शन कहा जाता है। उनका दर्शन मूलत वैज्ञानिक और पदार्थवादी था। वे भौतिक जगत् की प्रकृति की खोज मे लगे थे। वे मानते थे कि सभी वस्तुओ का जन्म किसी एक मूल पदार्थ से हुआ है। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, मनुष्य, पशु, पर्वत, समुद्र, नदियाँ, वृक्ष आदि सभी कुछ उस मूल-पदार्थ मे से जन्मा है।

इस स्कूल का जन्मदाता थेल्स (Thales) था। वह मानता था कि सभी एक ऐसा तत्त्व है जो सभी पदार्थों मे विद्यमान है अतः वह मूल-पदार्थ जल है। एक अन्य दार्शनिक अनक्सिमेंडर (Anaximander) सोचता था कि वह मूल-पदार्थ पानी या आग जैसा पदार्थ नही हो सकता, वह तो कोई ऐसा तत्त्व होना चाहिए जिसका न तो जन्म होता हो, न नाश, तथा जिसके भीतर सभी वस्तुओ का समावेश हो तथा जो उन सबका नियमन करता हो। उसने इस पदार्थ का नाम रखा—अनन्त (Infinite or Boundess)। इसी स्कूल का एक अन्य दार्शनिक अनक्सिमेनेस

(Anaximenes) यह मानता था कि वह मूल-पदार्थ हवा है। हवा जब विघटित होती है तो वह आग बन जाती है, और जब सघन हो जाती है तो आँधी, भाप, पानी, पृथ्वी और पत्थर का रूप ग्रहण कर लेती है।[1]

मिलेशियन दार्शनिको के इन निष्कर्षो को परिपक्व दर्शन नही माना जा सकता तथापि इसका एक विशिष्ट महत्त्व यह है कि इसने यूनानी दार्शनिक चिन्तन को मिथक और अन्धविश्वासो के सकीर्ण दायरो से बाहर निकाल कर तात्त्विक चिन्तन के लिए प्रेरित किया।

यूनानी तत्त्वचिन्तको मे पहला स्थान पाइथागोरस का है। वह समोस द्वीप का निवासी था तथा वहाँ से इटली के दक्षिण मे क्रोटीन नामक नगर मे बस गया था जहाँ उसने एक धार्मिक सम्प्रदाय की नीव डाली। उसने कहा कि दार्शनिक जीवन सबसे श्रेष्ठ जीवन है लेकिन उस जीवन का अनुसरण करने के लिए मनुष्य को सबसे पहले जीवन की भौतिक लालसाओ से मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। उसने इस बात पर बल दिया कि जगत् का सार भौतिक पदार्थ नही वरन् अमूर्त तत्त्व है। उसने पहली बार आत्मा और पदार्थ, सामजस्य और विशृखलता, सद् और असद् के बीच भेद किया। पाइथागोरस और उसके शिष्य यूनान मे द्वैत दर्शन के जन्मदाता है।

पाइथागोरस ने लोगो को यह सोचने के लिए विवश किया कि ब्रह्माण्ड की मूल प्रकृति क्या है। उसके समकालीन दार्शनिक पारमेनीडीज (Parmenides) ने इस बारे मे यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि ब्रह्माण्ड की आदि प्रकृति उसका स्थायी अथवा शाश्वत होना है, तथा परिवर्तन और विविधता महज इन्द्रियो को होने वाली भ्रान्ति है। उसका विरोध हेराक्लाइटस (Heracleitus) ने किया। उसने कहा कि शाश्वतता भ्रान्ति है तथा परिवर्तन ही एकमात्र वास्तविकता है। ब्रह्माण्ड नित्य परिवर्तनशील है, एक ही धारा मे दूसरी बार पाँव रखना असम्भव है। सृजन और विनाश अथवा जन्म और मृत्यु एक ही तस्वीर के दो भिन्न पहलू है। उसके कहने का तात्पर्य यह था कि जगत् नितान्त असत्य है, इसमे कोई भी सार अथवा शाश्वत तत्त्व निहित नही है।

थ्रेस के समुद्रतटीय नगर आबडेरा (Abdera) के निवासी डिमोक्राइटस (Democritus) ने एक नया चिन्तन प्रस्तुत किया। उसने कहा कि यह जगत् असख्य, अनन्त, अविनाशी और अविभाज्य परमणुओ से मिलकर बना है। इन परमाणुओ का आकार-प्रकार चाहे जो भी हो, उनकी सरचना एक ही पदार्थ से हुई है। मनुष्य और पेड के बीच केवल यह अन्तर है कि दोनो मे परमाणु भिन्न सख्या और भिन्न रीति से समायोजित है। उसने आत्मा की अमरता और आध्यात्मिक अस्तित्व से इन्कार किया। इसके बावजूद डिमोक्राइटस. नैतिक-आदर्शवादी था।

1 See *A H Armstrong* : An Introduction to Greek Philosophy, London, 1957.

उसने कहा कि सत् का अर्थ केवल असत् कर्म से बचना नही है वरन् असत् कर्म करने की इच्छा का भी उत्पन्न न होना है।[1]

सोफिस्टो का उदय

पाँचवी शताब्दी ई पू के मध्य में यूनान मे बौद्धिक चिन्तन को सोफिस्टों से त्वरा प्राप्त हुई। सोफिस्ट स्कूल का आदि प्रवर्तक प्रोटेगोरस (Protagoras) भी आवडेरा का निवासी था जो एथेन्स में बस गया था। उसने मनुष्य को केन्द्र में रखकर तात्त्विक चिन्तन शुरू किया। उसने कहा—मनुष्य हर चीज का मानदण्ड है। सज्जनता, सत्य, न्याय और सौन्दर्य आदि समस्त धारणाएँ मनुष्य की आवश्यकताओ और उसके हितो से सम्बद्ध हैं। वह न तो पूर्ण सत्य मे विश्वास करता है न सत् अथवा न्याय के शाश्वत मानदण्डो मे।

सोफिस्ट तो तर्क विशारद ठहरे। उन्होंने प्रोटेगोरस के सिद्धान्तों को तोड-मरोड कर पेश करना शुरू कर दिया। थ्रेसीमेकस (Thrasymachus) ने कहा कि समाज के समस्त कानून और परम्पराएँ सबलतम और कुशलतम व्यक्तियो की इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र हैं जिनका लक्ष्य उनका अपना हित है। इस प्रकार सबसे अधिक बुद्धिमान की परिभाषा यह हुई कि वह पूरी तरह अन्यायी होता है, कानून से परे होता है और उसका ध्येय केवल अपनी इच्छाओ की पूर्ति होता है।

सुकरात, प्लेटो और अरस्तू

यूनान मे प्रथम व्यवस्थित दार्शनिक सुकरात था। उसका जन्म 469 ई पू में एथेस मे हुआ था। उसने अपने जमाने के समस्त दर्शन का अध्ययन किया और वह सोफिस्टो के दर्शन के विरोध मे खडा हो गया। तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था उससे घबरा गयी और उसे मौत की सजा सुना दी गयी। तब वह सत्तर बरस का था।

सुकरात के दर्शन का मूल आधार यह सिद्धान्त था कि सत्य जानने के लिए स्वार्थी और सकीर्ण हितो से ऊपर उठकर चिन्तन और विश्लेषण करना चाहिए। सुकरात शाश्वत और व्यक्ति निरपेक्ष सत्य तथा ज्ञान के अस्तित्व मे विश्वास करता था।

सुकरात का सबसे अधिक विद्वान् शिष्य प्लेटो था जिसका जन्म 427 ई पू मे एथेंस के एक धनी परिवार मे हुआ था। उसने अनेक ग्रन्थ लिखे और वह 81 वर्ष का होकर मरा। उसके चिन्तन मे ब्रह्माण्ड को भौतिक न मानकर आध्यात्मिक माना गया है। वह कहता है कि सत्य सापेक्ष नही निरपेक्ष होता है। पाँचो ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा हम जिस परिवर्तनशील जगत् का अनुभव ले रहे हैं उससे परे एक शाश्वत् जगत् आध्यात्मिक स्तर पर विद्यमान है। यह जगत् विचारो का जगत् है जिसे केवल मन-मस्तिष्क के द्वारा ही जाना जा सकता है। प्लेटो आत्मा को जगत् का मूल तत्त्व और कारण मानता है।

1 *Burns*: op cit, p 133.

प्लेटो जगत् को अनित्य और मिथ्या मानता है तथापि मनुष्य की जागतिक अथवा भौतिक आवश्यकताओ की उपेक्षा नही करता । वह मानता है कि मनुष्य को अपनी शारीरिक आवश्यकताओ की सीमा मे रखकर अपना मानसिक और आध्यात्मिक विकास करना चाहिए तथा विवेक के मार्गदर्शन मे चलना चाहिए। यही सिद्धान्त वह समाज पर लागू करता है तथा कहता है कि समाज को दार्शनिक सम्राट् के मार्गदर्शन और नियन्त्रण मे रहना चाहिए । इसी से उसका सबसे अधिक विकास हो सकता है।

सुकरात और प्लेटो की दार्शनिक परम्परा का अन्तिम उत्तराधिकारी अरस्तू है। उसका जन्म 384 ई पू मे स्टेगिरा मे हुआ था। जब वह 17 वर्ष का था तभी प्लेटो के विद्यालय अकादमी मे भर्ती हुआ तथा वहाँ विद्याध्ययन करने के बाद लम्बे समय तक वही अध्यापन करता रहा। 343 ई पू में उसे मेसीडोनिया के सम्राट् फिलिप ने अपने बेटे सिकन्दर को पढाने के लिए बुलाया। सात वर्ष बाद वह एथेंस लौट आया और उसने अपनी शिक्षा-संस्था लाइसियम (Lyceum) की स्थापना की। दार्शनिक चिन्तन की दृष्टि से उसने प्लेटो की इस धारणा के साथ सहमति प्रकट की कि विचार ही वस्तु का वास्तविक आधार और स्वरूप है तथापि उसने नामरूपात्मक जगत् को मिथ्या मानने से इन्कार कर दिया और ब्रह्माण्ड में प्रयोजन ढूँढने की कोशिश की तथा जगत् को आत्मा के समान ही महत्त्व प्रदान किया।

अरस्तू अपने गुरु प्लेटो की भाँति शरीर को आत्मा का बन्धन अथवा उसकी जेल नही मानता था। न वह जीवन की भौतिक आवश्यकताओ को असत् ही मानता था। अपने नीति-सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन करते हुए वह कहता है कि मनुष्य को आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए जो विवेक को पैना करने से ही सम्भव है, लेकिन विवेक तभी जागत हो सकता है जब मनुष्य की भौतिक और आध्यात्मिक प्रकृति के बीच सामजस्य स्थापित हो जाए तथा दोनो पर समान रूप से ध्यान दिया जाए। शरीर की उपेक्षा करने से मन और बुद्धि विवेक की साधना नही कर पायेंगे। इस प्रकार अरस्तू आत्मा और शरीर के बीच सन्तुलन का मध्यम मार्ग अपनाता है।

सिकन्दर के उदय के पश्चात्

चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य मे यूनानी दर्शन ने एक नया मोड लिया तथा अगली एक शताब्दी मे चार प्रमुख दार्शनिक विचारधाराओ को जन्म दिया— सिनिक (Cynics), इपीकूरियन (Epicurenism), स्टोइक (Stoic) और स्कैप्टिक (Skeptic)।

सिनिक चिन्तनधारा का प्रवर्तक डायोजिनीज (Diogenes) प्रामाणिक (Honest) मनुष्य की खोज मे तल्लीन रहा। उसने कहा कि हमारे जीवन में जो कुछ भी कृत्रिम अथवा परम्परागत है वह भारस्वरूप है। यदि हम प्रामाणिक मानव बनना चाहते है तो हमे प्रकृति का मार्ग अर्थात् प्राकृतिक जीवन अपनाना होगा।

प्रत्येक मनुष्य को स्वावलम्बन की दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। वह अपने भीतर ऐसी योग्यता उत्पन्न करे कि अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर सके।

इपीक्यूरियन दर्शन का जन्म इपीक्यूरस (Epicurus, 342-270 ई. पू.) के चिन्तन से ही हुआ। वह डिमाक्राइटस के परमाणु-सिद्धान्त में विश्वास करता था लेकिन उसने यह मानने से इन्कार कर दिया कि ये परमाणु किसी यन्त्रवत् प्रक्रिया से स्वतः ही जगत का निर्माण और संचालन कर रहे हैं क्योंकि यदि ऐसा मान लिया जाये तब मनुष्य एक स्वचालित यन्त्र की तरह हो जायेगा तथा उसके विवेक और इच्छा के स्वातन्त्र्य का कोई महत्त्व ही न रह जायेगा।

इपीक्यूरियन दर्शन सुकरात के परवर्ती सिरेनेइकवादी दर्शन की भाँति सुख को ही मनुष्य का सर्वोच्च हित मानता है साथ ही वह यह भी कहता है कि इन्द्रियों के प्रत्येक सुख के साथ दुःख भी जुड़ा हुआ है अतः यदि ऐन्द्रिक सुखों में अमर्यादित रीति से लिप्त हुआ जायेगा तो अन्ततः दुःख की मात्रा सुख से बढ़ जायेगी। इपीक्यूरियन दर्शन सुखोपभोग के मध्यम मार्ग का हिमायती है। वह शारीरिक सुखों की अपेक्षा मानसिक सुख को अधिक श्रेष्ठ मानता है और उस विवेक की आवश्यकता पर बल देता है जो सुखों की कामना पर समुचित नियन्त्रण रख सके।

इपीक्यूरियन चिन्तक आत्मा की सौख्यावस्था से मानते हैं। उस अवस्था में मानसिक और शारीरिक दुःखों का सर्वथा अभाव हो जाता है। आत्मा की सौख्यावस्था के लिए वे भय से मुक्ति को परमावश्यक मानते हैं, विशेषतः पारलौकिक शक्तियों के भय से मुक्ति को, क्योंकि उनकी दृष्टि में सबसे अधिक दुःख इन शक्तियों के भय के कारण उत्पन्न होता है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा का मूल स्वरूप भौतिक है अतः वह शरीर के नष्ट होने पर शेष नहीं रह सकती, तथा यह ब्रह्मांड स्वतः संचालित हो रहा है और देवता मनुष्यों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं। देवता पृथ्वी से बहुत दूर रहते हैं और वे अपने सुखों में इतने व्यस्त हैं कि उन्हें इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं होती कि पृथ्वी पर क्या हो रहा है। वे मनुष्यों को इस जीवन में या इस जीवन के बाद पुरस्कार या दण्ड नहीं देते, अतः उनसे डरने का कोई कारण नहीं है। यह दर्शन मानसिक शान्ति को मनुष्य का सर्वोच्च हित मानता है।

स्टोइक दर्शन की नींव ज़ेनो ने रखी। उसका जन्म साइप्रस में हुआ था और वह एथेन्स में बस गया था। ज़ेनो ने भी इपीक्यूरस की भाँति पदार्थवादी दर्शन प्रस्तुत किया तथा आध्यात्मिक तत्त्व का सम्पूर्ण निषेध किया। वह कहता है कि वह अपने अन्तर्विरोधों को अपने हित की दृष्टि से हल कर लेता है। अतः बुराई अथवा कष्ट सापेक्ष होते हैं। मनुष्यों को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है वे ब्रह्मांड की चरम पूर्णता के लिए आवश्यक होती हैं। इस जगत् में जो कुछ हो रहा है उसका निर्धारण एक विवेकसम्मत प्रयोजन के अनुसार हो रहा है। मनुष्य अपने भाग्य का स्वामी नहीं है, उसकी स्वतन्त्रता महज इस बात तक सीमित

है कि वह अपने भाग्य के विरुद्ध विद्रोह कर सकता है अथवा उसे स्वीकार कर सकता है, लेकिन इससे कुछ बनता नही, होगा वही जो पूर्व-निश्चित है। मनुष्य का सर्वोच्च धर्म यह है कि वह गरिमापूर्वक अपने भाग्य के सामने समर्पण कर दे। इससे उसे सर्वोच्च सुख प्राप्त होगा जो मानसिक शान्ति मे निवास करता है। वह मनुष्य सबसे अधिक सुखी होगा जो अपने विवेक का प्रयोग करके अपने जीवन को ब्रह्मांडीय प्रयोजन के अनुरूप ढाल लेता है तथा जिसने अपनी आत्मा को भाग्य के अप्रिय मोडो के प्रति कटुता अथवा प्रतिरोध से सर्वथा मुक्त कर लिया है।

स्टोइक दर्शन के अनुसार आत्मानुशासन का सर्वोच्च नैतिक मूल्य बन गया। उसने समाज से अलग-थलग होकर स्वावलबन का मार्ग अपनाने की सलाह नहीं दी वरन् कहा कि व्यक्ति को अपने विवेक और आत्मसयम के साथ समाज के जीवन मे सक्रिय भाग लेना चाहिए। यह दर्शन दासता और युद्ध जैसी बुराइयो का विरोध करता है लेकिन यह भी कहता है कि किसी भी बुराई को दूर करने के लिए यदि हिंसा का मार्ग अपनाया जाता है तो उससे बुराई दूर होने के बजाय वह दूसरी बुराइयो को जन्म देगी।

स्कैप्टिक दर्शन हताशावादी दर्शन है। उसका जन्म सोफिस्ट विचारको के इस तर्क मे से हुआ कि मनुष्य का समस्त ज्ञान पच ज्ञानेन्द्रियों की सवेदनाओ पर आधारित होता है अत यह स्वाभाविक है कि वह सापेक्ष और अपूर्ण हो। हमारी इन्द्रियो की सवेदनाएँ हमे बहुत बार धोखा दे देती हैं अत सपूर्ण सत्य का पता लगाना असम्भव है। हम अधिक से अधिक इतना कह सकते हैं कि हमे ऐसा आभास होता है, यह नही कह सकते कि वास्तव मे ऐसा है।

प्रत्येक दर्शन का अन्तिम लक्ष्य मन का सन्तुलन और मन की शान्ति है। यह दर्शन इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए कहता है कि यदि मनुष्य सत्य की निष्फल खोज बन्द कर दे और भले-बुरे के बारे मे सोचना बन्द करके यथार्थ को स्वीकार कर ले तो मानसिक शान्ति तत्काल प्राप्त हो जाती है। स्कैप्टिक विचारक सामाजिक और राजनीतिक समस्याओ मे नही उलझते। वे कहते है कि इस जगत् से माथा मारने से कोई लाभ नही है, क्योकि न हम इसे पूरी तरह समझ सकते हैं, न सुधार ही सकते हैं क्योकि यह कहना कठिन है कि सुधार क्या है और बिगाड़ क्या है। जो है, जैसा है, उसे वैसा ही स्वीकार करना होगा।

प्राचीन यूनानी दर्शन की विशेषता यह है कि यह दर्शन पाश्चात्य दर्शन की आधारशिला बन गया और इसे प्राय. समूचे विश्व मे दर्शन का सदर्भ-बिन्दु माना जाता है।

15

यूनान : साहित्य, कला और विज्ञान

(Greece : Literature, Art & Science)

यूनानवासियो के लिए होमर और हैसियोड के नाम और उनके द्वारा रचित महाकाव्य उनकी सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक धरोहर का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और बहुमूल्य अग हैं। एक प्रकार से यूनान को होमर और हैसियोड ने ही सांस्कृतिक पहचान प्रदान की और पश्चिमी जगत् को महाकाव्य तथा महागाथा परम्परा का श्री गणेश किया। उनके बाद के काल मे उन कवियो ने जिन्हे साइक्लिक पोएट (Cyclic Posts) कहा जाता है, ट्रॉय की शेष गाथा को काव्यबद्ध करके ईलियड की अनुपूर्ति की तथा वीरतापूर्ण विषयो पर काव्य लिखे। 'होमरीय स्तुतियाँ' महागाथा की एक-एक गाथा को लेकर महाकाव्यात्मक शैली मे प्रस्तुत करती हैं जिन्हे "एपीलिया' (Epyllia) कहा जाता है। इसके साथ-साथ हैसियोड परम्परा के अन्तर्गत वशावलियाँ और विरुदावलियाँ प्रस्तुत की गयी।

पुरातन काल मे गीतकारो (Lyricists)का वर्चस्व रहा जो ऐसी कविताओ का सृजन करते थे जिन्हे सस्वर गाया जा सकता है। इन गीतो के लिए नाना प्रकार की विषय-वस्तु का वरण किया गया—समवेत स्वर मे गायी जाने वाली स्तुतियाँ अथवा गायन, वैयक्तिगत प्रार्थनाएँ, नैतिक शिक्षाएँ, राजनीतिक प्रचार तथा प्रेम-काव्य आदि।

सातवी शताब्दी ई पू के पूर्वार्द्ध का प्रसिद्ध कवि आर्किलोकस (Archilo-chus) प्राकृत यथार्थवादी (Cynical Realist) था। उसके कुछ समय बाद टायर्टियस (Tyrtaeus) ने स्पार्टावासियो को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने वाली कविताएँ लिखी वीररसपूर्ण तथा देशभक्तिपूर्ण। छठी शताब्दी ई पू के प्रारम्भिक वर्षों मे साफो (Sappho) नामक कवियित्री ने अपने व्यक्तिगत प्रेम और द्वेष को काव्यात्मक स्वरूप प्रदान किया, तथा एथेंस मे सोलन ने राजनीतिक प्रचार के लिए काव्यात्मक शैली मे पेम्फलेट बँटवाये।

इस समय तक गद्य-लेखन का प्रचलन नही हुआ था। कवियों मे पिंडार का स्थान काफी महत्त्वपूर्ण है। उसने ओलम्पिक मे विजयी खिलाडियो की स्तुति मे

गीत लिखे तथा यूनानी सभ्यता के गीत गाए। उसका जन्म पाँचवी शती ई. पू. के प्रारम्भ मे थेब्स मे हुआ था। पिंडार ने धार्मिक तथा नैतिकता का सन्देश देने वाले गीतो की भी रचना की। उसने जीयस को सदाचार का देवता मानकर उसकी स्तुति मे गीत लिखे जिनमे कहा गया था कि वह दुराचारी को कठोर दण्ड और सदाचारी को पुरस्कार देता है।

यूनानी साहित्य मे सबसे अधिक विकास त्रासदी (Tragic-Drama) का हुआ। इसका उदय डायोनीसस की उपासना के लिए मनाए जाने वाले त्योहारो के दौरान हुआ जिनमे बकरे का वेश बनाए हुए पुरुष वेदी के चारो ओर गाते और नाचते तथा समूह-गीतनाटिका के विभिन्न पात्रो की भूमिका अदा करते। कुछ देर बाद उनमे से एक पात्र को दूसरो से अलग कर दिया जाता और वह कथानक के मुख्य अशो का गायन करता।

इस त्रासदी मे नाटकीयता का प्रवेश सही मायने मे पाँचवी शताब्दी ई. पू के आरम्भ मे हुआ जबकि एस्काइलस नामक कवि ने नाटिका मे एक अन्य पात्र को भूमिका प्रदान करके समूहगान की पृष्ठभूमि मे ढकेल दिया। इस नाटक शैली को ट्रेजेडी शायद इसलिए कहा गया क्योकि इसमे बकरे पात्र है और यूनानी भाषा मे बकरे के लिए ट्रेजोस (Tragos) शब्द का प्रयोग होता है।

यूनानी त्रासदी इस अर्थ मे शेक्सपीयर की त्रासदी से भिन्न ठहरती है कि इसमे रगमच पर नाटकीय गतिविधि प्राय· बिल्कुल नही होती थी, केवल कुछ पात्र त्रासदी के अशो का पाठ अथवा गायन करते थे, साथ ही इसमे पात्रो का व्यक्तित्व लेशमात्र भी सामने नही आता, वास्तव मे वे पात्र नही वरन् प्रतीक रह जाते है तथा अपने दर्शको से भिन्नता के प्रदर्शन के लिए मुखौटे लगा लेते है।

त्रासदी नाटककारो मे सर्वप्रथम एस्काइलस (Aeschylus)' है जिसका काल 525 से 456 ई पू आँका गया है। उसने कुल आठ नाटक लिखे, जिनमे से सात पूरी तरह सुरक्षित हैं। इनमे से प्रत्येक नाटक का कथानक अपराध-बोध और दण्ड के चारो ओर बुना हुआ है।

एक अन्य नाटककार सोफोक्लीज (Sophocles) है जिसका काल 496 से से 406 ई. पू माना जाता है। सोफोक्लीज को प्राचीन यूनान का महानतम त्रासदी लेखक (नाटककार) माना गया है। उसने लगभग 100 नाटक लिखे। वह यूनान के सर्वोच्च आदर्श अर्थात् मध्यम मार्ग का प्रमुख प्रतिनिधि और प्रतीक बन गया। उसके नाटको मे सामजस्य, शान्ति, लोकतन्त्र के प्रति विवेकपूर्ण समादर और मानवीय दुर्बलताओ के प्रति भरपूर सहानुभूति की झलक मिलती है। उसके सबसे अधिक प्रख्यात नाटक ओडिपस रेक्स, एन्टिगोन और इलेक्ट्रा हैं।[1]

1 Based on *H. J. Rose*, A Handbook of Greek Literature, New York, 1960 (Dutton).

उसके विद्वानों, उत्तरवर्ती साहित्यकारों और दार्शनिको ने जारी रखा, जैसे—लाइसियस (Lysias), जेनोफोन (Xenophon), प्लेटो (Plato) तथा डिमास्थेनीज (Demosthenes) ने।

सिकन्दर के बाद साहित्य

सिकन्दर के बाद यूनान मे लेखको की बाढ आ गई। अभी तक 1100 से अधिक साहित्यकारो के नाम प्रकाश मे आ चुके है, लेकिन उनका अधिकांश लेखन साहित्यिक अथवा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वहीन था। तथापि इस काल मे हास्य नाटिकाओ की दिशा मे मेनेंडर जैसे साहित्यकारो ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने जीवन को सहज रूप मे प्रतिबिम्बित और चित्रित किया। उन्होंने मानवीय प्रेम को मुख्य कथानक बनाया और उसके संत्रास तथा आनन्द को सामने रखा। देहाती जीवन का चित्रण और गायन करने वाला महानतम साहित्यकार सायराक्यूज (Syracuse) का थियोक्राइटस (Theocritus) हुआ। इसके साथ ही उसने शहरो के कुलीन वर्ग के जीवन का वर्णन भी पूरी कुशलता और व्यग्यात्मकता के साथ किया।

दूसरी शती ई. पू. मे प्रसिद्ध इतिहासकार पोलीबियस (Polybius) के हाथों यूनानी गद्य का उन्नयन हुआ। उसने इतिहास को पूरी सत्यनिष्ठा और वैज्ञानिक ईमानदारी के साथ लिखा।

इस काल मे जीवनी-साहित्य भी लिखा गया, लेकिन उसमे गल्प की विधा का आश्रय अधिक लिया और यथार्थ का कम। एक अन्य विधा जो इस काल मे खूब पनपी वह थी काल्पनिक आदर्श-समाज का चित्रण जिसे यूटोपिया (Utopia) कहा जाता है। यूटोपिया लिखने वाले प्रत्येक साहित्यकार ने ऐसे समाज का चित्रण किया जिसमे न किसी प्रकार की सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक असमानताएँ मिलती हैं, न सामान्य मानवीय दुर्बलताएँ हैं, जैसे लोभ, द्वेष, संघर्ष, दमन, शोषण और युद्ध। ये ऐसे स्वर्ग थे जिनमे पैसे का स्पर्श ही नही हुआ था, न उनमे व्यापार के लिए कोई गुंजाइश थी। सम्पत्ति पर सामूहिक स्वामित्व बताया गया और कहा गया कि सभी लोग अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए हाथो से काम करते हैं।

कला[1]

यूनानी सभ्यता की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति यूनान की प्राचीन कला मे हुई, चाहे वह बर्तन अथवा आभूषण बनाने की कला हो, चित्रकला, वास्तुकला, मूर्तिशिल्प, स्थापत्य अथवा सगीत और नृत्य। सुकरात और प्लेटो सरीखे कतिपय दार्शनिक अपवादो को छोडकर आम और औसत यूनानी नागरिक की दिलचस्पी आत्मा और जगत् के तात्त्विक विवेचन मे थी। उसने जगत् को भौतिक और

1 Based on : Greek Art, by *G. M A. Richter*, New York, 1963

लेकिन कलाकार एक्सेकियास (Exekıas)) ने इस जडत्व को भग किया और कला को गतिमयता प्रदान की ।[1]

यूनान मे मूर्तिशिल्प का उदय सातवीं शताब्दी ई. पू के तीसरे दशक मे हुआ। यही स्थापत्य के आरम्भ का काल भी है। पुरातन काल मे दो प्रकार की मूर्तियां बनाई गई, खडे हुए पुरुषो की नगी मूर्तियां तथा खडी हुई स्त्रियो की वस्त्रो सहित मूर्तियां जिन्हे क्रमश. कोवरोस (Kovros) और कोर (Kore) कहा जाता था।

यूनानी स्थापत्य मन्दिरो से शुरू हुआ। उसके बाद अन्य भवनो का निर्माण हुआ। पत्थरो को सुडौल बनाकर काम मे लिया जाता तथा छत के लिए पकाई हुई मिट्टी की खपरेल काम मे ली जाती। यूनान के लोग दीवार बनाने मे चूने के प्लास्तर का उपयोग तो करते ही थे, सीमेन्ट बनाना जानते थे तथा उसका उपयोग भी प्रचुरता से करते थे। छत में लकडी का खुलकर इस्तेमाल किया जाता। मिट्टी की ईंट का भी प्रचलन था।

पश्चिमी यूनान मे डारिक स्थापत्य कला का प्रचलन था तथा एजियन सागर के द्वीपो और पूर्वी यूनान मे आयोनिक (Ionıc) शैली का चलन था। डोरिक शैली का प्रथम मन्दिर एतोलिया (Aetolıa) मे थेरमम (Thermum) नगर का अपोलो का मन्दिर है जिसका निर्माण 630 ई पू मे हुआ था। इसके कोई चालीस वर्ष बाद ओलम्पिया मे हेरा (Hera) का मन्दिर बना जिसका निर्माण मिट्टी की ईंटो से किया गया। इसके दस वर्ष बाद कोर्फू मे आर्तेमिस (Artemıs) के मन्दिर का निर्माण पत्थर से हुआ।

आयोनिक शैली मे सबसे पहला मन्दिर स्मर्ना मे पत्थर से बनाया गया। इसके बाद तो यूनान मे मन्दिरो तथा अन्य सार्वजनिक भवनो की बाढ सी आ गई जिनमे चित्रकला, वास्तुकला और स्थापत्य के उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं।

इन कलाओ के अतिरिक्त पीतल, चाँदी और सोने जैसी धातुओ से शस्त्रास्त्र से लेकर जेवर तक नाना प्रकार की वस्तुओ का निर्माण किया गया और उनमे कला का प्रयोग हुआ—खुदाई, नक्काशी और रग भरने की कलाएँ विकसित अवस्था मे जा पहुँची। बहुमूल्य पत्थरो और हीरे की कटाई कलात्मक ढग से की जाती और फिर जडाई भी।

शास्त्रीय सभ्यता के युग में प्रत्येक राज्य अपनी मुद्रा के प्रचलन को अपनी प्रतिष्ठा का प्रतीक मानता था अत. मुद्राओ के निर्माण की कला विकसित हुई। कपडे पर कढाई तथा लकडी और पत्थर मे हाथी दाँत की जडाई का काम भी कला के उन्नत आयामो का स्पर्श कर रहा था।

यूनान के नगरो मे शास्त्रीय काल में दो प्रकार के भवनो का प्राय: निर्माण हुआ—जिमनेजियम जहाँ खेलकूद तो होते ही थे दार्शनिक चिन्तन भी होता था,

1 See for details : *R Carpenter*, Greek Sculpture, Chıcago, 1960

ज्यामिति के अध्ययन पर बहुत बल दिया और उसे शिक्षा का अनिवार्य अंग माना। प्लेटो ने ही परिकल्पनाओं को सिद्ध करने के लिए पीछे की ओर मुड़कर निश्चित तथ्यों के विश्लेषण की पद्धति का आविष्कार किया।[1]

प्राचीन काल में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों का उस प्रकार से कठोर पार्थक्य और विभाजन नहीं था जैसा कि आज के जमाने में है। अनक्षिमेंडर एक दार्शनिक था लेकिन उसने जीव-विज्ञान के क्षेत्र में बुनियादी काम किया और इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि जैविक विकास पर्यावरण के प्रति क्रमागत अनुकूलन के द्वारा जीवित रहने के सिद्धान्त के अनुसार हुआ। उसने कहा कि सृष्टि के आदि में सब जीवों का आदि-पूर्वज पशु समुद्र में रहता था जो उस समय समूची धरती पर फैला हुआ था, इसी कारण यह आदिजीव भी समूची धरती पर फैला हुआ था। जैसे-जैसे पानी घटता गया और सूखी धरती निकलती चली गई इस आदिजीव के अनेक जीवाणु नए पर्यावरण के प्रति अनुकूलन करने में समर्थ रहे और उन्होंने धरती के पशुओं का रूप ले लिया। इस प्रक्रिया का चरम मानव है।

अनक्षिमेंडर की भाँति ही जीव-विज्ञान का दूसरा विज्ञानी तथा इस विज्ञान का जन्मदाता यूनान का महान् दार्शनिक अरस्तू था। उसने पशुओं की संरचना, आदतों और विकास का वर्षों तक अध्ययन किया तथा अनेक प्राणियों की शरीर-रचना, उनकी प्रजनन सम्बन्धी आदतों इत्यादि के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत की।

चिकित्सा और औषधि-विज्ञान के क्षेत्र में होमर के काल में भी वैज्ञानिक आधारों पर काफी काम हुआ तथा वे महज पुरोहित वर्ग के गंडे, तावीज, झाड़-फूंक तथा कर्मकाण्ड पर आधारित न थे। वह परम्परा पुरातन काल में भी अक्षुण्ण रही तथा वैद्यों की प्रतिष्ठा थी परन्तु यूनानी चिकित्सा-पद्धति का सम्यक विकास शास्त्रीय सभ्यता के युग में हुआ। इसके प्रवर्तक भी दार्शनिक ही थे। इनमें एक था एम्पेडोक्लोज (Empedocles) जिसने कहा कि शरीर-रचना चार प्राकृतिक तत्त्वों—पृथ्वी, अग्नि, वायु और जल से हुई है। उसने यह पता लगाया कि रक्त का प्रवाह हृदय से और हृदय की ओर होता है, तथा यह भी कि त्वचा के छिद्र श्वसन-प्रक्रिया में सहायक होते हैं।

इस क्षेत्र में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य कोस (Cos) के हिप्पोक्रेटेस (Hippocrates) ने किया तथा उसे यूनानी औषधि-विज्ञान का पिता माना जाता है। उसने अपने शिष्यों को सिखाया कि "प्रत्येक रोग के प्राकृतिक कारण होते हैं तथा प्राकृतिक कारणों के बिना कभी कुछ नहीं होता।" उसने रोग के लक्षणों के आधार पर निदान की पद्धति विकसित की, रोग में उभाड़ की प्रक्रिया का पता लगाया तथा शल्य-क्रिया में सुधार किया। वह औषधियों का ज्ञाता होते हुए भी उनका कम से कम प्रयोग करता था तथा सही भोजन और विश्राम पर बल देता

1 See for details : *Benjamin Farrington*, Greek Science, Baltimore, 1961 (Penguin)

था। उसने ही यह धारणा भी विकसित की कि शरीर मे चार पदार्थों के बाहुल्य से रोग होता है—पीला पित्त, काला पित्त, रक्त और कफ। उसने गन्दा रक्त निकालने की पद्धति द्वारा चिकित्सा की विधि का आविष्कार किया।

सिकन्दर के बाद

यूनान मे विज्ञान का उत्कर्ष सिकन्दर और उसके बाद के काल मे हुआ। इस काल मे विज्ञान के विकास मे कई तत्वो ने योग दिया—सिकन्दर द्वारा विज्ञान की शोध को दिया गया आर्थिक प्रोत्साहन, मैसोपोटामिया के खल्द-विज्ञान और मिस्र की वैज्ञानिक जानकारी के साथ यूनान के विज्ञान का सयोग और युद्ध तथा जीवन की बढती हुई माँगें।

इस काल मे विज्ञान की विविध शाखाओ का एक साथ विकास हुआ—गणित, भौतिकी, रसायनशास्त्र, चिकित्सा, खगोलशास्त्र, धातु-विज्ञान तथा भूगोल आदि। यूनान मे भौतिकी को दर्शन से अलग करने की दिशा मे पहल करने वाला वैज्ञानिक सायराक्यूज का आर्किमेडीज (Archimedes) था। उसने पानी पर तैरने वाली वस्तुओ के बारे मे नियमो का निश्चित गुरुत्व भार, उत्तोलक (Lever), चरखी (Pulley) एव पेंच के सिद्धान्तों की खोज की।

प्रायोगिक विज्ञान के क्षेत्र मे कुछ और महत्त्वपूर्ण काम हुआ, विशेषत. सिकन्दरिया के हेरोन (Heron) के बारे मे कहा जाता है कि उसने अग्नि के ऐंजिन, साइफन, जेट ऐंजिन आदि की खोज की, परन्तु इन चीजो के अस्तित्व के प्रमाण नही मिल पाए हैं।

इस काल मे यूनान का सबसे महान् खगोलशास्त्री सेमोस द्वीप का निवासी एरिस्टार्कस (Aristarchus) था। उसने यह पता लगाया कि पृथ्वी तथा अन्य ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं। दूसरे खगोलशास्त्री हिप्पार्कस (Hipparchus) ने चन्द्रमा के व्यास और पृथ्वी से उसकी दूरी के बारे मे एकदम सही गणना की। इसी काल मे टॉलेमी ने अपने ग्रन्थ अल्माजेस्ट (Almagest) मे अपने जमाने के समस्त खगोलशास्त्रीय ज्ञान का सकलन किया।

यूनान का महान् गणितशास्त्री यूक्लिड (Euclid) सिकन्दर से पहले ही अपनी ज्यामिति सम्बन्धी प्रस्थापनाओ पर कार्य करने लगा था तथापि उसने इस काल में परिपक्वता प्राप्त की। उसने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया वे उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक ज्यामिति की आधारशिला के रूप में कार्य करते रहे तथा उनमे से अनेक आज भी महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

इसी काल मे त्रिकोणमिति (Trigonometry) के जन्मदाता हिप्पार्कस ने अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। खगोलशास्त्री, कवि और सिकन्दरिया के पुस्तकालयाध्यक्ष एराटोस्थेनीज (Eratosthenes) ने पृथ्वी की परिधि का आकलन किया। उसकी गणना मे 200 मील से भी कम की चूक रही। उसने पृथ्वी का नक्शा अक्षांश और देशान्तर के हिसाब से तैयार किया और यह कहा कि ससार के सभी समुद्र आपस मे जुड़े हैं तथा यदि पश्चिम की ओर समुद्री मार्ग से यात्रा की

जाए तो भारत पहुँचा जा सकता है। उसके एक शिष्य ने पृथ्वी को पाँच जलवायु-क्षेत्रो मे विभाजित किया। यह विभाजन आज तक मान्य है। उसने यह भी बताया कि समुद्र मे ज्वार-भाटे का कारण चन्द्रमा का गुरुत्वाकर्षण है।

चिकित्सा-विज्ञान और मनुष्य की शरीर-रचना के क्षेत्रो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य कैलसीडोन (Chalcedon) के हेरोफिलस (Herophilus) ने किया। उसने मनुष्य शरीर की सरचना के बारे मे विशद् अध्ययन प्रस्तुत किया तथा पहली बार शवच्छेदन किया। उसने मनुष्य के मस्तिष्क और उसके विविध अगो की क्रियाओ के बारे में विस्तार से लिखा। उसने नाडी की जाँच करके रोग का निदान करने की पद्धति विकसित की तथा अरस्तू की इस धारणा का खण्डन किया कि शिराओ में रक्त और वायु का मिश्रण प्रवाहित होता है। उसने कहा कि शिराओ में केवल रक्त रहता है, वे हृदय से शरीर के विभिन्न भागो तक शुद्ध रक्त ले जाती है। रक्त-सचार के क्षेत्र में इस खोज ने युगान्तरकारी महत्त्व का कार्य किया।

हेरोफिलस के सहयोगी एरासिस्ट्राटस (Erasistratus) ने शवच्छेदन तथा जीवच्छेदन द्वारा शरीर के विभिन्न अगो के कार्यों का बारीकी से पता लगाया। उसने हृदय के वाल्वो, चेतनावाही और निर्देशवाही नाडियो तथा शिराओ और धमनियो की अन्तिम शाखाओ के जुडे होने के बारे में शोध की। उसने हिप्पोक्रेटस के पित्त, रक्त और कफ के बाहुल्य सम्बन्धी सिद्धान्त का खण्डन किया।

इस प्रकार यूनान की प्राचीन सभ्यता ने पाश्चात्य सभ्यता के प्रत्येक क्षेत्र में आधारशिला रखी, जिस पर समूची आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता का निर्माण हुआ।

16

चीन : सभ्यता की अवधारणा, भूगोल, स्थलाकृति और प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि

(China : Concept of Civilization, Geography, Topography & Pre-Historic Background)

चीन की प्राचीन सभ्यता की संरचना प्रतीको और मिथको पर की गई है। चीन की सभ्यता के बारे मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह मिस्र, मैसोपोटामिया और यूनान की भाँति अनेक जातियो और नस्लो के लोगो की नही वरन् एक ही जाति के लोगो की सभ्यता है जो एक ही भाषा बोलते और लिखते हैं तथा यह वही भाषा है जिसका आविष्कार आज से तीन हजार वर्ष पहले हुआ। इस प्रकार चीन की सभ्यता मे एक सातत्य है।

चीन की सभ्यता की पृष्ठभूमि जिन दो सभ्यताओ यांग शाओ (Yang Shao) और लुंग शान (Lung Shan) ने की वे दोनो ही मूलत चीनी सभ्यताएँ थी। चीन की सभ्यता का विकास चीन के लोगो ने ही किया, वह किसी विदेशी शासक या व्यापारी के साथ चीन में नही आयी। सभ्यता की जो परिकल्पनाएँ बाहर से आयी उन्हे भी चीन के कुशल लोगो ने अपने परिवेश मे अपने अनुरूप ढाल लिया।

चीन की प्राचीन सभ्यता की अवधारणा मे एक महत्वपूर्ण भूमिका प्रतीको और मिथको की रही। चीनी इतिहासकारों और सभ्यता के रचयिताओ ने जिनमें कन्फ्यूशियस (Confucius) का प्रमुख स्थान है, चीन की सभ्यता का आरम्भ चीनी राष्ट्र की स्थापना के वर्ष अर्थात् ईसा पूर्व 2852 को माना है, और उसके साथ अनेक प्रतीको और मिथको को जोड़ दिया है जो आज तक चीन की सभ्यता का अपरिहार्य अग बने हुए हैं।

यह माना गया कि चीन की सभ्यता का पहला चरण तीन शासको का काल है, और दूसरा पाँच शासको का। पहले तीन शासको का अर्थ तीन शासक-समूह हैं जिसमे पहले शासक-समूह मे बारह दैवी शासक, दूसरे मे ग्यारह पृथ्वी-लोक के शासक और तीसरे मे नौ मानवीय शासक हुए। ये तीन शासक-समूह वास्तव मे स्वर्ग, पृथ्वी और मनुष्य के प्रतीक हैं। उसके बाद आने वाले पाँच शासक-समूहों के

राजा वास्तव मे उन महान् चीनी नागरिको के प्रतीक हैं जिन्होने आग, कृषि, पचाँग (कलैण्डर) तथा चीनी लिपि आदि साँस्कृतिक उपादानो का आविष्कार किया ।

यह तो हुई प्रतीको (Symbols) की अवधारणा, अब मिथको का उदाहरण लें । तीन शासक-समूहो का पूर्वज चीनी मिथक के अनुसार फू सी (Fu Hsı) हुआ, जिसके बारे मे कहा गया कि उसका धड अजगर जैसा और सिर मनुष्य जैसा था । उसका जन्म भी चमत्कारिक रीति से हुआ । उसकी माँ का पाँव किसी दैत्य के पाँव के निशान पड गया था और वह तुरन्त गर्भवती हो गई थी ।

फू सी ने ही उन आठ त्रिमितीय सरचनाओ (Trigrams) का आविष्कार किया जिन पर भविष्यवाणी की चीनी प्रणाली (I Ching) आधारित है । उसने ही शिकार और मछली पकडने के लिए जाल का प्रयोग सिखाया । फू सी की पत्नी नू वा (Nu Wa) भी कम चमत्कारी न थी । एक बार जब बाढ आ गई तो उसने उसे सुखाने के लिए नरकुल के सरकडो की राख का प्रयोग किया, और आकाश मे छेद हो जाने पर उसे भरने के लिए उसमे पाँच रगो के पत्थर जड दिये । उसने आकाश को ऊँचा उठाने के लिए चार मजबूत खम्भो का निर्माण किया । ये खम्भे एक विशालाकार कछुए के पाँवो से बनाए गए ।

पाँच शासको मे शेन नु ग (Shen Nung) ने खेती, व्यापार और औषधि की कला सिखाई, तथा पाँच तारो वाले सितार (Zither) का आविष्कार किया ।

चीन के जन्म के बारे मे भी एक प्राचीन मिथक है जिसमे कहा गया है कि सृष्टि के आदि मे जो अव्यवस्था और अराजकता थी उसमे से पी एन कू (P An Ku) नाम का कुत्ता पैदा हुआ जिसने दक्षिण की बर्बर जाति को पराजित करने मे सम्राट् काओ सिन (Kao Hsin) को सहायता दी । सम्राट् ने अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए अपनी बेटी का विवाह पी एन कू के साथ कर दिया । उसने ही पी एन कू की मौत के समय उसके गर्भ से चीन को जन्म दिया ।

चीन की सभ्यता के बारे मे पुरातत्त्व सामग्री तथा प्रमाणो पर से दो अन्य निष्कर्ष भी निकाले जा सकते हैं । पहला तो यह कि यह सभ्यता गहरे अन्धविश्वासो पर आधारित रही और दूसरा यह कि इस सभ्यता मे जीव-दया के लिए कोई स्थान नही रहा, यहाँ तक कि मनुष्य के जीवन का भी सम्मान नही किया गया ।

उदाहरण के लिए, प्राचीन काल के अवशेषो की खुदाइयो मे विशाल भवनों और राजसी कब्रो की नीव मे से मनुष्यो के ऐसे अवशेष मिले है जिनके हाथो मे काँसे के ऐसे पात्र थे जिनका प्रयोग बलि चढाने के समय किया जाता था । राजाओ की कब्रो मे घोडो तथा रथो सहित उनमे जुते हुए घोडो के अवशेष मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उन्हे जिन्दा दफनाया गया अथवा उनकी बलि चढाई गई । एक कब्र मे से राजा का लकडी का ताबूत मिला जिसके नीचे एक कुत्ते के अवशेष थे । ताबूत के समीप घोडो और मनुष्यो के अवशेष थे जिनसे सकेत मिलता है कि उन्हे अपने स्वामी की सेवा के लिए दफनाया गया था । उनमे से कुछेक के सिर रहित धड पाये गये । कब्रो मे पाये गये काँसे के पात्रो पर ऐसी आकृतियाँ भी मिली जिनमे एक

विशाल कुल्हाडी के नीचे सिर रहित धड दिखाई देते है। इससे स्पष्ट होता है कि चीन मे मनुष्यो की बलि चढाने का आम रिवाज था।

यह सभ्यता की एक नितान्त अमानवीय धारणा है, किन्तु दूसरी ओर प्राचीन सभ्यता के प्राप्त अवशेषो से यह भी सकेत मिलता है कि उस जमाने मे चीन मे कलाओ, जैसे चित्रकला, मूर्तिशिल्प और स्थापत्य का बडे पैमाने पर विकास हुआ, भाषा और लिपि की खोज हुई तथा लोक और परलोक के बारे मे चिन्तन हुआ, धर्म का विकास हुआ और खेती तथा उद्योगों के विकास की दिशा मे भी भारी काम हुआ।

चीन एक ऐसा देश है जिसकी सभ्यता एक अभग परम्परा के रूप मे जीवित रही और विकसित हुई। उसके विभिन्न तत्त्वो और विकास क्रम का अध्ययन करने से पहले चीन के भूगोल और उसकी स्थलाकृति पर एक दृष्टि डालना उचित होगा जिनका उस सभ्यता के विकास मे एक महत्त्वपूर्ण और निर्णायक महत्त्व रहा है।

भूगोल

चीन की सभ्यता का उदय ह्वांग हो (Huang Ho) नदी के निचले बेसिन मे हुआ जो बाढ के लिए प्रसिद्ध रहा है। इस नदी को पीली नदी भी कहा जाता है, आगे हम इसके लिए पीली नदी नाम का ही प्रयोग करेंगे। इस नदी का उद्गम तिब्बत की पहाडियो मे होता है और यह उत्तर की ओर ओरडोस (Ordos) के रेगिस्तान के अन्तिम छोर से पूर्व की ओर घूम कर पुन दक्षिण की ओर बहती है, जहाँ वह तेज आँधियो द्वारा जमा की गई पीली-भूरी दुम्मट (मिट्टी) से बने मैदान के बीच से होकर जाती है। आगे जाकर यह पुन: पूर्व की दिशा मे मुड जाती है तथा विस्तृत उत्तरी चिन नामक मैदान मे से होकर प्रशान्त महासागर मे गिरती है। चिन मैदान का निर्माण इसी नदी द्वारा अपने साथ बहाकर लायी गई दुम्मट से हुआ है जिसे यह शताब्दियो से इस क्षेत्र मे जमा करती गई है। कहीं-कहीं तो यह दुम्मट सैकडो फुट गहरी है। अनेक स्थानो पर पीली नदी की सहायक नदियो ने इस मिट्टी को काटकर गहरे खोह बना दिये हैं जिनके कारण खेती और यातायात मे भारी बाधा पडती है, लेकिन कुल मिलाकर यही वह मिट्टी है जिसने चीन के लोगो और उनकी सभ्यता को जन्म दिया क्योंकि इसमे खेती बहुत सुगम रही है। एक ओर दुम्मट, दूसरी ओर पीली नदी और उसका सहायक नदियो का भरपूर पानी इस मैदान के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

प्राचीन काल मे भी यहाँ जगल नही पनपे। इससे भी खेती को प्रोत्साहन मिला। दूसरी ओर पानी के साथ आने वाली मिट्टी के कारण नदी का तल निरन्तर उठता गया और चारो ओर फैले मैदानो से 50 फुट ऊँचा उठ गया जिसके कारण यह किनारो को लाँघकर इस क्षेत्र मे भीषण प्रलय मचाती रही है। इसी से पीली नदी को चीन की त्रासदी भी कहा जाता है।

जैसे-जैसे पूर्व मे समुद्र की ओर बढते हैं यह मैदान पठारी शांटुंग (Shantung) प्रायद्वीप के कारण विभाजित हो गया है। यही वह क्षेत्र है जिसे देवताओ के नाम पर चढाई जाने वाली बलि के कारण पवित्र-प्रदेश कहा जाता है। इतिहास साक्षी है कि पीली नदी ने अपना प्रवाह अनेक बार बदला है, कभी यह शांटुंग प्रायद्वीप के उत्तर मे समुद्र मे गिरती रही है और कभी दक्षिण मे। इस प्रकार यह इसमे अपने साथ लायी दुम्मट फैलाती और इसे उपजाऊ बनाती रही है।

उत्तर और पश्चिम की ओर मैदान तथा दुम्मट का बना पठारी क्षेत्र पहाडो, रेगिस्तान और घास के मैदानो (Steppes) से घिरा है। घास के उन मैदानो मे तुर्क और मगोल खानाबदोश लोग भेड-बकरियाँ चराते रहे हैं।

यह दुर्लंघ्य कवच चीन को विदेशी प्रभावो और आक्रमणो से बचाये रखने मे उसके लिए बहुत मददगार सिद्ध हुआ है, तथा चीन के एक-प्रजातिवाद के पनपने मे उसका बहुत बडा हाथ रहा है।

चीन की सभ्यता और उसके इतिहास मे चीन के इस सीमान्त की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। चीन के किसानो और तुर्क तथा मगोल चरवाहो के बीच निरन्तर झडपें होती रही। चीन के किसान घास के चरागाहो मे घुसने की कोशिश करते रहे और चरवाहे सगठित होकर चीन के सिंचित क्षेत्रो पर आँख गडाये रहे तथा उसके लिए सघर्ष करते रहे।

दक्षिण मे पीली नदी के बेसिन को याँगत्जी (Yangtze) नदी के बेसिन से अलग करने का कार्य चिन लिंग (Chin Ling) पर्वत शृखला ने किया जो हुआई (Huai) नदी के सहारे-सहारे समुद्र तक फैली है। चीन के लोग याँगत्जी के बेसिन मे तभी फैले जब उत्तरी मैदान में पूरी जमीन पर बसावट और खेती होने लगी। जनसख्या के बढने पर दक्षिण की ओर यह प्रसार स्वाभाविक था। उत्तर के लोगो ने दक्षिण के अधिक आदिम लोगो को और भी अधिक दक्षिण की ओर खदेड दिया।

याँगत्जी नदी का उद्गम भी तिब्बत के पठार से ही हुआ है। वह उत्तर की ओर प्रवाहित होने से पहले काफी दूर तक दक्षिण में बढती चली गई। उसके बाद वह उत्तर-पूर्व की ओर मुडकर जेचुआन (Szechuan) के पठार में पहुँचती है। जेचुआन का पठार चारो ओर पर्वतो से घिरा है जिसके कारण उसका जलवायु बारहो महीने शीतोष्ण बना रहा है। आज यह प्रदेश चीन का सबसे घना क्षेत्र है तथा इसकी आबादी लगभग दस करोड है।

जेचुआन से आगे बढने पर उसमें हान (Han) नदी आ मिली है तथा दोनो 1000 मील की दूरी मथर गति से पार करके सागर से मिलती हैं। इस क्षेत्र मे अनेक झीलें बन गई हैं जिनमे भारी वर्षा तथा पिघले हिम के कारण आई बाढ का पानी काफी हद तक समा जाता है, फिर भी याँगत्जी की बाढ ने इतिहास मे अनेक बार चीन की सभ्यता पर गम्भीर आघात किये हैं। इसके साथ ही याँगत्जी नदी ने चीन की सभ्यता के इतिहास मे जल-मार्ग के रूप मे बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका

निवाही है। इसके चारो ओर के क्षेत्र मे खेतो की सिंचाई के लिए पर्याप्त वर्षा हो जाती है। बचे हुए जल को यांगत्सी सागर में पहुँचा देती है। यह अपने साथ जो मिट्टी बहाकर ले जाती है उससे प्रत्येक सत्तर वर्ष की अवधि में डेल्टा का क्षेत्रफल 1 मील बढ जाता है। जहाँ यह सागर से मिलती है वहाँ यह इतनी गहरी है कि इसमें लगभग 650 मील ऊपर हेनको (Hankow) तक बडे जहाज आ-जा सकते हैं।

यांगत्सी के नीचे पश्चिमी पर्वतो से लेकर पूर्व मे सागर तक फैला विस्तृत पठार है जिसमे अनेक घाटियाँ हैं जिनमे स्थानीय सभ्यताएँ पलती रही हैं। इस क्षेत्र के दक्षिण मे चीन की तीसरी बडी नदी सी क्यांग (Hsi Kiang) अपनी सहायक नदियो के साथ एक सम्पूर्ण नदी घाटी व्यवस्था का निर्माण करती है। इन्होने मिलकर कैंटन (Canton) बन्दरगाह के चारो ओर एक उपजाऊ डेल्टा का निर्माण किया है, जिसमे सर्दियो का मौसम न होने के कारण साल मे तीन फसलें उगायी जाती रही हैं।

दक्षिण-पश्चिम के अनुपजाऊ पठार पर चीनी नस्ल के लोग अल्पसख्या मे हैं। वहाँ थाई तथा लोलो आदि नस्लो के लोगो की बहुसख्या है। यह क्षेत्र आज तक अविकसित है तथा वर्तमान सरकार स्वायत्त क्षेत्रो की रचना करके इनको आत्मसात् करने की उस योजना को क्रियान्वित करने मे लगी है जिसका आरम्भ आज से तीन हजार साल पहले हुआ था।

जलवायु

चीन का जलवायु नमी भरे बादलो और साइबेरिया की ठण्डी हवाओ के हाथ का खिलौना है। गर्मियो मे मानसूनी हवाएँ उत्तर की ओर बढती जाती हैं तथा सर्दियो मे साइबेरिया से आने वाली ठण्डी और खुश्क हवाएँ दक्षिण की ओर फैलती जाती हैं। अप्रेल और मई के महीनो मे गर्मी उत्तर की ओर बढती है तथा जून और जुलाई मे यांगत्सी के बेसिन मे भारी वर्षा होती है। जुलाई के अन्त और अगस्त मे मानसून पीली नदी तक फैल जाता है तथा सितम्बर मे उतरने से पहले गोबी के रेगिस्तान तक चला जाता है। वापसी मे ये बादल मध्य और दक्षिण चीन मे वर्षा करते हैं। चीन सागर मे अप्रत्याशित चक्रवात बन जाते हैं जिनके कारण बेमौसमी वर्षा और ज्वार आ जाते हैं जिनसे बहुत तबाही होती है।

जब कभी सूखा पड जाता है तब उत्तरी चीन मे भयकर अकाल पड जाता है लेकिन मध्य चीन मे बाढ आने से विनाश होता है। जब उत्तर की ओर अधिक वर्षा होती है तथा बाढ आ जाती है तब मध्य चीन मे सूखे के कारण तबाही होती है। चीन की सभ्यता का विकास बाढ और सूखे की इस खिलवाड के बीच ही हुआ है।

स्थलाकृति और सभ्यता का विकास

चीन की सभ्यता पीली नदी द्वारा निर्मित उस मध्यवर्ती मैदान में पनपी जो ताई हांग (Tai Hang) पर्वत श्रृखला के पूर्व मे है जिसे आजकल शांसी (Shansi) प्रान्त कहा जाता है। इन्ही घाटियो मे चीन की प्राचीनतम सभ्यता के अवशेष मिले हैं। इसी विशाल मैदानी क्षेत्र मे शांग (Shang) सत्ता का उदय

हुआ। दूसरी ओर वाई नदी के बेसिन तथा पश्चिमी घास भरे पठार पर शक्तिशाली चाऊ राजवंश (Chou Dynasty) का जन्म हुआ। यह पठार वाई (Wei) नदी के उत्तर मे स्थित है जिसके पूर्व में पीली नदी तथा पश्चिम मे कानसू (Kansu) पहाड तथा उत्तर और उत्तर-पश्चिम मे ओरडोस और निंघसिया (Ninghsia) के निर्जल रेगिस्तान है। यहाँ बाजरा और जौ आसानी से उगाया जा सकता था, लेकिन घास से ढँके पठार एक उत्तम चरागाह होने के कारण यहाँ आदिकाल मे घोडे तथा अन्य पशु पालने की परम्परा का विकास हुआ।

कानसू और शाँसी के पठारी मैदानो मे दो नव-प्रस्तरयुगीन सभ्यताओ के अवशेष—याँग शाओ (Yang Shao) सभ्यता के चित्रित मृद्भाँड तथा मध्यवर्ती मैदान मे पनपी लुंग शान सभ्यता के काले मृद्भाँड प्राप्त हुए है।

दूसरी ओर याँगत्सी घाटी की स्थलाकृति ने एक भिन्न सभ्यता को जन्म दिया जिसकी अर्थव्यवस्था खेती के अरिरिक्त शिकार और मछली पकडने के व्यवसायो पर भी आश्रित थी। इस क्षेत्र की मृद्भाँड परम्परा उत्तर से भिन्न रही।

धुर दक्षिण और दक्षिण-पूर्व चीन का जो क्षेत्र वयाँग नदी के उत्तर मे है उसमे ऐसी सभ्यता के अवशेष मिले हैं जिसे खेती का ज्ञान नही था और जिसमे भोजन को प्राकृतिक स्रोतो से एकत्रित किया जाता था। इस क्षेत्र मे यह सभ्यता ईसा से एक हजार वर्ष पहले शुरू हुई तथा ईसा से दो-तीन शताब्दी पहले तक अपरिवर्तित रही।

चीन की सभ्यता ने उत्तर से दक्षिण की ओर यात्रा की। ताम्रयुग की सभ्यता चीन की नदी घाटियो से चलकर हुआई नदी घाटी तक सातवी शताब्दी ईसा पूर्व मे और याँगत्सी घाटी तक छठी शताब्दी ई. पू. मे पहुँची। यन्नान (Yunnan) पहुँचने मे तो उसे पाँच सौ वर्ष और लग गए।

स्थलाकृति और जलवायु ने चीन की सभ्यता को किस सीमा तक प्रभावित किया है इसका प्रमाण हमे वहाँ विकसित हुए मिथको से चलता है। जिस प्रकार मैसोपोटामिया और बेबीलोनिया की सभ्यताओ के आदि मिथको मे प्रलय मे हुए विनाश और नवोत्थान का जिक्र है उसी प्रकार चीन मे भी बाढ ने वहाँ के मिथको का निर्माण किया।

पाँच शासको मे से अन्तिम शासक यू (Yu) को, जो शुन (Shun) का उत्तराधिकारी था, यह आदेश दिया गया कि तुम बाढ़ पर नियन्त्रण स्थापित करो। बाढ बहुत भीषण थी, उस पर नियन्त्रण स्थापित करने मे विफल रह जाने पर ही यू के पिता को सम्राट् याओ के आदेश पर मौत के घाट उतारा गया था। यू बाढ पर काबू करने मे सफल हो गया और उसने बाद मे सिया राजवंश की नीव डाली।

इसी प्रकार चीनी मिथक का एक अन्य नायक कुंग-कुंग (Kung Kung) है जिसने बाढ पर नियन्त्रण स्थापित किया। उसने पू चाऊ पर्वत को माथे के सहारे के बल पर थाम लिया जिसने आकाश को सम्भाल रखा था। इसका

परिणाम यह हुआ कि आकाश उत्तर-पश्चिम की दिशा मे मुड गया, जिसके फलस्वरूप तारे पूर्व से उत्तर-पश्चिम की दिशा मे जाने लगे तथा नदियाँ विपरीत दिशा मे बहने लगी। भूगोल मिथको का निर्धारण किस प्रकार करता है उसका यह एक उदाहरण है।

प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि

चीन मे मानवीय गतिविधि का पहला प्रमाण चीन की राजधानी पीकिंग (बीजिंग) के 26 मील दक्षिण-पश्चिम मे चाऊ काऊ तियेन (Chou K'ou Tien) की खुदाई मे मिला। यहाँ पीकिंग-मानव (Pithecanthropus Pekinensis) के दाँत, खोपडी और अन्य अस्थिपजर मिले है। ये अवशेष पुरा-प्रस्तर युग के हैं। इसके बाद के काल के पत्थर के औजार और मिट्टी के बर्तन पीली नदी के उत्तर-पश्चिम की पहाडियो की तलहटी मे मिले, और यह शृखला मध्य तथा दक्षिण चीन तक मिलती है जिससे ज्ञात होता है कि प्रस्तर युग मे पीकिंग-मानव ने अधिक परिष्कृत पत्थर के औजारो तथा मिट्टी के बर्तनो का उपयोग सीख लिया था। अभी तक खेती की कला का विकास नही हुआ था।

इसके बाद चीन मे नव-प्रस्तरयुगीन सभ्यता के अवशेष पीली नदी के मध्य-मार्ग मे प्राप्त होते हैं, विशेषत होनान (Honan) और शाँसी मे। यांग शाओ गाँव, जहाँ खुदाई से पूरी नव-प्रस्तरयुगीन सभ्यता का पता लगा, होनान प्रान्त मे है। इस सभ्यता का नाम इसी गाँव के नाम पर यांग शाओ सभ्यता पडा। इन अवशेषो मे दस लाख वर्गमीटर मे बसी एक पूरी बस्ती के चिह्न मिले है। ये चिह्न धरती के तल से 12 से 15 मीटर नीचे से प्राप्त हुए।

दक्षिण शाँसी के गाँव पान पो (Pan P'o) की खुदाई मे लकडी के खम्भो और मिट्टी की दीवारो वाले घर मिले जिन पर मिट्टी के गारे से लीपा हुआ फूस का छप्पर होता था। लकडी के खम्भो को पत्थरो पर खडा किया गया था और ये पत्थर जमीन मे गाडे गए थे। फर्श मिट्टी से लिपे हुए थे और मिट्टी का ही इस्तेमाल चूल्हो, अलमारियो और बैंचो के लिए किया गया था। झोपडियों के पास बडे गड्ढे मिले जिनमे कचरा भरा हुआ था, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि उनका प्रयोग अनाज रखने के लिए किया जाता था। मिट्टी के बर्तन सुन्दर लाल और भूरी मिट्टी तथा मोटे रेत से बनाए जाते थे। कुछ बर्तन काले रग के तथा कुछ सफेद रग के भी मिले हैं। इन बर्तनो पर चित्रकारी भी मिली है। इन्हे देखने पर ऐसा विश्वास होता है कि इन्हे कुम्हार के चाक पर बनाया गया।

दूसरी प्रागैतिहासिक सभ्यता के अवशेष पूर्वी क्षेत्र के लुंग शान (Lung Shan) नामक स्थान पर मिले, जिसके कारण उसे लुंग शान सस्कृति कहा जाता है। इन दोनो सस्कृतियो मे मुख्यत बाजरा उगाया जाता था, कही-कही गेहूँ की फसल भी होती थी। खेती के अलावा कुत्ते, सूअर, बकरी, भेड तथा अन्य पशु भी पाले जाते थे। शुरू मे घोडा नही पाला जाता था लेकिन बाद मे मध्य एशिया के खानाबदोश पशुपालको के परिणामस्वरूप इन पशुओ मे घोडा भी शामिल हो गया।

लुंग शान सभ्यता के अवशेषो में तपायी हुई अस्थियाँ मिली हैं जिनसे यह बोध होता है कि यह सभ्यता परवर्ती काल मे विकसित होने वाली शांग सभ्यता की पूर्ववर्ती थी। इन अस्थियो पर शांगयुगीन अस्थियो की भाँति लिखा तो कुछ नही है लेकिन उन्हे तपाया गया है जिससे कि उनमे दरारें पड गई हैं जिनसे तरह-तरह के अर्थ निकाले गए। उस जमाने मे लिपि का आविष्कार नही हुआ था।

इन दोनो सभ्यताओ मे शिकार करने की परम्परा रही जिसका प्रमाण सुरक्षित मिले तीर और धनुष कमान है। कही-कही गुलेल भी मिली हैं। लुंग शान सभ्यता यांग शाओ की अपेक्षा बाद के काल की है। इसमे गाँवो के चारो ओर गीली मिट्टी की परतो से बनी सुरक्षात्मक दीवारें मिली हैं। तीरो मे आगे की ओर लगाए जाने वाले पत्तियो जैसे आकार की अस्थियो के फलक मिले हैं।

यांग शाओ और लुंग शान सभ्यताओं के परस्पर संबध के बारे मे एक लम्बे समय तक विवाद रहा, लेकिन जैसे-जैसे प्रमाण मिलते गए यह मान लिया गया कि लुंग शान सभ्यता यांग शाओ सभ्यता के अन्तिम दौर मे शुरू हुई और उसके बाद अपने चरम विकास पर पहुँची। दोनो मे सातत्य है। दोनो मे समान प्रकार के पत्थर के औजार मिले है, अन्तर केवल यह है कि यांग शाओ सभ्यता के औजारो की अपेक्षा लुंग शान सभ्यता के औजार अधिक परिष्कृत हैं। कला का विकास लुंग शान सभ्यता के दौरान ही हुआ। उसमे भी बर्तनो पर की गई चित्रकारी के अतिरिक्त अन्य किसी कला का कोई प्रमाण नही मिला है।

ये दोनो सभ्यताएँ ईसा से 3000 वर्ष पूर्व चीन मे फलती-फूलती रही। इसके बाद लगभग 1000 वर्षो तक चीन की सभ्यता किस प्रकार विकसित हुई अथवा मदता की स्थिति मे रही इसके कोई भौतिक प्रमाण नही मिल पाए हैं। बाद के इतिहासकारो ने यह मत व्यक्त किया है कि चीन राज्य की नीव 2852 ई. पू. मे रखी गई। उनमे से प्राय. सभी इस बात पर सहमत हैं कि इस नई सभ्यता की स्थापना पान कू (P'an Ku) नामक शासक ने की, लेकिन स्वय पान कू तथा उसके बाद के समस्त शासक मिथको और लोकगाथाओ के नायक तथा पात्र बनकर रह गए। उनके शासनकाल मे चीन की सभ्यता किस दौर से गुजरी उसके कोई विस्तृत प्रमाण नही मिल पाए है। यहाँ से हम सीधे ईसा पूर्व 1766 मे प्रारम्भ होने वाले शांग राजवश के काल मे पहुँचते हैं जहाँ से चीन की प्राचीन सभ्यता का इतिहास शुरू होता है। विश्व की अन्य प्राचीन सभ्यताओ की भाँति चीन की सभ्यता के विकास मे क्रम भग नही मिलता।

कांस्य युग (Bronze Age) से पहले एक हजार वर्ष

चीन मे ताँबे की खोज और काँसे के रूप मे उसका उपयोग सबसे पहले शांग राजवश के काल मे हुआ किन्तु जैसा कि पीछे कहा जा चुका है चीन की सभ्यता का विकास प्रस्तर युग मे ही हो गया। उसके बाद नव-प्रस्तर युग आया। इसी युग के उत्तरकाल मे जिसकी अवधि एक हजार वर्ष की रही, चीन मे साम्राज्य

की स्थापना हुई । जैसा कि पीछे कहा गया है इस साम्राज्य का सस्थापक पान कू था । उसके बाद दो राजवश आए—पहले मे तीन राजा हुए और दूसरे मे पाँच ।

पहले राजवश का प्रथम राजा फू सी था, जिसके बारे मे हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं । चीनी गाथाओ के अनुसार चीन की सभ्यता उसी से शुरू होती है । उसका सबसे बडा काम यह था कि उसने परिवार की नीव डाली और लोगो को एक साथ रहने के लिए प्रोत्साहन दिया । उसने निकट रक्त-सम्बन्धो मे विवाह पर प्रतिबन्ध लगा दिया । उसके शासनकाल मे ही चीन के लोगो ने पशुपालन शुरू किया ।

इसी वश के शेन नुँग (Shen Nung) के काल मे खेती का व्यापक विकास और सुधार हुआ । उसने लोगो को दलदल पाटने और भूमि को खेती के योग्य बनाने के लिए प्रेरित किया । गाँवो की रचना कुलो के आधार पर हुई और पूर्वजो की पूजा प्रारम्भ हुई । कुलो ने राजनीतिक रूप ले लिया और चीन के राजा के अधीन अनेक कुल-राज्य बन गए जिनके मुखिया को भी राजा की उपाधि मिल गई ।

दूसरे राजवश का प्रथम राजा था हुआँग-टी (Huang-Ti) जिसे पीला-सम्राट् भी कहा जाता है । चीन के इतिहासकारो का मत है कि वह एक वीर योद्धा, कुशल प्रशासक और कूटनीतिज्ञ था । उसने मध्य एशिया के घास के मैदानो मे पशु चराने वाले कबीलो को चीन मे घुसने और चीन पर आक्रमण करने से रोका तथा बडे पैमाने पर नगरो की स्थापना की । हुआँग-टी की पत्नी ली त्जू (Lei-Tzu) ने चीन के लोगो को रेशम के कीडे पालना सिखाया ।

हुआँग-टी ने चीन मे अनेक नई चीजो का आविष्कार किया, जैसे—वेशभूषा और टोपी, गाडी, नाव, चूना पकाना, रग बनाना, तीर-कमान, कुतुबनुमा, मुद्राएँ, मौसम-विज्ञान, खगोलीय ज्ञान, लेखन कला । इसके जमाने मे इतिहास भी लिखा गया । इसके दो मत्री इतिहास तैयार करने का काम ही करते थे । दुर्भाग्य से तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य मे चीन के सम्राट् के आदेश से प्राचीन ग्रन्थो को खोज-खोजकर जला दिया गया, जिसके कारण इस काल का इतिहास अधकार के गर्त मे विलीन हो गया ।

चीनी दार्शनिक और इतिहासकार कन्फ्यूशियस ने इस काल के दो शासको—याओ (Yao) और शुन को आदर्श राजा बताया है । याओ के शासनकाल मे भयकर बाढ रोकने का काम राजा ने अपने मत्री को सौपा, लेकिन वह उस कार्य मे सफल नही हो पाया तब राजा ने मत्री के बेटे यू को यह काम सौंपा, जो चीन के इतिहास मे नहरो का जाल बिछाकर नदी के पानी को नियन्त्रित करने तथा बाढ को रोकने मे सफल रहा । राजदरबार मे उसका बहुत सम्मान हुआ ।

याओ के उत्तराधिकारी शुन (Shun) ने इसी यू को अपना उत्तराधिकारी बनाया जिसने सिया राजवश की नीव रखी । यह वश शाँगवश का शासन स्थापित

होने तक चीन का शासक रहा। इस राजवश के शासनकाल मे भूमिकर की व्यवस्था को सार्थक बनाने के लिए भूमि का पुनर्विभाजन किया गया तथा शराब पीने पर पाबदी लगाई। इस काल मे युद्ध सम्बन्धी शस्त्रास्त्र के क्षेत्र मे आशातीत विकास हुआ, खेती और रेशम के उद्योगो को प्रोत्साहन मिला।

सिया राजवश (2205 से 1765 ई. पू.)

सम्राट् यू द्वारा स्थापित यह राजवश चीन मे सभ्यता के विकास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसी काल मे भूमि के व्यवस्थित वितरण और अभिलेख की प्रणाली शुरू हुई जिससे कि भूमि पर राजस्व वसूल करने मे सुविधा हो गई। प्रशासन का भी समुचित विकास हुआ तथा यह काम कुलीन वर्ग के लोगो को सौपा गया।

इस काल मे चीन की धार्मिक मान्यताओ का भी विकास हुआ। ईश्वर की इच्छा को सर्वोपरि शक्ति माना गया तथा इसको टियेन (Tien) कहा गया और इसकी ही पूजा का विधान किया गया। देवताओ मे प्रथम स्थान शाँग टी (Shang Ti) को प्रदान किया तथा उसके बारे मे कहा गया कि जिस प्रकार आकाश पृथ्वी से ऊपर है और उसका नियन्त्रण करता है उसी प्रकार शाँग टी पृथ्वी के निवासियो से ऊपर है और उनका नियन्त्रण करता है।

धीरे-धीरे इस राजवश के राजा शासन के मामले मे शिथिल होते गए तथा अठारहवाँ राजा की (Ki) के बारे मे तो कहा जाता है कि वह निर्दयी, बर्बर और आततायी था, प्रजा पर अत्याचार करता था और उसके मन मे उनके जीवन, धर्म तथा सम्पत्ति का तनिक आदर न था।

की को हटाने के लिए चीन मे विद्रोह हुआ जिसका नेतृत्व टाँग (Tang) नामक सरदार ने किया। टाँग ने की को गद्दी से उतार दिया और स्वय राजा बन बैठा। उसने ही शाँग राजवश की नीव रखी। टाँग के काल से ही चीन की प्राचीन सभ्यता का स्वर्णकाल आरम्भ होता है।

17

चीन : राजनीतिक इतिहास की रूपरेखा, राजनीतिक चिन्तन और संस्थाएँ

चीन का राजनीतिक इतिहास धुँधले रूप मे शांग राजवंश-काल से मिलता है जिसका आरम्भ 1766 ई. पू मे होता है। इस इतिहास के दो प्रमुख स्रोत रहे हैं—पहला, विभिन्न स्थलो पर की गयी खुदाइयो से मिले मकानो, कब्रो तथा किलो के अवशेष, बर्तन तथा अन्य वस्तुएँ, और दूसरा, सियाओ तुन (Hsiao T'un) की खुदाई मे करीने से बनाये गये सीढ़ीदार भूमिगत अभिलेखागार से मिली दस हजार दैवी-सवाद हड्डियाँ (Oracle Bones)। ये बैल के कन्धो की हड्डियाँ अथवा कछुओ की कठोर पीठ हैं। इन पर नाना प्रकार की चित्रकारी के साथ-साथ चीनी भाषा मे लिखे गये वे सवाद हैं जो देवताओं और राजाओ के पूर्वजो के साथ किए गये। इन सवादो मे शांग राजवंश के राजाओ के नाम और उनके काल का विवरण मिलता है। खुदाइयों मे शांग वश की उत्तरकालीन राजधानी अन्यांग के अवशेष बहुत महत्त्वपूर्ण माने गये हैं। इस वश के पूर्वकालीन अवशेष चेंग चाऊ की खुदाई मे पाए गए हैं।

चेंग चाऊ (Cheng Chou) मे तीन शांग वशो के प्रमाण मिले हैं—शांग-प्रथम, शांग-द्वितीय और शांग-तृतीय। अन्यांग मे दीवारो की नीव मे लेकर दीवारो के ऊपरी भाग तक शांग-चतुर्थ के अवशेष मिले हैं।

ओरेकल-हड्डियो से भी शांग वश के राजाओ की सूचियाँ मिली हैं। विभिन्न स्रोतो से मिली जानकारी मे अद्‌भुत समानता है जिसके आधार पर इस काल के इतिहास की पुनर्रचना की जा सकी। इस मामले मे सबसे अधिक सुविधा यह रही कि चीनी भाषा और लिपि अपने विकास के प्रथम चरण से जो उत्तर-नवप्रस्तर युग मे शुरू हुआ, आज तक अपरिवर्तित रही है। विकास के दौरान उसमे जो बदलाव आया है वह ऐसा नही है जिससे ओरेकल-हड्डियो की भाषा पढने मे विशेष

कठिनाई आती। विकास का यह क्रम लुंग शान और शाँग सभ्यताओ मे पाई गई समानताओ से प्रमाणित होता है। शाँग वश की सभ्यता चीन मे कांस्य युग की सभ्यता थी। उस जमाने के कांसे के पात्रो से भी उस सभ्यता के बारे मे जानकारी एकत्र करने मे बहुत मदद मिली है।

शाँग वश (1766 से 1122 ई. पू)

शाँग सभ्यता के लगभग साढे पाँच सौ वर्ष लम्बे काल मे चीन मे राज्य और राजनीतिक व्यवस्था का आधुनिक अर्थ मे विकास नही हुआ, न आधुनिक ढग का राजनीतिक चिन्तन ही उस जमाने के साक्ष्यो से मिलता है, लेकिन जो भी प्रमाण उपलब्ध हैं उनके आधार पर उस काल की राजनीतिक व्यवस्था और सस्थाओ के बारे मे जानकारी अवश्य प्राप्त होती है।

यांग शाओ और लुंग शान सभ्यताओ की तरह इस सभ्यता मे भी चीन में राजतन्त्र बना रहा, लेकिन राजा आरम्भ मे न दैवी था न सवैधानिक। इस काल की विशेषता यह रही कि राजा तो दैवी नही था लेकिन उसके पूर्वज दैवी माने गए और उनकी कृपा तथा उनका कोप जीवित राजाओ को राजगद्दी पर बनाए रखने के लिए इस्तेमाल किया जाता रहा। प्रजा ही नही राजा के शत्रु भी उसके पूर्वजो के कोप से डरते थे।

शाँग वश मे राजाओ का उत्तराधिकार दो प्रकार का पाया जाता है—बडे भाई से छोटे भाई को और पिता से पुत्र को। राजा के बाद उसका छोटा भाई राजगद्दी पर बैठता था, लेकिन यदि भाई न हो तो बेटा उसका उत्तराधिकारी माना जाता था। इसी कारण तीस शाँग राजाओ की कुल अट्ठारह पीढियों ने राज किया।

इस वश का प्रमुख देवता शाँग टी (Shang Ti) था। शाँग शब्द का अर्थ है सर्वोच्च और टी का अर्थ देवता। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य देवता भी थे जैसे—पूर्वी–मातृदेवी, पश्चिमी–मातृदेवी, चारो दिशाओ का शासक आदि। इन देवताओ से पुरोहित अनेक प्रकार के प्रश्न पूछता था और उनसे प्राप्त उत्तर ओरेकल-हड्डियो पर लिख देता था। अधिकांश प्रश्न राजनीति और शासन से सम्बन्धित होते थे, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पुरोहित वर्ग राजकाज पर गहरा प्रभाव डालता होगा, अथवा यो कहे कि उस काल की शासन-व्यवस्था धर्मतन्त्र जैसी रही होगी।

इस प्रसग मे ऐक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि इस वश का शासन कहाँ तक फैला हुआ था। इस बारे में विचार करने से पहले यह देखना होगा कि परम्परा और प्रमाण क्या कहते है। चीन के इतिहासकार कहते है कि शाँग राजा समूची पृथ्वी पर राज करते थे। जाहिर है कि यहाँ समूची पृथ्वी का अर्थ उतनी पृथ्वी है जिसका ज्ञान उस समय चीन के लोगो को था, और वह क्षेत्र बहुत सीमित था। सम्भव है वह क्षेत्र राजधानी और उसके आसपास के गाँवो तक ही सीमित

रहा हो। यह एक ऐसी सम्भावना है जिससे इन्कार नही किया जा सकता क्योकि राज्य अथवा साम्राज्य के विस्तार के लिए जिन उपकरणो और उपादानो की आवश्यकता होती है उनके प्रमाण इस काल की सम्यता के अवशेषो से नही मिल सके हैं। राज्य के विस्तार के लिए राजा के साथ एक व्यापक अभिजात वर्ग, एक विशाल सेना, यातायात के विकसित साधन, अचूक शस्त्रास्त्र और एक समृद्ध अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा होती है जिससे प्राप्त राजस्व राजकोष को इस सीमा तक भर सके कि इन सब उपकरणो का खर्च पूरा किया जा सके।

इस सम्यता के अवशेषो मे राजा के साथ उसके विस्तृत दरबार के बारे मे कोई विशेष जानकारी नही मिलती। राजधानी—नगर और उसके आसपास के गाँवो मे जो मकान मिले हैं अथवा कब्रें मिली हैं उनमे यह सकेत नही मिलता कि उस काल मे बडे पैमाने पर किसी अभिजात वर्ग का अस्तित्व था। बडी सेना के प्रमाण भी नही मिले हैं। यातायात के साधनो मे रथ अथवा घोडे द्वारा खींचे जाने वाली गाडी का उल्लेख मिलता है। यदि सेना के लिए घोडो का इस्तेमाल किया जा सकता तब यह सम्भव था कि सुदूर क्षेत्रो तक जाया जा सकता था लेकिन वह सम्भव नही था, क्योकि उस जमाने के शस्त्रो मे तीर कमान तथा खुखरी मिलते है। धनुष से युद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि धनुष चलाने वाले के दोनो हाथ खाली हो जिनका उपयोग वह धनुष को दृढता के साथ थामने और प्रत्यचा खीचकर तीर चलाने का काम कर सके। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि उसका शरीर सधा हुआ हो और ध्यान अपने निशाने पर एकाग्र हो। घोडे की सवारी पर यह सम्भव नही है। युद्ध क्षेत्र मे घोडो का प्रयोग तभी हुआ जब युद्ध तलवार या भाले से किया गया। धनुष से किए जाने वाले युद्ध मे हमेशा रथ का प्रयोग हुआ तथा रथ के घोडो को साधने के लिए सारथी का कुशल होना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण माना गया जितना कि योद्धा का, क्योकि रणक्षेत्र मे घोडे तरह-तरह की आवाजो और तीरो की बौछार से बिदकते हैं, साथ ही व्यूह-रचना की दृष्टि से रथ को विविध दिशाओ मे हाँकना पडता है। रथो पर चढकर मैदानो मे ही युद्ध किया जा सकता है, रथ न नदियो को लाँघ सकते हैं, न पहाडो पर चढ सकते है, न मामूली सी खाई को ही पार कर सकते हैं।

ऐसी स्थिति मे यह अपेक्षा नही की जा सकती कि शांग वश के राजाओ ने किसी बडे साम्राज्य का निर्माण किया होगा। विलियम वाटसन जैसे इतिहासकार को यह लिखते हुए कि शांग शासन पूर्व मे चीन के मध्यवर्ती मैदान के उस पार तक, तथा पश्चिम मे होनान प्रान्त की अन्तिम सीमा तक फैला हुआ था, शायद शब्द का प्रयोग करना पडा।[1] उनका निश्चित मत है कि शांग शासन दक्षिण मे यांग त्जी नदी के पार अथवा उत्तर मे खानाबदोश जातियो तक नही फैल पाया।

1 Early Civilization in China, London, 1966, p, 61.

शाँग काल के मृद् भान्ड पीली नदी के धुर दक्षिणवर्ती प्रदेश के आगे नही मिलते । न वे पश्चिम मे पीली और वाई नदियो के सगम के उस पार शाँसी और शेंसी प्रान्तो मे ही मिलते हैं ।

इस काल की राजनीतिक स्थिति के बारे मे एक महत्त्वपूर्ण संकेत मिलता है जहाँ राज्य की सैनिक स्थिति का उल्लेख है । बताया गया है कि राजा के अग रक्षको का एक सशस्त्र दस्ता होता था और जब किसी विद्रोही अथवा अवज्ञाकारी प्रान्तीय शासक का दमन करना होता तो अन्य प्रान्तो के शासको से सेना मँगाई जाती थी । इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं कि केन्द्रीय शासन मे सेना के रख-रखाव का प्रबन्ध न था, सेना उससे निचले स्तर पर प्रान्तीय शासको के पास रहती थी, तथा यह भी कि राजा केन्द्रीय शासन का सचालन करता तथा प्रान्तो मे अलग-अलग शासक होते थे जो कभी राजा के अधीन रहना स्वीकार करते और कभी उससे इन्कार कर देते थे । इस व्यवस्था का सकेत सामन्ती शासन-प्रणाली की ओर है, परन्तु वास्तव मे सामन्ती शासन-प्रणाली चीन मे काफी देर से विकसित हुई । राजा का शासन नगर के परकोटे के भीतर तक ही सीमित रहा और जहाँ कही वह खेतिहर गाँवो तक फैला वही राजा को अपनी ओर से सामन्त-शासक नियुक्त करने पडे, इनकी सख्या बहुत सीमित थी ।

ओरेकल हड्डियो मे शाँग शासको के पीली नदी पार करने का कोई उल्लेख नही मिलता । यह नदी उनकी राजधानी अन्याँग से अस्सी मील दक्षिण मे बहती थी । अन्याँग के उत्तर-पूर्व मे अवश्य मैदान हैं जो मचूरिया तक फैला हुआ है, लेकिन वहाँ पहले से ही खानाबदोश जातियो का अधिकार था जो बहुत बर्बर थी अत यह भी सम्भव नही है कि शाँग शासन वहाँ तक फैला हो । प्रागैतिहासिक चीन के प्रख्यात विद्वान् एच जी क्रील विविध स्रोतो से प्राप्त सामग्री का अध्ययन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि शाँग शासको ने अधिक से अधिक चालीस हजार वर्गमील के क्षेत्र मे अपना प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित किया होगा । लेकिन दूसरी ओर चीनी पुरातत्त्वविदो और इतिहासकारो का मत है कि शाँग शासन के अन्तर्गत इससे कही अधिक प्रदेश था ।[1]

ऐसी सम्भावना भी नही है कि उस काल मे चीन की भूमि पर एक से अधिक राजवशो का शासन रहा हो । कन्फ्यूशियस ने लिखा है कि आकाश मे दो सूर्य नही हैं और पृथ्वी पर दो राजा नही हैं । लेकिन ओरेकल-हड्डियो पर बार-बार दूसरे राजाओ के दरबारो मे दूत भेजने का जिक्र आया है । इस बात की सम्भावना नही है कि शाँग राजा चीन से बाहर के राजाओ के दरबारो मे अपने दूत भेजते होगे, साथ ही चीन मे अन्य राजाओ के होने का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि शाँग राजाओ को अनेक युद्ध करने पडे । युद्ध निश्चय ही राजाओं के बीच हुए, और शाँग वश के अन्तिम दिनो मे चाऊ राजवश द्वारा शाँग राज्य पर

1 The Birth of China, New York 1970, p 137.

अधिकार जमाने की घटना यह सिद्ध करती है कि चीन में कम से कम दो राजवंश थे जो एक साथ राज कर रहे थे—शांग और चाऊ।

राजा के मन्त्री तथा अन्य अधिकारी

राजवंश चाहे कोई भी हो, राजमहल की राजनीति एक निश्चित यथार्थ है जिसे प्रत्येक राजा को समझना होता है। शांग राजा भी राजमहल की राजनीति का महत्त्व भली प्रकार समझते थे। इसी कारण वे अपने शासन में किसी भी महत्त्वपूर्ण पद पर राज परिवार के सदस्यों की नियुक्ति नहीं करते थे, न किसी स्थापित अभिजातवर्गीय अथवा सामन्ती परिवार के लोगों को ही राज्य की सेवा में लिया जाता था। राजा अपने पुराने सेवकों को ही धीरे-धीरे ऊँचे पद देता जाता था और अन्त में वे मन्त्री के पद तक पहुँच जाते थे।

राजा के प्रशासन में शिह (Shih) होते थे। इस शब्द के अनेक अर्थ हैं जिनका मुख्य भाव सेवा, सेवक अथवा आँच है। धनुर्विद्या की प्रतियोगिताओं में प्रत्येक प्रतियोगी की सफलता–विफलता की गणना करने वाले व्यक्ति को आरम्भ में शिह कहा जाता था। शिह एक बुद्धिमान व्यक्ति होता था उसे धीरे-धीरे अभिलेखों की तैयारी तथा शासन के अन्य कामों के लिए नियुक्त किया जाने लगा। लिपि और भाषा का विकास होने पर शिह विद्वान् हो गया इतिहासकार हो गया, उसमें राजा को परामर्श देने की योग्यता उत्पन्न हो गयी और वह राजा का मन्त्री, परामर्शदाता, दूत अथवा अन्य सरकारी अधिकारी बनने के योग्य हो गया। इससे सिद्ध होता है कि उस काल में प्रशासन व्यावसायिक प्रशासकों के हाथों में रहता था न कि राजनीतिक अधिकारियों के हाथों में। इसका मुख्य कारण यह था कि राजा अपने परिवार के लोगों से डरता था कि कहीं वे शक्तिशाली न हो जाएँ और उसके विरुद्ध विद्रोह न कर दें। भाई के उत्तराधिकार की परम्परा भी इसी सावधानी का परिणाम थी।

ऊँचे पदों पर पहुँचने वाले शिह राजा से पद, जागीर और जायदाद प्राप्त करते थे। इन्होंने ही आगे चलकर चीन में कुलीन वर्ग, सामन्त वर्ग तथा धनिक वर्ग को जन्म दिया।

चाऊ राजवंश
(1122 से 256 ई. पू.)

शांग राज्य के पश्चिम में पीली नदी की सहायक वाई नदी की उपजाऊ घाटी में तथा ननीसवर्गी पहाड़ियों के शांसी और शेंसी प्रान्तों में चाऊ नामक बर्बर जाति निवास करती थी। यह क्षेत्र शांग राजधानी से 300 मील पश्चिम में है तथा वाई और उसकी सहायक चिंग नदियों का दोआब होने के कारण बहुत उपजाऊ है जिसने एक बड़ी आबादी का पोषण करने की सामर्थ्य है।

जहाँ तक चाऊ जाति की नस्ल का प्रश्न है, यह वही उत्तरी चीनी नवप्रस्तर-युगीन नस्ल थी जिससे शांग जाति का उदय हुआ था। इसके बावजूद दोनों

जातियाँ एक लम्बे समय तक एक-दूसरे से अलग-थलग रहने के कारण भिन्न प्रकार से विकसित हुई थी। कांस्य युग मे जव शॉग सभ्यता फल-फूल रही थी चाऊ जाति सभ्यता के प्रथम चरण मे ही थी, तथापि शॉग जाति के साथ सम्पर्क स्थापित हो चुका था।

चाऊ जाति के वारे मे एक महत्त्वपूर्ण वात यह है कि उसे चीन के पश्चिम मे वसी मध्य एशिया की लडाकू जातियो के निरन्तर सम्पर्क मे आना पडता था और यह सम्पर्क प्राय: उनके आक्रमणो के कारण सुरक्षात्मक होता था अत. चाऊ जाति युद्ध प्रिय होती चली गयी। उपजाऊ भूमि के कारण उसने खेती का भली प्रकार विकास किया, किन्तु समय-समय पर जव अकाल पडता तो चाऊ लोगो को अन्न की खोज मे इधर-उधर जाने के लिए विवश होना पडता। वे पश्चिम की खानावदोश जातियो के प्रदेश को लूटते अथवा पूर्व की ओर शॉग जाति के क्षेत्रो की ओर वढते। शॉग जाति के साथ भी उनका सम्पर्क युद्धो के रूप मे ही शुरू हुआ।

शॉग राजा इस स्थिति मे न थे कि वे पश्चिमी पहाडियो को पार करके चाऊ जाति को पराभूत करते अत· वे उस जमाने की परम्परा के अनुसार चाऊ सरदारो को अपनी कन्याएँ और पदवियाँ देकर सन्तुष्ट कर देते थे। ऐसी ही एक कन्या चाऊ जाति के सरदार अथवा राजा वेन (Wen) की माँ थी जो अपने वेटे को शॉग सभ्यता और वैभव की कहानियाँ सुनाया करती थी।

राजा वेन को चीनी इतिहासकारो ने शान्तिप्रिय राजा कहा है लेकिन वास्तव मे उसने एक विशाल चाऊ सेना का गठन किया और पश्चिम तथा दक्षिण के प्रदेशो पर विजय प्राप्त करके सम्पूर्ण शांसी तथा शेसी प्रदेशो को अपने राज्य मे मिलाया। वह शॉग राजा पर आक्रमण करने की योजना तैयार कर ही रहा था कि उसका देहान्त हो गया। उसने केवल सात वर्ष राज किया, लेकिन इन सात वर्षों मे ही चाऊ सत्ता की नीव डाल दी।

राजा वेन की मृत्यु के वाद उसका वेटा राजा वू (Wu) गद्दी पर वैठा। वह नौ वर्ष तक अपनी सत्ता और सेना को सगठित करता रहा तथा शॉग राज्य पर आक्रमण करने की अपने पिता की योजना को क्रियान्वित करने के लिए तैयारियाँ करता रहा। अन्तत उसने अपनी सेना से कहा कि अव शिथिलता को त्याग कर पूर्व के समुद्र की ओर वढो तथा एक अपराजेय चाऊ साम्राज्य की स्थापना करो।

राजा वू अपनी सेना को लेकर पीली नदी को पार कर गया, लेकिन वह शीघ्र ही लौट गया और उसने कहा कि अभी शॉग राज्य पर आक्रमण करने का सही समय नही आया है। वास्तव मे वह शॉग सेना के हाथो पराजित हो गया था तथा अपनी प्रजा से उस पराजय को छिपा रहा था। दो वर्ष वाद उसने पूरी तैयारी सहित पूर्व की दिशा मे पुन कूच किया। यह वह समय था जव शॉग राजा पूर्व

की एक अन्य बर्बर चीनी जाति के साथ युद्ध करके निपटा था और उसकी सेना काफी अस्त-व्यस्त स्थिति मे थी। राजा वू ने इस स्थिति का लाभ उठाया।

चाऊ इतिहासकारो ने लिखा है कि शाँग राजा पहले ही मोर्चे पर पराजित होकर भागा और उसने अपने महल मे घुसकर कीमती वस्त्र तथा आभूषण धारण किए और महल मे आग लगा ली जिसमे वह स्वय भी जलकर भस्म हो गया। उसकी दो प्रिय उप-पत्नियो ने गले मे फँदा लगाकर आत्म-हत्या कर ली। चाऊ राजा वेन स्वय शाँग राजा के महल तक गया, वहाँ उसने शाँग राजा के शव को तीरो से छेद डाला तथा उसका सिर धड से अलग कर दिया। उसकी उप-पत्नियो के सिर भी काट लिए गए और तीनो सिर वू के झण्डे पर विजय के प्रतीक के रूप मे टाँग दिए गए।

चाऊ राजा वू ने पचास नगर राज्यो पर विजय प्राप्त की किन्तु वह उत्तरी चीन तक ही सीमित रहा। इस दिग्विजय के बारे मे उसने लिखा कि यह उसके लिए अनिवार्य हो गई थी—"इस अभियान के आरम्भ में मैंने इसकी कठिनाइयो पर विचार किया और प्रतिदिन उनका हल खोजता रहा। लेकिन जब कोई दिवगत पिता एक मकान बनाने की इच्छा से नीव डाल गया हो तब यदि उसका बेटा दीवारें ही न उठाना चाहे तो वह छत कहाँ से डाल पायेगा, अथवा यदि दिवगत पिता खेत जोत गया हो और बेटा बीज ही न बोना चाहे तो वह फसल कहाँ से काट पायेगा। मै अपने दिवगत पिता का अनुसरण कर रहा हूँ जिसका प्रयोजन भूमि को दूसरे छोर तक अपने साम्राज्य मे शामिल करना था। "यही कारण है कि मै पूर्व की ओर इस अभियान पर निकला हूँ।"

राजा वू समुद्र तक पहुँचा या नही, यह कहना कठिन है लेकिन इतना तय है कि उसने इतने विशाल प्रदेश पर अधिकार कर लिया था जिस पर शासन करना आसान काम नही था। अत जिन राज्यो के शासको ने बिना युद्ध किए उसके सामने आत्म-समर्पण किया था तथा उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी उन्हें उसने उनके राज्य लौटा दिए तथा उनसे वार्षिक भेंट प्राप्त करने लगा। राजा वू जानता था कि शाँग प्रजा उसको सहयोग नही देगी तथा उस पर सीधे शासन नही किया जा सकेगा अत उसने पराजित शाँग राजा की बहुत-सी भूमि अपने सरदारो और राजवश के लोगो मे बाँट दी। यह चीन मे सामन्तवाद की शुरूआत थी।

राजा वू को यह डर भी था कि यदि उसने शाँग राजवश को पूरी तरह नष्ट कर दिया तो उसके पूर्वज क्रुद्ध होकर उसे हानि पहुँचाएँगे अत उसने मध्यम मार्ग अपनाया और उसने पराजित शाँग राजा के बेटे को अपनी ओर से उसके राज्य का शासक नियुक्त कर दिया जिससे कि वह अपने पूर्वजो को बलि देता रहे तथा उन्हे प्रसन्न रखे। लेकिन वह शाँग राजा को स्वतन्त्र नहीं छोड सकता था क्योंकि उसे भय था कि वह कुछ समय बाद शक्ति सग्रह करके स्वतन्त्र होने की चेष्टा कर सकता है। यही सोचकर उसने अपने दो सगे छोटे भाइयों—कुआन शू (Kuan Shu) और साई शू (Ts'ai Shu) को शाँग राजा की मदद के नाम पर

वही नियुक्त कर दिया । उसने अपने भाइयों को समझा दिया कि यदि शांग राजा विद्रोह करने की चेष्टा करे तो मुझे सूचित करना ।

राजा वू अपनी राजधानी लौट गया तथा 1116 ई॰ पू में उसका निधन हो गया । उस समय उसका बेटा बहुत छोटा था तथा वह अकेला परिस्थितियो की माँग के अनुसार एक सुदृढ शासन नही दे सकता था अत राजा वू के एक अन्य भाई ने वू के बेटे चेंग (Ch'eng) को राजगद्दी पर बैठा दिया तथा वह स्वय उसका सरक्षक बनकर शासन करने लगा । वह असाधारण प्रतिभा, शक्ति और चरित्र का धनी था । कन्फ्यूशियस ने उसकी भूरि-भूरि प्रशसा की है तथा उसे अपने दार्शनिक चिन्तन का मूल स्रोत बताया है । चीन के लोग उसे कन्फ्यूशियस से भी महान् मानते हैं । उसने चीन की सभ्यता को नये आयाम दिये, नयी सस्थाएँ दी और नयी परिकल्पनाएँ भी । उसने चाऊ साम्राज्य को बिखरने से बचाया । उसके प्रयोजन शुद्ध थे, लेकिन उसके भतीजे राजा चेग और शाँग राजा की चौकीदारी के लिए नियुक्त उसके भाइयों—कुआन शू तथा साई शू को उसकी नीयत पर सन्देह हुआ । उसने किसी की परवाह न की । जब इन दोनो भाइयो के उकसाने पर शाँग राजा ने विद्रोह का झण्डा ऊँचा किया तो इस दूरदर्शी चाऊ नेता ने उस पर चढाई कर दी, शाँग राजा और अपने भाई कुआन शू की हत्या कर दी, तथा दूसरे विद्रोही भाई साई शू को देश निकाला दे दिया । उसने अपने एक अन्य भाई काँग शू (K'ang Shu) को शाँग प्रदेश का अधिशासक नियुक्त किया, तथा शाँग राजाओ के पूर्वजो की पूजा के लिए शाँग राजवश के उत्तराधिकारी की तलाश शुरू कर दी । उसे पता चला कि अन्तिम शाँग राजा का भाई वाई त्जू (Wei Tzu) चाऊ-दिग्विजय से पहले ही उससे झगडकर भाग गया था तथा अभी जीवित है । उसने वाई त्जू की खोज कराई और 1111 ई पू मे उसे सुँग राज्य (Sung) का राजा और शाँग राजवश का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया ।

उसने यह महसूस किया कि चाऊ वश की राजधानी एक कोने मे पडती है इसलिए पुरानी शाँग राजधानी के समीप ही एक नया नगर बसाया जाये । यही सोचकर उसने शाँग से 150 मील उत्तर-पश्चिम की ओर लोयाँग (Loyang) मे नई राजधानी का निर्माण अपनी निजी देख-रेख मे कराया । उसने तमाम शाँग सरदारो और शाँग राज्य के पुराने सरकारी अधिकारियो को लोयाँग के पास ही एक अन्य नगर बसाने तथा चाऊ शासको की आँख के तले वही बसने के लिए विवश किया ।

सात वर्ष तक चाऊ राजवश के शासन को सुदृढ बनाने और चीन की मुख्य भूमि के एक बडे भाग को एकीकृत करने के बाद उसने अपने भतीजे राजा चेंग को शासन सौंप दिया और स्वय अपने दार्शनिक चिंतन मे तल्लीन हो गया । राजा चेंग ने अपने चाचा की इच्छा के अनुसार लोयाँग को अपनी राजधानी तो नही बनाया लेकिन उप-राजधानी बनाकर वहाँ से पूर्व के प्रदेशो का नियन्त्रण शुरू कर दिया ।

चाऊ राजवश : उत्थान और पतन

चाऊ राजवश ने अपनी राजधानी हाओ (Hao) मे ही रखी और वहीं से समूचे प्रदेश पर शासन करता रहा। चाऊ शासन की प्रारम्भिक शताब्दियो का व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध नही है, फिर भी यह विवरण मिलता है कि चाऊ राजा अपने सामन्तो के द्वारा शासन करते थे। आरम्भ मे इन सामन्तो को विजित प्रदेशो की प्रजा के प्रतिकूल रवैये के कारण शासन करने मे बहुत कठिनाई आती रही, लेकिन इन सामन्तो की सहायता के लिए आवश्यकता पडने पर चाऊ सेना पहुँच जाती थी जो असहयोगी अथवा विद्रोही प्रजा का दमन कर देती थी। अत ये सामन्त अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए चाऊ राजा की शक्ति पर निर्भर रहते थे, जिसके कारण उन्हें उसके प्रति निष्ठा प्रकट करने के लिए उसके दरबार मे जाना पडता और राजकोष के लिए भारी रकम भेंट के रूप मे चुकानी पडती थी। जब कभी कोई सामन्त राजा को भेंट न पहुँचाता अथवा उसकी अवहेलना या अवज्ञा करता तो चाऊ राजा उसके पडौसी सामन्तो को उस पर आक्रमण करके उसका प्रदेश अपनी जागीर मे मिला लेने का प्रलोभन देता जिसे वे लोग स्वीकार कर लेते। इस प्रकार सामन्तो को एक दूसरे से भिडाकर चाऊ राजा अपनी सर्वोच्चता बनाये रखते थे और राजकोष के लिए धन भी एकत्र कर लेते थे।

यह स्थिति अनन्तकाल तक नही चल सकती थी। कुछ पीढियो के बाद चाऊ सामन्त अपनी प्रजा के साथ घुलमिल गये और लोकप्रियता प्राप्त करने लगे। उन्हे अपनी प्रजा की वैसी ही भक्ति प्राप्त होने लगी जैसी कि शाँग शासको को प्राप्त थी। इन सामन्तो ने अपनी दौलत और सेना मे वृद्धि कर ली तथा अपने कमजोरे पडौसी सामन्तो की जागीरे छीनकर अपने प्रदेशो का विस्तार भी कर लिया।

चीन के सीमावर्ती क्षेत्रो मे जो खानाबदोश और बर्बर जातियाँ रहती थी वे समय-समय पर चाऊ साम्राज्य पर आक्रमण कर देती थी। उनका प्रयोजन क्षेत्र का विस्तार न था। वे लूटपाट करके अपने क्षेत्र मे लौट जाती थी। चाऊ राजा अपने सामन्तो को आदेश दे देते थे कि वे उनको मार भगायें और उनसे जो प्रदेश प्राप्त हो उसे अपने प्रदेश मे मिला लें। इस प्रकार समान्तो का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा था।

कभी-कभी चाऊ राजा स्वय सेना का नेतृत्व करते। चाऊ राजवश के चौथे राजा चाओ (Chao) ने ऐसे ही एक सैनिक अभियान का नेतृत्व किया। यह घटना 1002 ई पू की है। राजा चाओ उस अभियान से लौट नही पाया। या तो वह युद्ध मे मारा गया या आक्रमणकारियो ने उसे बन्दी बना लिया और अपने साथ ले गये।

सामन्तो की राजा के प्रति वफादारी वस्तुत राजा के व्यक्तित्व, चरित्र, सामन्तो के प्रति उसके व्यवहार और उसकी सैनिक सामर्थ्य पर निर्भर करती थी।

878 ई. पू. में चाऊ वंश का राजा ली (Li) गद्दी पर बैठा। बताया जाता है कि वह अत्यन्त क्रूर, ईर्ष्यालु, दंभी और षड्यत्रप्रिय था। धीरे-धीरे प्रजा में ही नहीं सामन्तों में भी उसके विरुद्ध असतोष उभरने लगा। उसके एक मन्त्री ने उसे इस बारे में सावधान कर दिया। इस पर राजा ने एक तान्त्रिक को आदेश दिया कि वह उसे यह बताये कि कौन लोग उसकी आलोचना कर रहे हैं। तान्त्रिक जिसका भी नाम लेता उसको ही राजा के आदेश पर मौत के घाट उतार दिया जाता। इसके बाद लोग खामोश हो गये, लेकिन सामन्तों ने राजदरबार में आना बन्द कर दिया।

राजा ने एक दिन अपने मन्त्री शाओ के सामन्त से कहा कि "मैंने चरित्र-हनन की प्रक्रिया समाप्त कर दी है, उनमे अब आपस मे बात करने का साहस भी नहीं रहा है।" मन्त्री ने उससे कहा कि "आपने अपनी आलोचना तो रोक दी है लेकिन लोगो के मुँह बन्द करना उतना ही खतरनाक होता है जितना कि जल के प्रवाह को रोक देना। अन्ततः वह फूट पड़ेगा, और तब बहुत लोगों को चोट सहनी पड़ेगी।" राजा ली ने उसकी चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया और तीन साल बाद राजा के विरुद्ध भीषण विद्रोह उमड पड़ा। राजा ली पर आक्रमण हुआ और उसे सिंहासन छोड़कर भाग जाना पड़ा। उसने अपने जीवन के शेष चौदह वर्ष चिन नामक राज्य मे साधारण व्यक्ति की तरह अज्ञातवास मे बिताये।[1]

विद्रोह शुरू होने पर ली के बेटे तथा उसके उत्तरधिकारी को शाओ के सामन्त ने अपने घर मे शरण प्रदान कर दी। विद्रोहियो को जब यह पता चला तो उन्होंने उसका घर घेर लिया और उससे राजा के उत्तराधिकारी को सौंपने की माँग की। शाओ का सामन्त चाऊ राजवंश के प्रति अपनी निष्ठा से बंधा था, जब उसने कोई उपाय न देखा तो विद्रोहियो के हाथो मे अपने बेटे को सौंप दिया जिसे उन्होंने वहीं मार डाला। शाओ ने पत्थर की तरह सब कुछ सह लिया और राज्य के उत्तराधिकारी को पाल-पोसकर बड़ा किया।

विद्रोह शान्त होने पर जब लोगो को वास्तविकता का पता चला तो वे बहुत लज्जित हुए और उन्होंने शाओ से क्षमा माँगी। शाओ ने कहा कि राज्य के उत्तराधिकारी को उसके पिता के अपराध के लिए दंडित करना उचित नहीं है, हमे विवेक से काम लेना चाहिए और चाऊ राजवंश के उत्तराधिकारी को गद्दी पर बैठाना चाहिए। प्रजा ने उसकी सलाह मान ली तथा उत्तराधिकारी के वयस्क होने तक शाओ को उसका सरक्षक नियुक्त कर दिया। चौदह वर्ष बाद जब राजा वयस्क हो गया तो उसने राजकाज पूरी तरह सम्भाल लिया। यह राजा सुआन (Hsuan) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजा सुआन एक ओर तो शाओ के सामन्त के प्रति कृतज्ञ था जिसने अपने बेटे का बलिदान देकर उसके प्राणो की रक्षा की,

1. *H. G. Creel*: op. cit., p. 239.

दूसरी ओर उसने शाओ के मार्गदर्शन में राजकाज का प्रशिक्षण लिया। वह एक सुयोग्य शासक सिद्ध हुआ। उसने चाऊ राजवंश की गरिमा और प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिये। विद्रोही सामन्तों ने भी उसकी प्रभुता को स्वीकार किया। लेकिन उसका दुर्भाग्य यह रहा कि उसे पश्चिम की ओर से बार-बार आक्रमण का सामना करना पड़ा, जिससे उसकी शक्ति घटती चली गई और अनेक बार उसे पराजय का मुँह देखना पड़ा जिससे उसकी प्रतिष्ठा और उसके प्रभाव को गहरा आघात लगा।

पतन का सिलसिला

चाऊ राजवंश पर यह आरोप लगाया जाने लगा कि वह अपने पूर्वी प्रदेशों के प्रति भेदभाव बरत रहा है तथा पश्चिमी प्रदेशों का पोषण कर रहा है।[1] इसी काल में लिखे गए दो प्रसिद्ध ग्रंथों में इस असन्तोष और चाऊ शक्ति के ह्रास का विवरण मिलता है। ये ग्रन्थ हैं—काव्य-संग्रह (Book of Poetry) और राज्यों के संवाद (Discourses of States)।

राज्यों के संवाद में तथ्यों और मिथकों को एक दिलचस्प गाथा के रूप में गूँथ दिया गया है। उसमें चाऊ वंश के पतन की कहानी कही गई है। कहानी शैंग वंश के पूर्ववर्ती सिया वंश के शासनकाल से शुरू होती है। बताया गया है कि पौ नामक राज्य के दो भूतपूर्व शासकों के भूत उड़न-सर्प का रूप धारण करके राजा के दरबार में गये और उन्होंने वहाँ अपना परिचय दिया। राजा ने ओरेकल-हड्डी द्वारा दैवेच्छा जानने की कोशिश की कि उन दैत्यों की हत्या की जाए, उन्हें देश-निकाला दे दिया जाए अथवा बंदीगृह में रखा जाए। ओरेकल ने बताया कि इनमें से कोई भी उपाय शुभ न होगा। तब राजा ने पूछा कि क्या उन्हें विषवमन करने के लिए कहा जाए और उनके विष को सुरक्षित रख लिया जाए। उत्तर मिला कि ऐसा करना ठीक होगा।

उन उड़न-सर्प दैत्यों के सामने एक कपड़ा फैला दिया गया और उनके सामने विषवमन करने की प्रार्थना लिखित रूप में प्रस्तुत कर दी गई। दोनों दैत्य उसी समय वहाँ से गायब हो गए लेकिन विष वहीं छोड़ गए जिसे सावधानीपूर्वक एक तिजोरी में बन्द कर दिया गया। यह तिजोरी पीढ़ी-दर-पीढ़ी राजवंश में चलती रही। सिया राजवंश के पतन के बाद वह तिजोरी शैंग वंश को मिली और उससे चाऊ वंश को।

राजा ली के जमाने में (जिसके विरुद्ध विद्रोह हुआ और जिसे भाग जाना पड़ा था) इस चेतावनी की उपेक्षा कर दी गई कि उस तिजोरी को न खोला जाए, पर उत्सुकतावश उसे खोल लिया गया। तिजोरी के खोलते ही उसमें रखा विष दरबार में बहना शुरू हो गया और रोके न रुका। तब राजा ने स्त्रियों से कहा

1 Based on *Arthur Waley*, Trans The Book of Songs, New York, Grove Press, 1960

कि "इस प्रकार चिल्लाकर इसे रोको।" स्त्रियो के चिल्लाते ही वह एक छोटे से साँप मे रूपान्तरित हो गया और राजा के अन्त पुर मे घुस गया। वहाँ सात साल की एक बालिका ने उसे पकड़ लिया। लडकी जब रजस्वला हुई तो पता चला कि वह गर्भवती है। लडकी चिंतित हुई क्योकि उसने किसी भी पुरुष के साथ सहवास नही किया था। अन्तत बालक का जन्म हुआ। उसे देखकर लडकी घबरा गयी और उसने उसे जगल मे छोड दिया।

इधर चीन मे ऐसा विश्वास था कि बच्चे जिन गीतो को गाते हैं उनमें वर्णित घटनाएँ होकर रहती हैं। कुछ दिनो बालक एक गीत गा रहे थे जिसका अर्थ यह था कि टोकरीनुमा बुने हुए तरकस और जगली शहतूत की टहनी से बने धनुष जब होंगे प्रकट, हो जायेगा अन्त तब चाऊ वश का।

राजा ली तो देश छोडकर भाग गया, और राजकाज की जिम्मेदारी उसके बेटे सुआन के कधो पर आ पडी, जिसका वर्णन पीछे किया गया है। राजा के कानों मे भी बच्चो के ये गीत पड़े और वह चौकन्ना हो गया। एक दिन सचमुच एक स्त्री और एक पुरुष ठीक इसी तरह के धनुष और तरकस बेचते हुए नगर की गलियो से निकले। राजा को जब इस बारे मे बताया गया तो उसने आदेश दिया कि उन्हे पकडकर मौत के घाट उतार दिया जाये। जब उन्हे यह बात मालूम हुई तो वे रात के अँधेरे मे भाग निकले। वे स्त्री-पुरुष जब भाग रहे थे तो उन्हे किसी बच्चे के रोने की आवाज सुनायी दी। यह वही बच्ची थी जिसे राजा के अन्त पुर की कन्या ने डर के मारे जगल मे छोड दिया था।

तीर-कमान बेचने वाले दम्पत्ति ने उस कन्या को उठा लिया और पाल-पोसकर बडा किया। जवानी चढने पर उसका रूप निखरने लगा। तभी राजा सुआन के उत्तराधिकारी यू ने पाओ पर चढाई कर दी। पाओ के राजा ने अपना राज बचाने के लिए वह बालिका (जो अब युवती हो गयी थी तथा जिसका नाम पाओ जू (Pao Szu) रखा गया था), राजा यू (Yu) को भेंट कर दी। यू उस पर मोहित हो गया और पाओ जू उसकी सर्वप्रिय उप-पत्नी बन गयी। वह उसे प्रसन्न रखने के लिए सब कुछ करने को तैयार रहता परन्तु वह हँसती न थी।

उस जमाने मे जब राजा पर विदेशी आक्रमण होते तो धुएँ के सकेत से राजा अपने सामन्तो को उनकी सेना सहित बुलाया करता था। जब राजा यू को पाओ जू को हँसाने का कोई नया उपाय न सूझा तो उसने एक दिन धुएँ का सकेत देकर अपने सामन्तो को बुला लिया। सामन्त तत्काल सेना सहित उपस्थित हो गए। उस दृश्य को देखकर पाओ जू हँस पडी। बस अब क्या था, राजा समय-समय पर यही उपाय अपनाता और पाओ जू को हँसाता। उस मूर्ख को यह पता न था कि इस तरह वह अपने सामन्तो मे उपाहासास्पद बनता जा रहा है और विश्वसनीयता खो रहा है। वही हुआ, राजा यू जब धुआँ कराता तब सामन्त उस पर विश्वास न करते तथा उन्होने दरबार मे उपस्थित होना बन्द कर दिया।[1]

[1] *Creel*: op cit, pp. 241-242.

राजा यू तो पाओ जू के पीछे दीवाना होता जा रहा था। वह उसे अपनी राजमहिषी बनाना चाहता था और उसके बेटे को युवराज, मगर उसके मन में हिचक यह थी कि उस समय उसकी राजमहिषी शेन (Shen) के सामन्त की बेटी थी और वह एक शक्तिशाली सरदार था। अन्तत राजा यू की मति भ्रष्ट हुई तो उसने अपनी राजमहिषी और उसके बेटे युवराज को शेन भेज दिया और पाओ जू को राजमहिषी तथा उसके बेटे को युवराज घोषित कर दिया।

शेन का सरदार इस अपमान पर बहुत उत्तेजित हुआ और उसने कुछ अन्य सरदारो तथा चीन के सीमावर्ती बर्बर शासकों से सांठ-गांठ करके राजा यू पर आक्रमण कर दिया। आक्रमण का समाचार पाकर राजा ने धुआँ करने का आदेश दिया। धुआँ किया गया लेकिन किसी भी सामन्त-सरदार को यह विश्वास न हुआ कि यू पर सचमुच सकट आ गया है, तथा कोई भी सामन्त अपनी सेना लेकर उसकी मदद के लिए नही पहुँचा। युद्ध में राजा यू मारा गया और पाओ जू को बन्दी बना लिया गया। राजमहल को लूट लिया गया। यह घटना ईसा पूर्व 771 की है। वास्तव मे तो यही चाऊ राजवंश की समाप्ति का वर्ष था, तथापि नाम के लिए यह वंश 256 ई पू तक चलता रहा।

राजधानी परिवर्तन

अब सामन्त-सरदारो ने मिलकर राजा यू के वास्तविक उत्तराधिकारी शेन-सरदार के दोहित्र पिंग (Ping) को गद्दी पर बैठा दिया। राजा पिंग यह समझ गया था कि उसके राज्य का पश्चिमी सीमान्त बहुत असुरक्षित है अत उसने अपनी राजधानी हाओ से हटाकर लोयांग मे स्थापित कर ली। लोयांग नगर राजा चेंग के चाचा ने उसके लिए बसाया था लेकिन चेंग अपनी राजधानी लोयांग नही ले गया था। लोयांग काफी समय से चाऊ की पूर्व-क्षेत्रीय राजधानी था। यहाँ से पूर्वी-चाऊ राजवंश का आरम्भ होता है।

राजा का राज्य बहुत घट गया था तथा वह अपने अन्य सरदारो जैसा ही शक्तिहीन रह गया था। वे सामन्त अब नाममात्र के लिए ही उसके अधीन रह गए थे, वास्तव मे वह अपने सामन्त-सरदारो पर आश्रित हो गया था। सामन्त-सरदारो मे जो शक्तिशाली थे उन्होंने राजा की शक्ति इस प्रकार क्षीण होते देखकर अपने प्रदेशों का विस्तार शुरू कर दिया और चाऊ-साम्राज्य मे चार प्रमुख प्रादेशिक राज्य उभर आये—उत्तर-पूर्व मे ची (Chi), पीली नदी के उत्तर मे चिन (Chin), समूचे यांग-त्जी क्षेत्र मे चू (Chu) तथा वाई नदी घाटी मे जो चाऊ राजवंश का प्रमुख प्रदेश था, चीन। इन चारो—ची, चिन, चू और चीन मे चू सबसे बड़ा प्रादेशिक राज्य था तथा उसे इसलिए बर्बर राज्य माना जाता था क्योंकि उसने चीन की सभ्यता को हाल मे ही वरण किया था।

चाऊ राजा पिंग इतना कमजोर था कि उसके शासनकाल मे यह सम्भावना उत्पन्न हो गयी कि इन चारो सामन्त-सरदारो मे से कोई राजगद्दी हथिया कर स्वयं को 'स्वर्ग का पुत्र' घोषित कर सकता है तथा राजा बन सकता है, लेकिन

ऐसा हुआ नही क्योकि इनके बीच इस मुद्दे पर आम सहमति न थी तथा उनमे से प्रत्येक राजा बनना चाहता था। यह भी डर था कि यदि उनमे से कोई स्वय को राजा घोषित कर देता तो अन्य सरदार उसके विरुद्ध युद्ध करते।

इस काल मे उत्तर तथा पश्चिम की ओर मध्य-एशियाई तुर्क, मगोल तथा अन्य जातियाँ चीन पर आँख गडाये बैठी थी तथा समय-समय पर आक्रमण करती रहती थी। ऐसी स्थिति मे चीन के इन सरदारो को यह आवश्यकता महसूस हुई कि वे आपस मे मिलकर एक सघ जैसा सगठन बना लें और एक सरदार को मुख्य सरदार बना लें। मुख्य सरदार के पद के लिए दो राज्यो के सरदारो मे होड थी—उत्तर के चो राज्य तथा दक्षिण के चू राज्य। अन्तत उत्तर और पश्चिम के मैदानी क्षेत्र के सरदारो ने आम सहमति से ची सरदार को अपना मुखिया मान लिया, और 679 ई. पू मे तत्कालीन चाऊ राजा हुई (Hu.) ने ची सरदार हुआन को प्रथम-सामन्त का पद प्रदान कर दिया। यह पद चीन के इतिहास मे पहली बार कायम किया गया। चू सरदार इस पद को प्राप्त करने के लिए बराबर दबाव बनाए हुए थे। प्रथम-सामन्त हुआन की मृत्यु के बाद 643 ई पू मे उसका उत्तराधिकारी इस पद पर बैठा लेकिन वह कमजोर सिद्ध हुआ तथा 634 ई पू. मे उत्तर के ही दूसरे राज्य चिन के सरदार को प्रथम-सामन्त बनाया गया जिसने चू सरदार को पीछे खदेड दिया। लेकिन चू सरदार मानने वाला न था। उसने अपना अलग सघ बनाना शुरू कर दिया और इसके लिए उसने अपने पडौस के कमजोर राज्यो के सामन्त-सरदारो पर दबाव डालना शुरू किया।

गृह-युद्ध

अन्तत 546 ई पू मे चिन और चू सरदारो के बीच एक सधि हुई जिसके द्वारा उन्होने आपस मे युद्ध न करने का निर्णय किया, लेकिन यह व्यवस्था बहुत लम्बे समय तक नही चल पायी और जैसे ही चिन राज्य की शक्ति कमजोर पडी चू सरदार ने इसे भग कर दिया तथा चाऊ साम्राज्य के सभी सामन्त-सरदारो को उसे प्रथम-सामन्त के रूप मे स्वीकार करना पडा। चू सरदार ने धीरे-धीरे अन्य राज्यो के सरदारो को समाप्त करके उनके राज्य हडपने शुरू कर दिये, जिसके फलस्वरूप सरदारो मे आपस मे युद्ध शुरू हो गए, तथा राज्यो की प्रमुख कोशिश यह रही कि वे अपना अस्तित्व बनाये रखें तथा शक्ति-सतुलन द्वारा युद्ध को टालते रहे, लेकिन यह सम्भव नही हो सका।[1]

चौथी शताब्दी ई. पू के अन्त तक अधिकाँश बडे राज्यो के सरदारो ने चाऊ राजवश को अमान्य कर दिया और स्वय राजा बन बैठे। इसके बावजूद नाममात्र के लिए चाऊ राजवश बना रहा। इस समय दो प्रमुख राज्यो के बीच शक्ति-परीक्षण हो रहा था—चिन और चू। यह वह समय था जब चीन मे लौह-युग आरम्भ हो चुका था तथा तीर-कमान का स्थान तलवार ने ले लिया था और खेत जोतने के लिए लकडी के हल मे लोहे के फाल का इस्तेमाल होने लगा था। युद्ध के वाहन के रूप में रथ को छोडकर अब घोडे को अपनाना सुगम हो गया था क्योकि लडाई धनुष से नही तलवार और भाले से होने लगी थी।

1 *G A Dudley* · A History of Eastern Civilizations, New York, 1973, p 81.

युद्ध के बावजूद यह काल चीन की सभ्यता, आबादी और प्रशासकीय ढाँचे के विकास और विस्तार का काल था। चीन के क्षेत्र मे भी इस काल मे वृद्धि हुई।

चिन साम्राज्य का उदय और पतन

छठी शताब्दी ई. पू. के मध्य मे चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक कन्फ्यूशियस के उदय के साथ ही चीन की सभ्यता का दार्शनिक युग शुरू हुआ तथा इस युग मे लगातार पाँच बड़े दार्शनिक और राजनीतिक-चिन्तक पैदा हुए—कन्फ्यूशियस, मो-त्जू, लाओ-त्जू, मेन्शियस और सुन-त्जू। इनके अतिरिक्त विद्या का गहन विकास हुआ और दो प्रमुख विचारधाराएँ उत्पन्न हुईं—यिन-यांग, जिसने चीन के लोगो मे भविष्य के प्रति आशा का संचार किया और कानून-वाद, जिसने राज्य को ठोस राजनीतिक आधार प्रदान किये तथा उसे आदर्शों के कठोर पालन से मुक्त कर दिया।

चिन और चू राज्यो के संघर्ष मे अन्ततः चिन राज्य विजयी रहा। चिन राजा चू राज्य की भूमि तथा उसकी सत्ता के प्रतीक चू राजा से छीन लिये। इस प्रक्रिया को चिन राजा के प्रधान मन्त्री ली-सू (Li-Ssu) ने 221 ई पू में पूर्ण करके चिन साम्राज्य की नीव रखी। इस वंश का प्रथम सम्राट् चिन शिह हुआग-टी (Chin Shih Huang-Ti) था। उसने सभी सामन्त-सरदारो की निजी सेनाएँ भग कर दी तथा उनके सैनिको को चीन की महान् दीवार के निर्माण मे लगा दिया जहाँ उनमे से बहुत से मर-खप गये।

सम्राट् ने चीन मे राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने के लिए हजारो लोगों को उनके घरो से उजाड़कर सीमान्त प्रदेशो मे बसाया तथा स्वयं भूमि और प्रभुत्व के विस्तार के लिए लगभग निरन्तर सैनिक अभियानो मे लगा रहा। समूचे देश मे एक भाषा, एक लिपि, समान नाप-तौल प्रणाली लागू की गयी। समरूपता का यह अभियान इस सीमा तक बढा कि 'गाडियो के धुरे' का आकार भी समूचे चीन मे समान कर दिया गया।

सम्राट् कट्टर कानून-पंथी था। उसका बेटा चाहता था कि सिद्धान्तो के मामले मे उदारता बरती जाए, लेकिन प्रधान मन्त्री ली-सू नही माना। अत राजा ने आदेश दे दिया कि जो पुस्तकें उसके विचारो से मेल नही खाती उन्हे भस्म कर दिया जाए। परिणामत उसके शासनकाल मे चीन के बहुमूल्य साहित्य की विराट होली जलायी गयी। सम्राट् के विरोधियो को मौत की सजा देने का प्रावधान कर दिया गया, उन लोगो को भी मौत की सजा सुनायी गयी जिन्होने पुस्तकें जलाने का आदेश जारी होने के तीस दिन के भीतर पुस्तकें नही जलायी तथा उन्हें छिपाकर रखा।

शिखण्डी शासन—210 ई पू. मे सम्राट् का निधन हो गया। उसके उत्तराधिकारी ने उसी समय आत्महत्या कर ली। अब सरकार पर प्रधान मन्त्री ली-सू तथा चाओ-काओ नामक शिखडी (हिजडे) का नियन्त्रण स्थापित हो गया। चाओ-काओ ने ली-सू की हत्या कर दी। वह स्वयं शासक बन बैठा। इसी समय

एक अशिक्षित किसान सरदार ने शिखंडी के शासन के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व किया और 202 ई पू मे इस सरदार लियू पाँग (Liu Pang) ने हान राजवंश की नींव डाली जिसने लगभग चौरासी वर्षों तक चीन पर शासन किया।

यहाँ से चीन मे सभ्यता का नया दौर शुरू होता है। चीन की प्राचीन सभ्यता का युग चिन राजवश के साथ ही समाप्त हो गया। सम्राट् लियू पाँग ने शासन को सभ्यता प्रदान करने की कोशिश की। उसके बाद उसकी विधवा ने चीन मे सांस्कृतिक पुनर्जागरण का प्रयास किया। मगर यह समूचा काल संघर्ष का काल था जिसमे पहले तो लियू पाँग ने अपने अधीन अनेक राज्यों का गठन करके उनमें राजा नियुक्त कर दिये और बाद मे जब वे राजा सशक्त होने लगे तो उनको पराजित करके प्रादेशिक राज्यपालो की नियुक्ति की।

हान वश का सम्राट् वू-ती (Wu-Ti)—141 से 87 ई. पू एक समझदार और शक्तिशाली शासक था। उसने चीन को तो सगठित किया ही, चीन साम्राज्य का विस्तार उत्तरी वियतनाम, उत्तरी कोरिया, कान्सू क्षेत्र तथा तरसीम घाटी तक किया। पश्चिम मे उसने पामीर को लाँघकर फरगना-प्रदेश को अपने साम्राज्य मे मिला लिया जिसके कारण व्यापार के मार्ग चारो ओर खुल गये और साम्राज्य समृद्ध होने लगा। उसने साम्राज्य के नये क्षेत्रो का औपनिवेशीकरण किया। अकेले कान्सू गलियारे मे चीन के सात लाख लोग ले जाकर बसाये। इस वंश का अन्तिम शक्तिशाली सम्राट् वू-ती ही था। उसके बाद साम्राज्य का पतन आरम्भ हो गया तथा 9 ई पू मे सम्राट् वाँग-माँग (Wang-Mang) ने नये हान राजवंश की नींव रखी।

वाँग-माँग हान राजवश मे उत्पन्न नही हुआ था, उसकी कहानी दिलचस्प है। हुआ यह कि वाँग के परिवार की एक युवती हान वश के युवराज के सम्पर्क मे आयी और युवराज ने उसे उप-पत्नी के रूप मे स्वीकार कर लिया। 48 ई. पू मे जब युवराज गद्दी पर बैठा तो उसने अपनी इस उपपत्नी को केवल राजमहिषी नहीं साम्राज्ञी बना दिया तथा उसके बेटे को युवराज। सम्राट् की मृत्यु के बाद 33 ई. पू. मे यह युवराज गद्दी पर बैठा। वास्तव मे सत्ता साम्राज्ञी के हाथो मे रही। उसने अपने सम्बन्धियो को सरकार मे ऊँचे पद दिये। इन पदो को प्राप्त करने वालो मे वाँग-माँग भी था। सम्राट् के निधन के बाद आठ वर्ष का बालक राजा बनाया गया तथा वाँग-माँग को सरक्षक नियुक्त किया गया। सन् 5 ईसवी मे उस बालक का देहान्त हो गया और वाँग-माँग कार्यकारी सम्राट् बन गया। अन्तत 9 ईसवी मे वह सम्राट् बन गया। इस प्रकार पुराने हान वश का अन्त हो गया और वाँग-माँग ने नये हान वश की नींव डाली।

राजनीतिक चिन्तन और संस्थाएँ

स्वर्ग का आदेश—राज्य और सरकार की विहितता तथा वैधानिकता के बारे मे मूलभूत दर्शन यह है कि सरकारे दैवी आदेश (स्वर्ग का आदेश Heaven's Mendate) के आधार पर सत्ता ग्रहण करती अथवा सत्ता से च्युत होती हैं।

प्रभुता का अधिष्ठान चीन मे दैवी-इच्छा अथवा दैवी-आदेश रहा है, शक्ति अथवा प्रजा की इच्छा नही।

इस सिद्धान्त के अनुसार शासको की नियुक्ति स्वर्ग मे निवास करने वाले सर्वोच्च देवता अथवा शासक द्वारा होती है और वह उस समय तक ही सत्तासीन रहता है जब तक कि वह जनता के कल्याण के लिए कार्य करता है क्योकि उसकी नियुक्ति इसी कार्य के लिए होती है। जब राजा अत्याचारी हो जाये और प्रजा का उत्पीडन करने लगे तो दूसरे राजा को यह अधिकार है कि वह उस राजा को पदच्युत् कर दे तथा दैवी-आदेश प्राप्त करके जनता के हितो की सिद्धि के लिए शासन की बागडोर अपने हाथो मे सम्भाले।

चीन के इस राजनीतिक चिन्तन मे दो तत्वो का समावेश किया गया है— जनहित की धारणा तथा शासक की नियुक्ति दैवी-आदेश द्वारा। इन दोनो मे यो विसंगति दिखायी देती है, क्योकि यदि राजा का अस्तित्व प्रजा के हित के लिए ही होता है तो प्रजा को यह अधिकार होना चाहिए कि वह राजा की नियुक्ति सामान्य इच्छा के लोकतान्त्रिक सिद्धान्त के आधार पर करे, लेकिन वास्तव मे चीनी चिन्तन मे मूल विसगति नही है क्योकि वहाँ यह माना गया कि जनहित का सबसे प्रमुख और बडा ज्ञाता तथा सरक्षक देव अथवा ईश्वर है, इसलिए राजा की नियुक्ति और उसे हटाने की शक्ति उसे सौंपी गयी।

इस चिन्तन की विशेषता यह है कि यह राजा को ईश्वर का प्रतीक अथवा प्रतिनिधि नही मानता। यह राजा को दैवी-इच्छा के अधीन एक मानवीय अधिकारी मात्र मानता है जिसे एक निश्चित कार्य सौपा गया है और उस कार्य के लिए राज्य की सत्ता एक धरोहर के रूप मे प्रदान की गयी है। दूसरे, राजा द्वारा उसे हटाया जाना तथा प्रजा द्वारा नये राजा को स्वीकार करना एव उसके साथ सहयोग स्वय इस बात का प्रमाण है कि वह राजा जनहित के विरुद्ध काम करने लगा था तथा उसे दैवी-आदेश के द्वारा ही हटाया गया है।

इस चिन्तन मे यह सूक्ष्म तत्व निहित है कि जब तक राजा प्रजारजक रहता है तब तक उसे पराजित नही किया जा सकता क्योकि तब तक प्रजा का पूरा समर्थन और सहयोग उसके साथ रहेगा। जिस राजा का समर्थन उसकी प्रजा करती है, उसे हटाना आसान नही होता।

इस सिद्धान्त मे विद्रोह अथवा क्रान्ति की वैधानिकता के बीज निहित हैं। यदि किसी राजा के विरुद्ध विद्रोह होता है तथा उसका तख्ता पलट दिया जाता है तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि दैवी-आदेश यही है कि उस राजा को हटाकर नया राजा स्थापित किया जाये। चीन मे युवराजो को प्रशिक्षण देने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। युवराज का शिक्षक दैवी-आदेश का यह सिद्धान्त उसको घोट घोटकर रटा देता था, जिसका परिणाम यह होता था कि राजा प्राय जनहित को अपना धर्म समझने लगता था तथा हमेशा डरता भी था कि यदि वह प्रजा-पीडन करेगा तो दैवी-आदेश उसके विरुद्ध चला जायेगा।

प्राकृतिक विपदाओ—अनावृष्टि, दुष्काल, महामारी आदि के लिए भी राजा ही उत्तरदायी माना जाता था तथा यह माना जाता था कि राजा दुष्ट है इसी कारण प्रकृति उस पर कुपित होकर प्रजा को कष्ट दे रही है। अनेक ऐसे प्रसग मिलते हैं जिनमे राजा परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि उसके अपराधो के लिए उसकी प्रजा को कष्ट न दिया जाये।

पूर्वजों की पूजा

चीन के राजनीतिक चिन्तन का एक अन्य प्रमुख सिद्धान्त पूर्वजो की शक्ति और पूजा का सिद्धान्त रहा। वहाँ यह माना गया कि राजा तो मनुष्य होता है तथा वह कभी सशक्त और कभी निर्बल हो सकता है लेकिन राजा के पूर्वज दैवी रूप और शक्ति ग्रहण कर लेते हैं अत किसी भी राजा या सामन्त-सरदार के राजवंश को पूरी तरह समाप्त नही किया जाना चाहिए, वरन् उसे पराजित करके अपने अधीन कर लेने के बाद उसे उसका पूरा राज्य या राज्य का कुछ हिस्सा लौटा देना चाहिए जिससे कि वह अपने पूर्वजो की पूजा करता रहे तथा बलि देकर उन्हे सन्तुष्ट करता रहे। यदि ऐसा नही होगा तो राजा के पूर्वज अपने वशजो को नष्ट करने वाले पर कुपित होकर उसे नष्ट कर सकते हैं। इसके विपरीत यदि उनके वशज के पास उसकी सत्ता और साधनो का कुछ अंश छोड़ दिया जाये जिनके द्वारा वह अपना भरण-पोषण कर सके और उन्हे भी बलि द्वारा प्रसन्न कर सके तो वे नये राजा पर प्रसन्न हो जाते हैं। इसी कारण चाऊ राजाओ ने शांग राजवश के हाथो से सत्ता छीनने के बाद भी उनके वशजो को खोज-खोजकर उन्हे नाममात्र के राज्य सौंपे तथा उनकी उपाधि भी उनके पास रहने दी।

चीन के इतिहास मे पहली बार चिन राजवश ने चाऊ और चू राजवशो का राज्य उनकी सत्ता और पद तथा प्रतीक सभी कुछ छीन लिये, इसी कारण ऐसा माना गया कि उस वश का राज बहुत जल्दी समाप्त हो गया।

सदाचार का सिद्धान्त

प्राचीन चीन की राजनीति एक विशिष्ट अनुशासन पर अवलम्बित थी जिसमे समाज के तीनो प्रमुख राजनीतिक वर्ग—राजा, सामन्त और प्रजा अपने-अपने लिए निर्धारित सदाचार के नियमो का पालन करते थे। राजा के लिए सदाचार का नियम यह था कि वह सदा अपने सामन्तो और अपनी प्रजा के हितो का ध्यान रखे, तथा यदि उसका कोई शत्रु या सामन्त उसकी प्रजा को कष्ट पहुँचाये तो वह उसे दडित करे। सामन्त के लिए सदाचार का नियम यह था कि वह राजा के प्रति अपनी निष्ठा समुचित रीति मे प्रकट करे, उसे निर्धारित समय पर भेंट देता रहे और उसके आह्वान पर सेना सहित उसकी मदद के लिए उपस्थित हो तथा अपनी प्रजा के हितो का ध्यान रखे।

इसी प्रकार प्रजा पर भी यह नियम लागू होता था कि वह राजा तथा राजा के सामन्त-सरदार के आदेशो का पालन करे, उसे समय पर कर चुकाये और उसके आदेश पर सेना मे भरती होकर सैनिक सेवा प्रदान करे।

तीनो मे से जो भी सदाचार के नियमो का उल्लघन करता उसे स्वत उसका फल भोगना पडता । जब चाऊ राजा अपनी प्रेमिका को हँसाने के लिए अपने सामन्त-सरदारो को बिना किसी आक्रमण की आशका के ही बुलाने लगा तो सरदार और प्रजा सभी समझ गये कि अब ईश्वर की ओर से उसे प्राप्त शासन करने का आदेश समाप्त हो रहा है, तथा उसका अन्त समीप है । वही हुआ । इसी प्रकार जब सामन्तो ने चाऊ राजा की अवज्ञा शुरू कर दी तो उनमें आपस मे युद्ध होने लगे और अन्तत वे चिन सम्राट् से पराभूत हो गये । यही प्रजा के साथ भी हुआ । जब उसने राजाओ और सामन्तो के झगडो का लाभ उठाकर उनकी अवज्ञा शुरू कर दी तथा सेना मे भरती होने से बचना शुरू कर दिया तो राजा कमजोर हो गया और जब बर्बर जातियो ने उन पर आक्रमण किया तो राजा उनकी रक्षा करने मे असमर्थ रहा जिसके फलस्वरूप प्रजा को लूटपाट का शिकार होना पडा ।

धर्म-निरपेक्षता

चीन की सभ्यता और उसके राजनीतिक चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह रही कि उसमे धर्मनिरपेक्षता बनी रही । चीन मे अन्य पौर्वात्य अथवा पाश्चात्य सभ्यताओ की भाँति सस्थागत धर्म का उदय बौद्ध-धर्म के प्रवेश से पहले नही हुआ । प्राचीन काल मे चीन के लोग, भले ही वे राजा हो या प्रजा, पूर्वजो की उपासना करते थे । वहाँ उस प्रकार का परम्परागत पुरोहित वर्ग न था जैसा कि मिस्र, यूनान या भारत मे था, न धर्म ने सगठित चर्च का रूप ही लिया था । पूर्वजो के मन्दिरो मे पूजा-अर्चना का काम कर्मचारी करते थे जिनका समाज मे कोई समादरणीय स्थान न था, न उन्हे गुरु या शिक्षक ही माना जाता था ।

सब एक-दूसरे के पूर्वजो का आदर करते थे और किसी के पूर्वजो की पूजा मे बाधा नही डालते थे, इसके कारण किसी प्रकार का धार्मिक या साम्प्रदायिक वैमनस्य न था । राज्य और राजा किसी धर्म से बधे न थे । धर्म के नाम पर कोई आडम्बर भी नही होता था ।

सामन्तवाद अथवा कुलीनतन्त्र

एक ओर चीन मे वशागत राजतन्त्र था, दूसरी ओर कुलीनतन्त्र । राजा का उत्तराधिकारी उसका भाई अथवा बेटा होता था, तथा प्रादेशिक शासन की जिम्मेदारी सामन्तो पर होती थी जो कुलीनवर्गीय होते थे तथा राजा के प्रति आस्था प्रकट करते थे । राज्य का प्रशासन चलाने वाले अधिकारी और कर्मचारी भी कुलीनवर्ग से ही आते थे । कुलीनवर्ग की विशेषता यह थी कि यह सुशिक्षित होता था और इसे प्रशासन का प्रशिक्षण दिया जाता था ।

सामन्तवाद के कारण प्रशासन मे काफी विकेन्द्रीकरण हो गया था । राज्य की प्रभुता का प्रयोग राजा और सामन्तो के बीच बट गया था । राजा अपनी इच्छा का पालन अपने सामन्तो और प्रशासनिक अधिकारियो द्वारा कराते थे ।

कुलीनतन्त्रात्मक व्यवस्था का सबसे प्रबल समर्थक कन्फ्यूशियस था । उसने कहा कि राज्य और समाज के स्तरीकरण की प्राचीन परिपाटी का आदर किया

जाना चाहिए तथा समाज के सचालन की जिम्मेदारी शिक्षित कुलीन वर्ग के हाथो मे रहनी चाहिए। राजा, सामन्त और सरकारी अधिकारी वशगत आधार पर नियुक्त किये जायें और उन्हे मानवीयता, सदाचार और न्याय के मूल सिद्धान्तो का ज्ञान कराया जाना चाहिए। वह राजा और प्रजा के बीच समानता का रिश्ता नही मानता वरन् कहता था कि राजा प्रजा से बडा होता है अत प्रजा को उसके आदेशो का पालन करना चाहिए। साथ ही राजा को अपनी प्रजा के हितो का ध्यान रखना चाहिए।

उपयोगितावाद

इस काल का दूसरा महान् विचारक मो-त्जू हुआ, जिसने कहा कि राजा को अपनी प्रजा के साथ उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए जैसा कि ईश्वर अपनी प्रजा के साथ करता है। ईश्वर मनुष्यो को उनके कर्मो के अनुसार दण्ड और पुरस्कार देता है, इसी प्रकार राजा को भी श्रेष्ठ कार्यो के लिए प्रजाजनो को इनाम देना चाहिए तथा गलत कामो के लिए दण्ड देना चाहिए, और इसके लिए एक वैधानिक सहिता की रचना करनी चाहिए।

मो-त्जू ने कहा कि राज्य को उपयोगितावादी दर्शन का अनुसरण करना चाहिए। उसे राज्य की शक्ति और सम्पत्ति तीन चीजो पर खर्च करनी चाहिए—खाने, कपडे और मकान पर। मो-त्जू युद्ध, विलासिता, महँगे अन्तिम सस्कार तथा माता-पिता की मृत्यु पर तीन वर्ष के शोक के कारण होने वाली उत्पादक श्रम की हानि का घोर विरोध करता है। वह इस मान्यता का समर्थन करता है कि राजा को उसकी शक्ति स्वर्ग से प्राप्त हुई है।

कम से कम शासन

तीसरी चिंतनधारा का सूत्रपात लाओ-त्जू ने किया। वह एक महान् दार्शनिक था। उसने कहा कि राज्य को प्रकृति की भाँति अदृश्य रहना चाहिए तथा लोगो के जीवन मे बडे पैमाने पर हस्तक्षेप नही करना चाहिए। राज्य मे अव्यवस्था का मूल कारण राजनीतिक स्वार्थ और षड्यन्त्र होता है, अतः यदि उन पर नियन्त्रण लगाया जा सके तो प्रजा सुखी रहेगी। वैदेशिक सम्बन्धो के बारे मे वह कहता है कि पडौसियो के साथ अविरोध के सम्बन्ध रखो। हिंसा से जो प्राप्त किया जाता है वह हिंसा से नष्ट हो जाता है। अहिंसा पानी की तरह है जो कठोर-से कठोर घृणा और सकीर्णता को काट डालती है।

प्रजाशक्ति

चीन के राजनीतिक चिंतन मे मेन्शियस का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। उसने कहा कि जिस प्रकार सृष्टि का एक सविधान है जिसके नियमो के अनुसार सृष्टि चल रही है, उसी प्रकार राज्य का भी एक सविधान है जिसमे सबसे ऊँचा स्थान प्रजा का है, इसके बाद भूमि की देवी शे और अनाज के देवता ची (She & Chi) का, तथा अन्त मे शासक अथवा राजा का। राजा की नियुक्ति तो वशगत आधार पर ही होगी लेकिन उसका कार्यकाल न्यायपूर्ण और प्रभावशाली प्रशासन

ो उसकी क्षमता पर निर्भर रहना चाहिए, तथा यदि उसमे यह क्षमता न हो तो समझना चाहिए कि स्वर्ग की ओर से उसे राज करने का जो अधिकार मिला है वह समाप्त हो गया है, क्योंकि स्वर्ग अयोग्य राजा की नियुक्ति कभी नही करेगा।

अनुशासनवाद

राज्य को मैकियावेली की भाँति यथार्थ के धरातल पर स्थापित करने वाला चीनी विचारक सुन-त्जू (Hsun-Tzu) है। वह 'ची' और 'चू' राज्यो मे उच्च सरकारी पदो पर रह चुका था अत उसका चिंतन बहुत व्यावहारिक था। उसके जमाने में चीन के सरदारो के बीच घातक युद्ध चल रहे थे तथा ये सरदार युद्ध के सचालन मे विवेक और विज्ञान का आश्रय लेने के बजाय भविष्यवक्ताओ, जादूगरो और बाजीगरो से सलाह लेते थे जो यह दावा करते थे कि पूर्वजो की आत्माएँ उन्हे सन्देश देती है।

मेन्शियस अनुशासनवादी था। वह मनुष्य की प्रकृति को गुण-दोषमय मानता था अत उसने कहा कि राज्य का कानून बनाकर प्रजाजनो के व्यवहार का नियन्त्रण करना चाहिए, साथ ही शिक्षा के द्वारा भी अनुशासन उत्पन्न करना चाहिए।

विधिवाद

राजनीतिक विचारको मे अन्तिम तथा एक महत्त्वपूर्ण स्थान विधिवादियो (Legalists) का था जिन्होने कहा कि राज्य का सचालन एक विधि-सहिता के आधार पर किया जाना चाहिए। इसके बाद राजा के लिए करने को कुछ नही बचेगा। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि राजनीतिक समस्याओ का समाधान परम्परा के आधार पर नही बरन् तात्कालिक परिस्थितियो और उनकी माँग के अनुसार करना होगा। वे कहते हैं कि बुद्धिमान शासक ठोस तथ्यो के आधार पर नीतियाँ बनाता है तथा मानवतावाद और सत्य का अनुसरण जैसी भ्रामक और व्यर्थ कल्पनाओ मे नही उलझता। वह विद्वानो की बात पर कान नही देता। लोग तो अज्ञानी होते हैं अत राजा की नीतियो का विरोध करते हैं, यह तो राजा को ही तय करना होगा कि उनके लिए क्या अच्छा रहेगा और क्या बुरा। राजा को प्रजा के असन्तोष की चिन्ता किये बिना सेना में भरती और करो की वसूली करनी चाहिए, जो लोग विरोध करे उनको कठोर दण्ड देकर दबा देना चाहिए और सबको सैनिक अनुशासन सिखाना चाहिए।

चिन शासको ने इसी सीख का अनुसरण किया और अपने साम्राज्य को केवल चौदह वर्ष मे मिटा लिया। यदि चिन शासको ने उदारता से काम लिया होता तो वे चीन के एकीकरण को ठोस आधार प्रदान करके अपने साम्राज्य को दीर्घायु बना सकते थे।

संस्थाएँ

परम्परा और सविधान

राज्य मे प्रजा के आचरण के नियमन के लिए विधि-सहिता होती है तथा शासको के आचरण के नियमन और नियन्त्रण के लिए सविधान। जाहिर है कि

1912 मे गणराज्य की स्थापना से पहले चीन मे लिखित संविधान न था, लेकिन इसका अर्थ यह नही कि राजा नितान्त स्वेच्छाचारी थे। वहाँ एक प्रकार का अलिखित सविधान था जो परम्परा पर आधारित था, और यह परम्परा एक प्रकार से पवित्र धर्म बन गयी थी। जैसा कि पीछे कहा गया है चीन मे पूर्वजो की पूजा होती थी, उनके प्रति सम्मान धार्मिक कर्त्तव्य माना जाता था। यदि कोई राजा अपने पूर्ववर्ती राजाओ के मार्ग से विचलित होता तो उसे अधर्म माना जाता था तथा प्रजा को यह अधिकार प्राप्त हो जाता था कि वह उसके विरुद्ध विद्रोह कर दे क्योकि पूर्वजो की परम्परा के उल्लघन के कारण उसको मिला दैवी-आदेश समाप्त मान लिया जाता था।

600 ई पू के आस-पास चेन राज्य के सरदार लिंग ने अपनी प्रेमिका के लिए एक आमोद गृह बनवाया जिसके निर्माण के लिए प्रजाजनो को अपने काम-धन्धे छोडकर बेगार करनी पडी जिससे फसल चौपट हो गयी। प्रजा मे उस सरदार के प्रति असन्तोष उत्पन्न हुआ, लेकिन उसकी आलोचना मे यह नही कहा गया कि उसकी सनक के कारण प्रजा को भूखो मरना पड़ा, वरन् यह कहा गया कि उसने अपने पुरखो के मार्ग का उल्लघन किया है।

इसका स्पष्ट अर्थ है कि उस जमाने मे राज्य मे एक अलिखित सविधान लागू था जिसके बारे मे प्रजा को भी ज्ञान होता था। तथापि, प्रजा राजा से यह अपेक्षा भी करती थी कि वह पूर्वजो के ऐसे कार्यों का अनुसरण न करे जो अनुचित हो। चू वश के राजा चेग ने एक बार कहा था कि किसी गलत परम्परा का अनुसरण करना तो अविवेक का द्योतक है। राजा अपने पुरखो से प्रार्थना करता था—

मै पूर्वजो से विनती करता हूँ, कि
वे बचायें मुझे भूलो से
मै चिंतन करता हूँ प्राचीनो का
और जान लेता हूँ अपने हृदय की बात। (काव्य सग्रह)

जिस समय चाऊ सम्राट् ने शाँग राजवश को पराजित कर दिया तो उसने अन्तिम चाऊ राजा की अनाचारपूर्ण नीतियो के लिए उसे उलाहना देते हुए कहा—

मुझे खेद है, हे शाँग तुम्हारे लिए।
ऐसा नही है कि यह कुसमय
आ पडा है तुम पर
तुम्हारे पूर्वज शाँग-टी के कारण,
यह आया है क्योकि तुमने
नही अपनाया मार्ग परम्परा का।
यह सही है कि नही थे तुम्हारे पास
पुराने अनुभवी लोग, लेकिन
प्राचीन सविधान और कानून तो थे तुम्हारे पास। (काव्य संग्रह)

सेना के लिए भी कानून थे। प्राचीन अभिलेख नामक ग्रन्थ मे पी के भापण नामक प्रसग मे एक सरदार अपनी सेना से कहता है—

"तुम मे से कोई पशुओ अथवा प्रजा को न लूटे न रोके, कोई भी घोडे तथा बैल चुराने के लिए बाडो और दीवारो को न फाँदे, अथवा स्त्रियो के साथ व्यभिचार करने की नीयत से। यदि तुम मे से कोई भी ऐसा करेगा तो उसे नियमित्त रीति से दण्ड दिया जायेगा।"

प्रशासन

चाऊ साम्राज्य की स्थापना सेना के बल पर हुई थी लेकिन शीघ्र ही उन्होने यह समझ लिया कि प्रजा के हित की दृष्टि मे शिक्षित और योग्य व्यक्तियो के हाथो मे प्रशासन का सौपा जाना अनिवार्य है। इसके लिए इतिहास, काव्य तथा प्राचीन साहित्य का अध्ययन आवश्यक माना गया। ये शिक्षित प्रशासक प्राय: राजाओ को सीमाओ और मर्यादा मे रखने का काम करते थे।

चाऊ राजवंश के जमाने के अनेक सरकारी अभिलेखो का आरम्भ इस प्रकार होता है—"राजा इस आदेश से सहमत है कि····" इससे यह सिद्ध होता है कि आदेश की भापा राजा की नही वरन् उसके सचिवालय के किसी ऐसे व्यक्ति की है जो प्रशासनिक कामकाज की रीति-नीति और भापा तथा उसके वैधानिक पक्ष से पूरी तरह परिचित एवं उसका जानकार है।

ये कुशल प्रशासक राजा के आदेशो एव उसकी विज्ञप्तियो मे ऐसे दार्शनिक सूत्र तथा नैतिक उपदेश ठूंस देते थे कि राजा प्रसन्न हो जाता था। मगर राजा की यह प्रसन्नता उसके उत्तराधिकारियो के लिए कठिनाई उत्पन्न कर देती थी क्योकि उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियो के लिए उसके तात्विक और नैतिक सूत्र परम्परागत सविधान का अग बन जाते थे तथा उनका उल्लघन करने का अर्थ था अपने पूर्वज द्वारा निर्धारित नीति का उल्लघन जो उसे प्रजा की दृष्टि मे गिरा सकता था।

यह था वह मार्ग जिसके द्वारा प्रशासक राजाओ को नीति और नियम की सीमाओ मे बाँधकर रखते थे। सामान्यतया प्रशासक वर्ग राजाओ और सरदारो को नीतिपूर्ण परामर्श ही देते थे जिसके अच्छे परिणाम निकलते थे। यदि चाऊ राजा ली ने अपने मन्त्री शाओ-सरदार का परामर्श मानकर आतक का मार्ग त्याग दिया होता तो उसका और उसके वश का करुणाजनक अन्त न होता। इसी तरह कुआन चुआंग नामक विद्वान ने जो ची सरदार का मन्त्री था, पश्चिम की ओर से चीन पर बर्बर जातियो के आक्रमण के समय ची सरदार को सलाह दी कि यदि आप प्रथम-सरदार (सामन्त) का स्थान प्राप्त करना चाहते हैं तो आपने अपने पडौसी सरदारो की जो भूमि छीन ली है वह उन्हे लौटा दें, सरदार ने उसकी बात मान ली तथा ऐसा ही किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने स्वेच्छा से ची के नेतृत्व मे एकत्र होकर आक्रमणकारियो का मुकाबला करके उन्हे मार भगाया और ची सरदार को अपना नेता मान लिया जिसके फलस्वरूप ची राजा ने उसे प्रथम-सामन्त का पद प्रदान किया।

यह उस जमाने की विशेषता थी कि राजाओ और सरदारो के मन्त्रियो से यह अपेक्षा नही की जाती थी कि वे हाँ मे हाँ मिलाते जाये वरन् उन मन्त्रियो का सम्मान किया जाता था जो राजा की इच्छा अथवा नीति के विपरीत सलाह देते थे। ऐसा माना जाता था कि मन्त्री का काम राज्य के हित मे सलाह देना था न कि राजा को प्रसन्न करने के लिए। अनेक बार मन्त्रियो को इस कारण अपने प्राणो से भी हाथ धोना पडा, लेकिन आगे जाकर ऐसे राजा लोकप्रियता खोकर पराजित हुए।

शक्तियो का केन्द्रीकरण

प्राचीन चीन की राजनीतिक सस्थाओ के सन्दर्भ मे यह उल्लेख आवश्यक होगा कि उस काल मे राज्य की कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका शक्तियो के बीच किसी प्रकार का विभाजन न था वरन् वे तीनो राजा के हाथो मे केन्द्रित थी, तथा राजा उनका प्रयोग अपने मन्त्रियो तथा सामन्तो की मदद से करते थे। जो राजा स्वेच्छाचारी हुए वे टिक नही पाये तथा उन्हे अन्तत सत्ता से हाथ धोना पडा।

जैसा कि पीछे उल्लेख किया जा चुका है राजा को अलिखित परम्परागत सविधान और कालान्तर मे विकसित हुई विधियो की सहिता के अधीन रहता पडता था और उसके मन्त्री तथा प्रशासक उसे इस कार्य मे मदद करते थे। इस कारण प्राचीन चीन की राज्य सस्था अथवा राजतन्त्र को निरकुश और स्वेच्छाचारी कहना उपयुक्त न होगा।

राजतन्त्र के निर्बल होने पर राजा की शक्तियाँ सामन्त सरदारो के हाथो मे चली गयी, तथा वे सशक्त होते गये। चीन के इतिहास मे पहली बार चिन राजवंश के काल मे सामन्त व्यवस्था समाप्त की गयी, लेकिन प्रथम हान राजा ने उसे पुन. चालू कर दिया। उसके उत्तराधिकारियो ने इस भूल को सुधारने की कोशिश की और एक बार फिर सामन्तवाद को समाप्त कर दिया, परन्तु सामन्तवाद चीन की सस्कृति का अभिन्न अग बन गया था अत वह समय-समय पर सिर उठाता रहा तथा एक लम्बे समय तक चीन की कमजोरी का कारण बना रहा।

18

चीन : समाज, अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकी

(China : Society, Economy & Technology)

परिवार

चीन के समाज का विकास पारिवारिक इकाई मे से हुआ। चीन में पारिवारिक इकाई का स्वरूप और उसकी धारणा विश्व के अन्य आदिकालीन समाजो से कई प्रकार से भिन्न रही। वहाँ परिवार का स्वरूप सयुक्त-परिवार का रहा जिसमे पारिवारिक सत्ता परिवार के सबसे अधिक बुजुर्ग व्यक्ति के हाथो मे रही। यह परिवार पुरुष-प्रधान समाज था, तथा इसने परिवार के स्थान पर कुल का रूप ले लिया था।

चीन मे परिवार के प्रति निष्ठा व्यक्ति के बुनियादी चरित्र और नैतिकता का आधार बन गयी थी, तथा यह निष्ठा जीवनकाल तक सीमित न थी। मृत्यु के बाद पुरखे देवताओ का रूप ले लेते थे तथा उनकी पूजा की जाती थी। इसी को पूर्वज-पूजा (Ancestor-worship) कहा जाता है। चीन का यही धर्म था।

मृत्यु के बाद पुरखे दैवी-शक्ति से मण्डित कर दिये जाते थे तथा यह मान लिया गया था कि उनमे प्रसन्न होने पर वरदान और अप्रसन्न होने पर दण्ड देने की सामर्थ्य आ जाती है। यदि उन पुरखो के वशज उनकी पूजा न करें अथवा उनके नाम पर बलि न चढायें तो वे उन्हे दण्डित कर सकते थे। इतना ही नही उनमे अपने वंशजो के शत्रुओ को दण्डित करने की शक्ति भी आरोपित कर ली गयी थी। यह विश्वास इतना गहराई के साथ बैठ गया था कि लोग अपने शत्रुओ के पुरखो से स्वय डरते थे तथा उनके वशजो द्वारा उनकी पूजा-उपासना मे विघ्न नही आने देते थे।

परिवार का पालन-पोषण व्यक्ति का धर्म माना जाता था क्योकि यदि परिवार अथवा वश की वृद्धि न होती तो वश के पुरखो को बलि से प्रसन्न करने की व्यवस्था नही हो सकती थी। परिवार के पालन मे यदि व्यक्ति को अपने प्राणो का उत्सर्ग भी करना पड़ता तो उसे सन्तोष रहता क्योकि उसे यह विश्वास

होता था कि उसके मरने के बाद उसके वंशज उसके लिए बलि देते रहेंगे और उसका सम्मान करेंगे।"[1]

परिवार के प्रति द्रोह करने वाले व्यक्ति के प्रति उसके वंशजो का यह कर्त्तव्य नही रह जाता था कि वे उसके लिए बलि दे। ऐसी स्थिति उसके लिए बहुत भयकर हो सकती थी क्योंकि बलि के अभाव मे उसे भूखे भूत के रूप मे अकेले और अपमानित होकर भटकना पडता। इतना ही नही उसके पुरखे उसके मरने के बाद भी उसे दण्डित कर सकते थे।

पारिवारिक बंधन साधारण प्रजाजनो और राजाओ, सब पर समान रूप से लागू होते थे। राजा की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार की पंक्ति मे सबसे पहले उसका बेटा नही आता था। राजा ने जो राज अपने पिता से उत्तराधिकार मे पाया था वह उसका नही उसके पिता का ही माना जाता था अत राजा की मृत्यु के बाद राजा का उत्तराधिकारी उसका भाई होता था, तथा भाई न होने पर ही बेटे को उत्तराधिकारी माना जाता था।

शांग राजवश के जमाने के बारे मे ऐसे उल्लेख मिले हैं जिनमे राजा अपने एक पिता नही वरन् अनेक पिताओ के लिए बलि देता है, इससे कुछ लोग यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि उन लोगो मे यौन नैतिकता का अभाव था तथा लोगो को अपनी माँ का नाम तो पता होता था लेकिन इस बारे मे वे दावे के साथ कुछ नही कह सकते थे कि उनका पिता कौन है, अत' बलि देते समय 'पिताओ' शब्द का उच्चारण किया जाता था। इस धारणा के प्रमाण पुरातत्व के आधार पर नही मिलते, वास्तव मे बलि केवल पिता के लिए नही पितरो के लिए दी जाती थी। भारत मे हिन्दुओ मे भी पितृ-पक्ष मे पितरो (पूर्वजो) के नाम पर हवि और बलि देने का नियम है। पितृ-पक्ष के अन्तिम दिन का नाम ही पितृ-विसर्जिनी अमावस्या है, उस दिन समस्त पितरो को बलि देकर सन्तुष्ट किया जाता है। यही प्रथा चीन मे रही होगी।

पारिवारिक निष्ठा की यह परम्परा चीन से शांग-काल मे चाऊ-काल मे भी समान रूप से मान्य रही। उस काल के साक्ष्यो से इस बात के प्रमाण मिले है कि परिवार पितृसत्तात्मक होते थे। पितृसत्तात्मक से हमारा प्रयोजन यह संकेत करना है कि परिवार मे सन्तान पर पिता की सत्ता अबाध और पूर्ण होती थी। यहाँ पिता से हमारा अभिप्राय परिवार के मुखिया से है भले ही वह पिता हो, ताऊ, चाचा, या दादा हो। पिता परिवार का शासक, शास्ता और नियन्ता होता था। पितृसत्तात्मक से हमारा दूसरा अभिप्राय यह बताना है कि प्राचीन चीन मे परिवार और समाज पुरुष-प्रधान था। इस बारे मे आगे विस्तार से चर्चा की जाएगी।

परिवार मे मुखिया के आदेश अन्तिम माने जाते थे, उनके विरुद्ध किसी अदालत मे अपील नही की जा सकती थी, राजा के सामने भी नही। राजा सियाग

1 *H. G. Creel* : The Birth of China, op. cit., pp. 126–129.

ने तो अपने एक फैसले में स्पष्ट ही कहा है कि कोई भी व्यक्ति अपने से वरिष्ठ व्यक्ति को सत्ता के विरुद्ध अपील नहीं कर सकता। यदि इसकी अनुमति दे दी जायें तो सन्तान पिता के विरुद्ध मुकदमे लडने लगेगी और बड़े छोटे के बीच भेद करना असम्भव हो जाएगा। उस जमाने में पिता अपनी सन्तान को मौत के घाट भी उतार सकता था।

सामान्यतया पिता की व्यक्तिगत सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसका बड़ा बेटा माना जाता था लेकिन पिता उसे उत्तराधिकार से वंचित भी कर सकता था, वह अपनी उप-पत्नी के बेटे को भी अपना उत्तराधिकारी बना सकता था। उप-पत्नियाँ प्रायः इसके लिए प्रयत्न और षडयन्त्र करती रहती थीं। माता की सत्ता पिता की अपेक्षा गौण होती थी, लेकिन पिता की मृत्यु के बाद माता की सत्ता अनुल्लघनीय हो जाती थी।[1]

चीन के प्रख्यात काव्य-सग्रह में माता-पिता के ऋण का वर्णन बहुत मार्मिक शब्दों में किया गया है :

"हे मेरे पिता, मेरे सृजनहार,
हे मेरी माता, मेरी पालनहार,
नेह लुटाया तुमने मुझ पर, खिलाया-पिलाया मुझे,
थामा बाँहो में ऊँचे अपनी, दिया सहारा तुमने मुझको,
ध्यान रहा तुम्हारा मुझ पर, छोड़ा न कभी अकेला,
बाहर, भीतर रहा तुम्हारी गोदी में मैं।
चुका सकूँगा ऋण कैसे तुम्हारी करुणा का मैं,....
अनत है जो महान् देवलोक से।"[2]

प्राचीन चीन के साहित्य में ऐसी अनेक कथाएँ मिलती हैं जिनमे कहा गया है कि बेटों ने अपने पिताओ के सुख के लिए स्वय को न्योछावर कर दिया। ऐसी ही एक कथा चिन के सरदार सियेन के बेटे की है। उसने अपनी दिवगत माँ की शान्ति के लिए एक अनुष्ठान का आयोजन किया तथा प्रसाद अपने पिता के लिए भेजा जो अपने महल में अपनी प्रेमिका और उप-पत्नी ली ची के साथ रहता था। ली ची ने प्रसाद मे विष मिला दिया तथा जब सरदार ने स्वय प्रसाद खाने के पहले अपने कुत्ते और सेवक को प्रसाद चखाया और वे दोनों मर गये तो ली ची ने आरोप लगाया कि प्रसाद मे विष सरदार के बेटे ने मिलाया था। बेटे को जब यह मालूम हुआ तो वह भागकर दूसरे राज्य मे चला गया। उसके हितैषियों ने उससे कहा कि तुम अपने पिता के सामने अपनी निर्दोषता क्यो नही रखते तो उसने कहा कि मेरे पिता ली ची के बिना प्रसन्न नही रह सकते, मैं बुढ़ापे मे उन्हें दुखी नहीं देखना चाहता, और उसने आत्म-हत्या कर ली।

1 *Li Chi*, The Beginnings of Chinese Civilization, Seattle, University of Washington Press, 1968.
2 *James Legge*, Tr. The Sheking; London, 1871, p. 459.

भ्रातृ-प्रेम

माता-पिता के प्रति संतान की आज्ञाकारिता और भाइयों के आपसी प्रेम को चीन में उसी प्रकार सर्वोत्कृष्ट मानवीय गुण माना गया जिस प्रकार त्रेता युग में भारत में रामगाथा में उसका महत्त्व प्रतिपादित किया गया। काव्य संग्रह में कहा गया है—

> "जगत के समस्त मनुष्यों में
> भाइयों के समान कोई नहीं होता…… …
> घर के भीतर भाई लड़ें भले ही आपस में,
> बाह्य निरादर का करेंगे सामना किन्तु वे मिलकर … .
> मिलन प्रेममय पत्नी और बच्चों से
> वंशी की मधुर तान-सा मादक होता,
> ऐक्य-सूत्र में बंधते किन्तु सहोदर जब
> होते शान्ति-सुख चिरतन तब।"[1]

इस गीत में प्रच्छन्न रूप से कहा गया है कि पत्नी और सन्तान के मोह में फंसकर भाइयों की एकता को नष्ट नहीं करना चाहिए, वह चिरशान्ति और चिरसुख का स्रोत होती है।

प्रतिशोध

परिवार-निष्ठा का एक अन्य पक्ष भी था—प्रतिशोध। कहा गया कि पिता, भाई अथवा परिवार के अन्य सदस्यों की हत्या का बदला लेना व्यक्ति का धर्म है, जान के बदले में जान ली जानी चाहिए। रक्त का प्रतिशोध रक्त से लेना न्याय का एक मूलभूत सूत्र बन गया। हत्यारे के परिवार का प्रत्येक सदस्य शत्रु घोषित कर दिया गया तथा कहा गया कि जो अपने शत्रु को देख ले और उसकी हत्या न करे, वह मनुष्य नहीं है। दार्शनिकों ने भी रक्त के प्रतिशोध का समर्थन किया।

राजा बड़ा या पिता ?

चीन सही मायने में परिवारों का एक समुच्चय था। वहाँ राज्य परिवारों और कुलों का समूह था। एक समय वहाँ यह प्रश्न उठा कि यदि राजा ने किसी के परिजन की हत्या की हो तो क्या राजा के परिवार से उसका बदला लिया जाये। इसका एक उदाहरण उस समय सामने आया जब चू राज्य पर बाह्य आक्रमण हुआ और चू का युवराज भागकर एक ऐसे राज्य में शरण लेने पहुँचा जिसके सरदार को युवराज के पिता ने मरवा दिया था लेकिन चू राज्य का अधीन-राज्य था। युवराज को आया देखकर राज्य के शासकवंश में छोटे भाई ने बड़े भाई से कहा कि हमें अपने पिता की मृत्यु का बदला युवराज की हत्या करके लेना चाहिए, यह हमारा धर्म है। इस पर बड़े भाई ने उससे कहा कि पिता की मृत्यु का बदला लेना धर्म तो अवश्य है किन्तु उसकी हत्या राजा ने की थी और राजा हमारे पिता से पद में

1 Ibid, pp. 250-251.

बडा था अत. यदि हम उसकी हत्या का बदला राजा के परिवार से लेते है तब बडे-छोटे की मर्यादा भग हो जायेगी, अत हमारा यह धर्म है कि हम शरण मे आये युवराज की रक्षा करें। किन्तु उसने देखा कि छोटा भाई युवराज की हत्या करने पर उतारू है तब उसने युवराज को चुपचाप वहाँ से ले जाकर किसी अन्य राज्य मे छिपा दिया।

युद्ध समाप्त होने पर युवराज अपनी राजधानी लौटा और राजा बना तब उसने उन दोनो भाइयो को बुलाया और दोनो को बराबर सम्मान दिया। इस पर उससे पूछा गया कि छोटे भाई का सम्मान क्यो किया गया तब राजा ने उत्तर दिया कि छोटे भाई का सम्मान इसलिए किया गया कि उसने अपने पिता के प्रति अपने कर्त्तव्य को पहचाना, तथा बडे भाई का इसलिए क्योकि उसने अपने शासक के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझा और बड़े-छोटे की मर्यादा का पालन किया।

स्त्रियो की दशा

पीछे कहा गया है कि चीन एक पितृसत्तात्मक राज्य था अर्थात् पुरुष-प्रधान समाज था। उसमें स्त्रियो का स्थान पुरुषो की अपेक्षा गौण होता था। शाँगकाल मे स्त्रियो को न किसी प्रकार की स्वतन्त्रता थी न कोई अधिकार ही था। राजकुल मे शायद उनकी स्थिति प्रजाजन की अपेक्षा अच्छी थी। एकाध स्थान पर ऐसे उल्लेख मिलते है जिनसे निष्कर्ष निकाला जाता है कि मरने के पश्चात् रानियो को अकेले अथवा उनके पतियो के साथ पुरखो के रूप मे मान्यता मिलती थी तथा बलि दी जाती थी।

शाँगकाल मे बहुपत्नी-प्रथा का भी उल्लेख मिलता है। ओरेकल हड्डियो पर जिन 29 राजाओ का उल्लेख मिलता है उनमें से 26 की एक-एक पत्नी होने का वर्णन है, दो राजाओ की दो-दो पत्नियो का और एक राजा की तीन पत्नियो का।

शाँग राजा स्त्रियो के प्रति आचरण और व्यवहार के मामले मे सभ्य माने जाते हैं, किन्तु चाऊ राजा मूलत बर्बर थे। उन्होने शाँग सभ्यता का अधिकाधिक वरण करने की चेष्टा की तथापि स्त्रियो के प्रति वे अपना आदिम दृष्टिकोण नही बदल पाये।

चाऊ-काल मे भी समाज के सामान्य वर्ग मे स्त्रियो की दशा लगभग शाँग-काल जैसी ही रही। उनमे पुरुष और स्त्रियाँ समान रूप से श्रम करते, पुरुष मुख्यत. खेतो और उद्योगो मे तथा स्त्रियाँ घरो मे। वे अपने पुरुषो के लिए खेतो पर भोजन ले जाती तथा काम-काज मे उनकी मदद करती।

किन्तु समाज के उस वर्ग की स्त्रियो की दशा अच्छी न थी जिसका सम्बन्ध कुलीन वर्ग तथा राजपरिवार से होता था। उन्हें चियेह कहा जाता था जिसका अर्थ दासी और रखैल दोनो होता है। उनके मालिको को इस बात का अधिकार होता था कि वे उन्हे चाहे जिस प्रकार इस्तेमाल करें। यही से रखैल की परम्परा शुरू हुई। इस प्रकार की स्त्रियो को महज आमोद-प्रमोद का साधन माना जाता था।

काव्य-संग्रह में कुलीनवर्ग मे लडकियो के प्रति किए जाने वाले सौतेले व्यवहार का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

"पुत्र,
सोयेंगे गद्दो पर,
पहनेंगे वस्त्र राजसी,
खेलेंगे राजचिह्नो से,
चीखेंगे ऊँचे स्वर मे,
चमकेंगे लाल अधोवस्त्रो मे,
भावी-सम्राट्, देश का राजकुमार।"
"पुत्रियाँ,
सोयेंगी भूमि पर,
पहनेंगी मात्र लपेटन,
खेलेंगी खपरैलो के टुकड़ों से,
कर पायेंगी न अच्छा, न बुरा।
सोचना होगा उनको केवल मदिरा और भोजन के बारे मे,
और यह कि न हो पिता और माता को दुःख उनके कारण।"[1]

स्त्रियो का कार्यक्षेत्र घर की चहारदीवारी तक सीमित था और उनके जीवन की नियति विवाह बन गया था। वे सार्वजनिक जीवन मे भाग नही लेती थी। नम्र और दब्बू होना उनका गुण माना जाता था। स्त्रियो के लिए विधान था कि उनकी गणना परिवार के पुरखो में तभी हो सकती है जब उनकी मृत्यु उस कमरे में ही हो जो उनके लिए निश्चित किया गया है।

प्रायः स्त्रियाँ अशिक्षित होती थी, लेकिन कही-कही ऐसे प्रमाण मिलते है कि वे उच्च-शिक्षा-सम्पन्न होती थी। लू परिवार की एक वृद्धा के बारे में उल्लेख मिलता है कि वह राजनीति और शासन-व्यवस्था के बारे में विद्वत्तापूर्ण चर्चा किया करती थी।

वास्तव में चीन में वृद्धो का बहुत सम्मान होता था, उसमें स्त्रियाँ भी अपवाद न थी। वृद्धावस्था में वे राजनीति और शासन-प्रशासन के बारे में भी सलाह देती थी तथा उनकी बात ध्यान और आदर के साथ सुनी जाती थी। परन्तु स्त्रियो के बारे मे प्राय यह धारणा प्रचलित थी कि वे षड्यन्त्र रचती रहती है और रहस्यो को गोपनीय नही रख सकती। किसी सरदार ने अपनी पत्नी से राज्य का कोई रहस्य कह दिया जो शीघ्र ही सब पर प्रकट हो गया और सरदार को मुँह की खानी पड़ी। उसके बारे में यही कहा जाता कि वह इतना मूर्ख था कि यह भी नही जानता था कि स्त्रियाँ रहस्यो को रहस्य बनाए नही रख सकती। उसने अपने मन की बात अपनी पत्नी को बतायी, उसे तो अपमानित होना ही था।

1 Ibid, pp. 306-307.

स्त्रियो की सलाह पर काम करना पुरुषोचित नही माना जाता था, तथापि ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ स्त्रियो की सलाह न मानने के कारण हानि भोगनी पड़ी। काव्य-सग्रह में कहा गया है कि—

बुद्धिमान पुरुष खडी करता है दीवार (रहस्यो को छिपाने के लिए),
किन्तु बुद्धिमान स्त्री तोड देती है उस दीवार को,
लम्बी जिह्वा वाली स्त्री
तैयार कर देती है मार्ग अव्यवस्था का।
अव्यवस्था स्वर्ग से नही उतरती ··
उसे पैदा करती हैं स्त्रियाँ ··।[1]

विवाह

चीन मे विवाह को अनिवार्यता माना जाता है क्योकि परिवार के निर्माण और वश की वृद्धि के लिए विवाह बुनियादी आवश्यकता है। वहाँ पति के घर की स्त्री का स्वाभाविक स्थान माना जाता है। जब कोई स्त्री विवाह के बाद अपने पति के घर जाती तो उसके बारे में कहा जाता कि वह अपने घर लौट रही है, अर्थात् वह पिता के घर गयी हुई थी, अब पति के घर लौट रही है जो उसका अपना घर है।

चीन में सगोत्र विवाह दूर के सम्बन्धियो में भी वर्जित था। यह कहा जाता था कि सगोत्र विवाह से नस्ल खराब होती है और वैज्ञानिक दृष्टि से यह बात बहुत सही है। विवाह के लिए किसी आयु का प्रतिबन्ध न था लेकिन पाँचवी शती ईसा पूर्व में एक ऐसा समय भी आया जब जनसख्या मे वृद्धि करने की आवश्यकता महसूस हुई, और राजा की ओर से आदेश निकाला गया कि सत्रह वर्ष की प्रत्येक कन्या को तथा 20 वर्ष के प्रत्येक युवक के लिए विवाह करके सन्तान उत्पन्न करना अनिवार्य है। सामान्यतया पुरुष की आयु स्त्री की अपेक्षा तीन-चार साल अधिक होती थी, लेकिन अधिक आयु के पुरुष को अधिक आयु की स्त्री के सग विवाह करने पर कोई सामाजिक पाबन्दी न थी।

निश्चित आयु में विवाह न करने पर माता-पिता को दण्ड भुगतना पड़ता था। विवाह प्राय भारत की तरह बिचौलियो द्वारा तय कराये जाते थे। काव्य-सग्रह में विवाह की विधि का विस्तार से उल्लेख मिलता है। उसमें कहा गया है कि वर के पिता ने कन्या के पिता के पास एक जगली हंस भेजा जिसका अर्थ था विवाह का प्रस्ताव। यदि कन्या का पिता यह भेंट स्वीकार कर लेता तो विवाह की तारीख निकलवायी जाती और वर निश्चित तारीख पर रथ में सवार होकर कन्या पक्ष के घर के लिए चल पडता। कन्या अपने घर के बाहर ही अपने रथ पर सवार होकर वर की अगवानी करती। रथ से उतर कर कन्या वर का स्वागत करती और उसके बाद अपनी सरक्षिका के साथ अपने रथ में जा बैठती। अब वर कन्या

1 Ibid, p 561.

के रथ पर आ बैठता और रथ को इतना चलाता कि उसके पहिये तीन चक्कर काट लेते। इसके बाद वह अपने रथ मे बैठकर अपने घर की ओर लौटता तथा वधु अपने रथ पर उसके पीछे-पीछे आती। वहाँ दावत के बाद वर और वधु अपने कक्ष मे चले जाते।

अगले दिन वधु अपने सास-ससुर से मिलती और उनके लिए एक भोज का आयोजन करती। वे भी उसे भोज देते। इसके बाद वह अपने ससुर के घर मे आज्ञाकारी सन्तान की तरह रहने लगती। तीन मास बाद उसे कुल के पूर्वजो के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता और वह अपने पति द्वारा पुरखो के नाम पर दी जाने वाली बलि-पूजा मे भाग लेती। इन तीन महीनो मे उसका आचरण अनुकूल न होने पर उसे उसके पिता के घर लौटाया जा सकता था, लेकिन पुरखों के सामने प्रस्तुत किए जाने के बाद विवाह स्थायी माना जाता था तथा वधु आमरण उसी घर मे रहेगी, ऐसा माना जाता।

पत्नी की मृत्यु के बाद पुरुष तो विवाह करते ही थे विधवा-विवाह पर भी प्रतिबन्ध न था, यों आम तौर पर विधवाएँ विवाह नही करती थी। पति अपनी पत्नी को तलाक भी दे सकता था। तलाक के बाद महिला पिता के घर लौट जाती थी। तलाक के सामान्य कारण बाँझ होना, व्यभिचार, पति की अवज्ञा, सास-ससुर की अवज्ञा, असाध्य रोग, बडबोलापन, चोरी, ईर्ष्या आदि माने जाते थे। इस मामले मे चीन की परम्परा बहुत सभ्य थी। उन स्त्रियो को तलाक नही दिया जा सकता था जिनके पति विवाह के समय गरीब हो और विवाह के बाद मालदार हो गए हो, अथवा जिन्हे लौटने के लिए पिता का घर न हो, अथवा जिन्होने अपने पति के माता अथवा पिता की मृत्यु पर तीन वर्ष का शोक मनाया हो।[1]

चाऊ काल मे कुलीनवर्ग तथा राजवंश मे बहुविवाह खुले आम प्रचलित हो गया था। इन वर्गो मे विवाह के समय ही वधु के साथ उसकी छोटी बहिन अथवा रिश्ते की बहिनें या अन्य लडकियाँ आती थी जो राजा अथवा सामन्त की उप-पत्नियाँ बन जाती थी। साधारण राज-कर्मचारी दो पत्नियाँ रख सकता था, बडे अधिकारी तीन और राजा नौ।

बहुविवाह की इस पद्धति के कारण राजमहलो मे निरन्तर षडयन्त्र होते रहते थे तथा चीन को घातक गृह-युद्धो का सामना करना पडता था। जिन स्त्रियो के पिता अथवा भाइयो के परिवार सम्पन्न और शक्तिशाली होते थे उनकी स्थिति हमेशा अच्छी बनी रहती थी।

सामाजिक वर्ग

प्राचीन चीन मे उत्पादन का प्रमुख साधन भूमि थी अत सहज ही सामाजिक प्रतिष्ठा और समाज मे व्यक्ति का स्थान इस बात पर निर्भर रहता था

1 Based upon . A Short History of Chinese People, By L C Goordich, Harper & Row, New York 1963

कि उसके पास कितनी भूमि है। शाँगवंश का राज शुरू होने के समय भूमि पर जोतने वाले का अधिकार था, धीरे-धीरे समाज मे कुलीनवर्ग का निर्माण हुआ जो आरम्भ में सरकारी अधिकारियो तक सीमित था। बाद मे इस वर्ग ने भूमि पर अधिकार करना तथा राजाओं से जागीरें प्राप्त करना शुरू कर दिया, जिस पर वे दूसरो से खेती कराते तथा उपज का एक बडा भाग अपने लिए ले लेते थे।

शाँगवंश के अन्तिम चरण मे सामन्त वर्ग उभरने लगा था। चाऊ शासनकाल मे तो यह सामन्त वर्ग बाकायदा स्थापित हो गया। चाऊ विजेताओ ने शाँग राज्य की भूमि और प्रदेशो को अपने समर्थको तथा सरदारो के बीच बाँटना शुरू कर दिया। अब भूमि पर ने जोतने वाले का अधिकार पूरी तरह समाप्त हो गया। सामन्तो ने अपनी सैनिक शक्ति के बल पर आधिकारिक भूमि पर अधिकार कर लिया और जो लोग कल तक भूमिपति थे उन्हे भूमिहीन खेतिहर श्रमिको में बदल दिया। इन श्रमिको की स्थिति बन्धको अथवा दासो जैसी हो गयी और ये समाज का निम्न वर्ग बन गए।

प्रत्येक जमीदार अथवा सामन्त को भूमि पर अधिकार बनाए रखने के लिए सेना रखनी पड़ती थी जिसे वह आवश्यकता पडने पर अपने से बडे सरदार अथवा राजा की माँग आने पर उसकी मदद के लिए भेजता था। सैनिक इस निम्नतम वर्ग मे से ही भर्ती किए जाते थे। सामन्त के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने श्रमिको तथा सैनिको को प्रसन्न रखे तथा उनके साथ मानवीय व्यवहार करे जिससे कि वे उसकी खेती चौपट न कर दें अथवा सेना उसके विरुद्ध विद्रोह न कर दे।

इस प्रकार समाज मे मोटे तौर पर तीन वर्ग थे—राजवंश, कुलीनवर्ग और शेष प्रजा जिसमें दास भी शामिल थे। कुलीनवर्ग भी राजवंश की भाँति पितृगत अथवा वंशगत होता था तथापि कभी-कभी यदि राजा किसी निम्नवर्गीय व्यक्ति को सरकारी अथवा सैनिक सेवा या व्यक्तिगत कारणो से प्रसन्न होकर जागीर दे देता तो वह कुलीनवर्ग में प्रवेश पा सकता था। सरकारी अधिकारियो और सैनिक अधिकारियो का वर्ग भी कुलीनवर्ग का एक अभिन्न अंग था तथा सरकारी और सैनिक पद वंशगत आधार पर ही प्रदान किए जाते थे, कभी-कभी नीचे की श्रेणियो से उभरकर आया कोई निम्नवर्गीय कर्मचारी भी ऊँचे पद प्राप्त कर लेता था तथा इस प्रकार उसका परिवार कुलीनवर्ग में शामिल हो जाता था।[1]

इस वर्ग के बेटो को कुलीनवर्ग में प्रवेश की विधिवत् दीक्षा टोपी पहनाकर दी जाती थी। दीक्षा समारोह काफी विस्तृत होते थे। उनमें बलि देने का भी रिवाज था। अधिकारियो की उप-पत्नियो के बेटो को भी दीक्षा दी जाती थी किन्तु अलग से तथा उनके लिए आयोजित दीक्षा समारोह निम्न-स्तरीय होता था।

1 Based upon : Ancient China in Transition : An Analysis of Social Mobility, Stanford, 1965.

कुलीनवर्ग और निम्न वर्ग के जीवन-स्तर मे जमीन-आसमान का अन्तर था। निम्न वर्ग के लोग मोटा खाते, मोटा पहनते और गुफाओ जैसे मिट्टी के घरो मे रहते थे। उनके जीवन मे मनोरंजन और उत्सव-समारोह का अवसर तभी आता था जब उन्हे सामन्तो के लिए आयोजित उत्सवो, समारोहो और मनोरजन के आयोजनो मे मजदूरो की तरह काम करने के लिए बुलाया जाता।

दूसरी ओर कुलीन वर्ग सम्पन्नता का जीवन जीता था, उसके उत्सव, समारोह और मनोरजन के आयोजन खर्चीले और विस्तृत होते थे जिनकी तडक-भडक और शान-शौकत का प्रदर्शन किया जाता था।

कुलीन वर्ग के लोग हाथ से काम करना पसन्द नही करते थे लेकिन वे अपने से ऊँचे स्तर के सामन्तो और सरदारो अथवा राजाओ की सेवा करने से नही हिचकिचा सकते थे। वे उनके सामने भोजन परोसते तथा अन्य सेवाएँ करते। श्रम को समाज मे प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिए नया वर्ष शुरू होते समय राजा एक विराट समारोह मे स्वय हल चलाकर भूमि जोतने की रस्म अदा करते थे। उच्च सरकारी अधिकारियो की कब्रो मे उनके साथ दफनाये गये फावडे और धनुष-तूणीर मिले हैं। इनका औपचारिक महत्त्व ही माना जा सकता है अन्यथा सामान्यतया यह अपेक्षा नही की जाती कि वे स्वय मिट्टी खोदते या तीर चलाते रहे होगें।

समाज मे सबसे नीचे दास होते थे। आम तौर पर युद्ध-बन्दी ही दास बनाये जाते थे। कभी-कभी अपने से बडो की अवज्ञा करने वालो को भी दास बना दिया जाता था। एक कांस्य-पात्र पर एक घोड़े और सिल्क के एक थान के बदले मे पाँच मनुष्यो की बिक्री का उल्लेख मिलता है। यह ऐसा अकेला ही प्रसग है, परन्तु राजा द्वारा दूसरे राजाओ को अथवा सामन्तो को दासो की भेंट अथवा सौगात का अनेक स्थलो पर उल्लेख मिलता है।

वास्तव मे समाज के भीतर सीढीनुमा अथवा उत्तरोत्तर स्तर थे, जिनमे सबसे ऊपर राजा था। प्रत्येक स्तर के व्यक्ति को अपने नीचे के स्तर के व्यक्ति को आदेश देने का अधिकार था, साथ ही उसे अपने से ऊपर के स्तर के व्यक्ति का आदेश भी मानना पडता था। किसी को भी इस बात की अनुमति न थी कि वह अपने स्तर के लिए निर्धारित मर्यादाओ का उल्लघन कर सके। प्रत्येक स्तर के व्यक्तियो के लिए मकान की किस्म, कपडो और पोशाको तथा रहन-सहन का स्तर निर्धारित था, जैसे धनी से धनी व्यापारी भी सिल्क नही पहन सकता था, लेकिन कुलीन वर्ग पर यह प्रतिबन्ध न था। खेतिहर मजदूर और दास केवल सूती कपडा पहन सकते थे।

अर्थव्यवस्था

शाँगकाल मे चीन की अर्थव्यवस्था खेती और पशुपालन पर आश्रित थी। जंगली पशुओ का शिकार भी किया जाता था। शाँग राजधानी अन्याग मे बहुत तेज सर्दी पडती थी। अत समाज मे निम्न वर्ग के लोग विशेषत: पशुओ की खाल के लिए शिकार करते थे, जिमसे उन्हे भोजन के लिए माँस भी मिल जाता था। राजा

तथा उसके सामन्त-सरदार मनोरंजन तथा साहस और शौर्य के प्रदर्शन के लिए शिकार करते थे। छोटे सामंत अपने सरदार को और सरदार राजा को शिकार भेंट करते थे। राजा जब शिकार करके लाता तो वह अपने अतिथियो को भेंट कर देता था।

सैनिको को तीर चलाने का प्रशिक्षण देने तथा उनकी प्रगति का आकलन करने के लिए भी शिकार का आयोजन किया जाता था। काव्य-संग्रह मे इसका उल्लेख मिलता है। उसमे कहा गया है कि—

हमारे रथ सुदृढ थे,
हमारे अश्व भी समान रूप से शक्तिशाली थे;
और प्रत्येक रथ मे हमने जोते चार छरहरे और विशाल घोडे,
तथा चल पडे हम पूर्व की ओर।
....प्रत्येक रथ के चार पीले घोडो मे से
दोनो छोरो के दो घोडे चल रहे थे सीधे।
हाँकने मे उनको नही थी कोई चूक।
और तीर निशाने पर पहुँचे अचूक।[1]

एक अन्य कविता मे जंगली सूअर और गेंडे के शिकार का जिक्र है तथा कहा गया है कि शिकार आगंतुको और अतिथियो को मीठी मदिरा के प्याले के साथ पेश किया जायेगा। ऐसे अवसरों पर ढेर सारे पशुओ का शिकार किया जाता था। एक प्रसंग मे तो कहा गया है कि एक साथ 348 पशु एक ही बार मे मारे गये थे। मारे जाने वाले पशु-पक्षियो मे प्रमुख हिरन, सूअर, खरगोश, शेर तथा मोर आदि होते थे। घोडो को जीवित पकडकर पालतू बनाया जाता था। हाथी का उल्लेख विरले ही मिलता है। खुदाई मे हाथी की हड्डियाँ मिली है तथा कांस्य पात्रो पर हाथी की आकृति मिलती है।

पालतू पशुओ मे घोडा, कुत्ता, सूअर, भेड, बकरी, हिरन, गाय, बैल, भैंस और बन्दर प्रमुख थे। सूअर की हड्डियो और दाँतो से तीर के फाल और गले मे पहनने की मालाएँ बनायी जाती थी। सूअर का उपयोग बलि चढाने के लिए भी किया जाता था। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह है कि चीन मे दूध के पशु पाले जाते थे लेकिन न तो वे लोग उनका दूध निकालना जानते थे न दूध का उपयोग ही करते थे, पालतू पशुओ का उपयोग बोझा ढोने, हल जोतने, ऊन, खाल और मांस के लिए किया जाता था। अधिकाश पशुओ की बलि चढ़ायी जाती थी।

अनाजो मे उस काल मे बाजरा उगाया जाता था, दूसरे मोटे अनाज—कोदो, मडुआ और कूटू भी उगाये जाते थे और वे ही लोगो का मुख्य भोजन थे। गेहूँ और चावल का तब तक प्रवेश नही हुआ था।

किसानो का जीवन भारत जैसा ही था। पुरुष सवेरे ही खेत पर चले जाते थे, स्त्रियाँ घर का काम करती, भोजन बनाती और भोजन लेकर खेतो पर जाती थी। स्त्रियाँ विशेषत सिल्क के कीडे पालने और सिल्क का धागा कातने तथा कपडा बुनने का काम करती थी।

1 *James Legge* : The She King, London, 1895, p. 417.

शांग काल में खेती, पशुपालन, शिकार और सिल्क के कीड़े पालने के अतिरिक्त युद्ध भी आय का साधन माना जाता था क्योंकि युद्ध मे विजयी सेना को पराजित राजा के नगर और महल को लूटने का अवसर मिलता था। व्यापार जीवन की बुनियादी आवश्यकताओ तक ही सीमित था। विदेशो के साथ व्यापार प्राय: राजाओ तथा सामन्तों और कुलीन वर्गों के लोगो के उपयोग की सामग्री के लिए ही किया जाता था। वे घोडो तथा अन्य पशुओं, खाल और अनाज का निर्यात करते थे।

शांग काल तक चीन मे मुद्रा का प्रचलन न था, लेकिन लेन-देन के लिए माध्यम के तौर पर कौडी का प्रयोग किया जाता था। शांग काल मे हस्तकलाएँ (दस्तकारी) का समुचित विकास नही हुआ था तथापि उस काल के लोगो को कातने-बुनने की कला का ज्ञान था। वे पत्थर और सीप के बटन प्रयोग मे लेते थे। लकडी पर नक्काशी की कला का उन्हें ज्ञान था और उत्कृष्ट कोटि की नक्काशी करते थे। टोकरियाँ और चटाइयाँ बुनी जाती थी। काँसे के बर्तन बनाये जाते थे और उन पर नक्काशी की जाती थी।

शांग काल मे चीन के निवासियो को सिलाई की कला का अच्छा अभ्यास था और वे हड्डी की सुई इस्तेमाल करते थे। सुइयाँ चीन मे ही बनती थी, बाद मे काँसे की सुई भी बनने लगी। बर्तन मिट्टी, पत्थर और काँसे से बनाये जाते थे। खुखरी और तीर के फाल भी बहुत बार पत्थर के बनाये जाते थे। वे आभूषण भी बनाते थे और उसके लिए कीमती पत्थर इस्तेमाल करते थे जिसे वे यू (Yu) कहते थे। वह प्राय: हरे रग का होता था। पत्थर के खिलौने भी बनाये जाते थे, वे प्राय पशुओ और पक्षियो की आकृतियो के होते थे।

आभूषण, बर्तन और तीर के फाल बनाने के लिए हड्डी का भी इस्तेमाल होता था।

चाऊ काल में अर्थव्यवस्था

चाऊकाल मे भूमि का स्वामित्व राजा मे पूरी तरह निहित हो गया था और सामन्ती व्यवस्था चालू हो गयी थी। भूमि का स्वामित्व धीरे-धीरे वंशगत बन गया था तथा छोटा भूमिपति सामन्त बडे सामन्त को मालगुजारी चुकाता था। काव्य सग्रह से खेती की विधा का जो वर्णन मिलता है उससे ज्ञात होता है कि भूमि का मालिक मजदूरो से खेती कराता था। खेत जोतने के बाद बीज बोया जाता। पौधे बडे होने पर सारे मजदूर मिलकर खर-पतवार निकालते और फसल पकने पर कटाई तथा गहाई होती। अनाज से सबसे पहले मीठी मदिरा बनायी जाती तथा पुरखो को चढायी जाती।

इस काल मे भी पशुपालन की व्यवस्था शांग काल की भाँति ही थी तथा पशुओ का उपयोग बोझा ढोने, खेत जोतने, रथ चलाने, खाल, ऊन, माँस और बलि के लिए किया जाता था। खेतिहर मजदूर भूमिपति की दया पर जीता था, वह उसे उपज मे से जितना भाग देना चाहता था, उसके विरुद्ध कही कोई अपील

न थी। मजदूरी के कोई नियम न थे, न्यूनतम मजदूरी की कोई निर्धारित दर न थी। तथापि, ऐसे भी अवसर आते थे जब सामन्तो के विरुद्ध प्रजा विद्रोह करती और 'काव्य-सग्रह' के अनुसार पूछती थी—

न तुम बोते हो, न काटते हो—
तब पाते हो कैसे तुम उपज तीन सौ खेतो की ?
नही करते पीछा तुम पशुओ का—
तब फिर तुम्हारे आँगन मे लटकी है कैसे उनकी खाले ?
ओह, कोई भी सच्चा कुलीन
नही खा सकता रोटियाँ निकम्मेपन की।[1]

मगर विद्रोह विरले ही होता था तथा मजदूर दासो जैसा जीवन बिताते थे। समूची आर्थिक सत्ता उच्च सरकारी अधिकारियो के हाथो मे केन्द्रित हो गयी थी। वे विभिन्न वर्गों के लिए नियम बनाते और उन्हे लागू करते थे।

चाऊ काल मे व्यापार पनपने लगा था। दूसरे राज्यो के साथ वस्तुओ का आयात-निर्यात किया जाता था। व्यापारियो पर प्रतिबन्ध न थे, उन्हे राज्य को कर अवश्य चुकाना होता था। राज्य की ओर से सडकें बनवायी गयी थी और उनकी देखभाल की जाती थी। यात्रियो के लिए सरायो का भी निर्माण कराया गया था।

चाऊकाल के आरम्भ मे शांग काल से चली आ रही कौडी ही मुद्रा के रूप मे मान्य रही लेकिन धीरे-धीरे उसका स्थान तांबे ने ले लिया, और बाद मे तांबा सिक्को मे ढाला जाने लगा, मगर यह पाँचवी शताब्दी ई पू के अन्तिम चरण मे ही सम्भव हुआ।

इस काल मे उद्योगो की स्थिति व्यापार के कारण सुधरी तथा आभूषणो के लिए हाथी दाँत का प्रयोग किया जाने लगा। अनाजो मे गेहूँ और चावल की खेती शुरू हुई।

भूमि का सम-विभाजन

चीन मे सामन्तवाद 221 ई पू तक अबाध चलता रहा। इस समय चीन के नये सम्राट चिन-शिह-हुआंग-टी ने साम्राज्य के लगभग सवा लाख सामन्तो से भूमि का स्वामित्व छीन लिया तथा भूमि को किसानो के बीच समान रूप से बाँट दिया। सामन्त-परिवारो को ही नही व्यापारियो और धनिक वर्ग को भी नियन्त्रित किया गया, उनकी सम्पत्ति छीन ली गयी और उन पर भारी कर लगाये गये।

भूमि पर जोतने वाले के स्वामित्व की पुष्टि 202 ई पू मे चीन की सत्ता सम्भालने वाले हान वश के सस्थापक लियू पिंग ने भी की। वह तो स्वय किसान वश का था, उसे किसानो की समस्याओ का पूरा ज्ञान था, उसकी जडे किसान वर्ग मे थी। उसने देश की अर्थव्यवस्था को ठोस खेतिहर आधार प्रदान किया।

1 *James Legge*. The She King, London, 1865, p 170.

अर्थव्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण

141 ई पू मे सम्राट वू-टी गद्दी पर बैठा। उसने चीन की अर्थव्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण पूरी तरह लागू किया। उसने सबसे पहले सडको और नहरो के निर्माण का काम हाथ मे लिया, उसके बाद उसने करो मे वृद्धि की तथा लोहे, नमक, मदिरा और मुद्रा (सिक्के ढालने) उद्योगो पर राज्य का स्वामित्व स्थापित कर दिया। उसने 'समत्व और मानक सस्थान' (Bureau of Equalization & Standardization) की स्थापना करके व्यापार के क्षेत्र मे पदार्पण किया। सस्थान की ओर से उन वस्तुओ को भारी मात्रा मे खरीद लिया जाता जो सस्ते दाम पर बडी मात्रा मे उपलब्ध होती थी। इस माल को राज्य के भण्डार मे सुरक्षित रखा जाता और राज्य के जिस भाग मे जिस वस्तु का अभाव होता तथा जो वस्तु महगी हो जाती वहाँ राज्य के भण्डार से निकालकर वह वस्तु खुले बाजार मे उपभोक्ताओ को सस्ते भाव पर बेची जाती जिससे एक ओर तो व्यापारियो की मुनाफाखोरी पर रोक लग गयी और दूसरी ओर वस्तुओ की आपूर्ति तथा भावो मे स्थिरता आ गयी। इसके अतिरिक्त राज्य को बीच मे कुछ मुनाफा भी मिल जाता जिससे उसके राजस्व मे वृद्धि होती।

वू-टी के बाद उसकी आर्थिक नीति को सम्राट वाँग-माँग ने आगे बढाया। उसने 9 ई पू मे गद्दी पर बैठते ही एक आदेश निकालकर समस्त बडी जमीदारियो को समाप्त करके भूमि जमीन पर काम करने वालो मे बाँट दी। इसके साथ ही उसने दासता को भी समाप्त कर दिया। उसने आवश्यक वस्तुओ का व्यापार राज्य के हाथो मे ले लिया और किसानो पर से कर का बोझ घटाने के लिए सरकारी अधिकारियो और व्यापारियो पर आय-कर लगाया, मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया और अनेक उद्योगो पर राज्य का स्वामित्व स्थापित कर दिया।[1]

प्रौद्योगिकी

शाँग काल

चीन की सभ्यता शाँग काल मे नव प्रस्तर युग से काँस्य युग मे प्रविष्ट हुई तथा मिट्टी, पत्थर और सीग तथा हड्डी के साथ लकडी और काँसे का भी प्रयोग शुरू हुआ। मिट्टी के तिपाईनुमा बर्तन (ली), लोटे (कुई), गमलेनुमा बर्तन (त्सुन) और पतली तथा मोटी तली वाले प्याले इस काल मे भी बनाये जाते रहे, अन्तर केवल यह हुआ कि मिट्टी के पात्रो के लिए अब कुम्हार के चाक का इस्तेमाल किया जाने लगा, जिससे उनकी गोलाइयाँ उभर आयी तथा उन पर तरह-तरह की आकृतियाँ बनायी जाने लगी जो अधिक उन्नत प्रौद्योगिकी की ओर सकेत करती है।

काँसे के बर्तनो के नमूने प्राय: मिट्टी के बर्तनो जैसे ही रहे। उन पर बारीक नक्काशी की जाने लगी। काँसे के आभूषण भी ढाले जाने लगे। इसके अलावा हाथी दाँत का भी इस्तेमाल होने लगा, उस पर नक्काशी की जाने लगी और

1 *G A Dudley*: op cit, p 171-172

नक्काशी लकडी पर भी मिली है। इससे जाहिर होता है कि बारीक नक्काशी के लिए आवश्यक औजारो का निर्माण कांसे की मदद से किया जाने लगा था, कुछ औजार ग्रेनाइट सरीखे मजबूत पत्थर के भी थे। ये इतने नुकीले थे कि इनसे पकी हुई लौकी के तूंबे पर भी खुदाई की जाती थी जिसके नमूने खुदाइयो मे मिले हैं।

पत्थर और कांसे के फलदार चाकू बनाये जाते थे जिनकी मूठ पर पशुओ के सिर की आकृतियाँ होती थी। बेंट अथवा हत्थे वाली कुल्हाडियाँ और खुखरियाँ भी बनने लगी जिन पर नाना प्रकार की आकृतियाँ कांसे और पत्थर पर उत्कीर्ण की जाती थी।

ओरेकल हड्डियो पर इस काल मे दैवी सदेश और वार्तालाप लिखे जाने लगे। यह लिखायी रगो और ब्रुश की मदद से की जाती थी, अथवा खुदाई के द्वारा। इसका अर्थ यह है कि इन दोनो के लिए आवश्यक प्रौद्योगिकी का उस काल मे विकास हो गया था। यह कोई मामूली बात न थी, चित्रो के रगो का डेढ हजार वर्ष तक बना रहना इस बात का प्रमाण है कि रगो की रासायनिक प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त कर लिया गया था।

प्रौद्योगिकी के मामले मे सबसे अधिक उपेक्षित क्षेत्र खेती का रहा। शांग काल मे फावडा लकडी का होता था, हँसिया पत्थर का और हल का फाल लकडी अथवा पत्थर का। खेती के औजारो मे कांसे का प्रयोग शुरू की अवस्था मे नही किया गया। इसका कारण यह था कि जमीन के मालिक स्वय तो खेती करते न थे जो उन्हे पुराने औजारो की जगह अधिक कार्यक्षम और आरामदेह औजारो की आवश्यकता प्रतीत होती। खेती का काम बधुआ मजदूर और दास करते थे जिनके श्रम और कष्ट की किसी को चिन्ता न थी, ठीक उसी तरह जिस तरह वर्तमान विज्ञान के युग मे सम्पन्न लोग आधुनिकतम हवाई जहाजो मे सफर करते है और हाथठेला चलाने वाले मजदूर का ठेला आज भी वैसा ही है जैसा कि वह एक हजार साल पहले था।

चाऊ काल

चाऊ काल मे खेती की प्रौद्योगिकी की ओर ध्यान दिया गया, इसका कारण किसानो के श्रम भार को हल्का करना न था, वरन् उपज बढाने की चिन्ता मे निहित था। इस काल मे बारहमासी खेती के लिए सिंचाई की आवश्यकता को महसूस किया गया और नहरो की प्रौद्योगिकी विकसित की गयी। पीली और यांग-त्सी दोनो नदियो से नहरें निकाली गयी।

इस काल मे प्रौद्योगिकी के विकास का दूसरा क्षेत्र शस्त्र-निर्माण का था, जिसके लिए निरन्तर चलने वाले युद्धो को श्रेय दिया जा सकता है। तीर के फाल पत्थर और हड्डी के साथ ही कांसे से भी बनाये जाने लगे तथा खुखरी के फाल की लम्बाई थोडी बढ गयी, लेकिन उसने अभी तक तलवार का रूप ग्रहण नही किया, न वह भाले अथवा बल्लम का रूप ही ले पायी।

अन्तिम दौर

चिनवंश के संस्थापक हुआँग-टी के शासनकाल में स्थापत्य-प्रौद्योगिकी के क्षेत्र मे विकास इस कारण अनिवार्य हो गया कि उसने चीन की महान् दीवार का निर्माण कराया। यह सही है कि दीवार के निर्माण मे असख्य दासो और युद्धवन्दियो को दमतोड श्रम करना पडा तथापि स्थापत्य की दृष्टि से उसे प्रौद्योगिकी का एक उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है जिसके कारण वह पिछले 2200 वर्षो मे अपने अस्तित्व को बनाये रख सकी है।

अगली दो शताब्दियो मे सरकार द्वारा अनाज की खरीद—मापतौल और मुद्रा मे भुगतान, यातायात और भडारण की प्रौद्योगिकी के साथ सार्वजनिक वितरण प्रणाली का भी विकास हुआ।

चीन मे लौह युग का श्रीगणेश साहित्य के अनुसार 512 ई पू मे हुआ तथा पुरातत्व के अनुसार 400 ई पू मे। उस काल के लोहे के ढलाई के विशाल कढाव मिले हैं जिन पर उस काल की दड सहिता के कानून खुदे हुए हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यूरोप मे लोहे की ढलाई की प्रौद्योगिकी चौदहवी शताब्दी ईसा–पश्चात् मे विकसित हुई।

लोहे की प्रौद्योगिकी विकसित होने के बावजूद काँसे के उद्योग मे किसी प्रकार की कमी नही आयी। हाँ, खेती के औजारो मे लोहे का इस्तेमाल अवश्य शुरू हो गया। चौथी शताब्दी ई पू की एक कब्र से लोहे के छोटे फावडे मिले है जिनसे यह सकेत प्राप्त होता है कि लोहे की खोज ने खेती की प्रौद्योगिकी के क्षेत्र मे निश्चय ही क्रान्ति कर दी होगी। हान काल की एक बस्ती जेहील प्रदेश के नगर सिग-लुंग (Hsing-Lung) की खुदायी मे फावडे, छैनी, रथ के विभिन्न भागो आदि के अनेक लौह-साँचे मिले हैं जिनमे पिघला हुआ लोहा डालकर ये औजार तैयार किये जाते थे।

शस्त्रो मे लोहे की प्रौद्योगिकी का प्रवेश सबसे पहले तलवार मे हुआ। तीसरी शताब्दी ई पू मे खुखरी का स्थान सवा मीटर लम्बी तलवार ने ले लिया। इसका फाल खुखरी की अपेक्षा पतला और लम्बा हो गया तथा दोनो सिरो को खूब पैना किया गया जिससे कि वह हड्डियो तक को चीरती हुई शरीर मे घुसती चली जाये। चिन साम्राज्य के संस्थापक हुआँग-टी की सेना के पास लोहे की तलवारे ही थी जिनके बल पर वे रथो को छोडकर घोडो पर चढे और चाऊ सैनिको को चीरते चले गये।

---

1 *William Watson* : Early Civilization in China, London, 1966, p. 82-87.

19

चीन : धर्म और दर्शन

(China : Religion & Philosophy)

चीन में सर्वव्यापी परमात्मा अथवा विभिन्न शक्तियो के प्रतीक देवी-देवताओ की धारणाओ का विकास नही हुआ। अत वहाँ धर्म जगत का निर्माण, नियमन और विनाश करने वाली किसी परा-जागतिक अथवा जगत के परे दैवी शक्ति अथवा सर्वव्यापक, अविनाशी, परम-चैतन्य, कालातीत और सगुण अथवा निर्गुण तत्त्व के प्रति निष्ठा और उसकी उपासना के साथ नही जुड पाया।

चीन मे धर्म सघन पारिवारिक आस्था मे से उत्पन्न हुआ, और उसने पूर्वज-पूजा का रूप ले लिया। परिवार के बुजुर्गों, विशेषत माता-पिता अपने जीते-जी परिवार मे, सर्वोच्च होते थे, मरने पर उनकी यह सत्ता समाप्त नही हुई वरन् उसने एक अधिक शक्तिशाली और दैवी आयाम प्राप्त कर लिया।

आत्मा की धारणा

चीन मे मृतक मात्र शव नही रह जाते थे, वे आत्मा मे रूपान्तरित हो जाते थे जो शरीर मे निवास करती थी और मृत्यु के समय शरीर मे से निकल जाती है। चीन मे आत्मा की कल्पना उस तत्त्व के रूप मे की गयी जिसे अंग्रेजी मे 'स्पिरिट' (Spirit) कहा गया। स्पिरिट शब्द लेटिन के शब्द स्पिरिट्स (Spiritus) से बना है जिसका अर्थ है श्वास। चीन मे यह माना गया कि मृतक वायु अथवा भूत का रूप ले लेते हैं तथा वे वायु की भाँति व्यापक और शक्तिशाली बन जाते हैं। वे ईश्वर की तरह सर्वव्यापक और सर्व-शक्तिमान तो नही माने गये लेकिन व्यवहार मे उनके वशज उनकी शक्ति पर ही आश्रित रहने लगे और उनकी ही उपासना करने लगे।

पूर्वजो के प्रति चीन के लोगो की धारणा अनेक भावनाओ के मिश्रण पर आधारित रही। वे उनसे डरते थे क्योकि उनकी मान्यता थी कि पूर्वज ही उनके जीवन और कार्यो मे उन्हे सफलता अथवा विफलता प्रदान करते हैं। दूसरे, वे उन्हे प्रसन्न करने के लिए उनके नाम पर वलि चढाते थे और उनसे यह अपेक्षा करते थे कि वे वलि के अनुसार अपनी प्रसन्नता व्यक्त करेंगे। यह एक प्रकार से अनुबन्धात्मक सम्बन्ध था। तीसरे, उनके मन मे पूर्वजो के प्रति वास्तविक

प्रेम और श्रद्धा की भावना होती थी तथा उन्हे उनकी मृत्यु पर सचमुच दुख होता था।[1]

वे अपने मृतको के शवो के साथ कांसे के पात्र तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ दफनाते थे। वे ऐसा नही मानते थे कि वे उन वस्तुओ को व्यर्थ ही बर्बाद कर रहे है। वे सचमुच यह विश्वास करते थे कि पूर्वजो का आशीर्वाद रहा तो सम्पत्ति फिर से जुट जायेगी।

ये पूर्वज कालान्तर मे शक्तिशाली और रहस्यमय देवताओ का रूप ग्रहण कर लेते थे। ऐसे ही देवताओ मे 'पौर्वात्य माता', 'पाश्चात्य माता', 'चारो दिशाओ का शासक' (दिक्पाल) की गणना होती है। इनके अतिरिक्त 1190 ई पू मे जब इतना भारी सूखा पडा कि शांग नगर के समीप हुआन नदी का प्रवाह अवरुद्ध हो गया तो हुआन नदी को बलि देने के लिए चार पशुओ को अग्नि मे समर्पित किया गया। इसी प्रकार चाऊ काल मे पृथ्वी की पूजा की जाने लगी, और प्रत्येक गाँव–शहर मे मिट्टी का एक छोटा-सा टीला बनाया जाता जो पृथ्वी देवी का प्रतीक होता। उसे 'पृथ्वी महारानी' कहा जाता और उसके नाम पर बलि दी जाती। प्राकृतिक देवताओ मे तीसरा देवता वायु था। अन्याग मे आँधियाँ चलती और मिट्टी तथा रेत उडते रहते थे, उन्हे रोकने के लिए वायु देवता को बलि दी जाती थी। वायु को 'टी' नामक महान् देवता का दूत माना जाता था।

यह टी अपने आप मे एक रहस्यमय चीनी देवता है, जिसे बलि देने के लिए अग्नि की वेदी मे पशु का होम किया जाता था जिसे लियाओ (Liao) कहते थे। 'टी' चीन राजाओ के उपनाम के रूप मे भी प्रयोग किया जाता था, जिससे विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि टी के रूप मे सम्राट् की आत्मा की ही पूजा की जाती थी, फिर यह बात गौण है कि वह सम्राट् कौन था। प्रजा के लिए पूर्वज सम्राट् 'टी' बन गया। और क्योकि प्रत्येक जीवित सम्राट् टी का प्रतिनिधि अथवा प्रतीक है अत. वह श्रद्धा और सम्मान का पात्र बन गया। टी देवता के चरित्र से भी यही सकेत मिलता है कि वह सम्राट् की आत्मा है। टी युद्ध का देवता है। 'टी' की दूसरी शक्ति वर्षा पर नियन्त्रण करना है। खेतिहर समाज मे वर्षा समाज के जीवन का प्रमुख आधार होती है अत· यह स्वाभाविक था कि वर्षा को टी के आधीन किया गया। टी को शांग राजाओ का पूर्वज भी माना जाता है। दूसरी ओर, चिन राजवंश के सस्थापक ने चाऊ राजवश की सत्ता समाप्त करके जब राज्य की बागडोर अपने हाथो मे ली तो उसने अपना नाम चिन शिह-हुआंग-टी रखा। हान वश के सबसे महान् शासक ने भी अपने नाम मे टी जोडा और वह वू टी कहलाया।

महान् आत्माओ का अध्यक्ष

चाऊ काल मे टी अथवा शांग टी को सर्वप्रमुख देवता के रूप मे स्वीकार कर

1 *H G Creel* · op. cit , pp. 174–200.

लिया गया तथा कहा गया कि भूतपूर्व नरेश शांग टी के बायें और दायें निवास करते हैं। शांग टी समस्त महान् आत्माओं का अध्यक्ष है। चाऊ सभ्यता में शांग टी को स्वर्ग भी कहा गया। वास्तव में शांग वंश पर विजय प्राप्त करने से पहले चाऊ जाति का प्रमुख देवता स्वर्ग ही था। स्वर्ग की उनकी कल्पना देवताओं के निवास स्थान में थी। धीरे-धीरे स्वर्ग की ही पूजा की जाने लगी, जिसका निहितार्थ यह था कि स्वर्ग की पूजा के द्वारा सभी देवताओं अथवा आत्माओं की पूजा हो जाती है। शांग साम्राज्य पर विजय प्राप्त करने के बाद उनके लिए यह सम्भव न था कि वे उनके प्रमुख देवता शांग टी को अप्रसन्न कर देते, अत उन्होंने शांग टी और स्वर्ग में भिन्नता देखने के बजाय दोनों को एक ही मान लिया।

शांग टी की पूजा का उन्हें एक बड़ा लाभ यह भी मिला कि शांग प्रजा ने जब यह देखा कि चाऊ शासक शांग टी को सर्वोच्च देवता मानते हैं तथा उसके प्रति बलि समर्पित करते है तो उन्होंने यह मान लिया कि उन्हें स्वर्ग अथवा शांग टी की ओर से शासन करने का आदेश मिल गया है, और उन्होंने अपनी निष्ठा चाऊ शासकों में व्यक्त कर दी।

बलि और पूजा

चीन के लोग प्रत्येक काल में यह मानते रहे हैं कि जीवन का सार तत्त्व श्वास है, वही आत्मा है, जब वह निकल जाता है तो निस्सार शरीर मृत हो जाता है। इस प्रकार उनके पुरखे शरीर से भले ही मर गये हों आत्मा के रूप में सदैव जीवित और सक्रिय रहते हैं। अत. उन्हें भोजन की उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी कि जीवनकाल में थी।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आत्मा स्थूल भोजन को कैसे ग्रहण कर सकती है? यह सम्भव नहीं है। अनुभव में भी यही आया कि पूर्वजों के लिए बलि स्वरूप दिया गया भोजन ज्यों का त्यों रहता है। तब भोजन परोसने का प्रयोजन ही क्या रह जाता है? वास्तव में चीन के लोगों ने सार और निस्सार का न्याय समूचे जगत पर लागू किया। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में आत्मा सार और शरीर मरने पर निस्सार रह जाता है उसी प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु, पदार्थ, पशु आदि में सार और निस्सार दो तत्त्व होते हैं। जब पूर्वजों की आत्मा के लिए भोजन अथवा पशु की बलि दी जाती है अथवा ताँबे के पात्र भेंट किये जाते हैं तब उनकी आत्मा उन पदार्थों का सार ग्रहण करके सन्तुष्ट हो जाती है, प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार एक साथ दो प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं—एक तो वंशजों का यह कर्त्तव्य पूरा हो जाता है कि वे उन्हें भोजन प्रदान करें तथा यह चिन्ता मिट जाती है कि वे भूखे रह जायेंगे तो भूत बनकर भटकेंगे। दूसरा प्रयोजन यह कि बलि से प्रसन्न होकर पूर्वजों की आत्मा अपने वंशजों को जीवन में सफलता और मनोकामना पूर्ति का वरदान देगी।

बलि के रूप में चढ़ाया गया भोजन प्राय प्रसाद के रूप में वितरित किया जाता था। उस भोजन को बहुत पवित्र और जीवनदायी माना जाता था क्योंकि

उस पर देवताओं की कृपा दृष्टि पडी है, उन्होने उसे स्पर्श किया है तथा चखा है। परन्तु सदा ही प्रसाद को खाने का नियम नही था। मदिरा की वलि चढायी जाती तो उसे भूमि पर गिराया जाता था। बहुत बार वलि चढाये गये पशुओ को गाड़ दिया जाता था अथवा अग्नि मे डाल दिया जाता था।

वलि को हवि के रूप मे अग्नि को समर्पित करने के पीछे यह भावना थी कि पूर्वजो की आत्मा वलि पदार्थ के सार और उसकी गन्ध से प्रसन्न होती है। पशुओ की वलि के पीछे यह भावना थी कि पूर्वजो को जीवन की वलि चढायी जा रही है। एक ही वार मे पशु के जीवन का अन्त हो जाता था, देवता उसे ग्रहण कर लेते थे, और उनका ताजा रक्त पूर्वजो को शक्ति प्रदान करता है। वलि के लिए दुधारू पशुओ—भेड, सूअर और कुत्तो का इस्तेमाल होता था। कभी-कभी मोर, मुर्गी अथवा घोडे की वलि के प्रसग भी मिलते हैं। किसी राजा की आत्मा को 38 घोडो की वलि दी गयी थी जिनके अवशेष सजावट वाली लगामो के साथ एक ही खड्डे मे मिले हैं।

मदिरा की वलि भी चढायी जाती थी, और कुछ ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनसे सिद्ध होता है कि बहुमूल्य पत्थर भी वलि के लिए इस्तेमाल होते थे, इनमे हरे रग के पत्थर अधिक होते थे। एक लेख मे कौडियो की वलि का उल्लेख है।

वलि के समय प्रार्थनाएँ भी की जाती थी, लेकिन सदा ही ऐसा नही होता था। प्रार्थनाओ मे मनोतियाँ माँगी जाती थी। स्त्रियाँ ढेर सारे वच्चे माँगती थी, लम्बी आयु, वश वृद्धि, समृद्धि और सुख की कामना की जाती थी। राजा युद्ध मे विजय की कामना करते और राज्य के विस्तार की।

पुरोहित और मन्दिर

चीन के बारे मे यह बात बहुत दिलचस्प है कि वहाँ अन्य धर्मो की भाँति किसी पुरोहित वर्ग का जन्म नही हुआ जो समाज मे दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठित माना जा सके और समय-समय पर राजा को भी चुनौती दे सके। चीन मे पूजा के लिए प्रशिक्षित सेवक इस्तेमाल किये जाते थे जिन्हें वेतन दिया जाता था, बहुत बार यह काम दासो से भी लिया जाता था।

पूर्वजो के लिए मन्दिर बनाये जाते थे जिसे 'आत्मा-गृह' कहा जाता था, अर्थात् उसमे आत्माएँ निवास करती हैं। वलि के लिए अलग वलि गृह होते थे। नदी को चढायी गयी वलि नदी मे डाल दी जाती थी और भूमि को दी जाने वाली वलि गाड दी जाती थी। केवल स्वस्थ और सागो पाग पशुओ की ही वलि दी जाती थी।

पूर्वजो का मन्दिर परिवार के जीवन और उसकी प्रवृत्तियो का केन्द्र होता था। इसी प्रकार राजा के पूर्वजो का मन्दिर समूचे राज्य के जीवन का केन्द्र माना जाता था। राज्य के सभी प्रमुख समारोह इसी मन्दिर मे होते थे। नये राजा का

अभिषेक यही होता था और युद्ध के लिए जाते समय सैनिक और राजा यही से प्रस्थान करते थे। युद्ध से लौटने पर वे जीत अथवा हार की रिपोर्ट यही देते थे, तथा जीत की खुशी मे सार्वजनिक उत्सव यही आयोजित किये जाते थे। राजा राजदूतो को यही नियुक्त करता, सामन्तो के बारे मे निर्णय यही होते और राजकीय भोजो का आयोजन भी इसी मन्दिर मे होता था। पूर्वजो को बलि यही चढायी जाती, केवल स्वर्ग को खुले मे बलि दी जाती थी।

राज्य अपने आप मे एक देवता बन गया था। उसे पितृ-भूमि कहा जाता और शांग काल से चली आ रही भूमि पूजा का विधान चाऊ काल मे भी प्रचलित रहा। उसे अब शे (She) कहा जाने लगा। उसका मन्दिर मिट्टी के टीले के रूप मे होता था। धीरे-धीरे शे ने अनाज के साथ मिलकर शे ची (She Chi) का रूप ले लिया और उसका मन्दिर पृथ्वी और अनाज की वेदी बन गया।

पूर्वजो का मन्दिर और शे ची राज्य तथा राजवंश के प्रतीक बन गये थे और जब कोई राजवंश किसी आक्रमणकारी से हार जाता तो आक्रमणकारी पराजित राजवंश के पूर्वजो के मन्दिर और उसके शे ची को नष्ट करना अनिवार्य समझता था जिससे कि पराजित राजवंश की रक्षा करने वाली आत्माओ को कमजोर किया जा सके और उनकी ओर से कोई खतरा न रहे।

देवताओ के साथ सवाद

भविष्य को जानने की इच्छा और उत्कण्ठा मनुष्य मे सनातन काल से रही है। इसके लिए जगत के विभिन्न भागो मे विविध विद्याओ का उदय हुआ, जैसे ज्योतिष अर्थात् ग्रहो की गणना, सगुन विचार, हस्तरेखा शास्त्र, मस्तक विज्ञान आदि। चीन मे भविष्य को जानने की एक सर्वथा अनोखी तरकीब निकाली गयी—पशुओ की हड्डियो अथवा कछुए की पीठ को तपाकर उनमे पडने वाली दरारो के अर्थ निकालने का एक पूरा विज्ञान वहाँ विकसित हुआ।

चीन में देवताओ के साथ सवाद करने की कला भी विकसित हुई। ससार के प्राय: सभी देशो मे पुरखो अथवा मृत परिजनो, मित्रो आदि की आत्माओ के साथ सवाद की अनेक विधियाँ प्रचलित रही हैं। चीन मे तो ऐसा सवाद बहुत स्वाभाविक माना जायेगा क्योकि वहाँ तो पूर्वज ही देवता होते थे।

आत्माओ से पूछा जाता कि उन्हे किस वस्तु की बलि चढायी जाये। उन्हे बताया जाता कि परिवार, समाज और राज्य मे अमुक-अमुक घटनाएँ हो रही हैं, अमुक दम्पत्ति ने बच्चे को जन्म दिया है, शत्रु ने देश पर आक्रमण किया है, अकाल की सम्भावना है, बाढ आ रही है अथवा महामारी फैल रही है। उनको यह जानकारी देना इसलिए आवश्यक था जिससे कि वे इन परिस्थितियो मे जो उचित और आवश्यक समझें वैसा करें।

पूर्वजो से पूछा जाता था कि—यात्रा कब शुरू की जाये? अमुक स्थान पर रुका जाये अथवा नही, अथवा कितने दिन? शिकार तथा मछली पकड़ने कब

निकला जाये ? युद्ध छेड़ा जाये अथवा नही और यदि छेड़ा जाये तो कब और किस शत्रु के विरुद्ध ? फसलें कैसी होगी, इस वर्ष मदिरा कैसी उठेगी ? मौसम कैसा रहेगा, बीमारी तो नही आयेगी और आयी तो कब और कैसे ठीक होगी ? अगला सप्ताह (चीन मे दस दिन का सप्ताह होता था) कैसा रहेगा, इत्यादि ।

दर्शन

चीन मे दर्शन और नीतिशास्त्र का उदय छठी शताब्दी ई. पू. के मध्य मे हुआ । पहला दार्शनिक कन्फ्यूशियस (551 से 479 ई. पू.) था । उसके तुरन्त बाद मो-त्जु (479 से 381 ई पू) हुआ । मो-त्जू का काल बीत रहा था कि ताओवाद आया जिसका प्रतिपादन लाओ-त्जू ने किया और बाद मे चुआंग-त्जू ने भी । एक अन्य प्रमुख दार्शनिक मेन्शियस (372 से 289 ई. पू.) हुआ और उसके बाद सुनत्जू (298 से 238 ई पू.) । इनके अतिरिक्त कुछ अन्य चिन्तनधाराएँ उत्पन्न हुई जिनमें यिन-यांग और विधिवाद प्रमुख है ।

कन्फ्यूशियस और उसका चिन्तन[1]

कन्फ्यूशियस चीन का सबसे पुराना और सबसे अधिक प्रभावशाली विचारक और दार्शनिक था । उसने स्वय कोई ग्रन्थ नही निकाला । उसके दर्शन का ज्ञान उसके परवर्ती शिष्यो द्वारा सग्रहीत उसके विचारों की पोथी 'एनेलेक्ट्स' से चलता है । वह चीन के प्राचीन राज्य लू के एक कुलीनतन्त्रीय घराने मे पैदा हुआ था । उसके पिता सैनिक अधिकारी थे और उसे चार बरस का ही छोड़कर स्वर्ग सिधार गये थे । उसने शिक्षा पूरी की और सरकारी कर्मचारी बन गया, लेकिन शीघ्र ही वह एक दार्शनिक और शिक्षक के रूप मे प्रसिद्ध हो गया । अब उसने लू छोड़ दिया तथा अपने शिष्यो के साथ इस आशा मे चीन के विभिन्न राज्यो मे घूमने और उपदेश देने लगा कि शायद किसी राज्य का शासक उसे अपने विचारो को कार्यान्वित करने का अवसर प्रदान करे, लेकिन ऐसा नही हुआ । अतत: वह लू लौट गया और इस निराशा मे मर गया कि उसका जीवन व्यर्थ चला गया ।

उसने कहा कि दैव और देवलोक का ज्ञान मनुष्य की पहुँच मे परे है अत: उसे सांसारिक जीवन पर ही ध्यान देना चाहिए । उसने प्रारम्भिक चाऊकाल को चीन का स्वर्णिम युग बताते हुए कहा कि उस काल मे राजा और प्रजा सदाचार के नियमों का पालन करते थे । ये नियम ही समाज को स्थिरता और शान्ति प्रदान कर सकते है ।

कन्फ्यूशियस की मुख्य देन यह है कि उसने पूर्वजों की उपासना और उनकी उच्च आत्माओं की [illegible] के बजाय नीति-शास्त्र के नियमों को अच्छे जीवन की [illegible] माना । उसने राजनीति और शासन के क्षेत्र में भी नैतिकता के नियमों के पालन पर जोर दिया । उसने कहा कि सरकारी अधिकारियो और

1. Arthur Waley : Analects of Confucius, Random House, New York, 1966.

कर्मचारियो को नैतिकता की शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे कि वे शासक के प्रति निष्ठा और जनता के हित के बीच सामजस्य स्थापित कर सकें। ऐसे प्रशिक्षित प्रशासक को उसने चुन-त्जू अथवा सुसस्कृत भद्रजन कहा। ऐसे व्यक्ति के भीतर ईमानदारी, सच्चाई और अत करण की जागरूकता जैसे आन्तरिक गुणो के साथ-साथ निष्ठा, परोपकारिता तथा मानवीय सहृदयता जैसे वाह्य-आचरण के गुण भी उत्पन्न हो जाएँगे। वह कहता है कि इन गुणो के विकास के साथ ही समाज मे प्रचलित रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड और सभ्यता के नियमो का पालन भी आवश्यक है, इसके विना सदाचार-वृत्ति मे विकृति आ जाएगी।[1]

उसने इस बात पर वल दिया कि भद्रजन वनने के मार्ग मे न नीचे कुल मे जन्म वाधा है, न ऊँचे कुल मे जन्म सहायक। मूल वात शिक्षा है। शिक्षा मे वर्गभेद नही होता। वह जिज्ञासा को विद्यार्थी का वुनियादी लक्षण मानता और कहता है कि "मै ऐसे व्यक्ति को शिक्षा नही दूँगा जिसमे ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा नही है, और ऐसे व्यक्ति के सम्मुख व्याख्याएँ नही करूँगा जो स्वय ही स्पष्टता की खोज नही कर रहा है।"

इसका यह अर्थ नही कि कन्फ्यूशियस समानतावादी था। वह छोटे-वडे के भेद तथा राजा और प्रजा के बीच अन्तर को आवश्यक एव उचित मानता था। अन्तर इतना ही था कि वह यह भेद जन्म के आधार पर नही गुणो के आधार पर करता था। वह मानवीय सम्वन्धो को सामाजिक स्थिरता का आधार मानता था तथा कहता था कि सव मनुष्यो की प्रकृति समान नही होती, किसी की प्रकृति प्रशासन की शिक्षा प्राप्त करने के लिए अनुकूल होती है और किसी की दूसरो के मार्गदर्शन मे श्रम करने की। विविध प्रकार की प्रकृतियो के लोगो के वीच वडे छोटे का सम्वन्ध स्थापित होना स्वाभाविक ही नही समाज के लिए हितकर भी है।

उसने मानवीय-सम्वन्धो को पाँच श्रेणियो मे विभाजित किया—(1) मित्र और मित्र के वीच सम्वन्ध, (2) पति-पत्नी, (3) पिता-पुत्र, (4) अग्रज और अनुज (वडा और छोटा भाई), तथा (5) शासक और शासित के वीच सम्वन्ध। इनमे केवल पहला सम्वन्ध अर्थात् मित्रो के बीच का सम्वन्ध ही समानता पर आधारित हो सकता है, अन्य चारो सम्वन्ध वडे छोटे के वीच के सम्वन्ध है जिनमे छोटो को वडो की आज्ञा माननी चाहिए, साथ ही वडो को उनके हितो की रक्षा करनी चाहिए तथा उनके प्रति उदार व्यवहार करना चाहिए।

कन्फ्यूशियस छोटो को यह अधिकार नही देता कि यदि उनके वडे उनके प्रति उदारता का व्यवहार न करें अथवा उनके हितो की उपेक्षा करें तो वे वडो के विरुद्ध विद्रोह कर दें। वह उनसे कहता है कि सामजस्यपूर्ण समाज के लिए यह आवश्यक है कि छोटे अन्याय को सहते रहे। सुधार नीचे से ऊपर की ओर नही

1 *Mo Tzu*. Basic Writings, Tr. Burton Watson, Columbia Univ Press, New York, 1963.

वरन् ऊपर से नीचे की ओर होना चाहिए। नीचे के लोग अपने भीतर चारित्रिक गुणो का विकास करें न कि विद्रोह। शासक से वह यह अपेक्षा रखता है कि वह सदाचार के नियमो का पालन करेगा और अपने आचरण का उदाहरण पेश करके समाज मे नैतिक जागरण उत्पन्न करेगा। उसे योग्य मन्त्रियो का चयन करना और प्रजा के हितो पर निरन्तर ध्यान देना चाहिए। "शासन करने का अर्थ है व्यवस्था उत्पन्न करना। यदि शासक पहले स्वय को व्यवस्थित कर लेगा और सदाचारी बन जायेगा तो किसकी मजाल है कि अव्यवस्था उत्पन्न कर सके और सदाचार के नियमो से विचलित हो सके।"

सदाचारी शासक का राज्य तो बिना युद्ध किये ही बढ जायेगा क्योकि पडौसी राज्य की प्रजा ऐसे सदाचारी शासक के शासन मे रहना चाहेगी।

वह कानून द्वारा शासन के विरुद्ध था तथा सत्ता सदाचारी भद्रजनो के हाथ मे सोंपने के पक्ष मे था। "यदि प्रजा को कानूनो से हाँकने और उसके आचरण को दण्ड द्वारा नियमित करने की कोशिश की जायेगी तो लोग जेल से बाहर रहने की कोशिश करेंगे लेकिन उनमे दुराचार के प्रति लज्जा का भाव उत्पन्न नहीं होगा। किन्तु यदि उनका मार्गदर्शन गुणो द्वारा किया जाये और उनके आचरण का नियमन सदाचार के नियमो द्वारा किया जाये तो उनमे दुराचार के प्रति लज्जा का भाव उत्पन्न होगा और वे अच्छे बन जाएँगे।" गुणी राजा अपने प्रभाव से सामजस्य और सुख उत्पन्न करेगा तथा अपने सद्गुणी अधिकारियो द्वारा प्रत्येक क्षेत्र को सुधार देगा।

वह चिन्तन और शिक्षण के बीच एक अन्य सम्बन्ध देखता है और कहता है कि चिन्तन के अभाव मे शिक्षण व्यर्थ है और शिक्षण के बिना चिन्तन खतरनाक है। ज्ञान की प्राप्ति मे चार बाधाएँ है—पक्षपातपूर्ण मस्तिष्क अर्थात् स्वेच्छाचारपूर्ण निष्कर्ष, हठधर्मिता और दम्भ। सीखने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थी तटस्थता और अपने प्रति ईमानदारी के साथ सीखे। गुरु तो मार्गदर्शन ही कर सकता है, अपने चरित्र मे गुणो का विकास तो व्यक्ति की अपनी जिम्मेदारी है। ये गुण हैं—सौजन्य, विशाल-हृदयता, सद्भावना, परिश्रम और दयालुता। जिसमे सौजन्य का गुण है उसका कभी अपमान नही होगा, जो विशाल-हृदय है वह प्रजा को जीत लेगा, जिसमे दूसरो के प्रति सदभावना है वह दूसरो का विश्वास प्राप्त कर लेता है, परिश्रमी अपना लक्ष्य सिद्ध कर लेता है और दयालु दूसरो से सेवा ले सकता है। भद्रजन को अपने भीतर गुणो के विकास की कामना होती है धन-दौलत की नहीं।

मो-त्ज़ू और उसके विचार

मो-त्ज़ू का जन्म उसी वर्ष हुआ जिस वर्ष कन्फ्यूशियस का देहान्त हुआ। उसकी शिक्षा कन्फ्यूशियस के विचारो से प्रभावित थी किन्तु उसने गुरु से विद्रोह किया और उसके सामाजिक-वर्गभेद के विरुद्ध सामाजिक समानता का चिन्तन पेश किया।

वह कहता है कि दैव अथवा देवलोक सब मनुष्यो को अपना स्नेह समान रूप से देता है अत मनुष्य को भी सब से समान रूप से प्यार करना चाहिए। यदि प्यार मे मात्रा और श्रेणी का अन्तर रहेगा तो समाज मे घृणा के लिए स्थान बचा रहेगा और यह घृणा ही सामाजिक व्याधियो की जड है। मो-त्जू वर्गभेद की निन्दा करता है। वह कहता है कि सेना की तभी तक आवश्यकता है जब तक हमारे चरित्र मे सार्वभौम प्रेम उत्पन्न नही होता। राज्य को देवलोक की भाँति पुरस्कार और दण्ड की व्यवस्था द्वारा लोगो के आचरण को बदलना चाहिए।

मो-त्जू नियम और कानून का प्रबल समर्थक है, वह कहता है कि नियमो का पालन कडाई के साथ और अनुशासनपूर्वक किया जाना चाहिए अथवा कराया जाना चाहिए। उसके चिन्तन की यह विसगति है कि वह एक ओर सार्वभौम प्रेम का प्रतिपादन करता है दूसरी ओर सत्ता के कठोर प्रयोग पर बल देता है।

मोत्जू का तीसरा सूत्र उपयोगितावाद है। वह कहता है कि जिन कार्यों से प्रजा के नैतिक हितो की सिद्धि नही होती वे व्यर्थ और हानिकारक हैं, जैसे युद्ध, विलासिता और कर्मकाण्ड पर गँवाया गया धन।

मोत्जू ने कहा कि राजा की सत्ता उसे स्वर्ग से प्राप्त हुई तथा वह तभी तक उसके पास रहेगी जब तक कि स्वर्ग अथवा दैव वैसा चाहेगा। इसने राजा की निरकुशता को बल दिया तथा कन्फ्यूशियस की इस उपलब्धि पर पानी फेर दिया कि राजा की सत्ता उसके सदाचार और प्रजापालन पर टिकी होती है। मो-त्जू राजा के गुणो पर बल नही देता।[1]

लाओत्से और ताओवाद

लाओत्से चू राज्य के ली गाँव मे पैदा हुआ था। वह चाऊ राज्य के राजकीय अभिलेखागार का अध्यक्ष तथा प्रमुख इतिहासकार था। वह कन्फ्यूशियस से आयु मे बडा था। एक बार कन्फ्यूशियस शिक्षा ग्रहण करने के लिए लाओत्से के पास गया तो उसने उससे कहा कि तुम जो दर्शन प्रतिपादित कर रहे हो वह उन लोगो की जूठन है जिनकी अस्थियाँ गल चुकी है और उनके साथ उनका चिंतन भी गलित हो चुका है। धनी व्यक्ति की तरह गुणी व्यक्ति अपने गुण छिपाकर मूर्ख की तरह रहता है। जाओ, अपना अहकार, वासनाएँ, भोगवृत्ति और महत्त्वाकाक्षाओ का परित्याग कर दो। ये तुम्हारे लिए हानिकारक हैं। मुझे तुमसे बस यही कहना है।

लाओत्से[2] अपने गुणो को छिपाये अपना काम करता रहा लेकिन जब उसने देखा कि राज्य मे नैतिक मूल्यो मे बुरी तरह गिरावट आ गयी है तो वह राज्य छोडकर चल दिया। जब वह घाटी पार करने को था तो घाटी के पहरेदार ने उससे

1 *Mo-Tzu* : Basic Writings, Tr. Burton Watson, Columbia Univ Press, New York, 1963

2 *Max Kalten Mark* • Laotze and Taoism, Stanford, 1969.

कहा कि तुम अब राज्य छोड़कर जा रहे हो तो मेरे आग्रह पर अपने विचार लिखकर छोड़ जाओ। लाओत्से ने उस समय ताओ-ते-चिंग की रचना की जिसका अर्थ है—मार्ग और गुण। लाओत्से के दर्शन को ताओवाद कहा गया।

लाओत्से प्रजा के प्राकृतिक जीवन मे राज्य और शासको के हस्तक्षेप को गुणो के विकास में बाधक मानता था। वह कहता है कि राजा को प्रकृति के नियमों के विपरीत कुछ नही करना चाहिए। वह कहता है—

शासक वह श्रेष्ठतम—
हो छाया सा अस्तित्व जिसका—
प्रजा की दृष्टि मे।
उसके बाद वह, जिसे प्रजा प्यार करे, सराहे,
उसके बाद वह, जिससे प्रजा डरे,
उसके बाद वह, जिसकी प्रजा करे अवहेलना ॥ 1 : 16 . 39 ॥

लाओत्से की दृष्टि मे मार्ग अर्थात् श्रेष्ठता का मार्ग, अथवा महापथ सहज और प्राकृतिक जीवन मे व्यवधान डालने से बचना है। वह कहता है—

"महापथ छोड देते है जब लोग
उदय होता है उदात्तता और सदाचार का
(इनके आडम्बर का),
चतुराई का जब होता है उदय
फैलता है तब घोर पाखण्ड;
छह सम्बन्धो (राजा-प्रजा, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, अग्रज-अनुज, मित्र-मित्र, स्वामी-सेवक) मे—
हो जाती है उत्पन्न जब विसंगतियाँ
प्रतिकूल हो जाती है सन्तान,
घिर आता है राज्य पर अँधेरा
खुशामदी हो जाते है मन्त्री ॥ 1 : 18 : 42 ॥
हाथ मे लेता है साम्राज्य जो भी
और चाहता है करना कुछ (निर्माण) उसका
मै देखता हूँ, नही पायेगा विश्राम।
साम्राज्य है एक पवित्र पात्र
और कुछ नही किया जाना चाहिए उसका।
जो कोई करेगा कुछ भी उसके साथ
कर देगा नष्ट उसे,
करेगा अधिकार जो कोई उस पर
खो देगा उसको ॥ 1 . 29 : 66 ॥[1]

1 *D C. Lau* : 'Tao-Te-Ching' *Tr Laotze* Penguin Books, 1963, p. 87.

वास्तव मे ताओ का दर्शन रहस्यवादी प्रतीत होते हुए भी एकदम सुलझा हुआ है। वह जगत् और जीवन मे सरलता, निष्कपटता, निरहता और सहजता का हिमायती है। चाहे राज्य की गृह-नीति हो या विदेश-नीति लाओत्से कहता है कि राजा को अहस्तक्षेपवादी नीति अपनानी चाहिए। इसके द्वारा वह प्रजा और पडौसी पर राज्य दोनो को मित्र बना लेगा।

लाओत्से का शिष्य चुआंग-त्जू स्पष्ट ही कहता है कि जगत् क्षणभंगुर और मिथ्या है। सत्य की खोज इससे परे करनी होगी। सत्य शाश्वत है, वह आत्मा है। उसे प्राप्त करने का मार्ग ध्यान और अन्त करण को शुद्ध करना है।

चुआंग-त्जू के अनुसार जो व्यक्ति यह जान लेता है कि समस्त प्रकृति मे एकता है तथा उसका अधिष्ठान निराकार और निरामय परम तत्त्व है, वह अस्थायी और परिवर्तनशील जगत् के माया-मोह और बन्धन से मुक्त हो जाता है। जो वस्तुएँ निरन्तर बदल रही हैं उनके अध्ययन से केवल सापेक्ष ज्ञान प्राप्त हो सकता हो सकता है, उससे व्यक्ति का वास्तविक प्रयोजन सिद्ध नही होता। जीवन और मृत्यु दोनो क्षणिक हैं, अत उनमे उलझने मे सच्चा ज्ञान प्राप्त नही हो सकता। ताओ अर्थात् मार्ग अथवा महापथ का प्रयोजन मनुष्य को यह बताना है कि वह स्वय कौन है ? अपने-आपको जाने बिना सारे जगत् का ज्ञान निरर्थक है। जब तक जानने वाला स्वयं को न जाने तब तक दूसरा कोई भी ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता। जिज्ञासु जब स्वय को जान लेता है तब उसे अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नही रहती क्योंकि स्वय अर्थात् आत्मा ही जगत् का सार अथवा नियामक सूत्र है। इस प्रकार चुआंग-त्जू भारतीय वेदात-दर्शन की भाँति निर्गुण और निराकार ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या मानकर आत्म-साक्षात्कार पर बल देता है। वास्तव मे उसका दर्शन सामाजिक,अथवा जागतिक दर्शन नही वरन् पराभौतिक अर्थात् आध्यात्मिक तत्त्व-दर्शन है जिसकी नीव लाओत्से के तत्त्व-दर्शन मे है।[1]

मेन्सियस का विचार

मेन्सियस का दावा था कि वह कन्फ्यूशियस के विचारो का व्याख्याकार है, लेकिन वास्तव मे उसके विचारो पर उसके काल की सामाजिक और राजनीतिक वास्तविकताओ ने बहुत गहरा प्रभाव डाला। उसका काल चीन के समाज मे सघर्ष का काल था। चाऊ वश आखरी साँस ले रहा था, सामन्त-सरदार अपना-अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए आपस मे सघर्ष कर रहे थे और प्रजा के भौतिक हित खतरे मे थे। खेती मुख्य धधा था, जमीन पर सामन्तो का अधिकार था और जोतने वालो की आर्थिक स्थिति दासता तथा कगाली के बिन्दु तक जा पहुँची थी।

इस स्थिति से उबरने के लिए मेन्सियस ने दो विचार प्रस्तुत किए[2]—पहला तो यह कि सदाचार और सुदृढ शासन-प्रबन्ध दोनो का तब तक कोई अर्थ

1 *Chuang Tzu* Basic Writings, Tr Burton Watson, Columbia University Press, New York, 1963

2 *Arthur F Wright* (Ed). Studies in Chinese Thought, Uni. of Chicago Press, Chicago, 1953.

नही है जब तक कि आम जनता के भौतिक हितो का संरक्षण और उनकी उन्नति न हो। उसने कहा कि यदि हम सामन्ती व्यवस्था का अन्त न कर सकें तो कम से कम इतना तो करें कि 150 एकड के क्षेत्रफल को 9 बराबर भागो मे बांट दे। उनमे से आठ खेत आठ परिवारो को उनके भरण-पोषण के लिए दे दें तथा 9वें खेत पर वे आठो परिवार सामूहिक रूप से खेती करें और उसकी पूरी उपज सामन्त अर्थात् जमीन के कानूनी मालिक को दे दे। इसका अर्थ यह था कि मेन्सियस सामन्तो को उपज का 9वां भाग देना चाहता था जबकि उस समय सामन्त उपज का दो-तिहाई भाग तक ले लेते थे।

मेन्सियस का दूसरा विचार राजा की सत्ता और स्वर्ग अथवा देवलोक की इच्छा से सम्बन्धित था। उसने कहा कि जब प्राकृतिक विपदाएँ टूट पडे और लोगो का जीवन दूभर हो जाए तो उन विपदाओं से यह समझना चाहिए कि राजा को शासन करने का जो दैवी आदेश प्राप्त था वह अब समाप्त हो गया है तथा प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने अथवा किसी अन्य शासक को उसके हाथो से सत्ता छीनने का अधिकार प्राप्त हो गया है। उसने कहा कि राज्य के सविधान मे प्रजा का स्थान सर्वोच्च है, उसके बाद राज्य की देवात्माओं और अनाज का स्थान है। राजा का स्थान सबसे अन्त मे है।

कन्फ्यूशियस ने शासको के अधिकार को दैवी और पवित्र माना था किन्तु मेन्सियस ने उन्हे प्रजा के हित का साधनमात्र मान लिया और राजा की स्थिति प्रजा के सेवको जैसी बना दी।

वह कहता है कि मनुष्य प्रकृति से अच्छा है लेकिन उसमे पतन तथा भ्रष्टाचार की भरपूर सम्भावना निहित है। वे ही लोग योग्य और गुणी होते है जो अपने भीतर इनका विकास करते है लेकिन जो लोग इनकी उपेक्षा करते है वे इन्हे प्राप्त नही कर सकते।

सुन-त्जू (Hsun-Tzu)

सुन-त्जू यथार्थवादी विचारक था। उसने आध्यात्मिक और पलायनवादी दर्शन को समाज के लिए व्यर्थ और हानिकारक बताया तथा कहा कि सच्चा सन्त तो वह मनुष्य है जो समाज के जीवन मे सक्रिय भाग ले तथा उसे सुधारने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगाये। वह मानता था कि मनुष्य, विवेकपूर्वक तथा सकल्प के बल पर अपने वातावरण और अपनी अर्थव्यवस्था को बदल सकता है।

सुन-त्जू ने मनुष्य की प्रकृति के बारे मे कहा कि वह बुनियादी तौर पर अच्छी नही होती, खोटी होती है। वासनाओ के वशीभूत होकर उसमे स्वार्थ, लोभ, ईर्ष्या और घृणा आदि दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सब पर नियन्त्रण स्थापित करने का काम सामाजिक-सुव्यवस्था ही कर सकती है। राज्य के कानून ही मनुष्य की मूलभूत बुराई पर नियन्त्रण स्थापित करके उसे अच्छा बना सकते हैं। मनुष्य और उसका समाज बुनियादी तौर पर दुष्ट प्रकृति के होते हैं तथापि उन्हें पूर्ण और श्रेष्ठ बनाया जा सकता है। इसके लिए शिक्षा और अनुशासन की आवश्यकता होती है।

अन्य विचारधाराएँ

चीन मे दो गुमनाम लेखको की रचनाएँ—महान्-ज्ञान (The Great Learning) और मध्यमार्ग (The Mean) की गणना भी दार्शनिक कृतियो के अन्तर्गत की जाती है। महान्-ज्ञान मे आत्म-सस्कार, आत्मानुशासन तथा आत्म-शिक्षण को चरित्र के विकास तथा मामाजिक व्यवस्था बनाए रखने और दूसरो पर शासन करने के प्रशिक्षण के लिए अनिवार्य माना गया है। उसमे कहा गया है कि जो लोग समूचे विश्व को अच्छा बनाना चाहते हैं उन्हे पहले अपने राज्य को अच्छा बनाने की कोशिश करनी चाहिए, उसके लिए अपने परिवार को, परिवार के लिए स्वय को और स्वय को अच्छा बनाने के लिए अपने मन-मस्तिष्क को अच्छा बनाना चाहिए। इसके लिए अपने विचारो को शुद्ध करना और अपना ज्ञान बढाना चाहिए।

यह ग्रन्थ व्यक्ति के सुधार पर बल देता है। दूसरा ग्रन्थ 'मध्य-मार्ग' कहता है कि मनुष्य नैतिक आचरण के द्वारा स्वर्ग और धरती के साथ परा-मानसिक एकता और सामजस्य की स्थापना कर सकता है। यह ग्रन्थ कन्फ्यूशियस और लाओत्से के चिंतन के बीच पुल बाँधने की कोशिश करता है।

यिन-याँग (Yin-Yang)—विचारधारा कहती है कि सृष्टि के दो आदि तत्त्व हैं—यिन और याँग यानी प्रकृति और पुरुष। यिन अँधकारमय, ठण्डा और नकारात्मक तत्त्व है, तथा याँग उज्ज्वल, ऊष्म और सकारात्मक तत्त्व। कभी यिन का प्राधान्य होता है और कभी याँग का। अँधेरे के बाद हमेशा उजाला आता है और उजाले के बाद अँधेरा, अत निराशा की कोई आवश्यकता नही है, जब परिस्थिति एकदम निराशाजनक हो तब यह विश्वास रखना चाहिए कि प्रकाश अगले मोड पर और आशा समीप ही हैं।[1]

विधिवाद (Legalism)—सुन-त्जू के दो शिष्य हान फाई-त्जू (Han Fei-Tzu) और ली-सू (Li-Ssu) अपने गुरु के चिंतन से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि राज्य का सचालन विधियो (कानूनो) द्वारा किया जाना चाहिए। उसमे शासक की स्वेच्छाचारिता की बहुत गु जायश नही रहती। सरकार कानूनों के अनुसार स्वयं चलती रहती है। हान फाई-त्जू ने तो मानवतावाद और सदाचार की धारणाओ की धज्जी ही उडा दी। वह कहता है कि समझदार राजा को यथार्थ परिस्थितियो की माँग के अनुसार निर्णय करना चाहिए।

इन विचारो को चिन वश के शासनकाल मे लागू किया गया। सम्राट् ने ली-सू को अपना प्रधान मन्त्री बना लिया, ली-सू ने विधियो को सहितावद्ध कराया तथा समस्त भूमि पर से सामन्ती स्वामित्व समाप्त करके उसे प्रजाजनो मे समान आधार पर बँटवा दिया, जल का नियन्त्रण किया और सिंचाई के लिए नहरें बनवायी। उसने कानून के द्वारा शासन करने की कोशिश की और कानूनो को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन का माध्यम बनाया, लेकिन उसका नतीजा यह हुआ कि चिन वश का शासन 15 वर्ष मे समाप्त हो गया।

---

1 *G. A. Dudley* : op cit, p. 164-165.

20

चीन : साहित्य, कला और विज्ञान

(China : Literature, Art & Science)

चीन मे भाषा और लिपि का विकास ईसा से लगभग 18 शताब्दी पूर्व हो गया था। वहाँ लिपि का सबसे पुराना प्रमाण ओरेकल-हड्डियो से मिला है जिन पर लिखाई और चित्रकला शाँग काल मे प्रारम्भिक काल से शुरू होती है। उसके पहले लिपि के प्रमाण नही मिल पाये हैं। इन हड्डियो पर पूर्वजो से पूछे गये प्रश्न और प्राप्त उत्तर चीनी भाषा और लिपि में है।

चीनियो मे यह विश्वास प्रचलित था कि उनके दिवगत पूर्वजो के लिए कोई 'सन्देश देना हो तो वह बोलकर नही दिया जा सकता क्योकि वे सुन नही सकते, लेकिन यदि सन्देश लिखकर उसे जलाया जाये तो उसका धुआँ उन तक पहुँच जाता है और उन्हे सन्देश मिल जाता है। यही किया जाता था। जब घर मे बच्चे का जन्म होता, परदेस जाना होता, परदेस से लौटे हों उसकी सूचना अथवा अन्य कोई सन्देश पूर्वजो को देना होता तो वह बैल के कधे की हड्डी पर अथवा कछुए की पीठ पर लिखा जाता और उसके दूसरी ओर से एक तपती शलाका से उसे जलाया जाता। हड्डी पूरी तरह न जलती मामूली सी चटख जाती, इसी कारण वे साढ़े तीन हजार वर्ष से भी अधिक समय तक धरती के गर्भ मे सुरक्षित पडी रही।

पुरखो को साक्षी बनाने का एक अनोखा तरीका चीन मे अपनाया गया। जब दो पक्षो के बीच कोई अनुबन्ध होता तो उसे लिखा जाता और उसकी तीन प्रतियाँ तैयार की जाती। उसके बाद पुरखो के लिए किसी पशु की बलि चढायी जाती जिसका रक्त अनुबन्ध-पत्रो पर छिडका जाता और दोनो पक्षो के होठो पर भी लगाया जाता। दोनो पक्ष अनुबन्ध की एक-एक प्रति ले लेते और तीसरी प्रति बलि,चढाये गये पशु के शव के साथ दफना दी जाती। इसका यह सकेत था कि वह प्रति पुरखो के पास चली गयी है और वे उसके साक्षी बन गये है, अत- दोनों मे से जो भी पक्ष अनुबन्ध की शर्तो का उल्लघन करेगा वही पुरखो के कोप का भाजन बनेगा।

पुरखो के लिए लिखने का एक अन्य प्रसग तब आता जब उनसे कोई प्रार्थना करनी होती। प्रार्थना लिखित रूप मे ही की जा सकती थी। उसके बाद उस प्रार्थना को जलाया जाता या गाड दिया जाता।

पुस्तकें

शांग काल के साहित्य और इतिहास, धर्म और परम्परा, जीवन शैली और घटनाक्रम का विवरण ओरेकल-हड्डियों से तो मिलता ही है, अनेक पुस्तको से भी मिलता है। ये पुस्तकें शांग काल समाप्त होने के तुरन्त बाद लिखी गयी तथा इनकी अनेकानेक बार हस्तलिखित प्रतियाँ तैयार की गयी। उनकी भाषा लगभग मूलरूप मे उपलब्ध है। इन पुस्तको मे प्राप्त सामग्री का जब ओरेकल-हड्डियो की सामग्री से मिलान किया गया तो उनकी प्रामाणिकता सिद्ध हो गयी। वह सांकेतिक शब्द शांग काल की ओरेकल-हड्डियो पर मिलता है जिसका प्रयोग आज भी पुस्तक के लिए किया जाता है। इन पुस्तकों मे इतिहास के अतिरिक्त अन्य विषयों का साहित्य नही है।

चाऊ काल मे साहित्य[1]

चाऊ काल मे प्रत्येक प्रकार का लेखन हुआ, विशेषत इतिहास और साहित्य अथवा ललित-साहित्य। उस काल के दस्तावेजों के सग्रह प्राचीन अभिलेख सग्रह (Document Classic) मे एक पत्र मिला है जो चाऊ राजवश के संस्थापक ने अपने शासनकाल के प्रारम्भिक काल मे अपने भाई शाओ के सरदार को लिखा था। इस पत्र की पुष्टि काँसे के उस पात्र से होती है जिस पर उसकी प्रति खोदी गयी और जिसे दस्तावेज के रूप मे गाड दिया गया था।

एक अन्य ग्रथ आई-ली (I-Li) मे एक अन्य राज्य को भेजे जाने वाले कूटनीतिक मिशन की तैयारी के बारे मे विस्तृत हिदायतें दी गयी है—कौन-कौनसी वस्तुएँ भेंट के लिए मिशन के साथ जायेंगी, सूची से उन वस्तुओं का मिलान किया जाता है, मिलान करने वाला घोषणा करता है कि सूची के अनुसार सब चीजें मौजूद है और सूची मिशन के अधिकारी को सभला देता है जो उसे लेकर अपने सचिव को दे देता है, सचिव पुन वस्तुओं का सूची से मिलान करता है और उन्हे ले जाने की अनुमति देता है।

काँसे के पात्रो पर भी पूरी पुस्तकें खोद दी गयी है। चीनियो मे यह विश्वास भी प्रचलित था कि अभिलेख रखना मनुष्य का एक पवित्र कर्त्तव्य है। स्वर्ग मे भी एक लेखक हमारे सदाचार-दुराचार का ब्यौरा रखता है।

चाऊ काल के आरम्भ से ही सरकारी आदेश लिखित रूप मे दिये जाते थे। सन्देशवाहकों के हाथो पत्र भेजने का भी रिवाज था। प्राचीन–अभिलेख–सग्रह में अनेक पत्रो का उल्लेख मिलता है जो शत्रुओ और मित्रों, सामान्य व्यक्तियो और सरकारी अधिकारियो को लिखे गये।

1 Based upon—A History of Chinese Literature, by *Herbert A Giles*, Frederick Ungar Pub. Co., New York, 1970.

चीन के लोग अपने प्रमुख देवता ग्रौंग-टी तथा अन्य देवताओं अथवा पुरखो के नाम पत्र लिखते थे, जो मूल रूप में अथवा परिवर्तित रूप मे उपलब्ध हैं। शिक्षा का प्रसार आम प्रजा मे तो अधिक न था लेकिन कुलीन वर्ग के सभी सदस्य प्राय शिक्षा ग्रहण करते थे। इस वर्ग के लोग जो पोशाक पहनते थे उसमे बाँस की एक पतली लेखन-पट्टिका भी होती थी जो कमर मे पहनी जाती थी और जिसे नोट बुक की तरह इस्तेमाल किया जाता था। वाई राज्य के सरदार ने आठवी शताब्दी ई पू मे अपने मन्त्रियो से आग्रह किया कि वे उसकी वृद्धावस्था का आदर करते हुए भी, जब कभी कोई ऐसी बात सुनें या सोचे जिससे उसकी नीतियो मे तनिक भी सुधार की सम्भावना हो तो वे उसे लिख ले या याद रखें और उसे बतायें। स्वय राजा अपने आदेश और निर्देश लिखते थे तथा प्रजा को लिखित सन्देश देते थे। इसका यह अर्थ नही है कि राजाओ और सम्राटो के नाम से जो साहित्य उपलब्ध है वह उन्होने लिखा है। जिस प्रकार वर्तमान काल मे राजनीतिज्ञो और सत्ताधीशों के भाषण विशेषज्ञ तैयार किये जाते है उसी प्रकार प्राचीन काल मे राजा की सेवा मे काम करने वाले विद्वान्-प्रशासक यह काम करते थे। उनमे स्पष्ट कहा गया है कि 'राजा इस कथन से सहमत है'... अथवा 'राजा कहता है कि'...अथवा 'ऐसा माने कि यह राजा ही ने कहा'...। इस प्रकार के अभिलेख तैयार करने वालो को 'शिह' कहा जाता था।

राज्यो के अभिलेख गद्य मे तो लिखे ही जाते थे उन्हे पद्य मे भी लिखा जाता था। राजाओ के मन्त्री यह आग्रह करते थे कि राजा की ओर से प्रत्येक आदेश लिखित रूप मे जारी किया जाये तथा उसे सावधान भी कर देते थे कि उसका अमुक आदेश ऐसा है कि उसके वशज उसे पढेगे तो शर्म से सिर झुका लेंगे। अत वैसे आदेश जारी ही नही किये जाने चाहिए।

296 ई पू. मे दफनाये गये एक राजा की कब्र से बाँस की पट्टिकाओ पर लिखा गया इतना साहित्य उपलब्ध हुआ कि उन्हे लादने के लिए पचासो गाड़ियो की आवश्यकता पडी। प्राय अभिलेखो को सुरक्षित रखने के लिए काँसे के पात्रो का उपयोग किया जाता था। काँसे की एक भटी पर उसके निर्माता का पूरा वशवृक्ष खोदा गया। 536 ई. पू. मे चेग राज्य की पूरी की पूरी दड सहिता अनेक काँस्य-पात्रो पर खुदवायी गयी थी।

यदि 213 ई पू. मे चिन वश के प्रथम सम्राट् ने पुस्तकें जलाने का आदेश न दिया होता तथा खोज-खोजकर पुस्तके न जलवायी होती तो आज चीन के पास अपने अतीत का पूरा ब्यौरा उपलब्ध होता।

परिवर्तनो की पुस्तक आई-चिग (I-Ching)

प्राचीन चीन के साहित्य मे 'आई-चिग' नामक पुस्तक का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसमे छह पूर्ण अथवा खडित समानान्तर रेखा-पक्तियों से 64 आकृतियाँ बनाई जा सकती है। इस पुस्तक मे प्रत्येक आकृति के आधार पर भविष्यवाणियाँ की गई है। इस पुस्तक की भाषा बहुत सक्षिप्त है तथा कहा जाता है कि यह रहस्यात्मक है तथा इसमें परा-भौतिक प्रतीक निहित है।

शांग-शु (Shang-Shu) अर्थात् प्राचीन अभिलेख (Document Classic)

शांग-शु अथवा शु-चिंग का शाब्दिक अर्थ संरक्षित पुस्तकें अथवा बहुमूल्य पुस्तकें हैं। इसमें 600 ई पू के आसपास के काल के दस्तावेज हैं। ये सब चाऊ काल के हैं।

शिह् चिंग (Shih Ching) अर्थात् काव्य-संग्रह

प्राचीन चीन के अभिलेखों और पुस्तकों में केवल शिह् चिंग शुद्धतः साहित्यिक कृति है। इसमें शामिल की गयी कविताओं में कल्पनाशीलता और भावना दोनों का सम्यक् सम्मिश्रण है। इस संग्रह की प्रारम्भिक कविताएँ धार्मिक प्रार्थनाएँ हैं तथा कार्य-विधि से सम्बन्धित हैं। इसमें कुल 311 कविताएँ हैं तथा कहा जाता है कि इस संग्रह का सम्पादन कन्फ्यूशियस ने तीन हजार कविताओं में से किया था।

इन कविताओं में मानवीय भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इनमें अधिकांश गीत हैं जिन्हें मधुर स्वर से गाया जा सकता है। इनमें प्रेमियों द्वारा प्रेमिकाओं के रूप का वर्णन, निराश प्रेमियों की वियोग व्यथा, लम्बे समय तक घर से दूर युद्ध के मोर्चे पर रहने वाले सैनिकों द्वारा पत्नियों का स्मरण और पत्नियों की विरह-वेदना, गरीब श्रमिकों द्वारा बिना श्रम किये अमीरी भोगने वालों के प्रति रोष, भ्रष्टाचार के विरुद्ध चेतावनी, इत्यादि से सम्बन्धित कविताएँ हैं।

चीन के साहित्यकारों ने महाकाव्य नहीं लिखे लेकिन काव्य-संग्रह की कविताओं में नायक चित्रण बहुत उच्च कोटि का है। कवियों ने राजाओं और सम्राटों के विजय अभियानों का वर्णन महागाथाओं के नमूने पर ही किया है। वास्तव में चीन पूर्वजों के अतिरिक्त किसी अन्य नायक को स्वीकार ही नहीं कर पाया तथा वहाँ पूर्वजों की गाथा नहीं रची गयी वरन् उनके नाम सन्देश अथवा प्रार्थनाएँ ही रची गयी।

कुओ-यू (Kuo-Yu) अर्थात् राज्यों के संवाद

कुओ यू की रचना संवादात्मक शैली में हुई है। इसका रचनाकाल तो 600 ई पू के बाद का है लेकिन इसमें दसवीं शताब्दी ई पू. तक की घटनाओं का उल्लेख है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि यह लिखा तो घटनाओं के बाद गया लेकिन इसमें संवाद ऐसे ढंग से दिये गये हैं जिनसे यह आभास होता है कि घटनाओं के घटित होने से पहले ही रचनाकार को उनका आभास हो गया था। यह विसंगति इस कारण और अधिक उजागर हो गयी है कि संवादों में परवर्ती दार्शनिक सूक्तियों का समावेश किया गया है। इसकी प्रामाणिकता में तब सन्देह नहीं रह जाता जब इसमें वर्णित घटनाओं की पुष्टि कास्य पात्रों के लेखों से हो जाती है।

आई-ली (I-Li) अर्थात् आचार एवं समारोह-संहिता

चीन के लोग विशेषतः चाऊ काल में, समारोह प्रिय थे। सार्वजनिक

जीवन और समारोहो में उनके आचार के कुछ कुछ नियम और शिष्टाचार की राजनीति होती थी। इन सबको लेकर मोटे तौर पर तीन ग्रन्थ मिलते हैं—ली चौ, चाऊ ली और आई ली। इनमे से प्रथम दो के विवरण काल्पनिक प्रतीत होते हैं क्योकि उनकी पुष्टि अन्य स्रोतो से मिले प्रमाणो से नही होती, किन्तु 'आई ली' पर चाऊ काल की छाप मिलती है। इसमे साधारण राजकीय अधिकारियो के विवाह, समान स्तर के अधिकारियो से भेंट, मृत्यु, अन्तिम सस्कार, शोक और बलि आदि अवसरो पर होने वाले समारोहो और अनुष्ठानो का विवरण है। इसमे यह भी बताया गया है कि भोजो का आयोजन किस प्रकार किया जाना चाहिए, धनुर्विद्या सम्मेलनो तथा विदेशो मे राजदूत भेजने के सिलसिले मे क्या औपचारिकताएँ पूरी की जानी चाहिए।

दार्शनिक साहित्य

चाऊ राजवश के उत्तरकाल मे चीन मे दार्शनिको की एक गौरवशाली परम्परा शुरू हुई जिसका प्रवर्तक कन्फ्यूशियस था जिसका जन्म 551 ई पू मे हुआ और निधन 479 ई पू मे। उसकी सूक्तियो का सग्रह 'एनेलेक्ट्स' उसके निधन के बाद उसके शिष्यो द्वारा तैयार किया गया। उसमे कन्फ्यूशियस के विचारो को सूक्ति रूप मे व्यक्त किया गया है।

कन्फ्यूशियस के बाद दार्शनिक मो-त्जू के शिष्यो ने उसके चिंतन को लिपिबद्ध किया। इस काल का सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ ताओ-ते-चिंग है जिसका रचयिता लाओत्से है। इसके दो खण्ड हैं—ताओ और चिंग। ताओ मे दार्शनिक उस मार्ग की व्याख्या करता है जिस पर चलने से समाज मे सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित किया जा सकता है तथा चिंग मे सत्ता के प्रयोग का दर्शन है। यह एक उच्च कोटि की साहित्यिक कृति है, इसकी भाषा गूढ और इसका विवेचन ब्रह्मज्ञान से ओत-प्रोत है।

मेन्सियस और सुन-त्जू का चिंतन भी अपने आप मे साहित्य की श्रीवृद्धि करता है। मेन्सियस के चिंतन को 'मेन्सियस' नामक ग्रन्थ मे सजोया गया है। इनके अतिरिक्त दो अन्य ग्रन्थ इस काल की सभ्यता पर भली प्रकार प्रकाश डालते हैं—'महान् ज्ञान' और 'मध्यम मार्ग'। इनके दर्शन का उल्लेख पिछले अध्याय मे किया गया है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि इन ग्रन्थो से उस काल के विद्वानो की बौद्धिक परिपक्वता का बोध होता है।

कला

चीन और कला के बीच एक अभिन्न सम्बन्ध रहा है। चीन को कला से और कला को चीन से भिन्न करके नही देखा जा सकता। चीन की कला का सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण उसकी लिपि है जो चित्र लिपि के रूप मे शुरू हुई और अन्तत. भाव लिपि मे रूपान्तरित हो गयी। चीनी लिपि आज ही नही आज से चार हजार वर्ष पहले भी इतनी कलात्मक थी कि उसका अभ्यास बहुत कठिन माना जाता था।

चीनी भाषा का अस्तित्व शांग काल से पहले नहीं मिलता, लेकिन नव-प्रस्तर-युगीन दोनों सभ्यताओं—यांग शाओ और लुंग शान में कलाओं का विकास हुआ, विशेषत मिट्टी के पात्रों के नमूने अपने आप में कलात्मक शिल्प का प्रमाण है। उन पात्रों पर मिली चित्रकारी भी कलात्मक रुचि की ओर सकेत करती है।

कांसे के बर्तन

शांग और चाऊ काल में चीन के लोगों की कलात्मक अभिरुचियों और प्रतिभा की अभिव्यक्ति का एक प्रमुख माध्यम कांसे के बर्तन थे। मूलत' इन पात्रों की आकृतियाँ पूर्ववर्ती मिट्टी के बर्तनों से ली गयी तथापि उनमें धीरे-धीरे क्रान्तिकारी रूपान्तरण हुआ। नव-प्रस्तर युग के दो मृद्भांड टिंग और ली अपनी मौलिकता के लिए प्रख्यात है जिनका उपयोग धार्मिक अवसरों पर किया जाता था। टिंग तीन पायों वाली खुली कढायी है जिसके दोनों ओर दो हत्थे लगे हैं। 'ली' तलीदार पात्र है जिसमें बलि इत्यादि के लिए पकाया जाने वाला भोजन रखा जाता था। ये दोनों पात्र अपनी कलात्मकता के लिए प्रख्यात हैं। 'ली' के दोनों ओर बने हत्थे हाथी की सूँड के आकार में ढाले गये हैं। इन्हें शांग काल में कांसे में बनाया गया। किन्तु, बाजरे की काली मदिरा को गर्म करने के लिए प्रयोग में लाया जाने वाला पात्र 'चिया', बलि भोजन पात्र 'कुई' और दो भेड़ों के आकार में ढाला गया पात्र 'त्सुन' शांग काल की कांस्य कला की मौलिकता और उत्कृष्टता के प्रतीक हैं।

इस काल के कांस्य पात्रों का प्रारूप मूलत' उपयोगिता को ध्यान में रखकर तैयार किया गया लेकिन वे शीघ्र ही उपयोगिता को लांघकर शुद्ध कलात्मकता के क्षेत्र में प्रवेश कर गये और उनमें एक विलक्षण सौन्दर्य बोध के साथ दैवी-रहस्यात्मकता का समावेश भी हो गया।

धार्मिक समारोहों में इस्तेमाल होने वाले कुल्हाड़े, चाकू, शस्त्र और पात्र सभी कुछ दर्शक को अपनी महत्ता के बोध में अभिभूत कर देते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कांस्य पात्रों के निर्माण के लिए मिट्टी के सांचों का प्रयोग किया जाता था तथा कांसे के मिश्रण में तांबे के साथ रांगा एवं जस्ते के अनुपात में विविधता मिलती है। जस्ते के संयोग से पिघली हुई धातु के प्रवाह में अधिक तरलता आयी और उसके बीच में हवा के बुलबुले रह जाने की सम्भावना लगभग पूरी तरह समाप्त हो गयी। उससे तांबे की सहज लालिमा को कम करने में भी मदद मिली। चीन के लोग अपने पात्रों को बाहर से चिकना और भूरा रखना पसन्द करते थे। सहस्राब्दियों तक मिट्टी में दबे रहने के कारण उनमें जो हरापन अथवा नीलापन आया है वह उनकी प्राचीनता भले ही प्रदर्शित करता हो उनका असली रूप-रंग व्यक्त नहीं करता।

शांग और आरम्भिक चाऊ काल के पात्रों की आकृतियाँ यह सकेत करती है कि उनका उपयोग किस प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान अथवा बलि के समय किया

जाता था। कर्म-काण्ड और अनुष्ठान से सम्बन्धित साहित्य मे इन पात्रो के उपयोग की विधि और अवसर का विवरण दिया गया है।

खाना पकाने के लिए टिंग, ली और सियेन पात्रो का प्रयोग होता था। इनमें 'ली' का अपना विशेष महत्त्व है। यह एक तिपाया पात्र है जिसमे पानी भर दिया जाता था और उसके नीचे आग लगा दी जाती थी। उनके भीतर सियेन नामक एक अन्य पात्र रखा जाता जिसकी तली मे बारीक छेद होते थे। इस पात्र सियेन मे कच्चा भोजन भर दिया जाता और ली का मुँह ढक्कन से इस तरह बन्द कर दिया जाता कि उसकी भाप बाहर न निकल पाती। भाप से भोजन पकाने का यह सिद्धान्त चीन के लोगो ने आरम्भिक नव-प्रस्तर काल मे ही खोज लिया था।

इसी प्रकार तैयार भोजन-सामग्री रखने के लिए 'तुई' और 'फू' पात्रो का प्रयोग होता। मदिरा रखने के लिए 'यी, यू, त्सुन, हू, लाई और कुआंग' पात्र थे तथा मदिरापान के लिए 'चुओह' और 'कू' तिपाईदार अथवा ऊँची तलीदार पात्र थे। पानी रखने के लिए 'पान' नामक पात्र था और परोसने के लिए 'ही' तथा 'यी' नामक टोंटीदार सुन्दर पात्र।[1]

अनुष्ठान-पात्रो के बारे मे यह धारणा व्याप्त थी कि उनका निर्माण वशजो द्वारा चिरकालिक प्रयोग के लिए कराया जाता है जिससे कि वे और उनके उत्तराधिकारी अपने पुरखो को भोजन और मदिरा आदि समर्पित करते रहें। इन पात्रो पर पात्र गढवाने वाले का नाम, जिस पूर्वज को वलि चढाने के लिए उसका प्रयोग किया जाता है उसका साकेतिक नाम, और अन्त मे 'त्सुन-यी' अर्थात् वलिपात्र, अथवा 'पाओ-त्सुन यी अर्थात् बहुमूल्य वलि-पात्र खुदवाया जाता था।

चाऊ काल मे पात्रो पर विशद लेख खुदवाये जाने लगे। चाऊ काल मे पात्रों की आकृतियाँ लगभग शाँगकाल जैसी ही रही, लेकिन उन पर कम ध्यान दिया जाने लगा तथा कला के मामले मे भी शिथिलता आई।

आभूषण

इस काल मे कला के विकास का एक अन्य प्रमुख क्षेत्र आभूषणो का क्षेत्र था। शाँगकाल के आभूषणो मे लोभ के विरुद्ध चेतावनी देने वाला दैत्य-मुखोटा 'ताओ तियेह' अपनी कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध रहा है। इस पर अनेक प्रकार के दैत्याकार सर्पों तथा अन्य पशु-पक्षियो इत्यादि को दर्शाया जाता। शाँगकाल के आभूषणो मे कला अपने पूरे निखार पर थी। परन्तु चाऊ काल के आरम्भिक वर्षों मे इस कलात्मकता मे शिथिलता आयी। सातवी शताब्दी ई पू से कला पुन अपने उत्कर्ष की ओर बढी तथा काँसे पर सोने, चाँदी और फिरोजे का काम किया जाने लगा।

चीन मे आभूषणो का उपयोग केवल मनुष्यो के लिए ही नही होता था, घोडो, रथो, तलवारों, कुल्हाड़ो, पेटी के हुको इत्यादि को भी आभूषणो से सजाया जाता था। विशेषत जिन पशुओ और घोडो की वलि दी जाती उन्हे खूब सजाया जाता और आभूषणो सहित दफनाया जाता।

1 *William Watson*: op cit, pp. 88-96.

वास्तुकला

शाँग काल मे वास्तुकला का भी प्रचुर विकास हुआ। 1934 और 1935 मे मिली शाँग काल की कब्रो से सगमरमर की उत्कृष्ट कलाकृतियाँ मिली है जिनसे सिद्ध होता है कि उस काल मे वास्तुकला अपने उत्कर्ष पर थी। ये कलाकृतियाँ गोलाकार है और सगमरमर तथा सगमूसा (काले पत्थर) पर छैनी और हथौडे से उभारी गयी हैं। उनसे ऐसा आभास मिलता है कि उनका निर्माण लकडी की चौखट, दरवाजे अथवा सजावट के लिए बनाए गए विशेष उपदानो पर जडने के लिए किया गया था।

इस काल के मूर्तिशिल्प मे पक्षियो, कछुओ, पशुओ और दैत्याकार सर्पों की आकृतियो का प्रचुरता से उपयोग हुआ है। एक कब्र से बैल का सिर मिला है जो जीवित बैल के सिर से बडा है। इसमे एक पिन लगी हुई है जिसके द्वारा इसे लकडी के आधार पर लगाया जा सकता है, मगर वह आधार प्राप्त नही हुआ है। सम्भवत लकडी का होने के कारण वह गल गया होगा।

शाँगकालीन मूर्तियो मे उसी प्रकार की आकृतियो को उभारा गया जो उस काल के काँस्य-पात्रो मे मिलती हैं। इन मूर्तियो मे विभिन्न अगो का अनुपात, गोलाइयाँ और चिकनाई अद्‌भुत रूप से पूर्ण कही जा सकती है। ये शीशे जैसी दमकती हैं।

स्थापत्य

चीन के स्थापत्यकारो को ईसा से 1500 वर्ष पहले स्थापत्य के विकसित सिद्धान्तो का ज्ञान था। उन्होने किसी एक भवन अथवा दुर्ग के ही नही वरन् समूचे नगर के नियोजन और स्थापत्य मे इस ज्ञान का भरपूर उपयोग किया। शाग राजाओ ने जब अन्याग मे राजधानी बनाई तो उस स्थल का चयन तात्कालिक सामरिक और स्थापत्य की दृष्टि से किया गया।

भारत मे नगरो और दुर्गों के चारो ओर गहरी खाइयाँ और पानी से भरी नहरें बनाने की प्रथा थी जिससे कि उनकी प्रतिरक्षा आसानी से की जा सके। अन्याग शहर को बसाते समय देखा गया कि उसके तीन ओर हुआन नदी ने प्राकृतिक अवरोध बना रखा है। पश्चिम की ओर 100 मील दूर तक फैली हुई पर्वत शृखला है जो अगम्य तो नही किन्तु दुर्गम अवश्य है। शाँग लोगो के आगमन से कई शताब्दी पूर्व अन्याग प्रारम्भिक नव-प्रस्तर युग की एक बस्ती रह चुका था जिसके प्रमाण यहाँ की खुदाइयो मे मिले हैं। यह बस्ती उजडी और नव-प्रस्तर काल के अन्त मे पुन बसी। इस बार उसके दक्षिण की ओर जिधर कोई प्राकृतिक अवरोध न था कुटी हुई मिट्टी का परकोटा बनाया गया था उसकी नीव मिली है जो 12 फुट चौडी है। इससे सकेत मिलता है कि परकोटे की दीवार काफी ऊँची रही होगी।

ऐसा लगता है कि शाग लोगो ने इन नव-प्रस्तरयुगीन लोगो को मार भगाया और अन्याग मे एक नये नगर की नीव रखी। इस काल मे जो मकान बनाये गये उनकी दीवारो के लिए लकडी के साँचो के बीच गीली मिट्टी भरकर उनकी कुटाई

की गयी और छत को रोकने के लिए लकडी के खम्भे खडे किये गये जिनकी नीव में काफी गहराई पर मोटे और मजबूत पत्थर बिछाये गये जिससे कि खम्भे धरती के भीतर न धस जाएँ। आज भी चीन के मकानो की छत खम्भो पर टिकी होती है, वहाँ छत दीवारो पर नही डाली जाती, दीवारे केवल पर्दे का काम करती है। छत के लिये बाँस अथवा नरकुल की चटाई का प्रयोग किया जाता था तथा उस पर मिट्टी की गहरी लिपायी की परतें बिछायी जाती थी। छतें ढलानदार होती थी।

नगर को किस सुनियोजित ढंग से बसाया गया इसका विवरण काव्य-सग्रह मे मिलता है—

उस (राजा) ने प्रोत्साहित किया लोगो को (वहाँ बसने के लिए)
और उन्हे बसाया बायी ओर और दायी ओर।
उसने बाँट दिया भूमि को बडे भूखण्डो मे—
और छोटे भूखण्डो मे;
उसने खुदवाई खाइयाँ चारो ओर भूमि के—
पश्चिम से पूर्व तक,
कुछ भी न था ऐसा जिसे उसने न सम्भाला हो अपने हाथ से।
उसने बुलाया अपने अभियन्ता को,
उसने बुलाया अपने शिक्षा-मन्त्री को,
और सौंपा उन्हे कार्य भवन-निर्माण का।
रेखाएँ खीच कर धरती पर बनाई दीवारें उन्होने सीधी,
उन्होने लकडी के साँचो को बँधवाया मजबूती से
जिससे कि उन्हे उठाया जा सके ऊपर हर बार बिना खोले।
उठता चला गया पूर्वज-मन्दिर अपनी पावन गरिमा मे ऊँचा।
भीड लोगो की लायी मिट्टी गीली टोकरियो मे
और डालती गयी, गाते-चिल्लाते, साँचो मे,
कूटते गये वे मिट्टी को क्रम से,
तैयार की उन्होने दीवारें बार-बार और वे बनी सुदृढ।
पाँच हजार घनफुट दीवारें उठाते गये एकसाथ।
विशाल ढोल की आवाज दबा नही पायी
(आवाज मजदूरो की)।[1]

एक अन्य कविता मे राजमहल के निर्माण के बारे मे उल्लेख मिलता है कि उसके दरवाजे पश्चिम और दक्षिण की ओर खुलते थे। राजा के बैठने, रहने, हसने अर्थात् मनोरजन और बातचीत करने के लिए अलग-अलग कक्ष बनाए गए थे।

दीवारो की कुटाई की आवाज ठो-ठो जैसी थी और कुटाई इतनी की गय थी कि दीवारो मे से होकर पानी, हवा, चिडिया अथवा चूहे का प्रवेश असम्भव था।

1 *Legge* : op cit, p 438-440.

महल का आगन समतल और चिकना था, और खम्भे ऊँचे तथा सुन्दर। कक्षो मे रोशनी आने की समुचित व्यवस्था थी और गलियारे गहरे और चौडे थे।

खुदायी मे मिला एक कक्ष 26 फुट चौडा और 92 फुट लम्बा है। छत के लिए पहाडो से मजबूत लकडी लाई जाती थी और एक-एक शहतीर 32 फुट तक लम्बा होता था। जगल मे चीड और साइप्रस बहुतायत से होता था। शहतीर चीड के बनाए जाते थे।

हान काल मे कला का विकास

चीन की कला ने हान काल मे नए आयाम ग्रहण किए। कांसे पर पालिश करके उससे दर्पण बनाए जाते और उनकी पीठ पर उत्तम प्रकार की कलाकृतियाँ उकेरी जाती। इस काल मे सग-यशव (हरा पत्थर Jade) पर नक्काशी का काम अपने चरम उत्कर्ष पर जा पहुँचा। यह कला शांग युग मे ही आरम्भ हो गई थी। चीन मे नव-प्रस्तरकाल से ही हरे और भूरे पत्थर को दिव्य माना जाता था तथा उसकी कुल्हाडी और अगूठियाँ आदि मृतको के साथ कब्रो मे रखी जाती थी। यह पत्थर मुख्यत चीनी तुर्किस्तान के यारकन्द और खेतान पहाडो मे बहने वाली नदियो की धाराओ से आता था।

शांग काल मे इस पत्थर के तावीज बनाए जाते थे जिनका आकार चिडियो, मछलियो और खरगोश जैसा होता था। धार्मिक अनुष्ठानो के लिए भी इस पत्थर की थालियाँ, पट्टिकाएँ और खुखरियाँ बनाई जाती थी। हान काल मे इस पत्थर की कटाई और घिसाई के औजारो मे सुधार हुआ तथा इसके आभूषण—अगूठियाँ, कर्णफूल, जजीर मे लकटने वाले पैडेट आदि बनाए जाने लगे।

हान काल मे चमडे पर लाख से चित्रकारी की कला का उद्भव हुआ। इस कला का प्रयोग मदिरा पीने वाले प्यालो की रगाई और उन पर चित्रकारी के लिए होने लगा। इस काल मे भवन-निर्माण के क्षेत्र मे लकडी का प्रयोग व्यापक रूप से होने लगा और लकडी से चार-चार मजिले मकान बनाए जाने लगे।

विज्ञान

यह सही है कि प्राचीन चीन में आजकल की तरह न पेशेवर वैज्ञानिक थे, न प्रयोगशालाएँ, न विज्ञान के ग्रन्थ तथापि जैसा कि मानवसमाज का शाश्वत नियम रहा है उसी के अनुसार चीन के लोग भी जीवन की आवश्यकताओ के दबाव ज्ञान मे वृद्धि और प्रयोगों के आधार पर प्रायोगिक विज्ञान के क्षेत्र मे प्रगति करते गए।

नव-प्रस्तर युग मे पत्थर काटकर औजार बनाने से लेकर बर्तन रगने के लिए रगो के निर्माण और मिश्रण तक कही न कही विज्ञान का अस्तित्व है। इसी प्रकार शांग काल मे तांबे की खोज होने के बाद उसके बर्तन आदि बनाने के लिए उसका उपयोग, उसके साथ रांग और जस्ते का मिश्रण करके कासे का निर्माण, उसको पिघलाकर उसकी ढलाई तथा सांचो का निर्माण अपने आप मे वैज्ञानिकता

का परिचायक है। इस काल में लिखने के लिए रंगों और ब्रुश का आविष्कार तथा ज्यामितीय रचनाओं से भी विज्ञान का विकास परिलक्षित होता है।

चाऊकाल में यह वैज्ञानिक विकास और आगे बढ़ा तथा चिन और हानकाल में परिपक्वता तक जा पहुँचा। यहाँ खगोलशास्त्र की प्रस्थापनाओं की दिशा में काम हुआ, सितारों और पुच्छल तारे के बारे में जानकारी प्राप्त की गई। ज्योतिष विद्या का विकास हुआ, पाँचवी शताब्दी ई. पू. के मध्य में 365.25 दिनों का वर्ष निर्धारित किया गया तथा सप्ताह में दस दिन रखे गए। लगभग इसी समय शांगकालीन जलघड़ी के स्थान पर धूपघड़ी का आविष्कार हुआ।[1]

हान काल में मापतौल के मानदण्ड निर्धारित किये गये। इससे पहले ही सबसे बड़ा वैज्ञानिक प्रयोग तीर-कमान के क्षेत्र में हुआ जिसके द्वारा प्रत्यंचा के स्थान पर खटके (लीवर) से चलने वाले धनुष का निर्माण किया गया। चिनकाल में पूर्वकालीन खुखरी ने तलवार का रूप लिया और युद्ध के इतिहास में क्रान्ति कर डाली। तलवार ने युद्ध में रथ की अनिवार्यता समाप्त कर दी और घोड़े का प्रयोग शुरू हुआ। इसके द्वारा ही चिन सरदार ने चाऊ राजवंश को धराशाई किया।

यहाँ यह उल्लेख आवश्यक है कि ईसा से डेढ़ हजार वर्ष पहले ही चीन के लोगों ने पहिये का ज्ञान प्राप्त कर लिया था, बर्तन चाक पर बनने लगे थे और रथों का इस्तेमाल होने लगा था।

विज्ञान और गणित का मिला-जुला प्रयोग नहरों के निर्माण में हुआ। यही विद्या दुर्गों के निर्माण में काम आई। ईसा से चार शताब्दी पूर्व बनाई गई चीन की प्रख्यात दीवार आज भी रेखा, कोण, मेहराब, गोलाई ज्यामितीय आकृतियों की कहानी कह रही है। 1400 मील लम्बी इस दीवार पर 25000 प्रहरी-बुर्ज हैं और वह स्वयं इतनी चौड़ी है कि उस पर एक रथ को सरपट दौड़ाया जा सकता है।

ईसा से दो सौ साल पहले चीन ने छपाई के लिए मशीनें बनाई और विश्व में सबसे पहले पेन्सिल और कागज का आविष्कार किया। चमड़े को पकाने, सिल्क के कीड़े पालने और उनसे सिल्क तैयार करने, चमड़े और लकड़ी पर लाख की रगाई और चित्रकला तथा चन्द्रमा की गति के आधार पर पचांग बनाने जैसे कार्य अपने आप में चीन के वैज्ञानिक विकास की गाथा दोहराते हैं।

---

1 Based upon : Science and Civilization in China, Joseph Needham, Cambridge, 1954.

21

भारत : सभ्यता की अवधारणा, भूगोल, स्थलाकृति और प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि

(India : Concept of Civilization, Geography, Topography & Pre-Historic Background)

भारत में मानव-सभ्यता का आरम्भ ईसा से एक लाख वर्ष पहले हुआ। जब यह बात भारतीय शास्त्रों और पुराणों के आधार पर कही जाती थी तो विदेशी ही नहीं भारतीय शिक्षित जन भी हँसते थे, लेकिन जब डॉ विष्णु श्रीधर वाकणकर ने भोपाल से होशंगाबाद के बीच विन्ध्याचल की दुर्ग सरीखी चट्टानों में भीमबेटका के शैलाश्रय की खोज की, तथा वहाँ से प्राप्त औजारों और अन्य वस्तुओं का काल निर्धारण वैज्ञानिकों से कराया तब संसार भर के पुरातत्त्वविदों को यह स्वीकार करना पड़ा कि भारत में निश्चय ही ईसा से एक लाख वर्ष पूर्व भीमबेटका में मानव बस्ती रही होगी। उसके बाद भीमबेटका की खुदाई में डॉ वाकणकर को एक मानव खोपड़ी मिली जिसकी वैज्ञानिक जाँच के बाद यह घोषित किया गया कि वह खोपड़ी कम से कम बीस हजार वर्ष पुरानी है, अर्थात् उत्तर प्रस्तर युग की। इस प्रकार भारत की सभ्यता अर्थात् भारत की मानव-सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में सबसे पुरानी ठहरती है।[1]

सभ्यता की अवधारणा

भारतीय सभ्यता पुरा-प्रस्तर युग (Paleolithic Age) से लेकर आद्यैतिहासिक काल (Proto-Historic Period) तक सभ्यता के विविध आयामों को स्पर्श, ग्रहण और विसर्जित करती हुई वैदिक काल में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची।

1 *Robert, R. R. Brooks* : Rock-Shelter Painting in India, In Asia No 31, Autumn 1973, pp 44–54

पुरा-प्रस्तर युग मे जब भारतीय मानव ने प्रकृति के कोप, बर्बर पशुओं की हिंसा और जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं के अभाव के विरुद्ध संघर्ष आरम्भ किया तब उसके पास न कोई अनुभव था, न कोई ज्ञान या विज्ञान। तब थी केवल उद्दाम जिजीविषा—जीने की कामना, जीवन की रक्षा की प्रबल कामना। यही वह काल था जब उसने यह समझा कि जीवन का यह विकट संघर्ष झुण्ड के बीच रहकर तथा उसे इकाई मानकर ही किया जा सकता है और यहीं से भारतीय मानव की यात्रा परिवार, कुल, जन और अन्तत. गण तक पहुँची।

सभ्यता का आरम्भ झुण्ड के जीवन, सामूहिक जीवन अथवा यों कहें कि सामाजिक जीवन के उदय के साथ ही हुआ। तब मनुष्य के जीवन ने नया अर्थ और नया आयाम ग्रहण कर लिया। इन आयामों का कोई लेखा-जोखा हमें पुरा-प्रस्तर युग, और मध्य-प्रस्तर युग (Mesolithic Age) के दौर में नहीं मिल पाता, लेकिन जैसे ही हम नव-प्रस्तर युग मे प्रवेश करते हैं हमारे सामने भारतीय सभ्यता के आयाम खुलने लगते हैं और कश्मीर से कन्या कुमारी तक तथा अफगानिस्तान से असम तक प्रागैतिहासिक भारतीय मानव और उसकी सभ्यता के रहस्य उजागर हो जाते हैं। यह सभ्यता सिन्धु घाटी सभ्यता तथा उत्तर-हड़प्पा सभ्यता के काल के पूरे शृंगार के साथ हमारे सामने फैल जाती है।

लगभग छह हजार वर्ष लम्बे नव-प्रस्तर युग मे भारतीय सभ्यता की मूल अवधारणा प्रकृति के साथ संघर्ष, मानवेतर जीवों के साथ संघर्ष और मानव-जीवन के सरक्षण की चेष्टा के इर्द-गिर्द घूमती रही। यह बात बहुत विलक्षण और महत्त्वपूर्ण है कि मोहनजोदड़ो (मुएँ जो डेरो—मुर्दों का ढेर) नगर, जो सिन्धु घाटी सभ्यता का सिरमौर बन गया है, एक उत्कृष्ट और उन्नत मानव सभ्यता का श्रेष्ठतम नमूना था। इस तथ्य को देशी-विदेशी सभी पुरातत्त्वविदों ने एकमत से स्वीकारा है, लेकिन उस सभ्यता के पास मनुष्य के विरुद्ध लड़ने की न कोई कल्पना थी और न उसके साधन ही, और जब आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पहले मोहनजोदड़ो पर आक्रमण हुआ तो वहाँ के निवासी आत्म रक्षा नहीं कर पाये, उनके क्षत-विक्षत शवों को सामूहिक तौर पर गड्ढों मे दफना दिया गया। पूरी सभ्यता ही नष्ट हो गयी।

इस विनाश के बाद फिर से निर्माण का क्रम चला और एक नयी युद्धप्रिय सभ्यता का उदय हुआ। युद्ध हुए, बस्तियाँ बसी, खेत बोये गये और भारत प्रस्तर युग से निकलकर ताम्र युग, कांस्य युग, लौह युग तक बढ़ता चला गया। जीवन का संघर्ष न थमा, न कम हुआ, वह उग्र से उग्रतर ही होता गया और वह प्रक्रिया सभ्यता के विकास की उत्प्रेरक बनी।

भारतीय सभ्यता के बारे मे निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसने मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन और मूल्यों के बीच सन्तुलन स्थापित करने की कोशिश की है। उसने जहाँ प्रकृति के साथ संघर्ष किया वहीं उसे माँ के

रूप मे स्वीकार किया, उसने जहाँ युद्ध को नियति मानकर स्वीकार किया वही शान्ति को अनिवार्यता के रूप मे स्थापित किया। यही वह द्वन्द्व है जिसने भारतीय सभ्यता को उसके मौलिक आयाम प्रदान किये।

भूगोल और स्थलाकृति

यहाँ हम जिस भारत की प्राचीन सभ्यता का वर्णन कर रहे हैं वह भारत एक राजनीतिक इकाई नही वरन् एक सांस्कृतिक इकाई है। सामान्यतया भारत उस भौगोलिक क्षेत्र को कहा जाता है जिसकी सीमाएँ 15 अगस्त, 1947 को अंग्रेजी राज्य की दासता से स्वतन्त्रता के समय निर्धारित हुई। वास्तव मे हम जिस भारत का उल्लेख कर रहे हैं वह भारत स्वतन्त्रता से पहले का भारत अथवा ब्रिटिश भारत है। यह वह भारत है जिसे आज भारतीय उप-महाद्वीप कहा जाता है और जिसमे पाकिस्तान, भारत, बंगलादेश तथा कुछ सीमा तक नेपाल का भी समावेश होता है।

किसी भी सभ्यता को समझने के लिए उस सभ्यता के विस्तार क्षेत्र के भूगोल और स्थलाकृति पर दृष्टि डालनी आवश्यक होती है। भारत की सभ्यता के मर्म को पहचानने के लिए सबसे पहले हमे पश्चिम मे हिन्दुकश से लेकर असम तक फैले हुए 2000 किलोमीटर लम्बे, विशाल, विराट और संसार के सबसे ऊँचे पर्वतराज हिमालय को पहचानना होगा जो भारत को उत्तर की बर्फीली हवाओ से तो बचाता ही है अरब सागर और बंगाल की खाडी से उठने वाले ग्रीष्म ऋतु के बादलो को ऊपर उठने और बरसने के लिए मजबूर भी करता है। हिमालय की चोटियो और घाटियो से बहकर जाने वाले इस पानी ने ही भारत की सभ्यताओ को आदिकाल से आज तक सींचा है।

हिमालय की एक तीसरी और महत्त्वपूर्ण भूमिका यह रही है कि उसके उत्तरी और पूर्वी क्षेत्रो के दर्रों की दुर्गमता के कारण उनके पार उत्तरी और पूर्वी एशिया की सभ्यताओ ने भारत पर आक्रमण नही किये। कराकोरम के दर्रे से तझिकिस्तान, उजबेकिस्तान और तुर्कमेनिया तथा भारत के बीच आवागमन हो सकता था लेकिन बारहो महीने बर्फ से ढँका होने के कारण यह सम्भव नही हुआ। इसी प्रकार कुमाऊँ और सिक्किम के दर्रों से भी बडे पैमाने पर आवागमन नही हुआ, केवल तिब्बत के साथ सम्बन्ध बना रहा तथा उधर से शक प्रभाव भारत मे आया।

किन्तु, पश्चिमी हिमालय के दर्रे न तो उतने दुर्गम थे न बर्फ से ढके ही अत गोमल, खैबर और बोलन के दर्रों से एक के बाद एक पश्चिमी जातियाँ भारत मे आयी और यहाँ बस गयी, जिसके कारण भारतीय सभ्यता ने एक नस्लवादी सभ्यता के बजाय उदारवादी और नस्ल-निरपेक्ष मानवतावादी सभ्यता का रूप ग्रहण किया।

हिमालय के उत्तरी और पूर्वी क्षेत्रो के मार्गों की दुर्गमता का एक परिणाम यह हुआ कि भारत की सभ्यता अपने मौलिक रूप मे विकसित होती गयी। उस पेर

जो भी प्रभाव आये पश्चिम की ओर से आये तुर्किस्तान, चीन और मंगोलिया की ओर से नगण्य प्रभाव ही आये।

भारत के भूगोल और उसकी संस्कृति के बीच का एक महत्त्वपूर्ण पुल उसकी नदियाँ और नदी घाटियाँ है जिन्होने संस्कृतियो को जन्म दिया तथा विकसित किया। आगे के पन्नो मे हम देखेंगे कि किस तरह सिन्धु नदी घाटी मे जो सभ्यता जन्मी वह पंजाब की सात नदियो, गगा, यमुना, सोन और ब्रह्मपुत्र की घाटियो से होकर बंगाल और असम तक जा पहुँची।

हिमालय और उत्तरी भारत के मैदान से जब हम दक्षिण की ओर चलते हैं तो विन्ध्याचल की दुर्गम घाटियो को पार करके उस प्रायद्वीप मे प्रवेश करते है जो पूर्व मे बंगाल की खाडी से और पश्चिम मे अरब सागर से घिरा है।

प्राचीन भारतीय साहित्य मे भारत को पाँच भौगोलिक क्षेत्रो मे विभाजित किया गया था—उदीच्य (उत्तरी भारत), प्राच्य (पूर्वी भारत), प्रतीच्य (पश्चिमी भारत), मध्य देश और दक्षिणापथ। यह विभाजन भारत उप-महाद्वीप के भूगोल का प्राय सही निरूपण करता है।

पश्चिमी भारत के उत्तर मे एक सम्पूर्ण पर्वत श्रृखला है जिसमे बीच-बीच मे दर्रे है। उसके मध्य भाग मे सिन्धु नदी का दुम्मट मैदान है। यह पूर्व की ओर थार के रेगिस्तान मे जा मिलता है जो सिन्धु घाटी की अपेक्षा 150 मीटर ऊँचा है। सम्भव है कि प्राचीनकाल मे घग्घर अथवा सरस्वती नदी का प्रवाह थार को सीचता रहा हो और उसकी घाटियाँ सिन्धु के मैदान से जुडी हो, परन्तु आज तो ये नदी घाटियाँ सूखकर थार का अभिन्न अग बन चुकी है। थार के बीच सिर उठाये खडी अरावली पर्वतमाला उसे दो भागो मे बाँट रही है—पश्चिमी थार अथवा मारवाड जिसके बीच से लूनी नदी बहती है और मेवाड जिसे बनास सीचती है।

उत्तर भारत मे कश्मीर घाटी से नेपाल की तराई तक फैला हुआ एक विशाल दुम्मट मैदान रहा है जिसे पश्चिम मे सिन्धु, जेहलुम, रावी, व्यास, सतलुज, चेनाब और घग्घर (लुप्त सरस्वती) सीचती रही तथा मध्य और पूर्व मे गगा, यमुना, चम्बल, बेतवा, घाघरा, गण्डक और सोन तथा उनकी सहायक नदियाँ। प्राचीन काल मे इसका बहुताश दलदल भरा और जगलो से पटा हुआ दुर्गम क्षेत्र था।

पूर्वी भारत गगा और ब्रह्मपुत्र घाटियो और दुर्गम नागा तथा खासी पहाडियो का प्रदेश है जो समूचे असम, बंगाल और उत्तर-पूर्वी भारत को अपने आँचल मे सिमेटे है। भारी वर्षा और जगलो का यह क्षेत्र प्राचीन काल मे सभ्यता के विकास मे अपनी भूमिका निभाता रहा।

मध्य देश पश्चिम मे गुजरात से शुरू होकर छोटा नागपुर के पठार तक फैला है जिसके कलेवर मे महादेव और मैकल पर्वतमालाएँ भी समाहित है। इस

क्षेत्र को पश्चिम मे साबरमती, माही, नर्मदा और तापी क्षेत्र तथा पूर्व मे दामोदर, ब्रह्मनी और महानदी की घाटियो का क्षेत्र भी कहा जा सकता है। प्राचीन काल मे यह क्षेत्र दुर्गम जगलो से ढका हुआ था तथापि नदियो की घाटियो और पहाड़ियो की तलहटी तथा घाटियो मे आज से एक लाख वर्ष पहले मनुष्य ने आदिम सस्कृति की नीव डाली, जिसका प्रमाण हमे भीमबेटका मे मिलता है।

विन्ध्य की घाटियाँ और गोदावरी तथा उसकी सहायक नदियाँ दक्षिणापथ की दागबेल डालती हैं। यह दक्षिणापथ पूर्व और पश्चिम मे पहाडो और उनकी घाटियो से घिरा है तथा बीच मे पठार है जो अपनी काली मिट्टी के लिए विख्यात रहा है।

दक्षिणापथ की विशेषता यह है कि इसकी प्राय सभी महत्त्वपूर्ण नदियाँ पश्चिमी घाट से निकलकर पूर्व की ओर बहती, पूर्वी घाट को पार करती और बगाल की खाडी मे गिरती हैं। केवल महानदी विन्ध्याचल से निकलती है लेकिन वह भी गिरती बगाल की खाडी मे ही है। अन्य प्रमुख नदियाँ हैं—गोदावरी, कृष्णा, भीमा, भद्रा, तुगभद्रा और कावेरी।

भारत मे मानवीय-भूगोल के प्रख्यात अध्येता और विद्वान् बी सुब्बाराव ने भारत उप-महाद्वीप को तीन प्रमुख क्षेत्रो मे विभाजित किया है—1 आकर्षण के क्षेत्र, जैसे—सिन्ध, गगा और कृष्णा नदियो के बेसिन, 2 एकात के क्षेत्र, जैसे—विन्ध्याचल की पहाड़ियो मे बसा जनजातीय मध्यदेश, 3 अपेक्षाकृत एकान्त के क्षेत्र, जैसे—सिन्ध, राजपूताना, गुजरात, असम, उडीसा और केरल।[1]

जलवायु

जलवायु की दृष्टि से भारत को अनेक क्षेत्रो मे बाँटा जा सकता है। कश्मीर से लेकर हिमाचल प्रदेश तक पहाडो की ऊँची चोटियाँ बारहो महीने बर्फ से ढकी रहती हैं और वहाँ भारी वर्षा होती है। सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक फैला हुआ मैदान शीतोष्ण कटिबन्ध का क्षेत्र है, जहाँ जाडो मे जमकर सर्दी और गर्मियो मे भारी गर्मी पडती है। इस मैदान का पश्चिमी भाग नदियो की दया पर जीवित है अन्यथा वहाँ वर्षा इतनी कम होती है कि उसके आधार पर खेती असम्भव है। किन्तु, जैसे-जैसे पूर्व की ओर बढते जाते है वैसे-वैसे वर्षा का औसत बढता जाता है तथा पूर्व की पहाड़ियो मे सबसे अधिक वर्षा होती है।

मध्यदेश की स्थिति इसके विपरीत है, उसके पश्चिमी भाग का जलवायु सौम्य है तथा वर्षा भी सामान्यतया अच्छी होती है, जबकि जैसे-जैसे पूर्व की ओर बढते जाते हैं जलवायु खुश्क और गर्म होता जाता है तथा वर्षा कम।

दक्षिणापथ का पश्चिमी भाग अधिक वर्षा का क्षेत्र है, तथापि पूर्वी घाट के कारण बगाल की खाडी का मानसून पूर्व मे भी वर्षा कर देता था। इसके बावजूद उडीसा का एक भाग सूखे का शिकार रहता है। पठारी क्षेत्र की मिट्टी तो उपजाऊ

1 *B Subbarao* The Personality of India, Baroda, 1958

है लेकिन वहाँ पानी का अभाव है, पानी मिलने पर खेती अच्छी होती है। पश्चिमी घाट मे अवश्य वर्षा अच्छी होती है और उसकी घाटी उपजाऊ है। दक्षिणापथ का ठेठ दक्षिणी क्षेत्र पश्चिम मे अच्छी वर्षा का क्षेत्र है जिसे केरल कहा जाता है, लेकिन तमिलनाडु के जीवन का प्रमुख आधार कावेरी का जल ही है। कृष्णा और कावेरी के बीच बसा कर्नाटक वर्षा की दृष्टि से सौभाग्यशाली रहा है और उसमे नदियो का जाल-सा बिछ गया है। कावेरी के अतिरिक्त वहाँ घाटप्रभा, मालप्रभा, भद्रा, तुंगभद्रा इत्यादि अनेक नदियाँ सभ्यता के विकास मे योगदान करती रही हैं।

प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत मे प्रागैतिहासिक सभ्यताओ—पुरा-प्रस्तर, मध्य-प्रस्तर, नव-प्रस्तर तथा ताम्र अथवा कौंस्य (Palaeolithic, Mesolithic, Neo-lithic & Chalcolithic or Bronze Cultures) के बारे मे न तो कोई मिथक हैं, न लोकगाथाएँ, न परम्परा ही। पिछली एक शताब्दी मे देश के विभिन्न भागो मे की गयी खुदाइयो अथवा खोजो के आधार पर उन कालो की सभ्यता के जो अवशेष—औजार, बर्तन और मनुष्यो तथा पशुओ के अस्थिपंजर मिले हैं उन्ही के आधार पर उसकी रचना की गयी है।

पुरा-प्रस्तरयुग के अवशेषो और चिह्नो के आधार पर इस युग की सभ्यताओ को सुविधा की दृष्टि से पाँच खण्डो मे विभाजित किया जा सकता है—उत्तरी, पश्चिमी, मध्य, पूर्वी और दक्षिणी।

उत्तर भारत

उत्तर भारत मे सबसे ऊपर कश्मीर की घाटी है जहाँ इस बात के प्रमाण मिले है कि आज से 15,000 वर्ष पहले तक यह घाटी पूरी तरह हिम से ढकी हुई थी। 15,000 वर्ष पूर्व यह हिम पिघलना शुरू हुआ। इस क्षेत्र मे पुरा-प्रस्तरयुग की सभ्यता के अवशेषो की तो कल्पना ही नही की जा सकती थी, फिर भी यह जानने की कोशिश की जाती रही कि वहाँ मनुष्य सबसे पहले कब बसा। इस बारे मे पहली खोज की सूचना 1969 मे साकलिया, पंत और सरदारीलाल की ओर से मिली। उन्हे श्रीनगर से 65 कि मी उत्तर मे पहलगाम के समीप पाषाण की एक कुल्हाडी मिली। उसके बाद इन पुरातत्त्वविदो ने पहलगाम के ही समीप लिद्दर नदी की घाटी से स्फटिक के कुछ औजार प्राप्त किए। कुल मिलाकर दस औजार मिले हैं।

दूसरी महत्त्वपूर्ण खोज सिन्धु और सोहन घाटी के पोतवार क्षेत्र मे हुई जहाँ से प्रस्तरकाल के औजार मिले। मरदान (अब पाकिस्तान मे) के समीप साघाओ मे एक गुफा निकली जिसके भीतर से मिले औजारो से वहाँ प्रस्तरकाल की सभ्यता का बोध होता है।

पूर्व की ओर व्यास, बाणगंगा और सिरसा नदियो के ऊपरी भागो अर्थात् शिवालिक की पहाडियो की तलहटी मे तथा उनके पीछे नालागढ और शिमला की पहाडियो मे प्रस्तरयुग के अवशेष मिले हैं। सिरसा नदी पर नालागढ के समीप

प्रस्तरकाल के औजार पाए गए हैं। कांगडा घाटी मे गुलेर की खुदाई मे पत्थरो को काटकर औजार बनाने के काम मे आने वाले पत्थर के औजार मिले हैं। सिरमा घाटी के डेहरा गोपीपुर क्षेत्र की खुदाइयो में एक-ओर धार वाले तथा दोनों-ओर धार वाले औजार मिले हैं जिनका उपयोग पत्थर काटने, लकडी चीरने और शिकार करने के लिए किया जाता रहा होगा। हिमाचल प्रदेश मे नन्दरल, कोफना तथा बलखाना आदि स्थानो पर भी हाथ की कुल्हाड़ियाँ और दूसरे औजार मिले हैं।

पश्चिम भारत

पश्चिम भारत पश्चिम की ओर लूनी नदी घाटी मे शुरू होता है। यह नदी मारवाड़ के रेगिस्तानी भाग मे होकर बहती है और इस क्षेत्र मे अनेक रेतीली पहाड़ियाँ हैं। लूनी अरावली पहाड़ से निकलती है। पूर्व की ओर यह क्षेत्र-मेवाड तक अर्थात् लगभग पूरे राजस्थान और सौराष्ट्र तक फैला है।[1]

इस क्षेत्र के सांभर, डीडवाना, पुष्कर, लूणकरणसर, जयाल, चित्तौडगढ, कोटा, सोजत और जयपुर के समीप की गयी खुदाइयो मे प्रस्तरकाल की सभ्यता के अवशेष मिले हैं। इसी प्रकार सौराष्ट्र मे जूनागढ के समीप पुरा-प्रस्तरकाल के औजार मिले हैं जिनकी वैज्ञानिक जाँच से पता चलता है कि वे लगभग 30,000 वर्ष पुराने हैं। वादलपुर और हिरान मे मिले औजारो की उम्र 25,000 वर्ष आकी गयी है। इस क्षेत्र में मानव-सभ्यता का काल एक लाख बीस हजार वर्ष पहले तक आका गया है।

मध्य भारत

इस क्षेत्र मे पुरा-प्रस्तरकाल की सबसे पुरानी सभ्यता के अवशेष विंध्याचल की पहाड़ियो मे भीमबेटका (भीम की बैठक) की गुफाओ मे मिले हैं। ये अवशेष प्रमुखत शैलाश्रयो के भीतर बने शैल-चित्र तथा औजार हैं जिनकी खोज डॉ विष्णु श्रीधर वाकणकर ने की और जिनका काल आज से एक लाख वर्ष पूर्व आका गया है। भीमबेटका के उत्तर का पानी बेतवा नदी गगा मे डालती है और दक्षिण का पानी बहकर नर्मदा मे जाता है जो भीमबेटका से केवल 25 किलो मीटर की दूरी पर बह रही है। आज भी इस क्षेत्र मे घने जगल हैं जिनमे सांभर, चीतल, काला हिरण, नीलगाय, जगली सूअर, चीता, भालू, खरगोश, गीदड, लोमडी और लगूर आदि अनेक पशु रहते हैं। यहाँ तीस से अधिक ऐसे वृक्ष पाए जाते हैं जिनके फूल, फल और जडें आज भी जनजातियाँ खाने के काम मे लेती हैं। यहाँ के पत्थर रेतीले और स्फटिक दोनो प्रकार के हैं जिनको औजार बनाने के लिए काम में लिया गया है। भोपाल से केवल 50 कि मी दूर भीमबेटका मे दो सौ से अधिक छोटी-बडी गुफाएँ हैं जिनका उपयोग आज भी निवास के लिए किया जा सकता है। आसपास के क्षेत्र को मिलाकर तो यहाँ 750 से अधिक गुफाएँ हैं, जिनमे से 500 से अधिक

1 *Allchin B and Allchin F. R:* Birth of Indian Civilization, Harmonds Worth, 1968

गुफाओं को भाँति-भाँति के चित्रों से सजाया गया है जिनकी संख्या कई हजार है। शैलाश्रयों के भीतर यह शैलचित्रों का संसार का सबसे बड़ा भण्डार है। इनमें से अनेक गुफाओं में से वे औजार मिले हैं जिनसे गुफाएँ बनायी गयी और उनमें चित्र उकेरे गए। यहाँ मिली वस्तुओं की संख्या 5,000 से ऊपर है जिनमें से लगभग 1,500 औजार हैं। इन गुफाओं में खण्डित औजारों तथा पत्थरों की कतरनों से यह संकेत मिलता है कि यहाँ औजारों का निर्माण किया जाता था।

मध्य भाग में जहाँ आज गंगा-यमुना का मैदान है वहाँ एक लाख वर्ष पूर्व दुर्गम जंगल थे जिन्हें महावन की संज्ञा दी गई है, जिसके कारण यह क्षेत्र बसावट के लिए उपयुक्त न था। किन्तु आगे जाकर मिर्जापुर की पहाड़ियों में मानव के बसने के योग्य स्थान और जलवायु था। वहाँ से पुरा-प्रस्तरकाल के अवशेष मिले हैं। सबसे अधिक अवशेष कैमूर पर्वत श्रृंखला में बेलन नदी घाटी से प्राप्त हुए हैं जो प्रयाग से थोड़ा आगे जाकर गंगा में मिलती है। ये अवशेष प्रस्तरकाल के हैं तथा जाँच से पता चला है कि ये 18 से 20 हजार वर्ष पुराने हैं।

महाराष्ट्र को भी मध्यक्षेत्र में ही शामिल किया जाता है। प्रस्तरकाल की सभ्यता के मामले में महाराष्ट्र समृद्ध रहा है। पुणे के कोरेगाँव, चन्दोली, शिकारपुर, अहमदनगर के नेवासा और कालेगाँव, बम्बई के काँदिविली आदि अनेक स्थलों की खुदायी में प्रस्तर काल के औजार मिले हैं।

पूर्व क्षेत्र

इस क्षेत्र में असम, बंगाल, बिहार और उड़ीसा का समावेश होता है। बिहार के सिंहभूम जिले में 40 स्थानों पर पुरा-प्रस्तर काल के औजार मिले हैं। बंगाल के मिदनापुर, पुरुलिया, बाँकुरा बीरभूम, उड़ीसा के मयूरभंज, केऊंझर सुन्दरगढ़ तथा असम के कुछ स्थानों से प्रस्तरकाल के औजार प्राप्त हुए हैं।

दक्षिण क्षेत्र

आन्ध्र प्रदेश में सबसे पहले कुर्नूल में इस काल के औजार मिले इसके बाद चित्तूर जिले की खुदाइयों में भी ऐसे अवशेष प्राप्त हुए। अकेले नल्लागुंडा से 6,000 पैने ब्लेड मिले है जो उच्च कोटि के बूरे स्फाटिक से बनाए गए हैं। पुरा-प्रस्तरकाल के औजार कुडप्पा और प्रकासम जिलो तथा कुर्नूल जिले के मुच्चतला चिंतमनु गाँव से मिले हैं। कुर्नूलजिले की गुफाओं से बारहसिंघे, हिरन, लंगूर और गेंडे के जीवाश्म मिले है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन काल में यहाँ सघन वन रहे होंगे। नागार्जुन कोंडा से भी पत्थर के फाल तथा अन्य औजार मिले है।

कर्नाटक में प्रस्तरकाल की सभ्यता के अवशेष एक शताब्दी पूर्व शिमोगा जिले में तथा मालप्रभा नदी के बेसिन से मिले थे। उसके बाद तुमकुर जिले के किब्बनहल्ली[1] तथा घाटप्रभा नदी के अगावाडी और बागलकोट क्षेत्रों से वैसे ही

1 *M Sheshadri* : The Palaeolithic Industry of Kibbahanhalli. Mysore Artibus Asiae 18 (1955).

औजार प्राप्त हुए ।[1] तुंगभद्रा नदी के तट पर बेल्लारी जिले मे निट्टूर की खुदाई से भी उस काल की सभ्यता के प्रमाण मिले हैं। गुलवर्गा, बेलारी और बीजापुर से मध्य-प्रस्तर काल की सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं। शोरापुर दोआब तथा हुरगीनाला क्षेत्र से भी पुरा प्रस्तरकाल की सभ्यता का पता चलता है।

प्रस्तरकालीन सभ्यता के अवशेषो के मामले मे तमिलनाडु भी एक समृद्ध क्षेत्र है। इस काल की सभ्यता का पहला अवशेष इसी क्षेत्र मे खोजा गया था। अत्तिरामपक्कम की खुदाई तथा गुडियम गुफाओ की खोजबीन से इस क्षेत्र मे प्रस्तरकालीन सभ्यता के अवशेष मिले है।

मध्य-प्रस्तरकाल

मध्य-प्रस्तरकाल की सभ्यता के अवशेष भारत मे अधिक मात्रा में, विविधतापूर्ण तथा बहुत से स्थानो पर मिले हैं। पश्चिम मे ये अवशेष पेशावर के पास जमालगढी मे मिलने शुरू हुए। उसके बाद तो राजस्थान मे बाडमेर जिले के तिलवाडा, पचपदरा नदी घाटी, सोजत क्षेत्र, भीलवाडा के बागोर और झालावाड मे, गुजरात मे अखाज, वलसाना हिरपुर, लघनाज, पावागढ, मितानी; मध्य प्रदेश मे जावद, नीमच, उज्जैन, इन्दौर, बडा बडदा, मोरटक्का, रामगढ, आगर, आमला, आदमगढ, पुंजापुरा, भोपाल, भीमबेटका, रायसेन, गुना, मोडी एव रामपुरा मे, उत्तर प्रदेश मे सराय नाहरराय, कुरहा, मोरहाना पहाड, लेखहिया मे; महाराष्ट्र मे होग द्वीप, कासू शोआल, जनवीरा, दाभालगो, जालगढ, येरगिल, कांदिविली, धूलिया, पुणे, महाबलेश्वर तथा सह्याद्रि पर्वतमाला मे, बिहार मे सिंहभूम और छोटा नागपुर पठार क्षेत्र मे, उडीसा मे मयूरभज, केऊझर और सुन्दरगढ मे, बगाल मे वर्दवान जिले के बीरभानपुर मे, मेघालय के शैवालगिरि मे दक्षिण मे कृष्णा और भीमा नदी के बीच शोरापुर दोआब, कर्नाटक के धुर पश्चिम मे सगनकल्लू, गोदावरी के मुहाने पर सौ स्थानो से और आन्ध्र प्रदेश के कुर्नूल जिले मे, चित्तूर जिले के रेनीगुटा मे तथा तमिलनाडु के तिरुनेलवेली जिले मे अनेक स्थानो पर मिले है।

इन अवशेषो से इस काल की सभ्यता का जो चित्र उभरता है वह पुरा प्रस्तरकालीन सभ्यता की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। इस काल मे देश के विभिन्न स्थानो पर मिट्टी के बर्तन, कांच के मनके, सीप और कांच की चूडियाँ, गोल तथा अन्य आकारो मे बने मिट्टी अथवा पत्थर के मकानो की सरचना के प्रारूप, चूल्हे, राख, अस्थियाँ, पत्थर की गोलियाँ, नाना प्रकार के पशुओ और वनस्पति के प्रमाण मिले हैं।

मिट्टी के बर्तन चाक पर बने हुए हैं, इनमे थाली, तश्तरी, लोटा आदि प्रमुख हैं। इस काल मे आम तौर पर लोग शिकार करते जगलो से भोजन एकत्र करते

1 *R. V. Joshi* Pleistocene Studies in Malprabha Basin, Poona, 1955

और कहीं-कहीं पशु भी पालते थे। इस काल की एक उल्लेखनीय उपलब्धि चित्रकला है जो उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त (पाकिस्तान) में चारगुल से लेकर असम और कर्नाटक तक प्रचुरता से मिलती है। इसका सबसे बड़ा भण्डार भीमबेटका में मिला है, उसके बाद अल्मोड़ा के निकट दलबन्द की गुफाओं में। भीमबेटका की चित्रकला की विशेषता यह है कि उसमें मानव-जीवन के प्रायः सभी पक्षों को प्रकट किया गया है—शिकार के पूर्व का नृत्य, मनोरंजन के नृत्य, शिकार, गर्भवती महिला, गर्भवती गाय, गेंडे का शिकार—जिसमें दिखाया गया है कि एक आदमी को गेंडे ने सींग से उठाकर पटक दिया है, मुखौटों में नृत्य, मुखौटों में शिकार आदि। दलबन्द के शैलचित्रों में पक्षियों और वनस्पति के चित्रण के साथ ही एक चित्र ऐसा है जिसमें दो वयस्क और दो बालक पाँव से पाँव और हाथ से हाथ मिलाये आगे-पीछे कतार में चले जा रहे हैं। यह चित्र परिवार की एकता और सुबद्धता का प्रतीक है, दोनों वयस्क पति-पत्नी हैं और दो बालक उनकी सन्तान। यहीं के एक अन्य चित्र में चित्रकार ने अपनी दार्शनिक परिपक्वता का परिचय दिया है, उसमें एक मनुष्य का चित्रण किया गया है जिसके बाएँ हाथ में एक अर्द्ध गोलाकार आकृति है जिसे सूर्य, चाँद अथवा ब्रह्माण्ड का प्रतीक माना जा सकता है। उसका दूसरा हाथ कुहनी तक पृथ्वी के समानान्तर और उसके बाद कुहनी में उसके सिर की ओर मुड़ा हुआ है तथा सिर बाईं ओर को किंचित सामने झुका है। यह शैलचित्र प्रस्तर-कालीन मानव की विश्व कल्पना का प्रतीक है, तथा रहस्यात्मकता का आभास देता है।

नव-प्रस्तरकाल

आम तौर पर यह माना जाता है कि भारत में नव-प्रस्तरकाल का आरम्भ 2500 ई पू के आस-पास उस समय शुरू होता है जबकि यहाँ खेती की शुरुआत हुई, लेकिन वास्तव में यह काल भारत में एशिया के अन्य भागों की भाँति ईसा से सात हजार वर्ष पूर्व ही शुरू हो गया था। खेती का आरम्भ भारत में राजस्थान से हुआ। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह है कि जो क्षेत्र आज से नौ हजार वर्ष पूर्व भारत का खलिहान था यह आज खारे पानी और रेगिस्तान का सूखा क्षेत्र है—साँभर (जहाँ नमक की झील है), लूणकरणसर (जिसका अर्थ ही खारा करने वाला है और जहाँ के कुओं से आज इतना खारा पानी निकलता है कि मुँह में लेते ही मसूड़ों से खून आने लगता है) और रेत के सरकने वाले टीलों का क्षेत्र डीडवाना।

खेती का अन्य प्रमाण ईसा से 500 हजार वर्ष पूर्व के काल में उत्तरप्रदेश के ठेठ पूर्व में कोलडीहवा में मिला है। यहाँ धान की खेती के प्रमाण मिले हैं। गेहूँ की खेती का सबसे पहला प्रमाण मोहनजोदड़ो, चान्हूदड़ो और हड़प्पा में मिला है, तथा उसका काल 2400 से 2000 ईसा पूर्व है।

पश्चिम में क्वेटा शहर के उत्तर में किली गुल मोहम्मद से लेकर पूर्व में कामाख्या, लौहारघाट, सोनापुर और गारो पहाड़ियों में रगचनगिरि, चित्रा अवरी,

रोनचुगरा रभागिरि, पलवाडी तक, उत्तर मे कश्मीर घाटी के बुर्जहोम, गुरहोमा सांगरी और दामोदरा करेवा मे लेकर दक्षिण मे हल्लूर, टेक्कलकोटा और सगनकल्लू तक नव-प्रस्तरकालीन सभ्यता के प्रमाण उपलब्ध हैं। यह सभ्यता देश के उत्तर-पश्चिम मे ईसा से चार हजार वर्ष पहले शुरू हुई तथा देश के विभिन्न भागो मे देर-सवेर विकसित होती गयी। लेकिन इसका यह अर्थ नही है कि इस सभ्यता का उदय पश्चिम मे हुआ और वहाँ से यह सारे देश मे फैली। इस प्रकार का सम्पर्क और सचार उस काल मे रहा होगा, इस बात के कोई प्रमाण उपलब्ध नही है। ऐसा लगता है कि नव-प्रस्तरकालीन सभ्यता सहज विकास क्रम के अनुसार स्वत विकसित होती गई। इस काल मे भारत के किसी भाग मे लोग पत्थर के घर बनाकर रहते थे और उन्हे नरकुल अथवा घास से पाटते थे, तो कही मिट्टी के गारे से दीवारें बनाते और मिट्टी को ही छत बनाते, और कही भूमि के नीचे गड्ढे खोदकर रहते। कही केवल शिकार और जगलो से सग्रहीत भोजन पर गुजर करते और कही उसके साथ पशु भी पालते तथा उनके दूध का इस्तेमाल करते, तथा कही-कही खेती भी करने लगे थे।

मिट्टी के बर्तन भी इसी विषम क्रम मे मिलते हैं, कही अनघड और कही चाक पर बनाए गए सुगढ, कही पत्थर के और कही मिट्टी के, कही सादे और कही रेखाओ इत्यादि मे चित्रित। इसी प्रकार कही वस्त्र और कही वल्कल, कही हड्डियो के चाकू, भाले और सुई तो कही पत्थर के औजार, कही सोने के कर्णफूल तो कही काँच की चूडियाँ और स्फटिक के मोतियो की माला। कही शवो का पूर्वाभिमुख दफनाया जाना और कही दक्षिणाभिमुख, कही कोरा शव और कही उसके साथ पात्र आदि दफनाया जाना। कही कब्र घर के आँगन मे और कही गाँव के बाहर। कही सुनियोजित ढग से बसाये नगर तो कही अनियोजित बस्तियाँ।

सिन्धुघाटी सभ्यता अथवा हड़प्पा सभ्यता
(2500 से 1500 ई पू.)

इस शताब्दी के तीसरे दशक मे सर जॉन मार्शल ने सिन्धु नदी के पश्चिमी तट पर मोहनजोदडो (मुएँ-जो-डेरो अर्थात् मुर्दो का ढेर) तथा पडित माधो स्वरूप वत्स ने रावी नदी के पूर्वी तट पर हडप्पा की खुदाइयाँ की जिनसे नव-प्रस्तरकाल की एक विकसित सभ्यता की जानकारी मिली। इस सभ्यता को सिन्धु घाटी सभ्यता अथवा हडप्पा सभ्यता कहा जाता है तथा इसका काल 2500 से 1500 ई पू निर्धारित किया गया है। आज ये दोनो स्थान पाकिस्तान मे हैं, लेकिन हडप्पा सभ्यता का क्षेत्र बहुत विराट है, यह लगभग 15 लाख वर्ग कि मी मे फैला हुआ है। इसका पश्चिमी छोर सुतकागेडोर (मकरान क्षेत्र मे) मे है तथा अभी तक की जानकारी के आधार पर पश्चिमी छोर मेरठ जिले मे हिन्डोन नदी के समीप अल्लाहपुर मे, उत्तरी सिरा चेनाव के पश्चिमी तट पर माडा (पाकिस्तान) और रोपड (भारत) मे, तथा दक्षिणी सीमा गुजरात मे भगतराव तक विस्तृत है।

हड़प्पा सभ्यता का सबसे प्रमुख लक्षण नगर-नियोजन है। नगर मे कुछ ऊँचाई पर दुर्ग बनाया जाता था जिसके चारो ओर परकोटे की दीवारे मिली है। नगर मे सड़को के दोनो ओर घर बनाये जाते थे जिनके कमरे तीन ओर से चौक मे खुलते थे, घर के भीतर पानी की आपूर्ति, जल निकासी और शौचालयो की व्यवस्था की गयी थी। हड़प्पा मे मकान और मार्ग पकायी हुई ईंटो से बनाये गये थे। मोहनजोदडो मे मकानो के 12 ब्लॉक थे जो एक सिरे से दूसरे सिरे तक डेढ कि० मी० तक फैले हुए थे। वहाँ दुर्ग मे एक बृहत् स्नानागार मिला है जिसका आकार 12 मीटर लम्बा, 7 मीटर चौडा और 2 5 मीटर ऊँचा है। उसकी दीवारें और उसका फर्श इस प्रकार से बनाया गया है कि उसमे पानी भीतर की ओर न रिस सके। ईंटो को चूने से जोड़ा गया और उसके बाद दो परतो के बीच तारकोल इस तरह भरा गया कि पानी भीतर न जा सके। वहाँ एक मन्दिर भी मिला जिसमे बैठे हुए पुरुष की दो पाषाण-प्रतिमाएँ मिलीं और एक ऐसा घेरा भी जिसके भीतर किसी पवित्र वृक्ष की पूजा का विधान रहा होगा।

हड़प्पा और मोहनजोदडो मे क्रमश एक ओर पाँच गड्ढे मिले जिनमे से प्राप्त मानव खोपड़ियो और अस्थियो से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि किसी आक्रमणकारी सेना ने वहाँ के लोगो की सामूहिक हत्या करके उन्हे सामूहिक तौर पर दफना दिया था। पाश्चात्य पुरातत्त्वविदों, विशेषत. मौर्टीमोर ह्वीलर का मत है कि यह विनाश आर्यों ने किया तथा इस विनाश मे हड़प्पा सभ्यता पूरी तरह नष्ट हो गयी।

राजस्थान के गगानगर जिले मे घग्घर (लुप्त सरस्वती) के तट पर कालीबगन मे दस वर्षो तक की गयी खुदायी के बाद हड़प्पा पूर्व और हड़प्पा सभ्यताओ के अवशेष बड़े पैमाने पर मिले है। यहाँ दुर्ग और निचले नगर दोनो के परकोटे मिले है। यहाँ सार्वजनिक नालियो के अतिरिक्त घरो से निकलने वाले गन्दे पानी को सड़क पर फैलने से बचाने लिए सड़को के भीतर पानी सोख गड्ढे बनाये गये थे। मकानो मे जहाँ अधिक मजबूती की आवश्यकता थी वहाँ पकायी हुई ईंटे लगायी गयी और अन्यत्र कच्ची ईंटो का प्रयोग किया गया। दुर्ग का तल कच्चा है। कालीबगन सभ्यता का काल 2400–2500 ई पू आका गया है।

कालीबगन की एक विशेषता यह है कि वहाँ देवी-देवताओ की मूर्तियाँ नही मिली, किन्तु वहाँ एक ऊँचे प्लेटफार्म पर अनेक वेदियाँ मिली है जिनसे यह स्पष्ट सकेत मिलता है कि उनमे यज्ञ किया जाता था।

गुजरात मे अहमदाबाद से 80 कि मी. दक्षिण-पूर्व मे लोथल की खुदाई मे नगर के चारो ओर कच्ची ईंटो का परकोटा मिला है। वहाँ भी यज्ञ की वेदियाँ मिली हैं। घरो मे ईंट के फर्श वाले स्नानागार और नालियो का व्यवस्थित जाल मिला है। नगर के पूर्व की ओर पकायी गयी ईंटो का एक अहाता मिला है जिसके

शिव के साथ उनके वाहन नंदी की उपासना भी होती थी जिसका प्रमाण मुद्राओ पर जटाजूट वाले वृषभ हैं। एक मुद्रा पर नंदी को लोगो ने कन्धो पर उठा रखा है और वे शोभायात्रा निकाल रहे हैं।

एक मुद्रा मे एक ओर पृथ्वी को मा के रूप मे प्रदर्शित किया गया है, जिसका सिर नीचे की ओर है तथा टागें उठी हुई और चौडी हैं। उसकी योनि मे से एक वृक्ष का जन्म दिखाया गया है। इसी मुद्रा के दूसरी ओर एक पुरुष के हाथ मे राजदण्ड है, दूसरा नीचे बैठा है और उसके बाल अस्त-व्यस्त है। डॉ अग्रवाल[1] का मत है कि यह मुद्रा सकेत करती है कि वृक्ष पूजनीय था तथा उसकी आत्मा की तुष्टि के लिए नर बलि दी जाती रही होगी। मातृकाओ की मिट्टी की मूर्तिया भी मिली है। कालीबगन से मिट्टी का एक सिर मिला है जो पुरोहित राजा का प्रतीक माना गया है।

कालीबगन मे मातृकाओ की तथा अन्य देवी-देवताओ की मूर्तिया नही मिली हैं, वहाँ सात होमकुण्ड मिले हैं तथा उनके पास ही एक बलि कुण्ड भी जिसमे पशुओ की हड्डिया मिली हैं जिससे यह सकेत मिलता है कि वहाँ शक्ति की उपासना की जाती थी। सात होमकुण्ड सप्त-मातृकाओ के प्रतीक भी माने जा सकते हैं। ये कुण्ड दुर्ग मे मिले। नगर के बाहर एक छोटे से परिसर मे ऐसे ही पाँच होमकुण्ड और एक बलि-कुण्ड मिले है। इतना ही नही प्रत्येक घर मे होमकुण्ड की सम्भावना व्यक्त की गयी है। लोथल के होमकुण्ड कालीबगन से थोडी भिन्न किस्म के हैं। सिन्धु घाटी की खुदाइयो मे होमकुण्ड नही मिले हैं।

यहाँ यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है कि जिस दुर्ग को पाश्चात्य पुरातत्त्वविदो ने शासक का निवास माना है वास्तव मे वह धार्मिक अनुष्ठानो का स्थल अथवा नगर का पूजागृह प्रतीत होता है। इसका एक प्रमाण यह है कि वहाँ पूजा से पहले पारम्परिक स्नान की विधि सम्पन्न करने के लिए विशद् स्नानागार मिले हैं। स्नानागारो मे पानी के कुण्ड नही थे वरन् बहता हुआ पानी था जिससे लोटे की मदद से स्नान किया जाता था। गन्दा पानी नालियो से होकर बाहर जाता और सडको के नीचे बने जल-सोख गड्ढो मे चला जाता या नालियो से नगर के बाहर निकाल दिया जाता था।

हडप्पाकालीन सभ्यता मे मृतको को धरती मे गाडा जाता था, जलाने की प्रथा तब तक विकसित नही हुई थी। मृतक का सिर उत्तर मे और पाँव दक्षिण की ओर रखे जाते थे तथा उसके साथ नाना पात्रो मे (जिनकी सख्या कभी-कभी तो चालीस तक जा पहुँची) खाद्य और पेय सामग्री रखी जाती थी। इसके अलावा अँगूठी, कानो की बाली, गले का हार, चूडी और ताम्र-दर्पण भी रखे जाते थे। किसी-किसी कब्र को ईंटो से चुना जाता था। हडप्पा मे एक कब्र मे मृतक स्त्री को शीशम के ताबूत मे दफनाया गया जिसका ढक्कन देवदार का था। उसके साथ 37 पात्र भी दफनाये गये।

1 *D P Agarwal* · Archaeology of India, Curzon Press, London, pp 150–170

हड़प्पा सभ्यता के बारे में यह विवरण उस काल की लिपि और भाषा का उल्लेख किये बिना अधूरा रह जायेगा। इस लिपि को ब्राह्मी लिपि नाम दिया गया है तथा अभी तक इसको पढ़ने के प्रयासों में ऐसी सफलता नहीं मिली है जिसे आम तौर पर स्वीकार किया जाये। यह लिपि दायीं से बायीं ओर को लिखी जाती थी लेकिन अगली पंक्ति बायीं ओर से शुरू की जाती है तथा दायीं ओर को लिखी जाती थी।

ताम्र-प्रस्तर काल और लौह काल

हड़प्पा सभ्यता के उत्तरकाल में भारत ने ताम्र-प्रस्तर काल में प्रवेश किया, जिसके प्रमाण देश भर में मिले हैं। इस काल में मिट्टी के बर्तनों के शिल्प, रंग-रोगन और उन पर की जाने वाली चित्रकारी में बहुत विकास हुआ तथा ताँबे का और ताँबे में रांगा अथवा जस्ता मिलाकर बनाये गये कांसे का प्रयोग शुरू हुआ। ताँबे की मूर्तियाँ मोहनजोदड़ो में भी मिली हैं।

तांबे के प्रयोग के कुछ समय बाद अथवा कहीं-कहीं साथ-साथ ही लोहे का प्रयोग भी शुरू हो गया। इसने औजारों और शिल्पकलाओं के क्षेत्र में क्रान्ति कर दी। हड़प्पा सभ्यता और उसके परवर्ती काल की खुदाइयों में ऐसे प्रमाण नहीं मिल पाये हैं कि ये सभ्यताएँ युद्धप्रिय थीं। इस काल में शस्त्रास्त्र में विकास नहीं हुआ, न उनके विशाल भण्डार अथवा कारखाने ही मिले। शायद उस सभ्यता की शान्तिप्रियता ही उसके विनाश का कारण बन गयी और पश्चिम की ओर से आने वाली किसी युद्धप्रिय सभ्यता ने उसे मटियामेट कर दिया।

यहाँ से हम उस नयी सभ्यता में प्रवेश करते हैं जिसे आर्य सभ्यता अथवा वैदिक सभ्यता कहा जाता है। आज इसी सभ्यता को भारत की प्राचीन सभ्यता माना जाता है।

22

भारत : राजनीतिक इतिहास की रूपरेखा

(India : Outline of Political History)

प्राचीन सभ्यताओं के मामले मे सबसे अधिक कठिन कार्य राजनीतिक इतिहास का क्रम तय कर पाना है। जहाँ तक सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक व्यवस्थाओं का प्रश्न है उन्हे पुरातत्व-सामग्री और उपलब्ध साहित्य तथा मिथको के आधार पर गढ लिया जाता है। लेकिन राजनीतिक इतिहास इस प्रकार नही गढा जा सकता है। इसके बावजूद हम यह ही करते रहे हैं। मैसोपोटामिया के मामले मे हमने देखा कि प्राचीनकालीन राजनीतिक इतिहास के बारे मे अतिरंजित साक्ष्यो के आधार पर से एक काम-चलाऊ इतिहास की रचना की गई। यही हमे भारत के मामले मे भी करना होगा।

यह कहना बहुत वैज्ञानिक नही है कि जिस सभ्यता के अस्तित्व के प्रमाण हमे धरती के नीचे दबे हुए न मिले उसका अस्तित्व ही नही था। वास्तव मे सभ्यता धरती के नीचे गढकर ही नही रह जाती वह पीढी-दर-पीढी जन-स्मृति मे, साहित्य मे, मिथको मे और सांस्कृतिक तथा धार्मिक मान्यताओ और लोक-कथाओ के माध्यम से धरती के ऊपर चेतना के आकाश मे तैरती हुई भी मिलती है।

पिछले वर्ष तक यह कहा जाता रहा था कि महाभारत काल के कोई पुरातत्व प्रमाण नही मिले है, लेकिन अब जब द्वारिका मे समुद्र के नीचे ईसा से 1600 वर्ष पहले के दुर्ग तथा अन्य प्रमाण मिल रहे है तब कृष्ण को काल्पनिक कह देना अत्युक्ति होगी।

आर्यो का भारत आगमन

आर्यो और भारत के सम्बन्ध के बारे मे दो भिन्न मान्यताएँ है—एक तो यह कि आर्य मध्य एशिया से ईरान के रास्ते भारत आए, और दूसरा यह कि आर्य मूलत भारत के ही निवासी है। इन दोनो मे क्या सच है यह कहना तो कठिन है लेकिन एक बात अवश्य समझनी होगी कि आज से पाँच-सात हजार वर्ष पहले देशो और जातियो की सीमाएँ और उनके सम्बन्ध इस प्रकार तय नही

होते थे जैसे आज सकीर्ण रीति से तय होते हैं। भारत की विशेषता यह रही है कि यहाँ पश्चिम के मार्ग से जो भी जातियाँ और सभ्यताएँ प्राचीन काल मे अथवा मध्यकाल मे आयी वे यही बस गई और उन्होंने भारतीय परिवेश स्वीकार कर लिया। आर्य पर्सीपोलिस से आए हों या आर्य सिन्धु नदी के किनारे ही पल्लवित हुए हों इससे स्थिति मे कोई अन्तर नही पडता।

पुराने काल की खुदाइयो मे यह बात प्रमाणित हो गई है कि हडप्पा सभ्यता का हिंसक अन्त हुआ। यह सभ्यता किसी आक्रमणकारी जाति के हाथो समाप्त हुई। इस सभ्यता के एक मुख्य स्थल मोहनजोदडो की खुदाइयो मे इकट्ठे और बिखरे हुए अस्थिपजर जिस स्थिति में पाए गए उससे ऐसा लगता है कि यहाँ के लोग आक्रमणकारियो का सामना करने मे असमर्थ रहे तथा नगर छोडकर भागने के प्रयास में मारे गए, उनके शवो को बटोरने वाला और उनका श्राद्ध-तर्पण करने वाला भी कोई न बचा। ये लोग दुर्ग बनाकर रहते थे जिन्हे आर्यों की भाषा मे पुर कहा जाता है।

अनेक भारतीय और पाश्चात्य विचारको का मत है कि हडप्पा से रोपड, हस्तिनापुर और लोथल मे आगे तक फैली यह सभ्यता आर्यों के आक्रमण से नष्ट हो गई और इसके निवासी या तो मारे गए या जगलो मे भाग गए और वहाँ नए सिरे से जीवन को जोडने का प्रयास करने के सघर्ष मे काम आ गए। आर्यों के देवता इन्द्र को ऋग्वेद मे पुरदर कहा गया है जिसका अर्थ है नगरो और दुर्गों को ध्वस्त करने वाला। ये दुर्ग सिन्धुघाटी सभ्यता के दुर्ग ही थे। यह सघर्ष लम्बे समय तक चला, ऋग्वेद मे इसका उल्लेख मिलता है। सघर्ष मे बहुत से लोग पकडकर दास बना लिए गए। कई शताब्दियो तक चलने वाली इस प्रक्रिया के दौरान आर्य तथा अनार्य राजाओ के बीच सघर्ष हुआ। सिन्धुघाटी सभ्यता के लोग पश्चिम से पूर्व की ओर अपनी सभ्यता का प्रसार करते गए और उनके पीछे पीछे आर्य अपने साम्राज्य का विस्तार करते चले गए।

ऋग्वेद मे शताब्दियो तक सघर्ष का विवरण मिलता है जिसमें आर्य जाति अनार्य अथवा दस्यु जाति के विरुद्ध सत्ता के लिए सघर्ष करती रही। इस बीच आर्यों और आर्येतर जातियो के बीच प्रजातीय मिश्रण भी हुआ। अनेक अनार्य राजाओ ने आर्य धर्म स्वीकार कर लिया और अनेक आर्यों ने अनार्य स्त्रियो अथवा दासियो के साथ विवाह कर लिए अथवा उनसे सन्तान उत्पन्न की।

राजवंशों का विवरण

प्राचीन भारतीय वाङ्मय के आधार पर कहा जा सकता है कि ईसा पूर्व 3000 से 500 के बीच अनेक आर्य और अनार्य राजवशो ने भारत के विभिन्न प्रदेशो पर शासन किया। यहाँ यह बात ध्यान मे रखनी होगी कि यद्यपि भारतीय राजतन्त्र मे राजा के ज्येष्ठ पुत्र को उसका उत्तराधिकारी बनाने की परम्परा थी तथापि सदा ऐसा नही हुआ, इसके साथ ही यह भी कि जहाँ राजा अनेक पुत्रो का

पिता होता था वहाँ उसका बडा बेटा उसकी गद्दी का उत्तराधिकार प्राप्त करता था, और अन्य बेटो को अधीनस्थ छोटे राज्यो का राजापद प्रदान कर दिया जाता था जिससे कि गृह-कलह की सम्भावना कम हो जाती और साम्राज्य सुदृढ हो जाता।

भारतीय वाँगमय मे स्वायम्भुव मनु से पहले किसी राजा का उल्लेख नही मिलता। मनुष्यो के आग्रह पर प्रजापिता ब्रह्मा ने उनके सामने अपने बेटे मनु के नाम का प्रस्ताव रखा तथा कहा कि इस बारे मे आप लोग आपस मे बातचीत करके निर्णय कर लें। बातचीत हुई और प्रजा तथा राजा के बीच एक समझौता हो गया, जिसमे कहा गया था कि राजा प्रजा के कल्याण के लिए कार्य करेगा तथा समाज मे शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करेगा। इसके बदले मे प्रजा ने वचन दिया कि वह उसे अपनी सम्पत्ति का एक निश्चित अश राजकाज के खर्च के लिए देगी, साथ ही वह उसे अपनी सबसे सुन्दर कन्या भी प्रदान करेगी।

मनु के वश से शुरू होकर वैदिक-काल के राजवशो की सूची मोटे तौर पर इस प्रकार तैयार की जा सकती है—मनु वश, इक्ष्वाकु वश, विदेह वश, चन्द्र वश, यदुवश, दैत्यवश।

मनुवंश

यो तो प्रत्येक मन्वतर की शुरुआत एक मनु से होती है लेकिन यहाँ मनुवश से हमारा अभिप्राय प्रथम मन्वतर के मनु के वश से है। स्वायभुव मनु के दो पुत्र थे—प्रियव्रत और उत्तानपाद। इनमे प्रियव्रत बडे थे, लेकिन वे वैराग्यवश राजा बनने को तैयार न थे अत गद्दी पर उत्तानपाद बैठे और उनके बाद उनका बेटा ध्रुव। ध्रुव का अधिक समय यक्षो के साथ लडने मे बीत गया। वह युद्ध स्वय मनु के हस्तक्षेप पर बन्द हुआ। इस बीच मनु ने अपने बडे बेटे प्रियव्रत को राजा बनने के लिए तैयार कर लिया। इस प्रकार ध्रुव से आर्यों का नेतृत्व प्रियव्रत के हाथो मे आ गया। इनके वश मे तीन राजा बहुत प्रतापी हुए—नाभि, ऋषभ देव और भरत।

भरत प्रतापी राजा हुए। उनके समय तक भारतवर्ष का नाम अजनाभवर्ष था, जिसे उनके नाम-पर ही बदलकर भारतवर्ष किया गया। ये ही भरत भारत की ललितकलाओ के जनक माने जाते हैं। इनका नाट्यशास्त्र आज तक सर्वश्रेष्ठ माना जाता है तथा इन्ही के नाम पर भरत-नाट्यम् की परम्परा चली आ रही है।

उसके बाद ध्रुव का वशज चक्षु राजा बना और वह छठे मनु अथवा चाक्षुष मनु के रूप मे प्रसिद्ध हुआ। चाक्षुष मनु के वश मे अग लोकहितकारी राजा हुआ लेकिन वेन, दभी, मिथ्याचारी और ऋषियो का अनादर करने वाला था अत: ऋषियो ने उसे मार डाला। वेन के पश्चात् पृथु को राजा बनाया गया जिसने भूमि पर खेतो का विकास और विस्तार किया, इसी से भूमि का नाम पृथ्वी पडा।

वैवस्वत मनु की तीसरी शाखा उनकी पुत्री इला से आरम्भ हुई जिसे तपस्वी वशिष्ठ ने अपने तपबल से पुरुष बना दिया था। उसका नाम सुद्युम्न रखा गया।

परन्तु प्रजा सुद्युम्न का आदर नही करती थी अतः उन्होंने अपने तीनो पुत्रो—उत्कल, गय और विमल को दक्षिणापथ की ओर दिग्विजय के लिए भेजा और वे वही के राजा बन गये।

वैवस्वत मनु के ही दस अन्य पुत्र हुए जिनमे से नृग बहुत धर्मात्मा राजा हुए। वे परम दानी थे परन्तु किसी कारण ब्राह्मणो ने उनसे क्रुद्ध होकर उन्हे शाप दे दिया। उनके पश्चात् मनु के एक अन्य पुत्र इक्ष्वाकु गद्दी पर बैठे। वे चक्रवर्ती सम्राट् बने। उनके सौ पुत्र हुए। उन्होने अपने पच्चीस पुत्रो को पूर्वी भारत के राज्यो का राज सौंप दिया, पच्चीस को पश्चिम के राज्यो का। तीन पुत्रो—विकुक्षि, नमि और दडक को देश के मध्य भाग के तीन राज्य—हस्तिनापुर से अवध, मिथिला और दडक वन (नर्मदा से गोदावरी तक) सौंप दिये। शेष चालीस पुत्रो को दक्षिणापथ का शासक बनाया।

इक्ष्वाकु वश में एक प्रसिद्ध राजा हुए सत्यवादी हरिश्चन्द्र। इनकी आठवी पीढी मे सगर हुए जिन्होने अश्वमेध यज्ञ किया और चक्रवर्ती सम्राट् बने। उनके पौत्र अशुमान प्रतापी राजा हुए और अशुमान के पुत्र महाराजा दिलीप जिनकी कीर्ति अपनी गौ भक्ति के कारण समूचे भारत मे फैल गई। दिलीप के पुत्र थे भागीरथ। जिन्होने अपने शासनकाल मे गगा को पर्वतो से पृथ्वी पर अवतरित करने का महान् कार्य किया।

इक्ष्वाकु के वश मे आगे जाकर एक अन्य चक्रवर्ती सम्राट् खट्वांग हुए, उन्होने भारत की अनार्य जातियो को पराजित करके आर्य साम्राज्य का विस्तार किया। इनके पौत्र थे रघु जिनके नाम पर उनके वशज रघुवशी कहलाए।

रघुवश का यश महाराज रघु के पौत्र दशरथ और दशरथ के पुत्र राम के कारण चारो दिशाओ मे फैला। दशरथ चक्रवर्ती सम्राट् थे। रामचन्द्र जी ने भी अश्वमेध यज्ञ किया और ये भी चक्रवर्ती सम्राट् बने। उन्होने अपना राज्य अपने तथा अपने भाइयो के पुत्रो मे बाँट दिया।

सूर्यवशी सम्राट् इक्ष्वाकु ने अपने पुत्र निमि को मिथिला का राज्य सौपा था। वहाँ से उनका वश चला। वशिष्ठ के शाप से उनकी मृत्यु हो गई थी परन्तु देवताओ की कृपा से वे फिर से जी उठे थे किन्तु उन्होने कहा कि मै पुन: देह धारण नही करना चाहता, मै बिना देह के ही रहूँगा। तभी से उनके वशज विदेह कहलाये। उनके पुत्र हुए जनक जिन्होने मिथिलापुरी बसाई। महाराजा निमि की 21वी पीढी मे ध्वज राजा हुए। वे जब यज्ञ के लिए धरती मे हल चला रहे थे तब हल के फाल से सीताजी प्रकट हुई जिनका विवाह दशरथ-नदन रामचन्द्र जी के साथ हुआ।

महाराज निमि के विदेह वश मे राजा सीरध्वज के पश्चात् अनेक प्रतापी राजा हुए। राजा निमि के पुत्र जनक के वशज के कारण राजा सीरध्वज भी जनक कहलाये और सीताजी जनकपुत्री कहलायी।

दिति की सन्तान : दैत्य वंश

महर्षि कश्यप की दूसरी पत्नी दिति के गर्भ से दो पुत्रों—हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष का जन्म हुआ। ये दोनो दिति के पुत्र होने के कारण दैत्य कहलाये। इनमे से हिरण्याक्ष को वराहवतार ने मार डाला। उसके बाद हिरण्यकशिपु अपने राज्य का राजा बना। वह अत्याचारी और अधर्मी था तथा अपने ही पुत्र प्रह्लाद को केवल इस कारण यातनाएँ देता था कि उसकी रुचि धर्म मे थी। अन्त मे उसे नरसिंहावतार ने मार डाला और प्रह्लाद दैत्य वंश का राजा बना।

प्रह्लाद का पौत्र बलि एक प्रतापी राजा हुआ जिसने आर्यों के छक्के छुडाये। समस्त आर्य राजाओ ने मिलकर दैत्यवश के विरुद्ध युद्ध छेड दिया। देवता जब उसे न हरा सके तो विष्णु नामक देवता ने छल से बौना (वामन) रूप धारण करके महादानी बलि से तीन पग पृथ्वी माँग ली, बलि ने अपने राजगुरु शुक्राचार्य की सीख की अवहेलना करके वामन को तीन पग पृथ्वी देने की घोषणा कर दी। वामन ने अढाई पगो में ही वलि का पूरा राज्य नाप डाला। इस प्रकार राजा बलि का राज्य देवताओ ने उससे लेकर आर्यों को प्रदान किया।

चन्द्रवंश का उदय

राम के बाद सूर्यवश का ह्रास आरम्भ हो गया। काल की दृष्टि से सतयुग और त्रेता यहाँ समाप्त होते हैं और द्वापर शुरू होता है। द्वापर चन्द्रवंशियो का काल है। चन्द्रवश का प्रथम राजा ब्रह्मा के पुत्र अत्रि का बेटा चन्द्रमा था जिसका जन्म सतयुग में ही हो गया था। उसका पुत्र था बुध और बुध का पुरुरवा जिसके उर्वशी से छ पुत्र उत्पन्न हुए। त्रेता मे इस वश के यशस्वी राजा गाधि हुए जिनके पुत्र विश्वामित्र ने तपस्या करके क्षत्रियत्व का त्याग कर दिया और ब्रह्मर्षि की उपाधि प्राप्त की। वे ही दशरथ-नन्दन राम के शस्त्र-गुरु हुए।

पुरुरवा का एक अन्य पुत्र था आयु, जिसके पाँच पुत्रो मे एक का नाम नहुष था। नहुष का पुत्र ययाति चक्रवर्ती सम्राट बना। उसने शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से दो और दैत्यराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा से तीन पुत्र उत्पन्न किये जिनमे यदु और पुरु के वश इतिहास मे प्रसिद्ध हुए।

पुरु का पुत्र जनमेजय हुआ और इसी वश मे आगे जाकर दुष्यत का जन्म हुआ। उसने अप्सरा मेनका से विश्वमित्र की पुत्री शकुन्तला के साथ गांधर्व विवाह किया तथा उससे एक परम तेजस्वी बालक पैदा किया जो भारत के इतिहास मे चक्रवर्ती भरत के नाम से विख्यात हुआ। भरत का राज्य गगोत्री से गगासागर तक और प्रयाग से यमुनोत्री तक फैल गया। उसने किरात, हूण, यवन (यूनानी), अन्ध्र, कक, खश, शक और म्लेच्छ आदि राजाओ को भी पराजित किया। भरत ने विदर्भराज की तीन कन्याओ के संग विवाह किया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भरत का साम्राज्य विदर्भ तक विस्तीर्ण था। भरत परम तेजस्वी और न्यायप्रिय राजा थे, उन्होने अपने पुत्रो को राजा बनने योग्य न जानकर बृहस्पति के औरस पुत्र भरद्वाज को गोद ले लिया और उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। इन्ही

भरद्वाज के वंश मे राजा रतिदेव हुए जो अपनी दानशीलता के लिए विख्यात हुए। अनेक पीढियो बाद इसी चन्द्रवश मे एक राजा हुआ हस्ती जिसने हस्तिनापुर बसाया।

इसी वश मे आगे जाकर एक प्रतापी राजा हुए कुरु जिन्होने कुरुक्षेत्र बसाया। उनके वशज कौरव कहलाये। कौरव वश मे राजा शान्तनु का जन्म हुआ, जिनकी तीन सन्तानो मे सबसे बडे गगा के पुत्र भीष्म थे जिन्होने अपनी विमाता सत्यवती के पुत्रो के वंश के हाथो मे सत्ता सौंपने का अपने पिता का वचन निभाने के लिए स्वय आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर राज्य के उत्तराधिकार का परित्याग कर दिया था। राजा शान्तनु की दूसरी पत्नी सत्यवती से दो पुत्र हुए—चित्रांगद और विचित्रवीर्य। चित्रांगद को तो इसी नाम के गधर्व ने मार डाला तथा विचित्रवीर्य भी कुछ समय बाद नि सन्तान मर गया। इस पर सत्यवती ने पराशर ऋषि द्वारा उत्पन्न अपने बेटे वेदव्यास को आदेश दिया कि वे विचित्रवीर्य की पत्नियो—अम्बिका और अम्बालिका से सन्तान उत्पन्न करे जिससे कि वश चल सके। वेदव्यासजी ने उन दोनो से धृतराष्ट्र और पांडु तथा उनकी दासी से विदुरजी को उत्पन्न किया।

धृतराष्ट्र सौ पुत्रो के पिता बने जो कौरव कहलाये। पांडु अपनी पत्नी से सहवास नही कर सकते थे। अत. पांडु की एक पत्नी कुती से धर्म, वायु और इन्द्र ने युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन को उत्पन्न किया तथा दूसरी पत्नी, माद्री से अश्विनीकुमारो ने नकुल और सहदेव को। ये पाँचो पांडव कहलाये।

कौरवो मे सबसे बड़ा दुर्योधन था। कौरवो और पाडवो के बीच कुरुक्षेत्र के मैदान में महाभारत नामक महाविनाशकारी युद्ध हुआ, जिसके बारे में कुरुक्षेत्र की खुदाई मे कोई प्रमाण नही मिलता। तथापि, महाभारत भारतीय सभ्यता का एक अनिवार्य चरण बन गया है।

यदुवंश और श्रीकृष्ण

पीछे हमने कहा है कि महाराजा ययाति के पुत्र यदु इतिहास मे विख्यात हुए। इन्ही के नाम से यदुवश की स्थापना हुई और इनके वशज यादव कहलाये। इस वश मे एक राजा हुए मधु और एक अन्य वृष्णि। इन्ही के नाम पर यह वश माधव और वार्ष्णेय भी कहलाया। इस वश के राजा ज्यामघ का पुत्र हुआ विदर्भ जिसने विदर्भ प्रदेश का विस्तार किया और उस पर राज्य किया। विदर्भ का विवाह भोज प्रदेश (बिहार मे) की राजकुमारी भोज्या के सग हुआ।

विदर्भ की आठवी पीढी मे राजा सात्वत के सात पुत्रो मे से तीन अधक, वृष्णि और महाभोज इतिहास मे विख्यात हुए। महाराज वृष्णि के कुल मे राजा श्वफलक के पुत्र अक्रूरजी हुए जो कृष्ण के मन्त्री और सारथी बने।

राजा अधक के वशज आहुक के दो पुत्र हुए—देवक और उग्रसेन जो मथुरा मे राज करते थे। देवक के चार पुत्र और सात पुत्रियाँ थी। उग्रसेन के नौ पुत्र और पाँच पुत्रिया थी। देवक की पुत्रियो मे से एक का नाम देवकी था और उग्रसेन के बेटो मे से एक का नाम कस था।

यदुवंश मे ही सौराष्ट्र के प्रतापी राजा शूरसेन के दस पुत्र हुए जिनमे से एक वसुदेवजी थे। वसुदेवजी का विवाह देवक की पुत्री देवकी और उसकी छः बहिनो के साथ हुआ तथा वसुदेवजी के पाँच छोटे भाइयों का विवाह उग्रसेन की पाँच बेटियो के संग हुआ।

उग्रसेन का बेटा कंस बहुत दुष्ट था। उसने देवकी और वसुदेवजी को बन्दी बना लिया तथा अपने पिता को गद्दी से उतार कर स्वयं मथुरा का राजा बन बैठा। अन्तत वसुदेव-देवकी के पुत्र श्रीकृष्ण ने कंस और उसके अत्याचारी राक्षसो की हत्या करके अपने नाना उग्रसेन को उनका राज्य सौंप दिया तथा स्वयं अपने पिता वसुदेव के साथ अपनी राजधानी द्वारिका लौट गये।

वसुदेवजी की पाँच बहिनो मे से एक का नाम था कुन्ती जो उनके पिता शूरसेन के मित्र कातिभोज के यहाँ गोद चली गयी थी इसी कारण उसका नाम कुन्ती पड गया। यही कुन्ती आगे जाकर हस्तिनापुर के पुरुवंशी राजकुमार पांडु से ब्याही और पांडवो की माँ बनी। विवाह से पूर्व कौतूहलवश सूर्य का आह्वान करने के कारण कुन्ती ने सूर्य के पुत्र कर्ण को जन्म दिया था जो अगदेश का महादानी राजा हुआ।

पुरुवंश के अन्य सम्राट

धृतराष्ट्र के सौ बेटो (कौरवो) और पाडु के पाँच बेटों (पांडवों) के बीच कुरुक्षेत्र के मैदान मे एक महायुद्ध हुआ। इस युद्ध मे पुरुवश के राजगुरु द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म आदि कौरवो के साथ थे तथा अकेले कृष्ण पाडवो के साथ। इसी युद्ध मे अर्जुन को मोह हो गया और वह युद्ध छोडकर जाने लगा। उस समय उसके सारथी श्रीकृष्ण ने उसे गीता का उपदेश दिया - जो आज तक मानव जाति के लिए निष्काम-कर्म, भक्ति और ज्ञान का अनूठा मार्गदर्शक है।

महाभारत मे भारी विनाश हुआ। कौरव पूरी तरह नष्ट हो गये। पाडवो के कुल मे अर्जुन के पौत्र (अभिमन्यु–पुत्र उत्तरानन्दन) महाराजा परीक्षित ही जीवित बचे जिन्हे राज्यभार सौंपकर विजयी पाडव हिमालय पर तप करने चले गये।

महाराजा परीक्षित के बाद चन्द्रवंश की छह पीढियो ने हस्तिनापुर में राज किया। इस समय हस्तिनापुर गगा की बाढ में डूब गया तब चन्द्रवंशी राजा नेमिचक्र अपनी प्रजा और सेना सहित कौशाबी तक दिग्विजय करते चले गये और उन्होंने कौशाबी को अपनी राजधानी बनाया।

नेमिचक्र के वशजो ने हस्तिनापुर को पुन. बसाया और उसके बाद चन्द्रवंश की अगली 22 पीढ़ियो ने वहाँ राज किया। इस बीच भारत के विविध भागो पर विविध राजाओ और राजवंशों का शासन रहा जिनका सम्बन्ध सूर्यवश, चद्रवंश, यदुवश, दैत्यवंश तथा इनकी अन्य शाखाओ से रहा। ये राजा उत्तर से दक्षिण, और पूर्व से पश्चिम तक समूचे भारत पर फैल गये। चंद्रवश का अतिम राजा क्षेम हुआ।

भारत के आर्य राज्यों मे मगध देश का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसके सबसे पराक्रमी राजा जरासंध थे। ये कुरुवशी थे। जरासध के वशजो ने एक हजार वर्ष तक मगध देश पर शासन किया।

यह वह इतिहास है जिसे पश्चिमी रग मे रगे भारतीय विद्वान् भारत का राजनीतिक इतिहास मानने से इन्कार करते है, परन्तु जो भारतीय चेतना, परम्परा और सांस्कृतिक इतिहास का अभिन्न अग है और जिसे लाख कोशिश करने पर भी न झुठलाया जा सकता है न भुलाया ही जा सकता है।

हस्तिनापुर के महाराजा परीक्षित और मगध देश के महाराजा जरासध के वंशज एक हजार वर्ष तक भारत पर शासन करते रहे। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि महाभारत का काल ईसा से 1500 अथवा 1600 वर्ष पूर्व है। इसके तुरन्त बाद भारतीय समाज ब्राह्मणो द्वारा निरूपति कर्मकाण्ड के जाल मे फसता चला गया, जिससे उसे मुक्ति दिलायी महावीर (540 से 468 ई. पू) तथा बुद्ध (536 से 438 ई पू) ने। बुद्ध और महावीर का काल उत्तर-वैदिक काल है।

मगध साम्राज्य

छठी शताब्दी ई पू. में भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण साम्राज्य मगध साम्राज्य था जो अपने आरम्भ के समय 542 ई. पू मे बनारस से बगाल तक फैला था किन्तु 519 ई पू मे समूचे उत्तर भारत मे पूर्व से पश्चिम तक फैल गया। इस काल के अन्य प्रमुख राजवश और राज्य थे—अग, कौशल, काशी और वैशाली।[1]

मगध साम्राज्य की पुन स्थापना शिशुनाग ने की, वह चद्रवशी सम्राट् कुरु के पुत्र बृहद्रथ और उनके पुत्र जरासध का वशज था। श्रीमद्भागवत पुराण मे इस वश के राजा रिपुजय तक का उल्लेख है। इसके आगे विष्णु पुराण मे वर्णन मिलता है। उसके अनुसार, शिशुनाग ने पटना और गया क्षेत्र को मिलाकर मगध राज्य को फिर से सगठित किया। शिशुनाग ने जिस शैशुनाग राजवश की नीव रखी उसके पाँचवें राजा बिंबिसार ने (जिन्हे श्रेणिक भी कहा जाता है) अपने 28 वर्ष के शासनकाल मे पूर्व की ओर अग प्रदेश (भागलपुर और मुगेर) को अपने राज्य मे मिला लिया। उसने कौशल की राजकुमारी तथा वैशाली के लिच्छवियो की पुत्री से विवाह किया। वैशाली की राजकुमारी कुनिका के निकट सम्बन्धी भगवान महावीर और बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान बुद्ध का भी यही काल है। बुद्ध ने 483 ई. पू. मे जब शरीर छोडा तब बिंबिसार के बेटे अजातशत्रु के शासनकाल का आरम्भ ही हुआ था।

अजातशत्रु ने अपनी ननिहाल के दोनो राज्यो कौशल और वैशाली को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया तथा अपनी राजधानी पाटलिपुत्र (पटना) मे बनायी।

1 Based on : India Yesterday and Today, Ed , *C D Moore & David Eldredge*, Preger Publishers, New York, 1970

यह वह समय था जब पश्चिम मे फारस (ईरान . आर्याना) के आर्य सम्राट् डेरियस ने समूची सिंधु घाटी पर विजय प्राप्त करके उसे फारस मे मिला लिया और वहाँ अपनी ओर से क्षत्रप (गवर्नर) नियुक्त किया था।

अजातशत्रु का पुत्र हर्षक हुआ और हर्षक का पुत्र उदय। उदय 434 ई पू मे मगध का राजा बना। इस वश का अन्तिम राजा जिसका पुराण[1] मे उल्लेख मिलता है नदीवर्धन था जिसे महानन्दिन भी कहा जाता था। महानन्दिन ने अपनी दासी से एक पुत्र उत्पन्न किया जिसका नाम रखा गया महापद्मनंद। 361 ई. पू मे महापद्मनद ने राजा महानन्दिन के पुत्र को मार कर उससे राज्य छीन लिया तथा क्षत्रियवश को समाप्त करके नद वश की नीव डाली। वह अपने वश का प्रथम और अन्तिम राजा हुआ। उसने 40 वर्ष तक शासन किया। वह बहुत कठोर और अत्याचारी था। उसने मुरा नाम की दासी से एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम रखा गया चन्द्रगुप्त। महापद्मनद अपने इस बेटे से बहुत डरता था, इसी कारण वह उस पर अत्याचार करता था। चन्द्रगुप्त मगध से भागकर पजाब के तक्षशिला महाविद्यालय मे पढने चला गया जहाँ उसकी भेंट कौटिल्य से हुई जो स्वय महापद्मनद को नष्ट करने की प्रतिज्ञा करके नालदा विश्वविद्यालय से तक्षशिला चला आया था और वहाँ पढाता था। कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त को विराट भारत के निर्माण का व्रत दिलवाया तथा 327 ई पू मे बसन्त के बाद जब मैसीडोनिया के सम्राट सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया तब कौटिल्य के कहने पर चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और यूनान की युद्ध-विद्या का अभ्यास किया। वह सिकन्दर के सम्पर्क मे भी आया।

कौटिल्य की सहायता से चन्द्रगुप्त ने उत्तर भारत के राजाओ की मदद प्राप्त की और मगध पर चढाई कर दी। उसने महापद्मनद की हत्या कर दी और कौटिल्य ने षड्यन्त्र रचकर महापद्मनद के सभी पुत्रो और उत्तराधिकारियो को विष से मरवा दिया। चन्द्रगुप्त 321 ई. पू मे मगध का सम्राट बना। उसने अपना नाम चन्द्रगुप्त मौर्य रखा।

323 ई. पू मे सिकन्दर के निधन के बाद भारत मे यूनानी साम्राज्य कमजोर पडता जा रहा था अत चन्द्रगुप्त मौर्य ने सेल्यूकस पर आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया तथा 303 ई पू मे उसके साथ संधि कर ली जिसके अनुसार उसे काबुल, हेरात, कधार, समूचा हिन्दूकुश क्षेत्र और पश्चिमी भारत का यूनानी प्रदेश मिल गया। सेल्यूकस ने अपनी बेटी हेलेन का चन्द्रगुप्त के साथ विवाह कर दिया और उसके दरबार मे मैगस्थनीज को अपने दूत के रूप मे रखा।

चन्द्रगुप्त ने दक्षिण के थोडे से भाग को छोडकर शेष समूचे भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। यह पहला अवसर था जब भारत एक ही

1 Based on—History of India, *Vincent A. Smith*, London, The Grolier Society.

केन्द्रीय सत्ता के आधीन हुआ। चन्द्रगुप्त का निधन 297 ई पू में हुआ और उसके बाद उसका बेटा बिंदुसार गद्दी पर बैठा जो 272 ई पू मे चल बसा। उसके बाद उसका बेटा अशोक मौर्य गद्दी पर बैठा जो एक महान् प्रतापी राजा के रूप में प्रसिद्ध हुआ और अपनी धर्मपरायणता के कारण अशोक महान् कहलाया। 260 ई पू. मे कलिंग के राजा ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया जिसे अशोक ने कड़ाई के साथ दबा दिया। मगर कलिंग विजय मे जो भीषण नरसहार हुआ उससे अशोक का दिल दहल उठा और उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर करुणा का प्रसार आरम्भ कर दिया। इसी से अशोक को देवानामप्रिय कहा गया। उसने 249 ई. पू मे बौद्ध तीर्थों की यात्रा की और अपने राज्य के दूर-दूर क्षेत्रो मे शिलालेख खुदवाये, स्तूप बनवाये, गुफाओ मे लेख उत्कीर्ण कराये और बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अपने बेटे और बेटी को श्रीलका भेजा।

यह एक विचित्र सयोग है कि कुरुवश के सम्राट बृहद्रथ द्वारा स्थापित मगध के मौर्यवश के अन्तिम सम्राट का नाम भी बृहद्रथ ही था जिसे सेनापति पुष्यमित्र ने मारकर सत्ता हथिया ली। तथापि, उसके वशज एक लबे समय तक कोकण और आंध्र क्षेत्रो मे शासन करते रहे।

शुगवश

184 ई पू. मे पुष्यमित्र स्वय मगध का सम्राट बना और उसने शुगवश की नीव डाली। उसने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र मे ही रखी तथा पश्चिम मे अवध और आगरा तक, पूर्व मे अगदेश (तिरहुत) तक और दक्षिण मे नर्मदा तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। अशोक महान् के बाद मगध का साम्राज्य बिखरने लगा था। कलिंग के खारवेल वशीय राजा ने अशोक के उत्तराधिकारियो से कलिंग वापस ले लिया था और दक्षिणापथ के प्रदेश भी मौर्यवश के हाथो से निकल चुके थे। पुष्यमित्र ने अपने बेटे अग्निमित्र को नर्मदा के उत्तरी प्रदेश का शासक बनाकर भेजा। अग्निमित्र ने विदिशा को राजधानी बनाया तथा वहाँ से विदर्भ पर चढाई करके वर्धा नदी तक का क्षेत्र जीत लिया।

अब पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ के लिए घोडा छोडा और उसकी रक्षा का भार अग्निमित्र के बली पुत्र वसुमित्र को सौंपा। सिंध के राजा ने जब घोड़े को बाँध लिया तो वसुमित्र ने उसको युद्ध मे हराकर मगध का साम्राज्य वापस सिंधु नदी के पश्चिम तक फैलाया।

पुष्यमित्र के बाद अग्निमित्र और उसके बाद अग्निमित्र का भाई सुज्येष्ठ गद्दी पर बैठा। सुज्येष्ठ के बाद वसुमित्र राजा बना। इस वश का नौवाँ राजा भागवत था और दसवाँ देवभूति जो घोर विलासी हुआ। देवभूति के मत्री कण्व शाखा के ब्राह्मण वसुदेव ने उसकी हत्या कर दी और स्वय राजा बन बैठा। इस वश का राज 45 वर्ष चला, और इसके अन्तिम राजा सुशर्मन को 27 ई पू मे आंध्र के सातवाहन राजा शिप्रक ने मार डाला तथा मगध सातवाहन राजाओ के हाथ मे आ गया।

आँध्र के सातवाहन

यह पहला अवसर था जब आँध्र के आर्येतर अथवा द्रविड़ प्रजाति के सातवाहन राजवंश का साम्राज्य उत्तर भारत तक फैला। इस वंश की नीव 220 ई पू मे तेलुगुभाषी राजा श्रीमुख (शिमुक) ने रखी थी। उस समय भी इसकी सैनिक शक्ति बहुत प्रबल थी तथा भारत मे मगध के बाद मानी जाती थी, इसी कारण सातवाहन राजाओ ने मगध की आधीनता स्वीकार कर ली थी। आँध्र राज्य का क्षेत्र गोदावरी और कृष्णा नदियो के बीच फैला हुआ था। इसमे 30 नगर थे जिनके चारो ओर दुर्ग सरीखा परकोटा था। इसके अतिरिक्त अनेक गाँव भी थे। इसकी राजधानी कृष्णा नदी के निचले बेसिन मे श्रीकाकुलम् मे थी।

श्रीमुख के बाद उसका पुत्र कृष्ण गद्दी पर बैठा जिसे कान्हा भी कहा जाता था। उसने अपने राज्य की पश्चिमी सीमा नासिक तक विस्तृत कर ली थी। सातवाहन राजा अपने नाम के आगे सातकर्णी लिखते थे। इस वश का सत्रहवाँ राजा हल हुआ जो मराठी, तेलुगु और सस्कृत का पण्डित था। उसने सस्कृत मे व्याकरण, पैशाची मे कथाकोश और मराठी मे काव्य-संग्रह की रचना की। उसने सस्कृत के विकास और प्रसार के लिए बहुत धन व्यय किया। इस वश मे कुल 23 राजा हुए।

शक राजवश

160 ई पू मे चीनी सेक जाति के आक्रमणकारी हिमालय के माना मार्ग से बद्रीनाथ होते हुए भारत मे आये और उन्होने शक राजवश की नीव डाली। उन्होने पजाब मे तक्षशिला से मथुरा तक अपने राज्य का विस्तार किया। ये राजा क्षत्रप कहलाते थे। इनके काल मे कलाओ का भारी विकास हुआ। ये लोग पूरी तरह भारतीय हो गये थे।

पल्लव वंश

लगभग इसी समय ईरान के पल्लव आर्य सिंध होते हुए दक्षिण की ओर गये और उन्होने तमिलनाडु का छोटा सा भाग जीतकर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। इन राजाओ का वंश पल्लव कहलाया। इन्होने अपनी राजधानी काँची मे बनायी। यह वंश ईसा पश्चात् के काल मे खूब फूला-फला और भारतीय इतिहास का एक अविस्मरणीय अध्याय बन गया।

इस प्रकार प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास सभ्यता के निर्माण का काल था और सघर्षो से परिपूर्ण था। आरम्भ में आर्यों मे एकता बनी रही और वे एक दूसरे की मदद से अन्यायो पर विजय प्राप्त करके आर्य भारत की सीमाओ का विस्तार करते रहे। यह काल त्रेता युग तक सीमित रहा जबकि राम ने श्रीलंका तक आर्य सभ्यता का विस्तार किया। द्वापर युग मे आर्य राजा अपनी-अपनी सत्ता के सघर्ष मे उलझ गये। इस सघर्ष को लौहयुग के प्रवेश ने बढावा दिया। पाश्चात्य

विचारकों एवं उनसे प्रभावित भारतीय विद्वानों का मत है कि भारत में लौह-युग का प्रवेश छठी शताब्दी ई. पू. में उस समय हुआ जब ईरान के सम्राट् डेरियस ने सिंधु नदी के पश्चिम में भारतीय क्षेत्र को अपने राज्य में मिलाया। परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। लोहे के लिए संस्कृत भाषा में अयस शब्द का प्रयोग हुआ है। वाल्मीकि रामायण में अयस शब्द बार-बार आया है, तथा यह तो निश्चित ही है कि महाभारत काल में लोहे का प्रयोग आम तौर पर शस्त्रों के लिए होने लगा था।

ऋग्वेद काल से लेकर मनुयुग के काल तक भारत की सभ्यता ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में तेजी से उन्नति की, विशेषतः राजनीतिक चिंतन और संस्थाओं के विकास के क्षेत्र में, जिसका वर्णन अगले अध्याय में किया जा रहा है।

23

भारत : राजनीतिक चिंतन और संस्थाएँ

(India: Political Ideas and Institutions)

भारत में राज्य संस्था कम से कम उतनी प्राचीन तो है ही जितनी कि सिन्धु घाटी सभ्यता। इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं—1. उस काल में समाज व्यवस्थित था और उसमें शान्ति स्थापित की गयी थी। नगर सुनियोजित रूप से बसाए गए थे और नगर के समीप ही दुर्ग होता था जिसमें धार्मिक अनुष्ठानों के अतिरिक्त राजा भी निवास करता था; 2. हड़प्पा-सभ्यता के समूचे क्षेत्र में एक भाषा और एक लिपि तथा माप-तौल के एक-समान मानदण्ड प्रचलित थे; 3. नगर और दुर्ग के चारों ओर परकोटा होता था जिसका प्रयोजन सुरक्षात्मक रहा होगा; जाहिर है कि ऐसे में सुरक्षा-सेना और सेनापति अथवा राजा भी रहा होगा; 4. हड़प्पा-सभ्यता के समूचे क्षेत्र से अनेक समान मुद्राएँ मिली हैं जिनका उपयोग निश्चय ही मोहर, ठप्पे के प्रकार के दस्तावेजों के लिए होता रहा होगा—राजा के आदेश तथा व्यापारिक अनुबन्ध।

राज्य का उदय और विकास

वैदिक काल में राज्य और राष्ट्र का अस्तित्व निर्विवाद है अर्थात् उसके बारे में वैदिक काल के वाङ्मय में स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। इस वाङ्मय का सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है। ऋग्वेद का रचनाक्रम 2500 ई. पू. में शुरू हुआ और 900 ई. पू. में सम्पूर्ण हो गया। उसमें कहा गया है कि राज्य की स्थापना पहले देवलोक से हुई। वहाँ अनेक देवता मुखिया होते जा रहे थे और अराजकता उत्पन्न हो गयी थी। इस अराजकता को समाप्त करने और देवताओं को दानवों के विरुद्ध संगठित करने के लिए प्रजापति ब्रह्मा ने इन्द्र को अपना तेज देकर देवलोक का राजा बनाया।

सामवेद के अन्तर्गत छांदोग्य उपनिषद् में राजनीति के लिए 'एकायन' शब्द का प्रयोग हुआ है तथा उसमें अनेक राजनीतिक पदों का प्रयोग मिलता है—राजा, अधिपति, स्वराज्य, आधिपत्य, अन्य राजन्, रायी, कोष, निष्क, हिरण्यनिधि, पुरम, समिति, सभा, क्षेत्रभाग, ग्राम, जनपद।

वेदो मे कहा गया है कि इन्द्र ने देवताओ का राजा बनने के बाद पृथ्वी पर मानवजाति के लिए राजा की नियुक्ति की, जिसका विधिवत् राजतिलक किया गया। राजा को प्रभुता सम्पन्न माना गया, वह प्रजा का रक्षक और समस्त भूमि तथा सम्पत्ति का स्वामी था। वह अपने नाम का सिक्का चलाता था जिसे 'निष्क' कहा जाता था। राजा को अपने राज्य मे शान्ति और व्यवस्था स्थापना पर ध्यान देना होता था। प्रजाजनो को अपने-अपने निर्धारित धर्म और कर्म का पालन करना होता था। जीवन सुनियोजित था तथा सबको शान्ति से जीने का अधिकार था।

वैदिककालीन राज्य-व्यवस्था को आधुनिक पारिभाषिक शब्दावली मे निरूपित नही किया जा सकता। उसमे हमे एक साथ राज्य और राजा के सम्बन्ध मे दैवी अधिकार, शक्ति और सविदा के तत्त्व प्राप्त होते हैं। वास्तव मे उस काल मे राज्य और राजा प्रजा के रजन अर्थात् कल्याण के लिए होते थे तथा प्रजा से अलग उनके निहित हितों या स्वार्थों की कल्पना ही उत्पन्न नही हुई थी। एक ओर राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि तथा अनेक देवताओ के अश से निर्मित माना गया था, दूसरी ओर उसके लिए शक्तिशाली होना आवश्यक था। इन्द्र को देवताओ ने यह कहकर, स्वीकार किया था कि वह हम सबमे बलशाली है और हमारी रक्षा करने मे समर्थ है। तीसरी ओर राजा के लिए लोकनिन्दा मरण के समान मानी जाती थी और यह माना जाता था कि यदि प्रजा राजा से दुखी है तो राजा को राज करने का अधिकार नही रहता। यह संविदा का तत्त्व है। इन्द्र को आखिरकार देवताओ ने अपना राजा स्वीकार किया था। यह स्वीकृति ही सविदा का मूल तत्त्व है।

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन मे दैवी-उत्पत्ति और शक्ति के सिद्धान्तो का प्रतिपादन राजा के पद को गरिमा प्रदान करने के लिए नही वरन् उसकी स्वेच्छाचारिता का समर्थन करने के लिए किया गया था, तभी यह आवश्यकता महसूस हुई कि उन दोनो सिद्धान्तो को अस्वीकार करके प्रजा की सामान्य-इच्छा और उसके आधार पर सविदा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाए। भारत की प्राचीन सभ्यता मे राजा के दैवी होने का अर्थ यह हो ही नही सकता था कि वह निरकुश, स्वेच्छाचारी और आततायी हो सकता है। ईश्वर सबका पिता है, दयालु है और कल्याण करने वाला है, राजा को भी ऐसा ही होना अनिवार्य था। ऐसा न होने पर धर्म-पुरोहित राजा की भर्त्सना कर सकते थे। दैवी चरित्र के कारण वह एक सीमा तक धर्म के रक्षक के रूप में भी प्रतिष्ठित हुआ और इस प्रकार ऋषि अथवा धर्मगुरु के नियन्त्रण मे आ गया।

सभा और समिति

अथर्ववेद मे जहाँ राजा को प्रजापति की सन्तान कहा गया है वही सभा और समिति को प्रजापति की जुडवाँ कन्याएँ कहा गया है। सभा और समिति गाँव से लेकर केन्द्र तक प्रत्येक स्तर पर शासन-व्यवस्था के सूत्रों का संचालन करती

थी। सभा में समाज के कुलीन परिवारो के बड़े-बूढे सदस्य होते थे। यह व्यवस्था महाभारत काल तक ऐसे ही प्रचलित थी तभी तो द्रोपदी ने कहा था कि जिस सभा मे वृद्ध न हो वह सच्चे अर्थ मे सभा नहीं होती। बौद्धकाल मे भी सभा का उल्लेख मिलता है तथा उस समय यह माना जाता था कि सभा मे साधु और सज्जन पुरुष होने चाहिए। वास्तव में समय-समय पर सभा के सदस्यों की सदस्यता अलग आधारो पर तय होती थी, कभी पुरोहित और धनी वर्ग के लोग, कभी विद्वान् और सेनापति।

प्रो अनन्त सदाशिव अलतेकर ने लिखा है कि "अधिकतर प्रमाणो से यही निष्कर्ष निकलता है कि सभा प्राय. ग्रामसंस्था थी और उसमे सामाजिक तथा राजनीतिक दोनो विषयो पर विचार किया जाता था।"[1] सभा मे स्त्री-पुरुष दोनो प्रकार के सदस्य होते थे। उसका प्रमुख कार्य राजा को परामर्श देना तथा समय-समय पर न्यायिक मामलो की सुनवायी करके अपना निर्णय प्रकट करना था।

ऋग्वेद मे जहाँ सभा और समिति का उल्लेख आया है वहाँ दोनो के कार्य एक सरीखे ही दिखायी पडते हैं। समिति मे अधिक सदस्य विद्वान् होते थे, उनके लिए वृद्ध होना अनिवार्य न था। कुछ विद्वानो का मत है कि समिति संसद् का कार्य करती थी अर्थात् वह मुख्यत राजा को कानून बनाने के मामले मे परामर्श देती थी। मन्त्रो में कहा गया है कि सभा और समिति के सदस्यो के मन एक समान होने चाहिए, उनमे परस्पर प्रीति होनी चाहिए तथा विचार-विमर्श सद्भावपूर्ण वातावरण मे होना चाहिए। ऋग्वेद कहता है कि आदर्श राजा हमेशा समिति की बैठकों मे भाग लेता है। यह भी उल्लेख है कि राज्य पर अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए राजा के लिए यह अनिवार्य होता था कि वह समिति को प्रसन्न और अपने अनुकूल बनाए रखे। नये राजा के चयन मे भी समिति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। समिति जिसका विरोध करती वह राजा नही बन सकता था। राजा और समिति के बीच घनिष्ठ सम्पर्क रहता था। कुछ विद्वानो का मत है कि समाज के समस्त नागरिक समिति के सदस्य होते थे तथा यह एक प्रकार से राष्ट्रीय-नागरिक-संसद् के समान थी। प्रो अलतेकर का विचार है कि "समिति मे गहन वाद-विवाद होता था, राजनीति मे ख्याति प्राप्त करने के इच्छुक नये सदस्य अपनी वाक्पटुता से समिति को प्रभावित करने के लिए लालायित रहते थे। समिति में वही सदस्य सफल माना जाता था जो अपने वाक्-चातुर्य और तर्कों के द्वारा समिति के सदस्यो को अपने पक्ष मे कर लेता था। कभी-कभी दलबन्दी की तीव्रता के कारण उत्तेजक विवाद हो जाता था और अवश्य ही हाथापाई की नौबत आ जाती होगी तभी तो ऋग्वेद मे प्रार्थना की गयी है कि समिति की कार्यवाही सौहार्द्रपूर्ण हो, सदस्यो मे मेलजोल रहे और उसके निर्णय सर्वसम्मति से हो।"[2]

1 अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ 102.
2 Ibid. p. 104.

छोटे राज्यों मे समिति राजा का निर्वाचन भी करती थी। सभा और समिति दोनो धीरे-धीरे अपना राजनीतिक महत्त्व और कार्य खो बैठी तथा संहिता एव ब्राह्मण ग्रन्थो के काल तक वे पूरी तरह निष्क्रिय हो चुकी थी। उपनिषदों मे जहाँ कही इन दोनो संस्थाओ का उल्लेख मिलता है वहाँ इनका अर्थ केवल बड़े और छोटे सम्मेलन से होता था। सभा यानी बड़ा सम्मेलन और समिति यानी छोटा सम्मेलन, जहाँ लोग एकत्र होते और अपनी समस्याओं के बारे मे चर्चा करते, लेकिन इन चर्चाओ का राजकाज पर कोई असर नही पड़ता और राजा पर उनका कोई नियन्त्रण न रहा, न राजा उनसे सलाह ही लेता था।

डॉ० के० पी० जायसवाल ने लिखा है कि सभा और समिति अपने मूल रूप से भले ही न रही हो लेकिन सार रूप मे वे पौर-जानपद सभा के रूप मे क्रियाशील हो गयी थी। पौर-जानपद का अर्थ है राजधानी और जनपद अर्थात् राज्य की जनता अथवा नागरिक। डॉ० जायसवाल ऐसा मानते है कि जानपद मुख्य राजनीतिक संस्था थी, वह मुद्रा-विनियमन और माप-तोल के लिए मानको का निर्धारण करती, राज्य के उत्तराधिकारी का चयन करती थी। वह किसी सिंहासनारूढ राजा को उसके पद से हटा सकती और हटाए गए राजा को फिर से सिंहासन पर बैठा सकती थी। वह राज्य की मन्त्रि-परिषद् की नियुक्ति करती और राजा को नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर परामर्श देती थी। पौर-जानपद का विश्वास खो देने पर मन्त्री को उसके पद से हटा दिया जाता था। वह करो के समस्त प्रस्तावो पर विचार करती और करो की मात्रा तथा दर तय करती थी।[1] प्रो० अलतेकर ने डॉ० जायसवाल के मत से पूर्ण असहमति व्यक्त की है तथा पौर-जानपद के कार्यों के विवरण को मनगढन्त बताया है।

जन, राष्ट्र और राजा

ऋग्वेद मे कहा गया है कि व्यक्ति अपने परिवार मे सगठित हुआ, परिवारो से कुल बने, कुलो ने ग्राम बसाये, गाँवो से मिलकर जन बने और ये जन ही राष्ट्र बने। जब कई जन आपस मे मिल जाते तो राष्ट्र बड़ा और शक्तिशाली बन जाता था। राज्य की प्रजा को विश कहा गया और राजा को विशपति।

वैदिककालीन राज्य कई प्रकार के थे। एतरेय ब्राह्मण मे आठ प्रकार के राज्य गिनाए गए है—साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, राज्य, पारमेष्ठ्य, महाराज्य एव आधिपत्य। डॉ० जायसवाल इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि वैदिक काल के प्रारम्भ मे राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति ही प्रचलित थी और "गणतन्त्रात्मक शासन पद्धति राजतन्त्र के बहुत समय बाद आयी जबकि पूर्व-वैदिक काल समाप्त हो गया। गणतन्त्र का उल्लेख उत्तर-वैदिक काल के साहित्य मे मिलता है।"

राजा का पद प्राय: पितृगत होता था तथा पिता के बाद ज्येष्ठ पुत्र को प्राप्त होता था, लेकिन वैदिक वाङ्मय मे यह उल्लेख भी मिलता है कि विश

1 *Dr K P. Jaiswal* Hindu Polity, p. 21.

(प्रजा) राजा का वरण करता था। यह कहना कठिन है कि प्रजा की यह सहमति सहज औपचारिक थी या वास्तविक। इतना निश्चित ही है कि यदि विश कभी सहमति देने से इनकार कर देता होगा तो संवैधानिक संकट खड़ा हो जाता होगा।

राजा राष्ट्र का मुखिया होता था, लेकिन प्रजा महत्वहीन न थी। राजा अपने राज्य के लिए बनाये जाने वाले कानूनों पर अन्तिम स्वीकृति देता था तथा समय-समय पर उसकी इच्छा ही कानून का रूप ले लेती थी। वह प्रजा पर कर लगाता था और न्यायाधीश के रूप में लोगों के विवादों का निपटारा भी करता था। चक्रवर्ती राजा को सम्राट की पदवी प्राप्त होती थी।

राजा को राजकाज चलाने में मदद देने के लिए अनेक मन्त्री और सरकारी अधिकारी तथा कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। नीचे से चलें तो ग्राम के मुखिया को ग्रामणी कहा जाता था। प्रधान सेनापति सेनानी कहलाता था। मन्त्रियों में राजपुरोहित का पद सबसे ऊँचा होता था, वह राजा का मार्गदर्शन करता, और युद्ध में भी उसके साथ जाता था। डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी का मत है कि ग्रामणी, पुरोहित और सेनानी राजा के मन्त्री होते थे।[1]

वैदिक काल में राज्य की बुनियादी इकाई ग्राम होता था और ग्राम के प्रशासन में राजा तथा उसके अधिकारी कम से कम हस्तक्षेप करते थे, उसका भार ग्रामणी और ग्राम सभा पर होता था। इसी प्रकार नगर को पुर कहा जाता था तथा उसका प्रबन्ध पौर (नगर सभा) करती थी। नगर का अधिकतम 12 कि. मी. अर्ध-व्यास के क्षेत्र पर माना जाता था और न्यूनतम 3 कि. मी. अर्ध-व्यास के क्षेत्र पर। बी. एम. सरकार का मत है कि, "वैदिक भारत में शताब्दियों तक स्वशासित राष्ट्र-मण्डल रहे और अनेक प्रकार की सभाओं, समितियों तथा समूहों का अस्तित्व बना रहा।"[2]

महाकाव्यों में राजनीतिक चिन्तन

वैदिक काल का उत्तर काल दो महाकाव्यों का काल है—महर्षि वाल्मीकि की रामायण और महर्षि वेद व्यास का महाभारत। इन दोनों महाकाव्यों में उस काल की सभ्यता, शासन-पद्धति, राजनीतिक अवस्था, समाज और इतिहास का विस्तार से वर्णन मिलता है। इनमें रामायण महाभारत का पूर्ववर्ती है। राम का काल 2000 से 1500 ई. पू. के बीच माना गया है तथा कृष्ण का काल 1500 से 1000 ई. पू. के बीच। इसका अर्थ यह नहीं है कि रामायण और महाभारत महाकाव्यों का रचना काल भी वही है। विद्वानों का मत है कि रामायण का रचना काल सातवीं शताब्दी ई. पू. तथा महाभारत का रचना काल पाँचवी शताब्दी ई. पू. है।

1 डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता

2 *B. M. Sarkar* : The Political Institutions and Theories of the Hindus, [illegible]1–52.

रामायण और महाभारत के बारे मे सबसे पहले यह बात समझना आवश्यक है कि ये राजनीति के नही वरन् एक युग विशेष की राजनीति, समाज नीति, अर्थव्यवस्था और धर्म तथा चिन्तन के प्रतिनिधि गाथा-काव्य हैं जिनकी रचना अलग-अलग नायको के इर्द-गिर्द हुई है तथा जिनमे यथार्थ के साथ कल्पना का पुट सहज ही मिला हुआ है।

रामायण मे राजनीतिक चिन्तन

रामायण मे रामकथा का वर्णन है। इसकी रचना कभी भी हुई हो, मूलत. इसमे राम के काल के समाज का चित्रण है। रामायण के राजनीतिक चिन्तन में सबसे प्रथम और प्रमुख बात यह है कि यह महाकाव्य अराजक समाज को अभिशप्त समाज मानता है, तभी तो राम के वनगमन और दशरथ के परलोकगमन के बाद यह माँग उठती है कि अयोध्या को तुरन्त इक्ष्वाकु वश का नरेश प्रदान किया जायें जिससे कि अयोध्या अराजक बनने से बच सके।[1]

वाल्मीकि रामायण को ही रामायण कहा जाता है, आम तौर पर गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरितमानस को रामायण कह दिया जाता है, यह सही नहीं है। यहाँ हम वाल्मीकि रामायण का उल्लेख कर रहे हैं। उसमे राज्य को राजतन्त्रात्मक मानते हुए भी राजा के साथ तद्रूप नही माना गया है वरन् राज्य के सात अगो का वर्णन किया गया है—राजा, अमात्य, जनपद, कोष, पुर, दण्ड तथा मित्र। सम्भवतः दण्ड मे पुलिस और सेना दोनो का समावेश होता है।

राज्यो की शक्ति के अनुसार राजाओ को भी विभिन्न कोटियो मे रखा गया है। राजा दशरथ बली राजा थे, तीन सौ राजाओ ने उनकी आधीनता स्वीकार की थी, इसी कारण उन्हे चक्रवर्ती सम्राट् कहा गया है।

यहाँ इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है कि राम के काल मे आर्य राजाओ को सगठित करने का प्रयास किया जा रहा था, तथा आर्य राजा मिलकर अनार्य राजाओं के विरुद्ध युद्ध करते थे। इस कार्य मे आर्य धर्मगुरुओ और ऋषियो की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। वे जगलो मे छावनियाँ डालकर धर्म का चितन और राम को शस्त्र तथा आतिथ्य और मार्ग का परिचय प्रदान करते थे। अनार्यों के विरुद्ध आर्यों के इस अभियान से सिद्ध होता है कि राम का काल भारत मे आर्यों के आगमन अथवा आर्य सस्कृति के उद्भव और प्रसार का काल है राम स्वय जिसके अग्रदूत हैं। यह तथ्य इसलिए ध्यान मे रखना आवश्यक है जिससे कि राम के काल का निर्धारण करते समय हम भटकने न पायें।

कुछ विद्वानो का मत है कि रामायण राजा को ईश्वर मानती है क्योकि राम को ईश्वर के अवतार के रूप मे स्थापित किया गया है। वास्तव मे ऐसा नहीं है, अकेले राम को ही अवतार कहा गया है, यह एक अपवाद है। उनके पिता दशरथ साधारण मनुष्य हैं तथा साधारण मानव की भाँति अपने कर्म का फल भोगते दिखाये

1 महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण पर आधारित।

गये हैं। राम का महत्त्व उनकी विजय के कारण नही वरन् उनके आदर्श राजा होने के नाते स्थापित किया गया है, जिसके कारण रामराज अपने आप मे एक आदर्श समाज और राज्य की परिकल्पना के रूप मे आज तक मानव जाति का मार्ग आलोकित करता है। वाल्मीकि महर्षि कहते हैं—

काले वर्षति पर्जन्य सुभिक्ष विमला दिशः।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णं पुर जनपदास्तथा ॥
नाकाले म्रियते कश्चिन्न व्याधि. प्राणिना तथा।
नानर्थो विद्यते कश्चिद् रामे राज्य प्रशासति ॥

श्रीराम के राज्य मे मेघ समय पर वर्षा करते थे। सदा सुकाल ही रहता था, कभी अकाल नही पडता था। सम्पूर्ण दिशाएँ प्रसन्न दिखायी देती थी तथा नगर और जनपद हृष्ट-पुष्ट मनुष्यो से भरे रहते थे। किसी की अकाल मृत्यु नही होती थी। प्राणियो को कोई रोग नही सताता था और ससार मे कोई उपद्रव खडा नही होता था (उत्तर काण्ड, सर्ग 99, श्लोक 13, 14)।

अयोध्या के लिए नये राजा की नियुक्ति की जानी है। चक्रवर्ती सम्राट् दशरथ अपने सभासदो के सामने प्रस्ताव रखते है कि यदि आप लोगो को उचित प्रतीत हो तो आप मेरे बडे बेटे राम को मेरा उत्तराधिकारी नियुक्त करें। इतना ही नही दशरथ सबके सामने राम के गुणो का भी वर्णन करते हैं। सभासदो ने एकमत से राम के नाम का अनुमोदन किया तब दशरथ ने यह जानना चाहा कि सभासदो ने राम के नाम का समर्थन स्वेच्छा से किया है अथवा उनके कहने से और जब उन्हे यह विश्वास हो गया कि सभासदो ने राम को हृदय से स्वीकार किया है तो उन्होने राम को राजा बनाने की घोषणा कर दी।

यह कोई मामूली घटना न थी, यह दशरथ की उदारता का प्रश्न भी नही था। यह वास्तव मे एक साविधानिक प्रश्न था और दशरथ की प्रजावत्सलता का प्रमाण भी। साविधानिक व्यवस्था यह थी कि अगले राजा के नाम का प्रस्ताव सत्ताधारी राजा की ओर से आये, प्रस्ताव मे बताया जाये कि राजा ने नये राजा के लिए नाम का प्रस्ताव उसके किन गुणो तथा राज्य की नीति के किन सिद्धान्तो के आधार पर किया है, तथा अन्त मे सभासद नये राजा के नाम को सर्वसम्मति से स्वीकार करे और वह भी सत्तासीन राजा से प्रभावित हुए बिना वे स्वतन्त्रतापूर्वक निश्चय करें। यह ठीक वह व्यवस्था है जो ऋग्वेद मे देवताओ के राजा पद के लिए इन्द्र के चयन के समय प्रजापति ने अपनायी थी। प्रस्ताव प्रजापति ने रखा था, प्रजापति ने इन्द्र को सबसे अधिक गुणवान और बलशाली देवता बताया था और देवताओ ने इन्द्र को अपने राजा के रूप मे स्वीकार किया था। इस व्यवस्था मे तीन तत्त्व निहित है—1 नया राजा जहाँ तक सम्भव हो सत्तासीन राजा का ज्येष्ठ पुत्र हो, 2 गुणवान हो, और 3 सभा को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार्य हो।

इस व्यवस्था की तुलना कथा के माध्यम से राक्षसो के राज्य की व्यवस्था से की गई है जिसके अन्तर्गत रावण स्वेच्छाचारी राजा बन गया था, वह न अपने

ब्राह्मणों की सीख पर कान देता था, न अपने नाना की न अन्य मन्त्रियों की बात पर। उसने राजमहिषी मन्दोदरी के परामर्श का भी तिरस्कार किया।

महाभारत में राजनीतिक चिन्तन

रामायण की तरह महाभारत भी एक गाथापरक महाकाव्य है जिसकी रचना महाभारत की घटना के एक हजार वर्ष बाद हुई, इसलिए इसे भी शुद्ध इतिहास या ऐतिहासिक महाकाव्य नहीं कहा जा सकता, तथापि उससे महाभारत काल की सभ्यता, समाज, राजनीति, अर्थव्यवस्था और रीति-नीति का बोध होता है।

महाभारत में राज्य और राजा की उत्पत्ति के बारे में अनेक सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। प्रारम्भ में लोगों में आपस में एक संविदा हुआ कि वे ऐसे व्यक्ति का सामाजिक बहिष्कार करेंगे जो कटु वाणी बोलता हो, लोगों को दण्डित करता हो अथवा पराए धन का अपहरण करता हो। लेकिन इस संविदा की व्यवस्था का पालन कराने के लिए व्यवस्थित और सगठित अभिकरण न होने से संविदा का पालन नहीं हो पाया और समाज में आपाधापी मचने लगी तथा सामाजिक शान्ति नष्ट हो गई। यह अराजकता की स्थिति थी जिसमें घबराकर प्रजा ने प्रजापति ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि वे मानवों के लिए राज्य की स्थापना करें और उन्हें राजा प्रदान करें।

एक स्थान पर कहा गया है कि ब्रह्मा जी ने अपने बेटे को मनुष्यों का राजा नियुक्त किया जो राजकाज की ओर से विमुख रहा, परन्तु उसके उत्तराधिकारी राजकाज में सक्रिय रुचि लेने लगे। उनमें से एक राजा वेन हुआ जो अत्याचारी था, उसने प्रजा को बहुत कष्ट दिए, जिसके कारण ऋषियों ने मिलकर उसे मार डाला। उसके बाद प्रजापालक पृथु गद्दी पर बैठा जिसके नाम पर धरती का नाम पृथ्वी पड़ा।

इस कथा के अनुसार राजा की नियुक्ति दैवी है, साथ ही यदि राजा अत्याचारी हो तो उसे मार डालने की व्यवस्था भी है। किन्तु यह काम तटस्थ और न्यायप्रिय बुद्धि वाले, ज्ञानियों अर्थात् ऋषियों को सौंपा गया है, साधारण प्रजाजनों अथवा सैनिकों को नहीं। तीसरी बात यह कि राजा की हत्या के बाद उसके पुत्र को ही गद्दी पर बैठाया जाए जिससे राजवंश अप्रतिहत चलता रहे।

एक अन्य स्थल पर महाभारत में कहा गया है कि अराजकता के कारण जब प्रजा आकुल हो गई तो उसने ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि उन्हें राजा प्रदान किया जाए। ब्रह्माजी ने मनु से कहा कि तुम मनुष्यों के राजा बन जाओ। मनु ने इनकार कर दिया और कहा कि मनुष्य छली होते हैं अतः उन पर शासन करना मेरे वश की बात नहीं है। मुझे छल का बहुत भय है क्योंकि मनुष्यों में उसके रहते शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित नहीं की जा सकती।

इस पर ब्रह्माजी ने मनुष्यों से कहा कि आप लोग मनु महाराज का

समाधान करके उन्हें अपना राजा बना सकते हो तो बना लो, हमारी अनुमति है। मनुष्यों ने मनु को वचन दिया कि "हम राज्य के संचालन के लिए आपको अपने पशुओं और स्वर्ण का पाँचवाँ भाग देंगे तथा धान्य (अनाज) का दसवाँ भाग। इतना ही नहीं आपके प्रजाजन जो पुण्य कमाएँगे उसका चौथाई भाग भी आपको प्राप्त होगा। लेकिन इसके बदले में हम यह चाहते हैं कि जिस प्रकार देवलोक के राजा इन्द्र सभी देवताओं का पालन करते और न्यायशील हैं वैसे ही आप भी अपने सभी प्रजाजनों का पालन करें और उन्हें न्याय प्रदान करें।"

इस प्रकार राजा मनु और प्रजा के बीच संविदा या अनुबन्ध (इकरार) हो गया और मनु ने राजा बनना स्वीकार कर लिया। इस संविदा के साक्षी स्वयं ब्रह्माजी रहे। इस प्रसंग में ब्रह्माजी ने मनुष्यों को राजा प्रदान नहीं किया वरन् केवल मनु का नाम सुझाया है। मनु किन शर्तों पर मनुष्यों का राजा बनना स्वीकार करते हैं यह मनु और प्रजा के बीच परस्पर तय होता है, ब्रह्माजी मात्र साक्षी हैं। ब्रह्माजी ने मनु को राजकाज चलाने के लिए एक लाख धाराओं वाला एक संविधान भी प्रदान किया जिसे दण्डनीति कहा गया। यहाँ यह दृष्टव्य है कि ब्रह्मा विधाता अथवा विधायक हैं। उनका काम स्वर्ग का विधान बनाना और जगत की रचना करना है, उन्होंने मनुष्यों के प्रति भी अपने इसी कर्त्तव्य का पालन किया और उन्हें विधायिका की हैसियत से एक संविधान प्रदान किया। इस प्रकार मनुष्य के प्रथम राज्य के तीनों अंग सम्पूर्ण हुए—ब्रह्माजी ने संविधान सभा के रूप में अथवा संसद् के रूप में कार्य किया और कार्यपालिका तथा न्यायपालिका शक्तियाँ राजा मनु में निहित रहीं। प्रजा ने राजकोष देने का वचन इसलिए दिया क्योंकि महाभारत के शान्ति पर्व के अनुसार—कोषमूला हि राजानो, कोषो वृद्धिकरो भवेत्।[1]

ब्रह्माजी ने दण्डनीति इसलिए प्रदान की क्योंकि मनु ने ब्रह्माजी से उसकी माँग की। मनु ने कहा कि दण्ड शास्ति प्रजा सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति। दण्ड सुप्तेषु जागर्ति दण्ड धर्म विदुर्बुधा।[2] "दण्ड प्रजा को अनुशासन में रखता है। दण्ड ही सबकी रक्षा करने में समर्थ होता है। दण्ड सोए हुए को जगा देता है। विद्वानों का मत है कि दण्ड ही धर्म है।"

यहाँ 'सब' शब्द पर जोर दिया गया है। दण्ड ही सबकी रक्षा करने में समर्थ होता है। इसका तात्पर्य यह है कि समाज में बलवान लोग तो अपनी रक्षा स्वयं कर सकते हैं लेकिन निर्बल लोगों की रक्षा दण्ड अथवा कानून द्वारा ही की जा सकती है। दण्ड सोए हुओं को जगा देता है; अर्थात् जिन लोगों को सामाजिक व्यवस्था की चिन्ता नहीं है और जो अपने संकीर्ण स्वार्थों में फँसे रहते हैं, दण्ड अर्थात् कानून उन्हें होश में ले आता है और उन्हें सदाचार के नियमों का पालन

1 महाभारत, शान्तिपर्व . 119, 16
2 मनुस्मृति, 8 . 14

करने के लिए विवश करता है इसीलिए दण्ड को धर्म अथवा कर्त्तव्य कहा गया है। महाभारत में धर्म उसे कहा गया जो धारण करता है, प्रजा को सुख और शान्ति का आधार प्रदान करता है—धारणाद्धर्मित्याहुधर्मो धारयते प्रजा।[1]

शान्ति पर्व में भीष्म पितामह राजा को दैवी बताते हैं, लेकिन यहाँ उनका प्रयोजन यह कहना नहीं है कि राजा ईश्वर अथवा उसका प्रतिनिधि है। वे केवल यही कहते हैं कि राजा में दैवी गुण और चरित्र होने चाहिए, उसे पृथ्वी पर देवता के समान विचरण करना और आचरण करना चाहिए। यहाँ कहा गया है कि "तेनधर्मोतरश्चाप कृतो लोको महमना। रंजिताश्च प्रजा सर्वास्तेन राजेति शब्दायत॥"[2] राजा शब्द का अर्थ ही है समस्त प्रजा का रंजन करने वाला अर्थात् प्रजा को सुखी करने वाला। यहाँ भी प्रजा के साथ सर्वा जोड़ा गया है, अर्थात् समस्त प्रजा। महाभारत में चन्द लोगों (कुलीन, धनी अथवा सैनिक वर्गों) अथवा बहुजन (Majority) के सुख और हितों का उल्लेख नहीं है। उसमें सर्व अर्थात् सब पर बल दिया गया है। रामायण में भी यही आग्रह रहा। दैवी राजा वह है जिसके राज में 'कोई भी' प्रजाजन कष्ट में न रहे, अथवा 'किसी भी' प्रजाजन को 'कोई भी' कष्ट न रहे।

भारतीय मनीषा की यह महत्वाकांक्षा आज तक अविच्छिन्न रूप से बनी हुई है। इसी कारण महात्मा गांधी ने रामराज की कामना की और उसे सर्वोदय की संज्ञा प्रदान की, अर्थात् ऐसी राज-व्यवस्था जिसमें 'सबका' सब प्रकार का अर्थात् सम्पूर्ण हित सिद्ध हो, और जो केवल 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' बनकर न रह जाए।

अर्थशास्त्र, स्मृतियाँ और नीतिशास्त्र

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन और संस्थाओं के विषय में यह उल्लेखनीय है कि चौथी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर 12वीं शताब्दी ईसा पश्चात् के बीच भारतीय राजनीतिक चिन्तन को प्रतिपादन करने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया गया। इनमें सबसे प्राचीन कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। उसके बाद मनुस्मृति का संकलन हुआ और बाद में याज्ञवल्क्य स्मृति, कामन्दकीय नीतिसार और शुक्रनीति। इनमें से प्रथम तीन ईसा से पूर्व की कृतियाँ हैं, कामन्दकीय नीतिसार छठी शताब्दी ईस्वी की और शुक्रनीति 12वीं शताब्दी ईस्वी की।

अर्थशास्त्र का राजनीतिक चिन्तन और संस्थाएँ

अर्थशास्त्र के प्रणेता आचार्य कौटिल्य अथवा चाणक्य अथवा विष्णु गुप्त सिकन्दर के ज्येष्ठ समकालीन थे। वे तक्षशिला विश्वविद्यालय में चन्द्रगुप्त मौर्य के शिक्षक रहे और जब चन्द्रगुप्त ने मगध राज्य पर विजय प्राप्त करने का

1 महाभारत : शान्ति पर्व

2 *Ibid.*

निश्चय किया तो उसके मार्गदर्शक और परामर्शदाता बने। अन्त मे जब चन्द्रगुप्त सम्राट् बन गया तो कौटिल्य उसके प्रधान मन्त्री बने। वे तपस्वी महात्मा थे और प्रधान मन्त्री बनने के बाद भी नगे पाँव, नगे बदन केवल धोती पहने, फूस की कुटिया मे रहते थे जिसके छप्पर पर यज्ञ के लिए गोबर के उपले सूखते रहते थे।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजनीति का एक महान् ग्रन्थ है। इसके 15 अध्यायो (अधिकरणो) मे राजा, मन्त्रि-मण्डल, गुप्तचर, रक्षा, प्रशासन की संस्थाओ, न्याय, राज्य-कर्मचारियो की आचरण-सहिता, पर-राष्ट्रनीति, सेना, युद्ध, विदेशनीति, कूटनीति, दिग्विजय, मन्त्र-तन्त्र तथा विषैले रसायनो द्वारा शत्रु के विनाश तथा राजकोष सम्बन्धी विषयो का विवेचन किया गया है। 15 अध्यायो को 150 उप-अध्यायो मे बाँटा गया है।

अर्थशास्त्र मे राज्य को महाभारत की भाँति सविदा की उपज माना गया है तथा उसके सात अग बताये गये है—स्वामी (राजा), अमात्य (मन्त्री), जनपद (भूमि और प्रजा), दुर्ग, कोष, दण्ड (पुलिस, फौज और न्याय विभाग) तथा मित्र (मित्र देश)।

अर्थशास्त्र राजतन्त्र का प्रबल हिमायती है लेकिन वह उच्छृखल, उद्दड, अत्याचारी अथवा दभी राजा का घोर शत्रु है। उसके अनुसार राजा का कर्त्तव्य प्रजा को सुख पहुँचाना, राज्य का विस्तार और राजकोष को समृद्ध करना है। राजा सदाचारी होना चाहिए और उसे प्रजा के कल्याण मे ही अपना हित समझना चाहिए। अर्थशास्त्र का राजा धर्म, परम्परा, वर्णाश्रम-व्यवस्था और कानून के नियत्रण मे रहकर राज करता है। उसके अनुसार राजा का उत्तराधिकारी भली प्रकार शिक्षित, बुद्धिमान और कुशल योद्धा होना चाहिए। वह अनिवार्यत राजवश का होना चाहिए।

अर्थशास्त्र मे न्याय को दीवानी और फौजदारी—दो भागो मे विभाजित किया है। दीवानी को व्यवहार और फौजदारी को कटकशोधन नाम दिये गये हैं। मन्त्री परिषद् की गोपनीयता पर बल दिया गया है तथा गुप्तचरो के द्वारा राज्य के भीतर और बाहर होने वाले राज-विरोधी षड्यन्त्रो की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक माना गया है। इस ग्रन्थ मे राज्य के कर्मचारियो और स्थानीय प्रशासन के बारे मे विस्तार मे विवेचन मिलता है।

मनु-स्मृति मे राजनीतिक चिन्तन

मनु ने भी राज्य के सात अग गिनाये हैं—स्वामी, अमात्य, पुर (दुर्ग), राष्ट्र (जनपद), कोष, दण्ड तथा मित्र। वह राजा को दैवी मानता है तथापि इसका यह अर्थ नही है कि मनु निरकुश और आततायी राजा का समर्थन करता है। वह राजा के लिए यह अनिवार्य मानता है कि वह प्रजा का कल्याण करे। इतना ही नही वह धर्म और दण्ड को ही राजा मानता है, अर्थात् राजा को धर्म और दण्ड का साक्षात् अवतार और प्रतीक होना चाहिए।

मनुस्मृति में मन्त्रियों को सचिव कहा गया है तथा उनको परामर्श देने का काम सौंपा है। उसमें विधायिका के रूप में अथवा कानून बनाने में राजा की सहायता के लिए 'परिषद्' की व्यवस्था की गई है जिसमें कम से कम तीन व्यक्ति वेदों के ज्ञाता हों। उसमें कुल सदस्यों का विधान रखा गया है। न्याय का कार्य राजा को सौंपा है तथा उसे अधिकारियों की नियुक्ति में सावधानी बरतने का निर्देश दिया गया है जिससे कि प्रशासन जन-कल्याणकारी बना रहे।

कुल, जाति, श्रेणी और जनपद की स्थानीय संस्थाओं का उल्लेख भी मिलता है और यह भी कि वे अपने सदस्यों के आचरण को मर्यादित करने के लिए नियम बना सकती थीं जिनकी स्वीकृति राजा प्रायः दे देता था।

याज्ञवल्क्य-स्मृति में राजनीतिक चिन्तन

याज्ञवल्क्य-स्मृति और मनु-स्मृति की व्यवस्थाएँ लगभग एक सरीखी हैं। वह भी राज्य को दैवी और सात अंगों वाला मानती है। वह समाज के जीवन के प्रत्येक पक्ष का नियमन और नियन्त्रण करना राज्य का कर्तव्य मानती है। वह कहती है कि राजा में उत्साह, कृतज्ञता, वृद्ध सम्मान, नम्रता, सत्य, वीरता, भक्ति आदि गुण होने अनिवार्य हैं। राजा प्रजा के विवादों तथा राज्य की नीतियों के बारे में जल्दी से निर्णय करे तथा निर्व्यसनी हो। उसे राजनीति और वेदों का मर्मज्ञ होना चाहिए। मन्त्रियों और पुरोहितों के मध्य राजा एकान्त में मन्त्रणा करे। राज्य में धर्मपूर्ण अर्थव्यवस्था की स्थापना करे और ब्राह्मणों को दान दे, दुर्गों का निर्माण तथा योग्य कर्मचारियों की नियुक्ति करे, युद्ध क्षेत्र से कभी न भागे, राज्य में शान्ति बनाए रखे, रिश्वत लेने वाले राजकर्मचारियों को कठोर दण्ड दे और राज्य से बाहर खदेड़ दे, विद्वानों का आदर करे और प्रजा को सुखी करे।

राजा को दैवी मानने के बावजूद यह स्मृति राजा को धमकी देती है कि यदि वह धर्मशील नहीं होगा तो उसे सिंहासन से हाथ धोना पड़ेगा तथा उसे उसके समूचे परिवार सहित राज्य से बाहर भगा दिया जायेगा। अत्याचारी राजा के लिए कठोरतम दण्ड की व्यवस्था है लेकिन यह नहीं कहा गया कि यह दण्ड कौन देगा, सम्भवतः यह काम परम्परागत रीति से ऋषियों पर ही छोड़ा गया जिन्होंने राजा वेन की हत्या की थी।

इस स्मृति ने गाँव से लेकर जनपद तक स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था की है, ग्राम सभा को समूह कहा है और गण शब्द का प्रयोग भी किया है। गण जनपद से नीचे है। यह भी राजा पर यह कर्तव्य लादती है कि वह परामर्श के लिए विद्वानों की परिषद का गठन करे और उनकी बात माने।

कामन्दकीय नीतिसार में राजनीतिक चिन्तन

कामन्दक अरस्तु की तरह राजनीति अथवा दण्ड नीति को सब विद्याओं में श्रेष्ठ मानता है। उसने दण्ड नीति के दो मार्ग माने हैं—संयम और दमन। इससे जाहिर है कि वह राजा से कहता है कि तुम अपनी शक्ति का प्रयोग करने

में संयम, मर्यादा और सीमाओं मे रहो, इसके बाद प्रजा को कष्ट देने वालों का दमन करो।

नीतिसार भी राज्य के सात अगो का निरूपण करता है जो अर्थशास्त्र और स्मृतियो के अनुरूप ही हैं। वह राजा और प्रजा दोनो का ध्यान व्यसन की ओर खीचता है तथा कहता है कि शिकार, जुआ, मदिरापान, परस्त्री मे रति, कटुवाणी, और अपव्यय ऐसे व्यसन है जो राज्य और प्रजा का नाश कर देते है। इससे भी यह बात सिद्ध होती है कि कामदक राजतन्त्र का समर्थक होते हुए भी उसकी निरकुशता का समर्थक न था तथा वह राजा से अपेक्षा करता था कि वह निर्व्यसनी और प्रजा का कल्याण करने वाला हो। वह राजा से अपेक्षा करता है कि वह निष्पक्ष रहे और प्रजा को पुत्र के समान मानकर उसका पालन करे। दुष्टो को दण्ड दे, सज्जनो की रक्षा करे और दम्भ से बचा रहे।

कामदक राज्य के सातो अगो के बीच तालमेल और सामजस्य पर बल देता है तथा इसे राजा का परम कर्त्तव्य मानता है। उसने राजा को निर्देश दिया है कि सभी प्रजाजनो के लिए रोजगार जुटाने का प्रबन्ध करे तथा प्रजा से कहा है कि यदि राजा रोजगार न दे पाए तो उसे त्याग दो। कामदक ने शासन, प्रशासन, सेना के गठन और पर-राष्ट्रनीति के बारे मे राजा को अनेक हिदायते दी हैं तथा अन्त मे उससे अपेक्षा की है कि वह अपनी प्रजा के कल्याण और अपने राज्य के विस्तार के लिए गुण सम्पन्न लोगो की मदद ले।

शुक्रनीति मे राजनीतिक चिन्तन

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि कामदक नीतिसार और शुक्रनीतिसार की रचना यदि छठी से बारहवी शताब्दी ईसा पश्चात् मे हुई है तो हम उन्हें प्राचीन सभ्यता के सन्दर्भ मे क्यो स्मरण कर रहे है। वास्तविकता यह है कि भले ही इन ग्रन्थो को कभी भी लिपिबद्ध किया गया हो, कामदक और शुक्र प्राचीन काल के ही ऋषि है। आचार्य शुक्र महर्षि भृगु के पुत्र थे। इन्ही शुक्राचार्य ने राजा बलि को सलाह दी थी कि वामनावतार विष्णु को तीन पग पृथ्वी न दी जाए, और इन्ही के वशज परशुराम राम के समकालीन थे जिन्होने राम द्वारा शिव-धनुष तोड देने पर सीताजी के स्वयवर मे उत्पात खड़ा कर दिया था इस प्रकार शुक्राचार्य राम के भी पूर्ववर्ती ठहरते है। उन्होने जिस नीति का प्रतिपादन महाराजा बलि के काल मे किया वही स्मृति के आधार पर बारहवी शताब्दी ईस्वी मे लिपिबद्ध की गई, इससे शुक्रनीति की प्राचीनता पर कोई आँच नही आती।

शुक्रनीति की गणना अर्थशास्त्र के स्तर पर राजनीति के महान् ग्रन्थ के रूप मे की जाती है। आचार्य शुक्र राजतन्त्र के प्रतिपादक है। वे राजा को प्रजा का रक्षक और मित्र मानते है तथा उसे प्रजा के हित के लिए उत्तरदाई भी मानते है।

यहाँ आकर शुक्र अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती विचारको से भिन्न है। वे राजा को साधारण मनुष्यो की भाँति सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से सम्पन्न मान

हैं तथा जिस राजा मे सतोगुण की प्रबलता है उसे ही देवत्व से सम्पन्न मानते हैं और उसी की आज्ञा आँख मूँदकर पालन करने का निर्देश प्रजा को देते हैं। किन्तु जो राजा आततायी हो जाए, विलासी, कामुक अथवा स्वेच्छाचारी बन जाए उसके लिए आचार्य शुक्र मृत्यु-दण्ड का विधान करते हैं। उनका मत है कि अत्याचारी राजा को वेन राजा की भाँति ऋषि अपनी जघा पर डालकर नख से चीर डाले। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शुक्राचार्य प्रह्लाद के पुत्र विरोचन के बेटे बलि के गुरु थे और उनके लिए विष्णु के नृसिंह अवतार द्वारा प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु की ठीक इसी प्रकार—जघा पर डालकर नखो से चीरकर—हत्या की घटना कोई पुरानी बात न थी।

शुक्र की अन्य व्यवस्थाएँ अर्थशास्त्र तथा मनुस्मृति के समान ही है। वे राज्य को सावयव मानते हैं। उन्होने राज्य को वृक्ष कहा है, राजा को उसका मूल, मन्त्री को तना, सेनापति को शाखा, सेना को पत्ते, प्रजा को पुष्प, पृथ्वी के भाग को फल और भूमि को बीज बताया है। प्रजा जब फूल की तरह खिलती है और राज्य का क्षेत्र अर्थात् पृथ्वी जब फल की तरह बढती है तभी राज्य का गौरव है। शुक्र ने एक समग्रत' समाजवादी लोककल्याणकारी राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए कहा है कि राजा प्रजा के धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि मे सहायता प्रदान करे, मार्गों और मकानो का निर्माण कराए, गाँवो और मार्गों को चोर-डाकुओ के भय से मुक्त करे, दो गाँवो के बीच धर्मशाला बनवाए, माप-तौल मे गड़बड करने वालों को कठोर दण्ड दे, मिलावट को रोके, मदिरापान, जुए आदि पर रोक रखे, वैद्यो पर नियन्त्रण रखे, स्वर्ण आदि बहुमूल्य वस्तुओ के क्रय-विक्रय का नियमन करे, कला और विज्ञान को प्रोत्साहन प्रदान करे, प्रजा मे नैतिकता को बढावा दे, योग्य व्यक्तियो को पुरस्कार दे, मन्दिर बनवाए, प्रजा के उत्सवो मे शामिल हो, उन्हे सहायता दे तथा दुष्टो को दण्ड दे।

शुक्रनीति मे कहा गया है कि राजा न्याय सम्बन्धी कार्य निष्पक्षता से करे। मुकदमो की सुनवायी सार्वजनिक तौर पर की जाए। अपनी मदद के लिए निर्णायको (जूरी) की नियुक्ति करे, मुकदमो पर बार-बार विचार करे, अपने ही निर्णय पर फिर से विचार करे।

पर-राष्ट्र नीति और सम्बन्धो के बारे मे शुक्रनीति विस्तार से सन्धि, दबाव, आक्रमण, कूटनीति, मित्र तथा शत्रु और मित्र दोनो के रहस्यो की जानकारी प्राप्त करने पर बल देती है।

भारत में गणतन्त्रात्मक व्यवस्था

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत मे केवल उदार अथवा प्रजा-हितैषी राजतन्त्र ही सर्वत्र प्रचलित था। परन्तु यह सत्य नहीं हैं, भारत मे गणतन्त्र अथवा लोकतन्त्र भी प्रचलित था। विद्वानो में इस बारे मे मतभेद हैं कि गणतन्त्र राजतन्त्र से पहले था या बाद मे था। वास्तव मे प्राचीन साहित्य मे बहुत प्रयास से ही कालक्रम खोजा जा सकता है, तथा प्राय ऐसा माना जा सकता

है कि वह इतिहास न होकर गाथा साहित्य है। तथापि इस सत्य से मुँह नही मोड़ा जा सकता कि वे देश जो आज लोकतन्त्र के माता-पिता होने का दम भरते हैं जिस जमाने मे जंगली अवस्था मे जी रहे थे उस काल मे भारत मे उन्नत कोटि का लोकतन्त्र अपने सम्पूर्ण गणतन्त्रात्मक स्वरूप मे पनप रहा था।

गण शब्द का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद से लेकर बौद्ध जातको तक मिलता है। महाभारत और पाणिनी की अष्टाध्यायी मे भी गण का उल्लेख मिलता है। महाभारत मे मालव, शिवि, लिच्छिवि, यौधेय, औदुम्बर, त्रिगर्त, मध्यमयके, अवष्ठ, वातधान, यादव, कुकुर और भोज आदि गणतन्त्रात्मक राज्यो का जिक्र आया है। स्वय कृष्ण अधक-वृष्णि सघ के अध्यक्ष अथवा राष्ट्रपति थे। वे अपने मित्र अक्रूरजी से कहते हैं—भृत्योऽहं, मैं तो नियुक्त अधिकारी (भ्रत्य) हूँ, राजा नही हूँ और वेतन प्राप्त करता हूँ।[1]

प्राचीन भारत मे राजतन्त्र और गणतन्त्र साथ-साथ चलते रहे। गणतन्त्र मे राज्य का अध्यक्ष कुलपति अथवा राजा ही कहलाता था। उसका कार्यकाल निश्चित होता था। यह आवश्यक नही था कि कुलपति अथवा राजा का पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी हो।

पाणिनी ने अष्टाध्यायी मे (ईसा से 500 वर्ष पूर्व) गण को सघ कहा है। उन्हे दो श्रेणियो मे विभाजित किया गया है—आयुधजीवी (युद्धप्रिय) और अन्य। प्रथम श्रेणी मे दामिनी, वृक, त्रिगर्त (कौंडोपरथ, दोडली, कौप्टकी, जालमानि, ब्रह्मगुप्त और जानकी), यौधेय और पार्श्व आदि प्रमुख थे। अन्य गणतन्त्रात्मक सघो मे वृजि, मद्र, राजन्य, अधक-वृष्णि, महाराज तथा भर्ग प्रमुख रहे।[2]

ईसा से छठी शताब्दी पहले उदय होने वाले बौद्ध और जैन धर्मों के साहित्य मे भी गणो का उल्लेख मिलता है। स्वय महात्मा बुद्ध का जन्म शाक्य गणराज्य मे हुआ था। इसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। इसमे राजा का निर्वाचन होता था तथापि उसके लिए राजा उपाधि का ही प्रयोग किया जाता था। एक अन्य गणतन्त्र राजग्राम था जिसे राजगीर कहा जाता है और जहाँ भगवान बुद्ध ने तपस्या की।

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी का जन्म भी गणराज्य मे ही हुआ था। इसका नाम वैशाली था। यह लिच्छिवि गणतन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी शासन व्यवस्था का सचालन 7,707 सदस्यो की समिति करती थी। उसकी कार्यपालिका मे चार सदस्य होते थे—राजा, उपराजा (राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति), सेनापति और भांडागारिक (वित्त तथा नागरिक आपूर्ति मन्त्री)। यह परिषद् अनेक अधिकारियो की नियुक्ति करती थी—महामात्र, मन्त्री, वोच्चारिक, अष्ठकुलक, और सुतधार (सूत्रधार)। सूत्रधार सर्वोच्च-न्यायालय के न्यायाधीश होते थे और इनके ऊपर आठ सदस्यो की अष्ठकुलक समिति होती थी जो क्षमादान कर सकती थी।

1 महाभारत शान्तिपर्व
2 पाणिनी, अष्टाध्यायी, 5-3-116.

इनके अतिरिक्त, मिथिला में विदेह-गणतन्त्र था, तथा मल्लों के दो गण-राज्य—कुशीनारा और पावा के गणराज्य थे। बौद्धकाल में इन दोनों राज्यों तथा लिच्छवि गणराज्य को मिलाकर एक संघ बना था जो गोरखपुर से पाटलिपुत्र तक फैला था। पिप्पलीवन में मोरिय, अल्लकप्प में बुली तथा सुंसुमार पर्वत पर भग गणराज्यों का भी उल्लेख मिलता है।[1]

लिच्छवियों के मन्त्रि मण्डल में 9 मन्त्री और मल्लों के गणराज्य में चार मन्त्री होते थे। विदेह गणराज्य-संघ में 18 मन्त्रियों का उल्लेख मिलता है।

जिस प्रकार लिच्छवि गणराज्य में 7,707 सदस्यों (राजाओं) की सभा थी उसी प्रकार यौधेय गणराज्य में 5,000 सदस्यों की सभा का उल्लेख मिलता है। इसका अधिवेशन सथागार (संस्थागार) में होता था। सदस्यों के सथागार में प्रवेश के समय घड़ियाल बजाये जाते थे।

मतदान को छन्द कहा जाता था और मतपत्र के स्थान पर शलाका का प्रयोग होता था। शलाका का अर्थ है लकड़ी के छोटे सुन्दर टुकड़े। ये शलाकाएँ अलग-अलग रंगों की होती थी। शलाका-ग्राहक नामक अधिकारी शलाकाएँ एकत्रकर उनकी गिनती करता और जिस व्यक्ति अथवा प्रस्ताव को अधिकतम शलाकाएँ मिलती उसे निर्वाचित अथवा स्वीकृत घोषित कर देता था। सभा की अध्यक्षता गण-प्रमुख (स्पीकर) करता था और निर्णय बहुमत के आधार पर होते थे। गणपूर्ति (कोरम) के नियम भी थे। कम से कम बीस सदस्यों के उपस्थित होने पर ही गणपूर्ति मानी जाती थी। कौटिल्य ने गणराज्यों की सभाओं में होने वाले वाद-विवाद का मजाक उड़ाते हुए उन्हें शब्दोपजीवी कहा है।

1 *Altekar* . State and Government in Ancient India, pp. 121-122.

24

भारत : समाज, अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकी

(India : Society, Economy & Technology)

प्राचीन भारतीय समाज को हमे उसके यथार्थ रूप मे देखना होगा तथा उसकी आदर्श कल्पनाओ को यथार्थ समझने की भूल से बचना होगा। भारतीय समाज को सही रूप मे समझने के लिए कुछ बातो पर विशेष ध्यान देना होगा, जैसे—विवाह की अवधारणा और पद्धतियाँ, परिवार का स्वरूप, वर्णाश्रम व्यवस्था और स्त्रियो की दशा।

विवाह की अवधारणा

प्राचीन भारत मे विवाह को एक पवित्र धार्मिक और सामाजिक अनुष्ठान का रूप दिया गया था। वैदिक काल मे विवाह स्त्री और पुरुष के बीच जन्म-जन्मान्तर का धार्मिक सम्बन्ध बन गया था, लेकिन उसके साथ ही वह एक संविदा भी था क्योकि दोनो पक्ष पाणिग्रहण के समय एक दूसरे से कुछ शर्ते रखते और एक दूसरे को कुछ वचन देते थे। विवाह की यह पद्धति आज तक लगभग उसी रूप मे वैदिक धर्मावलम्बियों मे चली आ रही है जो स्वयं को हिन्दू कहने लगे है।

ऋग्वैदिक काल मे प्राय. ब्राह्म-विवाह ही प्रचलित थे जो वर और कन्या के माता-पिता की सहमति से तय किये जाते और वैदिक मत्रो के उच्चारण एव अग्नि की साक्षी मे पुरोहित द्वारा सम्पन्न कराये जाते थे। यदि कोई आर्य पुरुष किसी अनार्य स्त्री के सग विवाह कर लेता तो वह विवाह विहित न माना जाता तथा उससे होने वाली सन्तान को आर्यों जैसे अधिकार न मिलते।

उत्तर वैदिक काल मे मनु ने राजा बनने पर अपनी प्रजा के लिए आचार की एक नियमावली बनाकर दी जिसे मनु-सहिता कहा जाता है। इसके अनुसार ब्राह्मणो को चार प्रकार के विवाहो की अनुमति थी—ब्राह्म-विवाह, जिसमे पिता योग्य वर मिलने पर बिना बदले मे कुछ लिये अपनी कन्या उसे दे देता था; दैव—विवाह, जिसमे पिता अपने पुरोहित को किसी अनुष्ठान के अवसर पर अपनी कन्या प्रदान

कर देता था, आर्ष-विवाह, जिसमे लडकी का प्रेमी उसके पिता को आदरपूर्वक बैलो का एक जोडा प्रदान करके अपनी प्रेमिका से विवाह करता था, प्राजापत्य विवाह, जिसमे विवाह का प्रस्ताव प्रेमी की ओर से रखा जाता था।[1]

क्षत्रियो और वैश्यो के लिए भी ब्राह्म-विवाह का प्रावधान था, लेकिन क्षत्रियो को गांधर्व-विवाह और वैश्यो को असुर-विवाह की भी अनुमति थी। गांधर्व-विवाह के अन्तर्गत पुरुष और स्त्री परस्पर प्रेम के वशीभूत होकर धार्मिक अनुष्ठान और माता-पिता की अनुमति के बिना ही सहवास और सन्तान उत्पन्न कर सकते थे। असुर-विवाह मे कन्या का पिता वर से अपनी पुत्री के बदले मे कोई वस्तु अथवा मुद्रा माँग सकता था।

दो अन्य प्रकार के विवाह भी होते थे—राक्षस-विवाह और पैशाच-विवाह। ये दोनो ही हीन कोटि के और निंदनीय माने जाते थे। राक्षस-विवाह मे वरपक्ष कन्या के माता-पिता और सगे सम्बन्धियो की हत्या करके उसे ले भागता था। ऐसा विवाह निंदनीय होते हुए भी विशेष परिस्थितियो मे क्षत्रियो मे प्रचलित होता था। पैशाच-विवाह मे पुरुष जिस स्त्री के सग विवाह करना चाहता था। पहले उसके साथ बलात्कारपूर्वक संभोग कर लेता और उसके बाद उससे विवाह कर लेता था। यह विवाह निकृष्टतम माना जाता था।

स्मृतियो मे सगोत्र विवाह वर्जित माना गया है। लडकियो को अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता दी जाती थी। उसके लिए स्वयवर होते थे। स्वयंवर दो प्रकार के होते थे—एक सशर्त और दूसरा कन्या की पसन्द पर निर्भर। सशर्त स्वयवर मे कोई शर्त रखी जाती थी तथा जो पुरुप वह शर्त पूरी कर कर देता था उसके साथ कन्या का विवाह कर दिया जाता था, जैसे—सीताजी तथा द्रौपदी के स्वयवर। पहले मे शिव-धनुष पर प्रत्यचा चढाने की शर्त थी जिसे पूरी करके राम ने सीता को प्राप्त किया, और दूसरे मे मछली की आँख बेधने की शर्त थी जिसे पूरा करके अर्जुन ने द्रौपदी को प्राप्त किया।

वेदो मे विधवा-विवाह पर किसी प्रकार का प्रतिबध नही लगाया गया,[2] इतना ही नही यह भी सुझाया गया कि बडे भाई की विधवा से छोटे भाई का विवाह उचित है। स्मृतिकारो ने विधवा-विवाह पर रोक लगा दी। निस्सतान स्त्री को विधवा होने, पति के असाध्य रोग से ग्रस्त होने अथवा नपुसक होने पर अपने सास-ससुर की अनुमति से नियोग अर्थात् पर-पुरुष के साथ सभोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करने की अनुमति वेद और स्मृतिकार दोनो देते हैं। इसका एक उदाहरण महाभारत काल मे महाराजा शान्तनु की पत्नी सत्यवती का है जिसने पाराशर ऋषि के साथ नियोग द्वारा वेदव्यास को जन्म दिया। इसी प्रकार विचित्रवीर्य की मृत्यु पर सत्यवती ने अपने पुत्र वेदव्यास को विचित्रवीर्य की निस्सतान विधवाओ—अम्बिका और अम्बालिका के साथ नियोग द्वारा सतान उत्पन्न करने का आदेश दिया

1 मनुस्मृति, 3 : 21.
2 तैत्तिरीय सहिता, 3-2-4-4.

जिससे कि वंश चलता रहे। वेदव्यास ने अम्बिका से धृतराष्ट्र और अम्बालिका से पाण्डु को जन्म दिया। साथ ही उन्होंने उनकी दासी से विदुर को भी जन्म दिया जो नीतिज्ञ महात्मा हुए।

परिवार का स्वरूप

प्राचीन भारत मे परिवार को समा। की बुनियादी इकाई माना जाता था। परिवार पुरुष-प्रधान होता था तथा सयुक्त-परिवार प्रथा प्रचलित थी, अर्थात् परिवार मे एक पुरुष-पूर्वज की कई पीढियाँ एक साथ रहती थी। परिवार के शील और उसकी रक्त-शुद्धि का बहुत ध्यान रखा जाता था। कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि मे अर्जुन को यह चिंता सताने लगी थी कि युद्ध के फलस्वरूप जो नरसहार होगा उसके कारण कुल स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जायेंगी और वर्ण-संकर हो जायेगा अर्थात् परिवार का रक्त मिश्रित हो जायेगा। परिवार के मुखिया का स्थान परिवार में सबसे ऊँचा था और उसके आदेशो का पालन करना धर्म माना जाता था। महाभारत काल मे परिवार का यह शील टूट गया था जिसके कारण धृतराष्ट्र के पुत्रो ने उनका यह कहना नही माना कि वे पाँडवो का राज्य उन्हे लौटादे।

सयुक्त परिवार की एक विशेषता यह थी कि सारे परिवार का एक ही चूल्हा होता तथा सयुक्त सम्पत्ति होती थी। परिवार मे धार्मिक अनुष्ठान तथा पूजा-विधि एक ही होती थी तथा परिवार का व्यापार-व्यवसाय भी सबका सम्मिलित ही होता था।

शास्त्रो मे माता-पिता को देवता—'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव'[1] कहा गया। मनु-स्मृति मे कहा गया है—'पिता मूर्तिः प्रजापतये'[2]। महाभारत ने तो पिता को ही धर्म, स्वर्ग, परम तप माना है तथा कहा है कि पिता के प्रसन्न होने पर देवता भी प्रसन्न होते है—पिता धर्म', पिता स्वर्ग , पिता हि परम तप.। पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वा प्रसीदन्ति देवता:।[3]

पिता अपनी सन्तान को आदेश, दड और उत्तराधिकार प्रदान कर सकता था अथवा उत्तराधिकार से वचित कर सकता था। साथ ही पिता के लिए कहा गया था चाहे जिस प्रकार भी हो अपनी सन्तान का भरण-पोषण, पालन और विवाह करो।

वर्णाश्रम व्यवस्था

पूर्व-वैदिक अथवा ऋग्वैदिक काल मे समाज मे दो ही वर्ण थे—आर्य वर्ण और दास वर्ण। उस समय जन्म के आधार पर वैसा जाति-विभाजन न था जैसाकि आज बन गया है। कर्म और वृत्ति के आधार पर वर्ण निर्धारित किया जाता था लेकिन वर्णो के पीछे ऊँच-नीच का भाव न था। विद्याध्ययन और शिक्षा

1 तैत्तिरीय उपनिषद्, 3–15.
2 मनुस्मृति, 3-45.
3 महाभारत, 12–266–21.

तथा धार्मिक अनुष्ठानो मे रुचि लेने वालों को पहचान के लिए ब्राह्मण कहा जाता; राजाओ, सेनापतियो, सैनिको और राज्य कर्मचारियो को क्षत्रिय; वाणिज्य-व्यापार, खेती और गो-पालन मे लगे लोगो को वैश्य तथा सेवा करने वालो को शूद्र।[1]

शास्त्रो मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि मनु महाराज के वशजों मे लगभग हर पीढी मे कुछ लोग क्षत्रिय होते तो कुछ ब्राह्मण और कुछ वैश्य अथवा शूद्र। अनेक राज-परिवारो के सदस्य ऋषि हुए। विश्वामित्र क्षत्रिय महाराज गाधि के पुत्र थे, लेकिन उन्होने ब्राह्मणत्व स्वीकार करके ब्रह्मर्षि की पदवी प्राप्त की।

वेदो ने अपने पठन-पाठन पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाया है। वैदिक काल मे स्त्रियो और शूद्रो को वेदाध्ययन का अधिकार था। किसी प्रकार की छुआछूत न थी। छठी शताब्दी ई. पू. के बाद जब ब्राह्मण-काल आरम्भ हुआ तब कर्मकाण्ड की शुरुआत हुई तथा वर्ण को जाति मे बदलने की चेष्टा की गयी। यह सब ब्राह्मणो की श्रेष्ठता स्थापित करने का कुत्सित प्रयास था। दूसरा स्थान क्षत्रियो को और तीसरा वैश्यो को दिया गया। शूद्र कोई वर्ण ही न रहा उसे समाज ने बाहर खदेड दिया गया। उसका स्पर्श तो दूर रहा उसकी परछाई मात्र भी अपवित्र मान ली गयी। जो धर्म मानवमात्र की एकता और समानता का उद्घोष करता था वही समाज के एक वर्ग को समाज के समस्त अधिकारो और मानवीय व्यवहार से वंचित करने के घृणित, जघन्य और कुत्सित षड्यन्त्र तथा अपराध का शिकार हो गया।

बौद्ध और जैन धर्मो ने इस कुरीति और अनाचार पर भरपूर प्रहार किया,[2] लेकिन समाज को ब्राह्मण वर्ग के ऐसे फौलादी पंजे ने जकड लिया कि अढाई हजार वर्ष बाद आज भी जब हम लोकतन्त्र और मानवतावादी धर्म का ढोल पीट रहे हैं हिंदू समाज छुआछूत के कोढ से ग्रस्त है।

वर्ण के अतिरिक्त शास्त्रो ने मनुष्य जीवन को चार चरणो मे विभाजित किया। यह विभाजन ऋग्वैदिक काल मे ही हो गया था तथा औपनिषदिक काल मे इस पर बहुत बल दिया गया। ये चार चरण चार आश्रम कहलाये।[3] यह विभाजन यह मानकर किया गया कि मनुष्य की औसत आयु सौ वर्ष होगी। उस काल के अनुसार ऐसा हो रहा होगा। प्रथम चरण को ब्रह्मचर्याश्रम कहा गया जिसमे प्रत्येक मनुष्य-बालक से यह अपेक्षा की गयी कि वह गुरुकुल मे रह कर विद्या प्राप्त करेगा। इसमे वर्ण का भेद नहीं रखा गया। बालक का वर्ण पिता से नही वरन् गुरु के यहाँ उसकी योग्यता के आधार पर निर्धारित होता था। शास्त्रो मे ऐसे उदाहरण हैं जहाँ ऋषि ने वेश्या के पुत्र को भी ब्रह्मविद्या का अधिकारी मानकर उसे वह गूढ विद्या प्रदान की।

1 ऋग्वेद, 3-37-9-4.
2 सुत्त निपात, 1-7-21 और 3-9-57.
3 वसिष्ठ धर्मसूत्र, 7-1-2

अगले पच्चीस वर्ष गृहस्थाश्रम के माने गये। इसमे विवाह करके संतानोत्पत्ति करना और गुरु, माता-पिता, अतिथि तथा राष्ट्र की सेवा को धर्म माना गया। गृहस्थाश्रम पूरा होने पर पचास वर्ष की आयु मे व्यक्ति से यह अपेक्षा रहती थी कि वह अकेले अथवा पत्नी की इच्छा होने पर उसके साथ घर छोडकर वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करेगा जिसमे पूरे ब्रह्मचर्य और सयम के साथ पारलौकिक विद्या और ब्रह्मज्ञान के अनुशीलन का विधान था। 75 वर्ष की आयु प्राप्त होने पर पुरुष से अपेक्षा थी कि वह सन्यास ग्रहण कर लेगा अर्थात् पत्नी से भी अलग होकर पूरा समय आराधना, ईश्वरोपासना और निष्काम वृत्ति से गाँव-गाँव भ्रमण मे लगायेगा। सन्यासी से यह अपेक्षा रहती थी कि वह गाँव-गाँव जाकर गृहस्थो को उनके धर्म का स्मरण करायेगा और उन्हे धर्म का मार्ग दिखायेगा।

मानव-जीवन के चार लक्ष्य

वैदिक धर्म ने मानवजीवन के चार लक्ष्य निश्चित किये--धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। सबसे पहला स्थान धर्म अर्थात् कर्त्तव्य को दिया गया। धर्म की शिक्षा के लिए ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था की गयी। उसके बाद धर्मपूर्वक अर्थोपार्जन और जगत की कामनाओ की पूर्ति को लक्ष्य माना गया। यहाँ 'धर्मपूर्वक' पर बल है अर्थात् चाहे पैसा कमाना हो या इन्द्रियो की कामनाओ की पूर्ति व्यक्ति का आचरण धर्म द्वारा निर्दिष्ट मर्यादाओ से नियमित होना चाहिए।[1]

धर्म के ज्ञान और अभ्यास के लिए 25 वर्ष का समय रखा गया जबकि अर्थ और काम दोनो के लिए 25 वर्ष निर्धारित किये गये। अर्थ और काम मे यदि इससे अधिक फँसा रह जायेगा तो व्यक्ति के लिए उनसे छूट पाना कठिन होगा। जीवन का सबसे बडा लक्ष्य मोक्ष माना गया, उसके लिए जीवन का शेष भाग अर्थात् 50 वर्ष का समय रखा गया।

यहाँ मोक्ष का अर्थ जगत् के बन्धन और माया-मोह से छूटकर स्वयं को पहचानना और ईश्वर मे चित्त को लगाना है। यह माया-मोह ही जगत् मे संघर्ष और अशान्ति का मूल कारण है, इससे छूटने का उपाय वेदो की दृष्टि मे यही था कि व्यक्ति आत्मा और परमात्मा की गहराइयो मे उतरकर सुख-दुःख से परे शुद्ध आनन्द, परम चैतन्य और शाश्वत आत्मा को प्राप्त करे।[2]

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि वेदो ने समाज के किसी भी वर्ग अथवा आश्रम के व्यक्ति को आर्थिक दृष्टि से बेसहारा नही छोडा है। ब्रह्मचारी के लिए नियम था कि वह नित्य गृहस्थ के घर से भिक्षा लायेगा और गुरु के सम्मुख रख देगा जिसे गुरु अपने शिष्यों में समान रूप से बाँट देगा। इसी तरह गृहस्थ पर यह कर्त्तव्य भी आरोपित किया गया कि वह अपने द्वार पर आये वानप्रस्थी अथवा सन्यासी का समुचित आदर करे और उसे भिक्षा प्रदान करे। गृहस्थ

1 महाभारत, उद्योग पर्व, 6-115.

2 गीता, 12-6.

इस कर्त्तव्य का पालन मनोयोग से करते थे क्योंकि प्रत्येक गृहस्थ को यह भान रहता था कि उसका बालक भी गुरु के घर से किसी गृहस्थ के द्वार पर भिक्षा माँगने गया होगा अतः वह अपने द्वार पर आये ब्रह्मचारी को अपना पुत्र मानकर प्रेम से भिक्षा देता था। ऐसे ही अपने द्वार पर आये वानप्रस्थी अथवा सन्यासी को देखकर उसे अपने माता-पिता का स्मरण होता था और वह सोचता था कि उसके माता-पिता भी इसी तरह किसी गृहस्थ के द्वार पर भिक्षा के लिए गये होंगे अतः वह उन्हे आदरपूर्वक भिक्षा देता था।

स्त्रियो की दशा

प्राचीन भारत के ऋग्वैदिक काल मे स्त्रियो को पुरुषो के समान अधिकार प्राप्त थे। स्त्रियो को वेद पढने का अधिकार था और वे विवाह करने के मामले मे स्वतन्त्र थी। वे यज्ञों मे समान रूप से भाग लेती थी। ऋग्वेद पत्नी को ही घर कहता है। यही धारणा समाज मे आज तक प्रचलित है जिसके अनुसार पत्नी घर वाली है।

इस सबके बावजूद ऋग्वैदिक काल मे पुरुषों में बहु-विवाह प्रचलित था।[1] राजा और ऋषि दोनो अनेक विवाह करते थे। गन्धर्व विवाह वैदिक काल के आरम्भ मे भी प्रचलित था जिसका प्रमाण पुरुरवा और उर्वशी तथा विश्वामित्र और मेनका के सम्बन्ध हैं। इस काल में गार्गी, मैत्रेयी और कात्यायनी सरीखी विदुषी महिलाएँ हुईं।

जहाँ तक बहु-विवाह का प्रश्न है त्रेता युग मे महाराजा दशरथ के तीन रानियाँ थी, लेकिन इससे यह सकेत नही मिलता कि इस कारण स्त्रियो की स्थिति हेय बन गयी थी। केकयी के आग्रह पर राम को जिस प्रकार वन जाना पडा, वह इस बात का प्रमाण है कि दशरथ जैसे चक्रवर्ती सम्राट् भी मर्यादा का उल्लघन नही कर सकते थे। राम ने अवश्य एक पत्नी व्रत का आदर्श समाज के सामने रखा, तथा सीता के परित्याग के बाद भी दूसरा विवाह नही किया। कुछ लोगो का मत है कि राम ने सीता का अपमान किया और उन पर सन्देह करके उनका परित्याग किया। वास्तव मे ऐसा नही था, राम मर्यादा पुरुषोत्तम थे और वे यह नही चाहते थे कि उनकी प्रजा मे उनके अथवा सीताजी के चरित्र के बारे मे शकाएँ उठें अतः उन्होने लोकापवाद के कारण यह कदम उठाया जो स्वय उनके लिए कम कष्टप्रद न था।

महाभारत काल मे द्रोपदी के उदाहरण से यह नही मान लेना चाहिए कि उस काल मे स्त्रियो के बहु-विवाह अथवा बहु-पति-प्रथा- का प्रचलन था। द्रोपदी को पाँच पतियो का वरण कुन्ती के वचन के कारण करना पडा था, शायद कुन्ती पाँचो भाइयो को एकसूत्र मे पिरोये रखने के लिए द्रोपदी का इस्तेमाल कर रही थी। द्रोपदी के अतिरिक्त पाण्डवो की अलग-अलग पत्नियाँ भी थी। इस

1 ऐतरेय ब्राह्मण, 12–11.

प्रकार पुरुषों के बहु-विवाह का इस काल मे भी प्रचलन रहा। श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव ने कस के चाचा देवक की सातो कन्याओ से विवाह किया। उनके अतिरिक्त उनकी तीन अन्य पत्नियाँ भी थी। स्वय श्रीकृष्ण ने आठ विवाह किये। लेकिन इससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि उस काल मे नारी का शोषण हो रहा था।

महाभारत मे कहा गया है कि पिता की सम्पत्ति मे पुत्री का अधिकार पुत्र के समान होना चाहिए—यथैवात्मा तथा पुत्र, पुत्रेण दुहिता समा।[1] परवर्ती काल मे कौटिल्य ने कहा है कि यदि किसी पिता के पुत्र न हो तो उसकी समूची सम्पत्ति पर उसकी बेटी का अधिकार होगा।

बौद्ध काल मे स्त्रियो की दशा मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। महात्मा बुद्ध ने स्त्रियो को मोक्ष की अधिकारिणी माना और उन्हे बौद्ध धर्म सघ मे भी शामिल किया। यह बात अलग है कि धर्म की मर्यादा की दृष्टि से वे यह मानते थे कि यह निर्णय सही नही हुआ और उन्होने आनन्द से कहा कि स्त्रियो का सघ मे प्रवेश हो जाने के कारण बौद्ध धर्म स्थायी नही रह सकेगा। उन्हे आशका थी कि इससे सघ मे सदाचार के मामले मे शिथिलता आ सकती है।

अर्थव्यवस्था

प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान थी। खेती के अतिरिक्त पशु पाले जाते थे और उनका शिकार भी किया जाता था। ग्रामो और नगरो मे गृहोद्योग पनपने लगे थे तथा व्यापार भी होने लगा था।

समूचे जीवन का आधार गौ थी। चारागाहो की कमी न थी तथा राजा ब्राह्मणो और गुरुकुल चलाने वाले ऋषियो को हजारो गायें दान किया करते थे, जिनसे उत्तम दूध और घी के अतिरिक्त बलिष्ठ बछडे मिलते थे जिनका उपयोग गाडी खीचने और हल चलाने के लिए किया जाता था।

सवारी और रथ खीचने के लिए आर्य अपने साथ घोडे लाये थे तथा घोडो का पालन और उनकी नस्ल वृद्धि ने उद्योग का स्वरूप ले लिया था। भेड बकरियाँ आम तौर पर पाली जाती थी। बोझा ढोने के लिए गधे पाले जाते और चौकीदारी तथा शिकार मे मदद के लिए कुत्ते।

जो पुरातत्त्वविद वैदिक काल को उत्तर-पाषाण अथवा काँस्य काल मानते है उन्हे शायद यह मालूम नही है कि वेदो मे हल के उस फाल का उल्लेख है जो लोहे से बनाया जाता था। महाराजा पृथु के काल से पृथ्वी की बडे पैमाने पर जगल साफ करके जुताई की गयी और खेती को उद्योग के रूप मे अपनाया गया। महाराजा इक्ष्वाकु ने ईख की खेती शुरू करायी।

वैदिक काल मे आम तौर पर खेती वर्षा पर निर्भर रहती थी तथा वर्षा पश्चिम की अपेक्षा पूर्वी भारत मे अच्छी होती थी, जगलो की बहुतायत के कारण

1 महाभारत, 13-80-11.

पानी खूब बरसता था तथा उस समय राजस्थान मे भी मरुभूमि न थी, बल्कि सरस्वती नदी और वर्षा के जल से वहाँ बड़े पैमाने पर खेती होती थी। तालाबो और झीलो के पानी का सिचाई के लिए प्रयोग होता था। नदियो का जल भी सिचाई के काम मे लिया जाने लगा था।[1]

भोजन का एक अन्य स्रोत शिकार था। भोजन के अतिरिक्त शिकार से चर्म प्राप्त होता था जिसका उपयोग वस्त्रो और बिछावन के रूप मे किया जाता था। सीताजी को स्वर्ण मृग के चर्म का ही मोह हो गया था जो सारी विपत्ति का निमित्त बना। हाथियो का शिकार मांस और हाथी दाँत के लिए किया जाता था, उनकी तथा गैंडो की खाल से ढाल बनायी जाती और उनके मस्तक से गजमुक्ता प्राप्त होता था। हिरण से मांस, खाल और कस्तूरी प्राप्त होती थी। सूअर का शिकार छोटे लोगो के लिए भोजन का अतिरिक्त स्रोत था।

कताई-बुनाई, खेती के औजारो के निर्माण, चमड़ा पकाने और जूता बनाने, सोने और हाथी दाँत के जेवर बनाने, लकड़ी पर नक्काशी तथा लकड़ी का फर्नीचर बनाने, और लोहे तथा कांसे के बर्तन एव औजार-हथियार बनाने के उद्योग प्रमुख थे।

व्यापार के लिए वस्तु-विनिमय प्रणाली प्रचलित थी, किन्तु व्यापारी सिक्को (निष्क) का प्रयोग भी करते थे। सिक्के राजा ढलवाता था और उन पर उसकी मुहर अकित होती थी। ब्याज की पद्धति प्रचलित थी और उधार देने का काम साहूकार करते थे जो श्रेष्ठिन (सेठ) कहलाते थे तथापि ब्याज को अपवित्र माना गया था—'कश्मल कुसीद'। शतपथ ब्राह्मण मे मनोरजन के उद्योग का उल्लेख है। नट, मदारी, वशीवादक, नर्तक, इन्द्रजालिक, गणिका आदि यह कार्य करते थे।

रामायण-महाभारत काल मे कृषि उद्योग के क्षेत्र मे अपेक्षाकृत विकास तो हुआ लेकिन उसे क्रान्तिकारी विकास नही कहा जा सकता, हाँ लोहे और ताँबे के उद्योगो मे विशेष वृद्धि हुई, साथ ही कलात्मक वस्तुओ के निर्माण की ओर भी अधिक ध्यान दिया जाने लगा।

विशेषत महाभारत काल मे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे आशातीत वृद्धि हुई तथा वस्त्र, रथ और शस्त्र निर्माण के क्षेत्रो मे कौशल और मात्रा की दृष्टि से कल्पनातीत वृद्धि हुई। भूमि का महत्त्व बढ गया, यहाँ तक कि पाण्डव हस्तिनापुर के साम्राज्य के स्थान पर केवल पाँच गाँव लेकर झगडा टालने को तैयार थे लेकिन दुर्योधन ने भूमि के महत्त्व को देखते हुए टका सा जवाब दे दिया कि सुई की नोक भर भूमि भी पाण्डवो को नही दी जायेगी। जो समस्या पाँच गाँव देकर हल हो सकती थी उसके लिए समूचे वश का नाश कराया गया।

1 ऋग्वेद, 1-117-21 और 6-13-4.

छठी शती ई पू. के पश्चात् भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे असाधारण वृद्धि हुई तथा समुद्री मार्गो से व्यापार होने लगा। कौशाम्बी (इलाहाबाद के समीप) और साकेत (अयोध्या) से विदिशा, उज्जयिनी और महिष्मती होकर आन्ध्र देश मे प्रतिष्ठान नगर (अब महाराष्ट्र मे पैठन) नगर तक और वहाँ से दक्षिणापथ मे काँची और मदुरई (दक्षिण का मथुरा) तक व्यापार का मार्ग था। उधर पश्चिम मे पुष्कलवती (पेशावर) से हस्तिनापुर, मथुरा, प्रयाग, कौशाम्बी, वाराणसी और पटना होकर पूर्व मे चम्पा (मुगेर) तक व्यापार होता था। वाराणसी से चम्पा तक गगा के मार्ग से आया जाया जाता था।[1]

ईरान, मध्य एशिया, यूनान और रोम के साथ भारत का व्यापार चलता था। रोम के सौदागर भारत से हीरे-जवाहरात मँगाते थे जिनका मूल्य उस समय भी वर्ष मे रोम की दस करोड मुद्राएँ बैठता था। इनके अलावा भारत अदरख, काली मिर्च और हाथी दाँत तथा सोने के आभूषणो का निर्यात भी करता था। चीन से भारत आने वाला सिल्क भी पश्चिमी देशो को भारतीय सूती मलमल के साथ भेजा जाता था।

व्यापारी दो प्रकार के थे—वणिक और सार्थवाह। वणिक दुकान लगाकर एक स्थान पर रहते थे और सार्थवाह घूमघूमकर माल बेचते थे। कर्ज का लेनदेन बिचौलियो अथवा दलालो के माध्यम से होता था जिन्हे ऋणसाधक कहा जाता था। वस्तु-परिवर्तन प्रणाली को प्रतिपण्य कहा जाता था। सौदो मे प्रतीक के रूप मे कुछ मुद्रा का पेशगी आदान-प्रदान होता था जिसे 'सत्यंकर' कहा जाता था। सिल्क को कौशेय, ऊन को उर्न, जूते को उपानह तथा लोहे की जजीर को शृखला कहा जाता था। ये व्यापारिक वस्तुएँ थी। काशी मे सिल्क का वस्त्र बनता था जो आज भी प्रसिद्ध है। उसे काशिक वस्त्र कहा जाता था, अब उसे बनारसी-सिल्क कहते है।

दस्तकार लोग अपने-अपने सघ बनाते थे जिन्हे श्रेणि कहा जाता था। संस्कृत और पाली (बौद्ध) साहित्य मे अनेक श्रेणियो का उल्लेख मिलता है—सुवर्णिक अथवा हिरण्यक: (सुनार), प्रवरिक· (दर्जी), मणि-प्रस्तरक· (जौहरी), गधिक·, तैलिक , घृतकुण्डिक , गोलिक , दधिक , कर्पासिक (सूती वस्त्र के निर्माता), खाडकारक (हलवाई), मोदककारक. (लड्डू बनाने वाले), फल-वाणिज., मूल वाणिज , गधतैलिक., इत्यादि।[2]

सुवर्णकार के साथ ही रजतकार और कुम्भकार आदि भी होते होते थे जो चाँदी के आभूषण और मिट्टी के बर्तन बनाते थे। जनसाधारण की आर्थिक स्थिति अच्छी थी तथा राजा, व्यापारी और साहूकार निर्दयी न थे, अकाल आदि विपत्ति के समय मे वे खुले मन से जनसाधारण की मदद करते थे।

1 *P N. Chopra, B N Puri, M. N Das* : A Social, Cultural and Economic History of India, 1974, pp. 130-131.
2 Ibid, pp. 127-128.

प्रौद्योगिकी

प्राचीन भारत मे अन्य सभ्यताओ की भाँति सबसे पहले प्रौद्योगिकी का विकास तीन क्षेत्रो म हुआ—खेती और शिकार (अथवा युद्ध), वस्त्र तथा मकान। जहाँ तक खेती का प्रश्न है ऋग्वैदिक काल मे भूमि की कमी न थी, आर्य नदियो के किनारे और पूर्व की ओर प्रचुर वर्षा के क्षेत्रो में फैल गये थे, लेकिन जैसे-जैसे खेती की प्रौद्योगिकी का विकास हुआ और जमीन से दो फसलें लेनी शुरू हुई वैसे-वैसे सिंचाई की आवश्यकता हुई। चावल की खेती के लिए सिंचाई विशेषत' अनिवार्य थी अत उस क्षेत्र मे समुचित प्रौद्योगिकी का विकास किया गया। इस प्रौद्योगिकी के तीन पक्ष थे—नहरो की खुदाई, कुओ और नदियो से पानी को जल के तल से ऊपर उठाना और खेतो मे पानी ले जाने के लिए नालियाँ बनाना। नहरो को प्राचीन काल मे कुल्य, प्रनाली (नालिका) और मटिका कहा गया। दाविका नदी के किनारे उगने वाले धान का नाम 'दाविकाकल्य शाल्य' था।

खेतो को जोतने के लिए हल का इस्तेमाल किया जाता था, तथा फसल काटने के लिए दात्र (दराँती) का। पौधो मे से दाने निकालने के लिए उन्हे खल (खलिहान) मे इकट्ठा किया जाता और उन पर बैलो को चलाया जाता और अन्त मे तंडूलिका नामक स्त्री श्रमिक सूर्प (सूप) से उसका भूसा उडाती। अनाज का संग्रह कर लिया जाता तथा कोष्ठ (कोठे) मे रखा जाता था।

खेती और शिकार के लिए औजारो का निर्माण करने के मामले मे प्रगति होती चली गयी तथा इन कार्यों एव अन्य उद्योगो का सचालन करने वाले धन्धो का विकास हुआ। काँसे और पीतल के बर्तन आदि बनाने का काम ठ्ठ्ठकार (ठठेरे) करते थे, लकडी काटने का काम तक्षण (तरखान), लकडी का सामान वर्धकिन (बढई) बनाते थे, लोहे का सामान कार्मेर, चाँदी का रजतकार, सोने का सुवर्णकार, सुई बनाने का सूचीकार, हाथी दाँत का दन्तकार, जवाहरात का मणिकार, मूर्तिकला का शिल्पकार, पत्थर का शैलरूपकार, कांच और जस्ते का सीसाकार, शख का शखकार तथा बुनाई का काम तन्तुवाय करते थे।

आटा पीसने का काम तेज झरनो और नदी धाराओ के पास पानी की चक्की से किया जाता था और यह काम करने वालो को यन्त्रकार अथवा औद्यान्त्रिक कहा जाता था (सस्कृत मे पानी को उदक कहा जाता है)। रथो का निर्माण रथकार करते थे। तिलहन को पेरने के लिए तैलिक चक्र (घानियाँ) बनायी जाती थी।[1]

नगर-नियोजक अथवा स्थापत्यकार को नगरकार कहा जाता था और चुनाई करने वाले कारीगरो को पेशालक्र। मकान भिगोकर कूटी हुई मिट्टी, मिट्टी की ईंटो और पत्थरो से बनते थे।

1 Ibid, pp. 127–128.

महाभारत और रामायण काल मे स्थापत्य के उत्कृष्ट नमूनों का उल्लेख मिलता है। अयोध्या और लका के राजमहल विशद्, कलायुक्त और दर्शनीय थे। नदियो को पार करने के लिए नौकाओ का प्रयोग होता था तथापि राम ने लका पहुँचने के लिए समुद्र पर पुल (सेतुबन्ध रामेश्वर) बाँधा था। महाभारत काल मे पत्थर के ऐसे चिकने फर्श बनाये जाते थे जिन पर सूखे में जल का भ्रम होता था। ऐसा ही भ्रम एक बार दुर्योधन को हो गया था और जब वह धोती उठाकर चलने लगा तो द्रौपदी ने उस पर व्यग्य किया था जिसके कारण दुर्योधन ने उससे बदला लेने का सकल्प कर लिया था। यह अवसर तब आया जब धर्मराज युधिष्ठिर द्रौपदी को जुए मे हार गये और दुर्योधन के आदेश पर दु शासन ने द्रौपदी को भरी सभा मे नग्न करने के लिए उसकी साड़ी खींचनी शुरू की जिसे कृष्ण बढ़ाते चले गये।

उत्तर वैदिक काल और उसके बाद विशेषत बौद्ध काल मे मूर्ति-शिल्प की प्रौद्योगिकी का भारी विकास हुआ। इसका वर्णन आगे कला के विवेचन के प्रसग मे किया जायेगा।

रामायण और महाभारत मे विमानो और अन्तरिक्ष तथा आकाश मे प्रयोग किये जाने वाले आग्नेय एव दूरमारक अस्त्रो के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। भारतीय पुरातत्त्वविद इन्हे आज तक मिथक कहते रहे है, लेकिन अब ऐसा नही रहा। 11 अक्तूबर, 1988 को बगलूर (भारत) मे आयोजित विश्व-अन्तरिक्ष-सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए इटली के प्रख्यात अन्तरिक्ष-विज्ञानी डॉ रावर्तो पिनोत्ती ने इस कथाकथित मिथक पर से रहस्य का पर्दा उठाते हुए कहा कि "प्राचीन भारत मे निश्चय ही एक उच्चकोटि की वैज्ञानिक सभ्यता विद्यमान थी। शास्त्रो मे विमानो के बारे मे जो विवरण दिया गया वह इतना विस्तृत है कि यदि उस पर शोध की जाये तो निश्चय ही यह सिद्ध होगा कि उस काल मे भारत के पास आधुनिक युग से भी अधिक उन्नत किस्म के अन्तरिक्ष यान और शस्त्रास्त्र मौजूद थे। विभिन्न ग्रन्थो मे इस विषय मे 32 रहस्यो का उल्लेख है जिनकी तुलना आधुनिककालीन राडार, सूर्य ऊर्जा तथा फोटो तकनीकी आदि से की जा सकती है।"

डॉ पिनोत्ती ने 'वैमानिका' शास्त्र से उद्धरण देते हुए बताया कि प्राचीन भारतीय विमानो का निर्माण ऊँचा ताप सहन करने की क्षमता वाली धातुओ मे किया जाता था जिनके नाम सोमक, सौदालिक और मूर्त्विक दिये गये है। इस शास्त्र मे अनेक ऐसे दर्पणो का उल्लेख है जिनका उपयोग रक्षा और आक्रमण के लिए किया जाता था। पिंजूल नामक शीशा विमानचालको को सूर्य की दाहारक किरणो से बचाता था तथा मारिका नामक अस्त्र के द्वारा शत्रु के विमानो को नष्ट किया जा सकता था। यह आधुनिक लेसर तकनीकी के सदृश है। विमानो का सचालन रासायनिक तथा विद्युतीय ऊर्जा से तो होता ही था, उनके लिए सूर्य की ऊर्जा का प्रयोग भी होता था। उस काल के सोपोसंहार अस्त्र आग उगलते थे, प्रस्वप्न अस्त्र

प्राणियो को सुला देते थे तथा चार प्रकार के आग्नेयास्त्र अग्नि की परतो मे चलते और तीव्र गडगडाहट उत्पन्न करते थे। सूर्य-मण्डल और नक्षत्र मण्डल तक जाने वाले वाहनो को मिथक कहकर नही टाला जा सकता क्योकि शास्त्रो मे उनका तकनीकी ब्यौरा दिया गया है। उस काल के विमानो का ब्यौरा आज के जमाने के उन अन्तरिक्ष-वाहनो से मेल खाता है जिन्हे अभी तक पहचाना नही जा सका है और जो समय-समय पर दुनिया के विविध भागो मे दिखायी पड जाते हैं।[1]

यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है कि अपने देश की सस्कृति के वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी सम्बन्धी पहलू को समझने और उस पर विश्वास करने के लिए हमे विदेशियो की गवाही की आवश्यकता होती है। शोध के बिना यह कह देना नितान्त अयुक्तिसगत होगा कि वेदो तथा पुराणो मे जिन यन्त्रो और शस्त्रास्त्र का वर्णन किया गया है वे कल्पना मात्र थे। दूसरी बात यह भी कि इतनी उच्च कल्पना भी अपने आप मे विकसित वैज्ञानिक मस्तिष्क का द्योतक है।

1 The Hindustan Times, New Delhi, October 12, 1988, p. 10, Col. 4.

25

भारत : धर्म और दर्शन

(India : Religion & Philosophy)

भारत एक धर्म-प्रधान देश है। इसका धर्म अनादि है जिसका उदय मनुष्य के उदय के साथ ही हुआ। भारत मे धर्म किसी व्यक्ति या सम्प्रदाय की देन नही है वरन् मनुष्य का स्वभाव है। जिस प्रकार मनुष्य जन्म से ही भूख और प्यास महसूस करता है, दो पांवो पर चलना सीखता है वैसे ही धर्म भी उसकी प्रकृति का अग है। मनुष्य आत्मा लेकर पैदा होता है और आत्मा परमात्मा के साथ नित्य जुडी हुई है, दोनो को पल भर के लिए भी अलग नही किया जा सकता। परमात्मा आत्मा के भीतर जिस प्रकाश और ज्ञान को उत्पन्न करता है वही धर्म है। यह ज्ञान आत्मा को परमात्मा से जोडे रखता है तथा जन्म लेने वाले और नष्ट हो जाने वाले क्षणभगुर जगत् के माया-मोह मे पडने से बचाये रखता है। इसीलिए भारतीय धर्म का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष माना गया है। मोक्ष का अर्थ है अपने परम चैतन्य, नित्य और पूर्ण आनन्दमय स्वरूप को जानकर उसी मे रमण करना और जगत् के सुख-दुख की ओर से उदासीन होकर निलिप्त भाव से जीवन-यात्रा को पूरा करना।

धर्म का एक दूसरा पक्ष भी है। यह जानते हुए भी जगत् अनित्य, असत्य और दु ख स्वरूप है जगत् मे इस प्रकार जीने की चेष्टा करनी होती है जिससे कि जीवन शुद्ध, बुद्ध और शान्त बना रहे। इसके लिए ईश्वर और उसकी शक्तियो की उपासना तथा उनसे कृपा की याचना का विधान भी धर्म का अग रहा है।

वैदिक धर्म

भारत का सबसे प्राचीन धर्म वैदिक धर्म है। वैदिक धर्म वेदो पर आधारित है। वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। वेदो के चार अंग माने गए हैं—संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्।

वास्तव मे वैदिक अथवा आर्य धर्म के चार अग है जिनमे से प्रत्येक का निरूपण वेदो के ये चार अग करते है। धर्म के चार अग हैं—उपासना, यज्ञ अथवा कर्म, ज्ञान और वैराग्य। इन्हे इस प्रकार भी कहा जा सकता है—भक्ति, कर्म, ज्ञान और वैराग्य। संहिताएँ भक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है, ब्राह्मण कर्मकाण्ड पर बल देते

हैं, आरण्यक लोक-परलोक, आत्मा-परमात्मा विषयक ज्ञान प्रदान करते है और उपनिषद् इन्द्रियगम्य जगत् की नश्वरता तथा इन्द्रियातीत आत्मा की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं।

सहिताओ मे देवताओ की स्तुतियाँ हैं। देवता उसे कहा गया है जो दिक्-काल मर्यादा से परे है तथा तीनो लोको और तीनो कालो मे कही भी और कभी भी आ-जा सकता है। वह स्वय प्रकाशित होने वाला है और वरदान देने वाला है—देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद् वा।

ऋग्वेद के देवता तीन प्रकार के हैं—पृथ्वी-स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय और द्यु-स्थानीय। अग्नि पृथ्व-स्थानीय, इन्द्र और वायु अन्तरिक्ष मे रहने वाले और सूर्य द्यु-स्थानीय है। कुल देवता 33 हैं, प्रत्येक वर्ग मे 11।

इन्द्र और अग्नि को सबसे प्रमुख स्थान दिया गया है। इन्द्र वर्षा का देवता है और अग्नि प्रकाश तथा ज्ञान का। इसके बाद सोम अर्थात् चन्द्रमा की महिमा गायी गयी है।

यजुर्वेद सहिता मे देवताओ का आह्वान और सत्कार किया गया है। इनमे यज्ञ का विधान है। इनमे कर्म को प्रधान माना गया है और बिना जगत् मे लिप्त हुए यज्ञ-वृत्ति से कर्म करने का सदेश दिया गया है।

सामवेद सहिता का प्रधान देवता सविता या सूर्य है। यह सहिता उपासना प्रधान है। सामवेद सहिता गायन-शास्त्र के आधार पर रची गयी है और इसे गाया जाता है। अथर्ववेद सहिता मे अनेक सूक्त हैं जिनमे से एक अध्यात्म सूक्त भी है। यह अध्यात्म सूक्त ऋग्वेद मे भी है अत धार्मिक दृष्टि से अथर्ववेद का अधिक महत्त्व नही है।

सहिताओ मे देवताओ की उपासना द्वारा साँसारिक जीवन को सुखद, सुन्दर और शान्तिपूर्ण बनाने की व्यवस्था है।

ब्राह्मण ग्रन्थो मे यज्ञ और कर्मकाण्ड का विधान है। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण उपलब्ध है—ऐतरेय और कौषीतिकी। यजुर्वेद के तैत्तिरीय और शतपथ, सामवेद के मात ब्राह्मण कौथुमीय और जैमिनीय शाखाओ मे विभाजित हैं। अथर्ववेद मे एक अर्थात् गोपथ ब्राह्मण उपलब्ध है।

ब्राह्मण ग्रन्थो मे यज्ञो के विधि-विधान दिए गए है और यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है।

आरण्यक मुख्यतः वानप्रस्थ आश्रम के ग्रन्थ है। इनमे यज्ञ-कर्मों की विधियो, महाव्रतो का विवेचन, वानप्रस्थ आश्रम के धर्म और ज्ञान मार्ग की तात्विक विवेचना का समावेश है। चारो वेदो के कुल आठ आरण्यक उपलब्ध है।

उपनिषदो मे वैदिक धर्म अपने चरम परिपाक पर पहुँचता है। जहाँ सहिताएँ नाना प्रकार के देवताओ का प्रतिपादन करती हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ उन देवताओ को प्रसन्न करने और उनसे वरदान प्राप्त करने के लिए यज्ञो का विधान करते हैं और आरण्यक इन सबसे परे एक ही परमेश्वर की स्थापना करते है वही उपनिषद् समस्त द्वैत को समाप्त करके आत्मा और परमात्मा की एकता की स्थापना करते हैं।

उपनिषद् सत्य को प्राप्त करने की शाश्वत मानवीय अभीप्सा की पूर्ति का मार्ग दिखाते हैं, और उससे-ही पूछते हैं कि "वता, इस जगत् मे क्या सत्य है ?" सत्य उसे कहा गया है जो तीनो कालो मे जैसा का तैसा रहे। इस जगत् मे ऐसा कुछ भी नही है जिसका नाम और रूप कभी न बदलता हो। इसीलिए उपनिषद् जगत् की प्रत्येक वस्तु को असत् अर्थात् नेति, नेति, नेति कहता है—यह सत्य नही है, यह भी सत्य नही है, और वह भी सत्य नही है।

तव सत्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर उपनिषद् अत्यन्त सरल भाषा मे देते है। वे कहते है कि सत्य वह है जिसको इन्द्रियो, मन और बुद्धि के द्वारा न जाना जा सकता है, न अनुभव किया जा सकता है। वही ब्रह्म है। वैदिक धर्म मे इस ब्रह्म को जान लेना अर्थात् यह जान लेना कि मै वास्तव मे ब्रह्म ही हूँ, सच्चे अर्थ मे मोक्ष है। जो ऐसा जान लेता है अर्थात् जिसके अन्त करण में यह भाव दृढ़ हो जाता है उसे ही स्थितप्रज्ञ कहा गया और वही जीवनमुक्त है। ऐसा मुक्त ब्रह्मज्ञानी स्वय ब्रह्म ही हो जाता है। वह जगत् मे रहता है परन्तु उसके भीतर जगत् नही रहता अर्थात् वह जगत् मे लिप्त नही होता। शरीर, मन और बुद्धि को अपना स्वरूप नही मानता और इनके कारण न विचलित होता है, जगत् की कामना ही करता है। उसके लिए कोई भी पराया नही रह जाता। वह स्वार्थ, हिंसा, अशान्ति और द्वेष सबसे ऊपर उठ जाता है। उसके भीतर करुणा, स्नेह और आत्मीयता का सागर लहराता रहता है। ऐसा पुरुष तीर्थ बन जाता है।

वेदो मे किसी प्रकार के साम्प्रदायिक धर्म का स्थान नहीं है। वेद सार्वजनीन और सार्वदेशिक धर्म का प्रतिपादन करते है। वेदो के प्रति आस्था प्रकट करने से कोई व्यक्ति वैदिक धर्मावलम्वी नही हो जाता, वेद आचरण पर बल देते है। वेदो का धर्म मनुष्य को बाँटना, टुकडे करना, द्वेष और युद्ध नही सिखाता। वह तो समष्टि को ईश्वर रूप मानता है। वेदो के अनुसार ससार मे ईश्वर से रिक्त तथा उसके अतिरिक्त कुछ हो ही नही सकता। सब कुछ ईश्वर का ही रूप है, फिर द्वेष किससे करें। वैदिक धर्म मनुष्य के सकीर्ण दायरो और घेरो को तोड़ डालता है और उसे विश्व-मानव बना देता है, एवं मानव ही नही समूची चेतन और जड़ सृष्टि के साथ एकाकार कर देता है। अन्तत वेद अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं।

पूर्व-वैदिक काल मे भारत के लोग विशेषत- आर्य लोग वैदिक धर्म के प्रति निष्ठावान रहे, परन्तु धीरे-धीरे भौतिकवाद प्रबल होता गया और धर्मपालन मे शिथिलता आती गयी। धर्म नाममात्र की वस्तु रह गया, आचरण उसके विपरीत होने लगा और समाज मे अधर्म बढने लगा जिसे रोकने के लिए समय-समय पर महापुरुष आते रहे और अत्याचारियों का दमन करते रहे। वैदिक धर्मावलम्वियो की वैष्णव शाखा ने उन्हे विष्णु का अवतार कहा, और यहाँ से वैदिक धर्म के अन्तर्गत वैष्णव मत का प्रादुर्भाव हुआ।

वैष्णव मत

विष्णु वैदिक देवता है। उनका उल्लेख ऋग्वेद मे मिलता है—

'अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः, बहुतों से स्तुति योग्य एव इच्छाओं की पूर्ति करने वाले विष्णु'''। एक बार नहीं, ऋग्वेद मे विष्णु का गौरव कम से कम सौ बार गाया गया है। उन्हे सूर्य का प्रतीक भी माना गया है। उनका वाहन गरुड है जो गति का प्रतीक तो है ही सर्प-भक्षी भी है, अर्थात् वह विष्णु के भक्तो के कष्टो को सर्पों के समान खा जाने वाला है।

उत्तर वैदिक काल मे विष्णु को यज्ञ का अधिष्ठाता माना गया, ब्राह्मण ग्रथो मे तो यज्ञ को ही विष्णु'—'यज्ञो वै विष्णु'—कहा गया। शतपथ ब्राह्मण मे नारायण रूप मे विष्णु सृष्टि के पालनकर्ता है। ये नारायण ऋग्वेद के नारायण हैं। उसमे कहा गया है कि पुरुष (ब्रह्म) मे विराट और विराट से नारायण का जन्म हुआ। ये नारायण ही विष्णु हैं।

विष्णु को वासुदेव भी कहा गया है। वासुदेव का अर्थ श्रीकृष्ण भी किया जाता है। इसके दो कारण हैं, एक तो यह कि श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार माना गया और दूसरा यह कि वे वसुदेवजी के पुत्र थे। परन्तु यहाँ वासुदेव का अर्थ है वह देवता जो सर्वत्र वास करता है।

विष्णु की उपासना करने वालो को वैष्णव कहा गया। वैष्णवो में यह विश्वास प्रचलित है कि जब-जब पृथ्वी पर पाप का भार बढ़ता है तब-तब भगवान विष्णु जन्म लेकर पृथ्वी का भार उतारते हैं। विष्णु अनेक जीवों के रूप मे जन्म लेते रहे हैं। इन्हे अवतार कहा गया। ये अवतार है—

मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कलियुग में जिनके जन्म लेने की भविष्यवाणी है वे कल्कि। इन दशावतारो मे से 9 प्राचीन भारत मे हो चुके हैं जिनमे महात्मा बुद्ध अन्तिम थे।

शैव मत

शैव मत का विकास भी वैदिक काल मे ही होने लगा था। ऋग्वेद मे शिव को रुद्र कहा गया है। तैत्तिरीय संहिता मे रुद्र को गिरिशन्त तथा गिरित्र कहा गया तथा अथर्ववेद मे 'नीलशिखण्डिन'। अथर्ववेद मे इन्हे राजा का शत्रु—नृपरि कहा गया है। इनकी उपासना भूत-पिशाचो से रक्षा के लिए की जाती थी। अथर्ववेद मे शिव को महादेव तथा सहस्राक्ष भी कहा गया है। उत्तर-वैदिक काल मे शिव पशुपति हो गये। यजुर्वेद तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् मे रुद्र का नाम शिव हो गया।[1]

रामायण मे शिव को रुद्र, महेश्वर, शकर एव त्र्यबक कहा गया तथा उन्हे परम गुरु, सृष्टि के आदिजनक और प्रलयकर रूपो मे दर्शाया गया है। महाभारत में शिव को योगियो का परम पुरुष, ईशान, महेश्वर, महादेव, भगवान आदि कहकर सम्बोधित किया गया है। इसी काल मे नदी महादेव के वाहन के रूप मे प्रतिष्ठित

1 'या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी। तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि॥' 3-5, तथा यजु 16-2—हे रुद्रदेव! तेरी जो सौम्य पुण्य-प्रकाशित कल्याणी मूर्ति है, हे पर्वतवासी सुख-विस्तारक शिव! उस परम शांत मूर्ति से हम लोगो को देख।

हुए, और शिव को त्रिनेत्र भी कहा गया। महाभारत मे उल्लेख है कि शिव की मूर्तियाँ मानवाकार और लिंग के रूप मे होती हे। पुराणो मे लिंगपूजा का विस्तार से विधान है तथा लिंगपुराण अलग से ही लिखा गया है।

महाभारत मे दक्ष के यज्ञ की कथा से यह स्पष्ट होता है कि उस समय तक शिव-पूजा रूढ हो चुकी थी। दक्ष ने यज्ञ के समय शिव का भाग नही निकाला, इससे शिव क्रुद्ध हो गये और धनुष-बाण लेकर यज्ञ को विध्वस करने पहुँच गये, यह देखकर यज्ञ-देवता हिरन बनकर वहाँ से भाग गया।

जैन धर्म

जैन धर्म भी वैदिक धर्म की भाँति प्राचीन है। इसके प्रवर्तक ऋषभदेव हुए, जिन्हे वैष्णव विष्णु का अवतार मानते हैं तथा जिनका उल्लेख ऋग्वेद मे भी है। वे सूर्यवशी थे। जैन गाथा के अनुसार वे अयोध्या मे पैदा हुए थे तथा उनके पिता का नाम नाभिराय और माता का मेरुदेवी था। श्रीमद्भागवत महापुराण मे भी उन्हे वैवस्वत मनु के पुत्र प्रियव्रत के पौत्र महाराजा नाभि तथा उनकी धर्मपत्नी महारानी मेरुदेवी की सन्तान बताया गया है।

जन्म के समय ही उनमे दैवी लक्षण थे। महाराज भरत उन्ही के पुत्र थे। वृद्धावस्था मे उन्हें वैराग्य हो गया तथा वे भरत को राज्य सौपकर तपस्या करने चले गये थे। उन्हे कैवल्य-ज्ञान प्राप्त हो गया था। उनके सहित जैन धर्म मे कुल चौबीस तीर्थंकर हुए जिनमे अन्तिम भगवान महावीर थे जिनका जन्म 540 ई. पू. के आसपास हुआ था। एक पुत्री का पिता बनने के बाद वे घर से चले गये तथा तपस्या करते रहे। उन्हें भी कैवल्य-ज्ञान की प्राप्ति हुई।

महावीर ने जैन धर्म-सघ बनाया किंतु जब उनके दामाद जामालि एव बेटी प्रियदर्शना सघ मे शामिल हुए तो सघ मे झगडे आरम्भ हो गये और श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दो सम्प्रदाय बन गये। कालान्तर मे जैन धर्म अनेक सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया।

महावीर ने पाँच व्रतो का प्रतिपादन किया—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। उन्होने वासना तथा उससे उत्पन्न कर्म को बधन का कारण माना तथा तप द्वारा समस्त आवरणो को नष्ट करके कैवल्य प्राप्ति पर बल दिया।

जैन धर्म मे धर्म के दस लक्षण गिनाये गये—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम अकिंचन, उत्तम त्याग और उत्तम ज्ञान।

महावीर मोक्ष का मार्ग दिखलाते है। ये कहते हैं—"कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के—जो कुशल है, जिसने अज्ञान का छेदन कर दिया है वह न बधा है न मुक्त है, अर्थात् जो अनन्य आत्मा है वह नित्य मुक्त ही है, उसमे कोई विकार आता ही नही, विकार आता है चित्त मे जिसे तप से नष्ट किया जा सकता है।"[1]

1 आयारो, 2-6-182.

महावीर जीवन-काल मे ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करते है। वे कहते हैं—"गथ परिण्णाय इहज्जेव वीरे, सोय परिण्णाय चरेज्ज दते। उमग्ग लद्धुं इह माणवेहिं, णो पाणिण पाणे समारमेज्जासि।।—इन्द्रियो को जीतने वाला वीर पुरुष परिग्रह और कामनाओ को तत्काल छोड़कर विचरण करे। इस मनुष्य-जन्म मे ही वह ससार सिंधु से पार हो सकता है। उसे अर्थात् जीवनमुक्ति को प्राप्त करके मुनि प्राणियो का सहार नही करता।"[1]

जैन धर्म ने वैदिक कर्मकाण्ड के प्रसग में होने वाली पशुबलि की निंदा की तथा सभी जीवो के प्रति करुणा और अहिंसा का सन्देश दिया। उसके अनुसार मोक्ष का मार्ग त्रिरत्न का पालन है—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् दर्शन। जैन धर्म के अनुसार सग्रह पाप है, उसने अपरिग्रह को धर्म का लक्षण बताया। जैन धर्म के नियम कठोर होने के बावजूद समाज में उसका प्रचार हुआ तथा समाज के विचारवान और समर्थ वर्गों ने उसे अपनाया।

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म, वैदिक धर्म और जैन धर्म जितना प्राचीन नही है। उसका जन्म शाक्यमुनि गौतम बुद्ध की शिक्षाओ में से हुआ। बुद्ध का जन्म 536 ई पू में कपिलवस्तु के शाक्य राजा शुद्धोधन की धर्मपत्नी महामाया की कोख से हुआ। उनकी माँ उनको जन्म देने के कुछ समय बाद ही चल बसी थी, अत उनका पालन-पोषण उनकी मौसी तथा सौतेली माँ गौतमी ने किया जिसके कारण वे गौतम कहलाये। उनका गृहस्थ-आश्रम का नाम सिद्धार्थ गौतम था। उनका विवाह यशोधरा के साथ हुआ था और वे एक पुत्र के पिता भी बन गये थे, तभी उन्हे समाज में बूढे, अपग और मृतको को देखकर वैराग्य हो गया तथा वे सासारिक दु खो से निवृत्ति का मार्ग खोजने के लिए घर से निकल पड़े। लम्बे समय तक भटकने और तप के बाद उन्हें बौधगया में बोधिवृक्ष के नीचे तप करते समय बोधि प्राप्त हुई। तब से उन्होने स्थान-स्थान पर घूमकर धर्म का उपदेश दिया, धर्म-सघ बनाया और इस प्रकार बौद्ध धर्म की नीव डाली।

बौद्ध धर्म का सार चार आर्य सत्यो मे निरूपित किया गया है—1. दु ख और जीवन के साथ उसका अपरिहार्य सम्बन्ध, 2 दु ख-समुदाय अथवा दु ख का कारण अर्थात् अहकार और अविवेकपूर्ण इच्छाएँ—ऐन्द्रिक वासनाएँ, जीवित रहने की वासना और सत्ता की वासना, 3. दु ख-निरोध अर्थात् दु ख-निवारण का उपाय अथवा वासना का जडमूल से निर्मूलन, 4 दु ख-निवारण का उपाय अर्थात् आष्टागिक मार्ग।

आष्टागिक मार्ग मे—1 सम्यक् दृष्टि, 2 सम्यक् सकल्प, 3 सम्यक् वाक् (वचन), 4. सम्यक् कर्म, 5 सम्यक् जीविका, 6 सम्यक् प्रयत्न, 7 सम्यक् स्मृति तथा 8 सम्यक् समाधि का—उल्लेख किया गया है।

1 वही, 3-2-50.

सम्यक् दृष्टि का अर्थ है दु.ख के कारण को सही रूप में पहचानना और दु.ख से मुक्ति पाने के लिए सही दर्शन को अपनाना। सम्यक् सकल्प से बुद्ध का अभिप्राय इस दृढ निश्चय से है कि दु.ख से निवृत्ति प्राप्त करनी है तथा इस प्रक्रिया मे दूसरो को हानि नही पहुँचाना है। मधुर और क्रोध से रहित वाणी ही सम्यक् वचन अथवा वाक् है, जिससे किसी का हृदय न दु.खे। आष्टांगिक मार्ग इस बात पर बल देता है कि स्वय तो दु.ख से छुटकारा-पाना ही है किसी दूसरे को भी दु.ख नही पहुँचाना है।

बुध की शिक्षाओ मे आज शायद सबसे अधिक आवश्यक सम्यक् आजीविका की शिक्षा है। वे कहते है कि व्यक्ति को अपने जीवन-यापन के साधन ऐसी रीति-नीति से प्राप्त करने चाहिए जिससे कि दूसरो के जीवन के मार्ग मे कोई बाधा न आये तथा समाज के नैतिक नियमो का उल्लघन न हो। शुद्ध आजीविका ही सामाजिक जीवन की आधार-शिला है, जब समाज मे प्रत्येक व्यक्ति सही-गलत किसी भी मार्ग से धन कमाने पर तुल जाता है तब समाज मे अव्यवस्था बढ जाती है और व्यक्ति के दु.खो का निवारण होने के बजाय उनमे वृद्धि हो जाती है। इसी का स्वाभाविक परिणाम सम्यक् प्रयत्न और सम्यक् कर्म है। यदि व्यक्ति कर्म मे सावधानी बरते और अपने प्रयत्नो मे सदाचार के नियमो का पालन करे तो वह स्वय तो दु.खो से मुक्त हो ही सकता है समाज को भी सुख का मार्ग दिखा सकता है।

यह स्मरण रखना कि मनुष्य का शरीर, उसकी वेदना, उसका चित्त, उसकी सज्ञा (चेतना) और उसका मन—ये सब नश्वर हैं, सम्यक् स्मृति है। यह स्मृति स्थिर हो जाने पर व्यक्ति नाशवान् जगत् के मोह मे नही पडता और वासनाओ से छूट जाता है।

सम्यक् समाधि निर्वाण अथवा बोधि का अन्तिम उपाय है। उसमे चित्त को स्थिर और एकाग्र करके उसे शून्य मे विलीन करने की सीख दी गयी है। जो चित्त समाधिस्थ हो जाता है उसमे विकार-वासनाओ का जन्म नही होता तथा विकार-वासनाओ का जन्म न होने से दु.खो की निवृत्ति हो जाती है। इच्छाएँ ही दु:ख का कारण हैं और इच्छाओ से निवृत्ति हो जाना ही निर्वाण है।

जिस प्रकार वैदिक धर्म और जैन धर्म मोक्ष पर बल देते है तथा उसे मानव-जीवन का चरम लक्ष्य मानते है वैसे ही बौद्ध धर्म निर्वाण को जीवन का चरम लक्ष्य और श्रेयस मानता है। इसे शांतिपद भी कहा गया है। यह पद तर्क एव सशय से परे हैं, यह स्वय को जान लेना है। इस अवस्था मे इच्छाएँ अपने मूल कारण अज्ञान सहित समाप्त हो जाती है। यह परम पद है। यहाँ पहुँचकर ग्रंथि-विमोचन हो जाता है, मन की सब गाँठें खुल जाती है। यहाँ व्यक्ति जन्म-मरण से छूट जाता है। निर्वाण ही मुक्ति है, मोक्ष है।

मौर्यवश के सम्राट अशोक और कुशान सम्राट कनिष्क ने बौद्ध धर्म अपनाकर उसका प्रचार-प्रसार किया। एक बार तो बौद्ध-धर्म भारत मे चारो ओर फैल गया लेकिन शीघ्र ही वह भारत से लोप हो गया, तथापि पूर्वी एशिया के देशो—तिब्बत,

चीन, बर्मा, कंपूचिया और जापान में उसका व्यापक प्रसार हुआ, यहाँ तक कि इन देशों में बौद्ध धर्म जनसाधारण का धर्म बन गया।

भगवान बुद्ध के बाद धर्मसंघ में फूट पड गयी तथा वह महायान और हीनयान नामक दो प्रमुख सम्प्रदायों में बंट गया। एक तीसरा वज्रयान भी बना जो तन्त्र-मन्त्र का सम्प्रदाय है।

भारत में दार्शनिक चिंतन की धाराएँ

प्राचीन भारत में जगत् और जगत् के आदि-कारण के बारे में गहरायी से चिंतन हुआ और परा-जागतिक अथवा आध्यात्मिक सत्यों की खोज हुई। इसने ही व्यवस्थित दार्शनिक चिंतन-धाराओं को जन्म दिया। प्राचीनकालीन दर्शन की प्रमुख धाराओं की गणना इस प्रकार की जा सकती है—

1 सांख्य-दर्शन, 2 योग-दर्शन, 3 न्याय-दर्शन, 4 वैशेषिक-दर्शन, 5 मीमांसा-दर्शन, 6 वेदांत-दर्शन, 7 चार्वाक-दर्शन, 8. बौद्ध-दर्शन, और 9 जैन-दर्शन।

1. सांख्य-दर्शन

लगभग 700 ई पू. में सांख्य-सूत्र नामक दार्शनिक ग्रंथ की रचना हुई जिसमें इस दर्शन के आदि-प्रतिपादक कपिल मुनि के चिंतन का सार है। कपिल मुनि का जन्म ईसा से लगभग 2500 वर्ष पूर्व स्वायंभुव मनु की पुत्री देवहूति की कोख में हुआ था। उनके पिता कर्दम ऋषि थे। सांख्य-दर्शन का सबसे पहला प्रमाण ऋग्वेद के नासिकीय सूक्त में मिलता है जिसमें सृष्टि को अनिर्वचनीय तथा सृष्टि के आदि-कारण सत तत्त्व को सर्वोच्च माना गया है। पाँचवी शदी ईसा पूर्व में जब महाभारत के अन्तर्गत गीता की रचना की जा रही थी तब भी सांख्य-दर्शन विद्यमान था और उससे भी पहले 1500–1600 ई पू. में जब महाभारत घटित हो रहा था तब युद्ध के मैदान में श्रीकृष्ण ने सांख्य-दर्शन की मीमांसा प्रस्तुत की।

कपिल मुनि ने सांख्य-सूत्र में सृष्टि के दो कारण-तत्त्वों का उल्लेख किया है—पुरुष और प्रकृति जिसे कपिल 'प्रधान' कहते हैं। वे प्रकृति को भी पुरुष की भाँति अनादि मानते हैं और कहते हैं कि प्रकृति सत्व, रज, तम—इन तीन गुणों की समावस्था का नाम है। वह स्वयंसिद्ध और अनिर्वचनीय है।

कपिल मुनि के अनुसार जिस प्रकार पुरुष अर्थात् परमेश्वर निराकार और निर्गुण है जिसके कारण उसका वर्णन नहीं किया जा सकता इसी प्रकार प्रकृति भी अगम्य है तथा उसका भी वर्णन नहीं किया जा सकता।

पुरुष जब जीवात्मा का रूप लेता है तब वह स्वयं को भोगों का भोक्ता और कर्मों का कर्त्ता मान लेता है जिसके कारण वह दुःख और सुख का भागी बनता है। अज्ञानवश पुरुष इस संसार में भटकता रहता है और जब उसे यह यथार्थ ज्ञान हो जाता है कि जिसे वह अपना कर्म और भोग मान रहा था वह तो

प्रकृति मे ही रहा था, वह स्वय न कर्त्ता न है न भोक्ता है, तब वह मुक्त हो जाता है अर्थात् वह अपने नित्यमुक्त स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ।

साख्य-दर्शन प्रकृति को सत तत्त्व मानता है, उसमे विकार तब उत्पन्न होता है जब पुरुष उससे सयोग करता है । पुरुष के सयोग से प्रकृति मे क्रमश महत्तत्व, अहकार, मन, इन्द्रियो आदि की उत्पत्ति होती है । साख्य-दर्शन ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानता है ।

गीता मे श्रीकृष्ण ने साख्य को ही ज्ञानमार्ग का स्रोत माना है । गीता मे साख्य और योग को अभिन्न बतलाया गया है । वास्तव मे गीता ने समन्वयात्मक दृष्टि अपनायी है ।[1] साख्य-दर्शन का मूल सिद्धान्त यह है कि पुरुष अर्थात् चेतन आत्मा मे जो भी विकार आता है वह अज्ञान के कारण आता है प्रकृति के कारण नही । जहाँ तक प्रकृति का प्रश्न है वह तो नितान्त निर्दोष और शुद्ध है, उसमे जो भी विकार आता है वह पुरुष के सयोग से आता है । इस प्रकार साख्य अद्वैतवादी नही है, वह द्वैतवादी है अर्थात् दो तत्त्वो को आदि तत्त्व मानता है—पुरुष और प्रकृति ।

2. योग-दर्शन

योग की परम्परा वैदिक युग से चली आ रही है । योगावस्था स्वय परमपिता ब्रह्मा ने सूर्य को दी, सूर्य ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को । रुद्र अथवा शिव को योगेश्वर कहा गया है और श्वेताश्वतरोपनिषद मे योग का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

श्रीकृष्ण ने गीता मे योग-दर्शन की व्याख्या की है । तथापि योग-दर्शन का सबसे अधिक प्रामाणिक और अधिकारी ग्रथ योगसूत्र माना जाता है । योगसूत्र के प्रणेता महर्षि पतजलि का काल ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी माना गया है । उन्होने योगसूत्र को चार भागो मे विभाजित किया है—समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद ।

समाधिपाद मे चित्त की वृत्तियो के निरोध को योग बताया गया है ।[2] इस अध्याय मे पतजलि समाधि की प्रक्रिया, उसकी महत्ता तथा उसके भेदो का विस्तार से वर्णन करते हैं । वे बताते है कि समाधि की क्या अवस्थाएँ हैं और ऋतभरा प्रज्ञा किस प्रकार समाधि को जन्म देती है, जहाँ चित्त पूरी तरह निरुद्ध हो जाता है ।

साधनपाद मे महर्षि पतजलि क्रिया योग का. वर्णन करते है और उसके अन्तर्गत तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान का मार्ग सुझाते है । इस मार्ग का अनुसरण करने से प्रज्ञा सप्त-प्रान्तभूमि वाली हो जाती है[3], और ऐसी प्रज्ञा प्राप्त करने वाला योगी कुशल कहलाता है । उसके चित्त की अशुद्धियाँ नष्ट हो जाती हैं और उसकी बुद्धि मे ज्ञान का आलोक जाग उठता है ।

1 श्रीमद्भागवद् गीता, 2–4, 5 इत्यादि ।
2 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध', योगसूत्र, पतञ्जलि, 1–2
3 "तस्य सप्तधा प्रान्तभूमि. प्रज्ञा", योग सूत्र, 2–27.

इस अध्याय मे महर्षि पतजलि योग के आठ अगो का वर्णन भी करते हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।[1] अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम है। शौच, सतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान नियम हैं। स्थिर और सुखपूर्वक बैठना आसन है। श्वास और प्रश्वास की गति को अलग करना प्राणायाम है। प्राणायाम की सिद्धि से प्रकाश पर पडा हुआ आवरण हट जाता है। विषयो से इन्द्रियो का हट जाना प्रत्याहार है। चित्र की एकाग्रता धारणा है। धारणा से ध्यान होता है और ध्यान की स्थिरता समाधि है।

तीसरे अध्याय मे महर्षि पतजलि ने कहा है कि यदि समाधि निर्जीव न होकर सजीव हो तो योगी को अनेक प्रकार की शक्तियाँ—ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त हो जाती हैं, जैसे—पूर्व जन्मो का ज्ञान, दूसरो के मन का ज्ञान, मित्रता, करुणा, मुदिता, असाधारण शारीरिक बल, सूक्ष्म, परोक्ष और दूरस्थ वस्तुओ का ज्ञान, दूसरे ग्रहो का ज्ञान, सिद्धो का दर्शन, सत्य का दर्शन, बुद्धि का दर्शन, दैवी वाणी सुनने, दैवी तत्त्व का स्पर्श, उसका दर्शन, स्वाद और सुगधि प्राप्त करने की शक्ति।

कई योगी परकाया मे प्रवेश भी कर जाते है, पानी पर चल सकते हैं और आकाश मे उड सकते हैं, उनके शरीर मे कान्ति आ जाती है। इन सिद्धियो को अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति प्राकम्य, वासित्व, ईशित्व, यत्र-कामावसायित्व, आदि कहा जाता है, लेकिन यहाँ महर्षि पतजलि योगी को सावधान करते हैं कि ये सिद्धियाँ मोक्ष के मार्ग मे बाधा डालती हैं।[2]

अन्तत योगसूत्र उस स्थित का वर्णन करता है जिसे कैवल्य कहा गया है जिसमे सारे मलो का नाश हो जाता है और चैतन्य अपने स्वरूप मे स्थित हो जाता है। यहाँ समस्त द्वैत समाप्त हो जाता है और योगी आत्मस्वरूप मे आरूढ रहता है।[3]

न्याय दर्शन

न्याय-सूत्र के रचनाकार मेधातिथि का काल 600 ई पू माना गया है। न्याय-सूत्र लिखने के कारण मेधातिथि को मेधातिथि गौतम भी कहा गया। वास्तव मे मेधातिथि ने महर्षि गौतम के न्याय-दर्शन को सूत्रवद्ध मात्र किया वे उसके प्रवर्तक नही हैं। न्याय-दर्शन का प्रवर्तन ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व मिथिला के राजा सीरध्वज के गुरु महर्षि गौतम ने किया था। ये राजा सीरध्वज ही सीताजी के पिता थे और कुल-उपाधि के कारण जनक अथवा विदेह के नाम से जाने जाते थे। महर्षि गौतम को प्राय. अहिल्या के पति के रूप मे पहचाना जाता है जिन्होने इन्द्र द्वारा

1 वही, 2-29.
2 योगसूत्र, 3-16 से 48.
3 "पुरुषार्थशून्याना गुणाना प्रतिप्रसव : कैवल्य स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥"
—योग सूत्र, 4-34

छल से अहिल्या के साथ दुष्कर्म करने के कारण इन्द्र को दण्ड दिया और अहिल्या को अदृश्य करके स्वय आश्रम छोडकर चले गए थे। राम जब उस आश्रम मे गए तब अहिल्या का उद्धार हुआ। तुलसीदासजी ने अहिल्या का शिला होना बताया है जबकि वाल्मीकि ने ऐसा नही कहा।

न्यायसूत्र ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञान की प्राप्ति को अनिवार्य माना है तथा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए सोलह साधनो की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है—प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टात, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह-स्थान।[1]

न्याय-दर्शन मे भी अन्य दर्शनो की भाँति इच्छाओ को दुख का कारण कहा गया है। उसमे दुखो से मुक्ति को अपवर्ग कहा है जिसका तात्पर्य मोक्ष है। इस दर्शन मे आत्मा को स्वय ज्ञान, ज्ञाता, और बुद्धि को ज्ञान का साधन, और मन को स्मृति का साधन कहा गया है।

यह दर्शन पच तत्त्वो—आकाश, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी को अक्षय तथा नित्य मानता है, तथा उनके सयोग से बने नाना रूपो और नामो की वस्तुओ को अनित्य और नश्वर।[2] ज्ञानाग्नि को क्लेशो का नाश करने वाली तथा समाधि द्वारा ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करने का साधन बताया गया है।

वैशेषिक दर्शन

चौथी शताब्दी ई पू मे महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्र की रचना की। कणाद धर्म को मोक्ष का साधन मानते हैं तथा अन्त.करण की पवित्रता पर बल देते है। वे परमाणुवादी हैं तथापि आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते है। उन्होने सात पदार्थो और नौ द्रव्यो का विश्लेषण किया है। द्रव्य भी पदार्थ ही है। द्रव्य—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा और मन हैं। द्रव्यो के अपने-अपने गुण होते है, जैसे पृथ्वी का गुण गध है।

द्रव्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थ इस प्रकार है—गुण, गति, सामान्य, विशेष, कर्म और अभाव। यह दर्शन चार प्रकार के शरीर मानता है—अडज, स्वेदज, जरायुज तथा उद्भिज।

वैशेपिक दर्शन आत्मा को अनादि और अनन्त मानता है। इसके अनुसार आत्मा सर्वव्याप्त है तथा मन एक आभ्यन्तरिक उपकरण है जो आत्मा को केवल बाह्य पदार्थो को ही नही वरन् उसके अपने बारे मे भी जानकारी प्रदान करता है। मन का निर्माण द्रव्यो से होता है और द्रव्यो का अणु से अथवा कण से। इस दर्शन को वैशेपिक इसलिए कहा गया क्योकि यह उस विशेष का वर्णन करता है जो एक तत्त्व को दूसरे तत्त्वो से पृथक् करके बताता है। यह दर्शन पदार्थ, द्रव्य,

1 न्यायसूत्र 1-1-1.
2 "सर्वमित्य पचभूतनित्यत्वात। नोत्पत्ति विनाशकारणोपलब्धे॥" न्याय सूत्र, 4-1-19 से 30.

आत्मा और परमात्मा सबके गुणों अर्थात् धर्मों का वर्णन करता है तथा धर्म को मोक्ष का साधन मानता है।[1]

मीमांसा-दर्शन

मीमांसा-दर्शन का प्रवर्तन आचार्य जैमिनी ने 550 ई पू मे अपने ग्रन्थ मीमांसा सूत्र द्वारा किया। इस ग्रन्थ मे 12 अध्याय है जिनमे आचार्य ने वेदो से कर्मकाण्ड सम्बन्धी धर्मसूत्रों का सकलन किया है। मीमांसा इस अर्थ मे वेद से भिन्न है कि यद्यपि वेदो ने देवताओ और ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है तथा उनकी उपासना की है तथापि मीमांसा सूत्र मे केवल कर्मकाण्ड और उसके मन्त्रों को स्वीकार करती है।

मीमांसा-दर्शन मे काम्य कर्म, निषिद्ध कर्म और नित्य-कर्म का विस्तार से विवेचन हुआ है। जागतिक सुख, परिवार की वृद्धि और सपत्ति की इच्छा से किए गए कर्म काम्य कर्म है। जिन कार्यों की वेद ने मनाही की है वे मीमांसाकार के अनुसार निषिद्ध कर्म है तथा नित्यप्रति होने वाले कर्म तथा उसके सम्बन्ध मे पालन किए जाने वाले कर्म नित्य कर्म है। नित्य कर्मों के सम्यक् पालन से ही मोक्ष होता है, ऐसा आचार्य जैमिनी का मतव्य है।

मीमांसा के अन्तर्गत जीव, जगत के स्वरूप, आत्मा और ब्रह्म का प्रतिपादन और विवेचन नही है, अत मीमांसा को दर्शन कहा जा सकता है या नही, इस बारे मे भी मतभेद है।

वेदात-दर्शन

वेदो का अधिक भाग कर्मकाण्ड से सम्बन्धित है। वेद जगत् और इहलौकिक जीवन को उत्तम बनाने की विद्या का प्रतिपादन करते है। परन्तु मनुष्य को इतने से सन्तोष नही हो सकता, इसी कारण उत्तर-वैदिक काल मे वेदो के अन्तिम-चरण अथवा वेदात का प्रतिपादन उपनिषदो मे हुआ, जिनमे ऋषियो ने सृष्टि की रचना, तत्त्वो, आत्मा और ब्रह्म सरीखे विषयो का प्रतिपादन किया है।

उपनिषदो के बाद गीता आयी, जिसके बारे मे कहा गया कि सब उपनिषद् गाय है जिन्हे दुहने वाले श्रीकृष्ण ने गीतारूपी दूध प्रस्तुत किया है। इस प्रकार गीता को वेदात-दर्शन का दूसरा आधार माना गया। इसका एक तीसरा आधार ब्रह्मसूत्र है जिसकी रचना बादरायण नामक ऋषि ने की। बादरायण वास्तव मे महर्षि वेद व्यास ही है जिन्होंने महाभारत की रचना की तथा गीता का सपादन किया। उपनिषद् (श्रुति), गीता (स्मृति) तथा ब्रह्मसूत्र (शास्त्र) को वेदात-दर्शन की प्रस्थानत्रयी कहा गया है। यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि उपनिषदो, गीता और ब्रह्मसूत्र को लिपिबद्ध करने का काल महत्त्वपूर्ण नही है। महत्त्वपूर्ण यह है कि इनका प्रतिपादन ईसा से डेढ हजार वर्ष पहले हुआ। उपनिषद् पीढी-दर-पीढी सुनकर याद किए जाते रहे और गुरु-शिष्य परम्परा से चले आए तथा ईसा

1 'यतोऽभ्युदयनि : श्रेयससिद्धि स धर्म.' वैशेषिक सूत्र, 1-1-2.

के जन्म से कुछ शताब्दी पहले उन्हे लिखा गया। इसी प्रकार गीता भी स्मृति है, अर्थात् वह उपनिषदो जितनी प्राचीन नही है लेकिन उसे भी प्रणयन के बाद स्मृति के आधार पर लिखा गया। ब्रह्मसूत्र इनमे सबसे बाद का है, लेकिन उससे कोई विशेष अन्तर नही पड़ता क्योकि ब्रह्मसूत्र सूत्र-संकलन है।

वेदान्त मुख्यत जीव, जगत, माया और ब्रह्म की विवेचना करता है। वह आत्मा और ब्रह्म मे अन्तर नही मानता। जीव और जगत् को वह मिथ्या अर्थात् माया के कारण उत्पन्न होने वाला भ्रम मानता है। वेदान्त की दृष्टि मे केवल ब्रह्म सत्य है। इस प्रकार वेदान्त मूलत अद्वैतवादी है हालाँकि परवर्ती काल मे वेदान्त के क्षेत्र मे द्वैत और विशिष्टाद्वैत का भी प्रवर्तन हुआ।

वेदान्त जगत् को नश्वर, विकारयुक्त, दुःख का कारण, स्वप्न जैसा भ्रांतिपूर्ण और असत् मानता है तथा वह इसके अधिष्ठान आत्मा अथवा ब्रह्म की प्रतिष्ठापना करता है। यह सही है कि वेदान्त मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है तथापि वह मोक्ष को भी एक विसगति मानता है। प्रश्न है कि मोक्ष किसका? जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है वह तो नित्य, शाश्वत, परम चेतन और शुद्ध आनन्द है, उसमे न कोई विकार आ सकता है न आया है, न वह कभी बधन में बधा है, न उसका मोक्ष ही है। खुलेगा तो वही जो बधा हो। आत्मा तो नित्य स्वरूप मे स्थित है अतः उसके बधन और मोक्ष का प्रश्न ही नही उठता।

तब फिर बधा कौन है, तथा मुक्त होने की जिज्ञासा किसमे जगी है? वेदान्त कहता है कि जीव बद्ध है, उसी मे मुक्त होने की जिज्ञासा है और अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने की अभीप्सा भी। मगर क्या जीव सत्य है? नही। जीव समूचे जगत् की भाँति भ्रम का फल है अतः असत् है और जो असत् है उसके बारे मे चिता करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जिस दिन यह समाधान हो जाता है कि केवल ब्रह्म ही सत्य है, वही इस जगत् का एकमात्र अधिष्ठान है, अर्थात् मैं भी वही हूँ, तब बुद्धि पर से अज्ञान का आवरण हट जायेगा और ज्ञानस्वरूप आत्मा का बोध हो जायेगा। यही मोक्ष है।

सक्षेप मे मोक्ष का अर्थ है जगत् को अनित्य जानकर उससे उपराम होना और स्वय को नित्य जानकर उसमे स्थित होना। मोक्ष एक सही पहचान है। देह आदि नश्वर उपादानो को अपनी पहचान मानने के कारण जो मोह उत्पन्न होता है वह इस सही पहचान द्वारा तिरोहित हो जाता है कि मैं अविनश्वर, निरामय, निर्मल, निर्गुण, नित्य, आनन्दस्वरूप और पूर्ण चैतन्य तत्त्व हूँ। बधन वासना का है, और वासना का कारण यह अज्ञान है कि मैं इन्द्रियो वाली देह हूँ। देहाध्यास समाप्त हो जाने पर बधन का कारण ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार अज्ञान ही बधन है और ज्ञान ही मोक्ष है। ब्रह्मसूत्र कहता है—'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति' जो ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। जान लेना ही मोक्ष है।

चार्वाक-दर्शन

ऐसा नही मानना चाहिए कि भारत मे समग्र दार्शनिक चिंतन किसी अज्ञात

सत्य की खोज की दिशा मे ही हुआ। यहाँ एक ऐसे दर्शन का प्रतिपादन भी हुआ जो इस जगत् से परे किसी रहस्यमय तत्त्व के अस्तित्व मे विश्वास नहीं करता। इस दर्शन को नास्तिक दर्शन भी कहा जा सकता है। इसके प्रतिपादक चार्वाक ऋषि हैं।

ऐसा लगता है कि वेदो मे कर्मकाण्ड की प्रबलता तथा ब्राह्मणवाद के उदय ने चार्वाक के मन मे प्रतिक्रिया पैदा की और उन्होंने आत्मा परमात्मा की गुत्थियो मे उलझने मे इन्कार करते हुए उनके अस्तित्व में ही इन्कार कर दिया।

चार्वाक-दर्शन के मूल सिद्धान्त—प्रत्यक्ष प्रमाण ही एकमात्र प्रमाण माना जा सकता है, मनुष्य के लिए केवल उस चिंतन की ही प्रासंगिकता है जो उसके जीतेजी उसके काम आये, क्योंकि मृत्यु जीवन का अन्त है, वही मोक्ष है, सृष्टि का स्वरूप भौतिक है तथा वेद कर्मकाण्ड द्वारा अंधविश्वास फैलाते और मानव को भ्रम मे डालते हैं।

आस्तिकतावादी दर्शन आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म सरीखी अवधारणाओं को स्वीकार करके चलता है तथा उनके बारे में कहता है कि उन्हें इन्द्रियो के द्वारा नहीं जाना जा सकता। ऐसी स्थिति में चार्वाक कहते हैं कि जिसे हम इन्द्रियों के द्वारा नहीं जान सकते उसे जानना सम्भव ही नही है क्योंकि मनुष्य के पास ज्ञान का कोई अन्य उपकरण है ही नहीं। चार्वाक कहते हैं कि उस ज्ञान पर ही विश्वास किया जा सकता है जिसे ज्ञानेन्द्रियो द्वारा जाना जा सके। यह चार्वाक-दर्शन का प्रत्यक्षवाद है।

चार्वाक का दर्शन लोकायत दर्शन माना जाता है क्योंकि वे केवल इस लोक का ही चिंतन करते हैं, परलोक का नही, अर्थात् शरीर को ही समस्त सिद्धियों का केन्द्रबिंदु मानते हैं तथा देह छूटने के बाद उनकी दृष्टि मे कुछ नही रह जाता। वे कहते हैं कि जब तक जियो सुख से जियो, देह के मृत हो जाने पर वह भस्म हो जायेगी, लौटकर आना नही होता, चाहे ऋण करो मगर घी पीयो—

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत ॥"

जैन-दर्शन

जैन धर्म मूलत. ज्ञानमार्गी है। उसने जगत् और जीवन को सात तत्त्वों मे निरूपित किया है—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। यह द्वैतवादी कल्पना है, जिसमे जीव और प्रकृति दो भिन्न धरातलों पर खड़े हैं और एक-दूसरे से जुड़े भी हैं। जीव सूक्ष्म तथा चेतन है और प्रकृति स्थूल और जड है। ज्ञान जीव का लक्षण है, प्रकृति का नहीं। देह अथवा काया जीव के बिना जड़ है अतः उसे कर्ता या भोक्ता नहीं माना जा सकता। कर्ता और भोक्ता जीव है। जैसा कर्म है वैसा ही भोग है। यह कर्मवादी दर्शन है। सत्कर्म सुखप्रद और दुष्कर्म दुःखदायी होते हैं। कर्म सभी विषयासक्ति मे होते हैं। जब जीव अपने शाश्वत तथा विषयो के नश्वर स्वरूप को ज्ञान द्वारा पहचान लेता है तब उसकी आसक्ति क्षीण

पड जाती है और वह ऊर्ध्वगामी हो जाता है। धीरे-धीरे आसक्ति समाप्त होने पर सुख-दुःख दोनो नष्ट हो जाते है और जीव अपने शुद्ध स्वरूप मे स्थित हो जाता है।

अजीव तत्त्व के पाँच भेद है—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। सगुण तत्त्वो को पुद्गल कहा गया जिनमे रूप, रस और गध आदि गुण हो। पुद्गल मे आसक्त हुए बिना उसका जीव द्वारा भोग धर्म है तथा जीव के चित्त का पुद्गल मे ठहर जाना अधर्म। आकाश समस्त चेतन-अचेतन तत्त्वो का आधार है और काल गतिशील तथा गतिशून्य दोनो है।

जीव के शुभ और अशुभ कर्मो का उदय आस्रव है। इन कर्मो मे लिप्त हो जाना बध अथवा बधन है तथा जो शक्ति कर्मो के उदय को रोकती है वह सवर कहलाती है। सवर जीव की आध्यात्मिक शक्ति है। जीव के सचित कर्मो का भोग समाप्त करके स्वय निवृत्त हो जाने वाली शक्ति निर्जरा है। मोक्ष जीव की वह स्थिति है जब वह कर्मो और कर्म के कारणो के बंधन से मुक्त हो जाता है, अर्थात् उसमे उस विषयासक्ति का उदय ही न होना जिसके कारण कर्म का उदय होता है और कर्म बधनकारक बनता है।

जैन-दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त स्याद्वाद अथवा अनेकात है। अपने इस सिद्धान्त के कारण जैन धर्म साधना, ज्ञान और दर्शन के क्षेत्र मे बहुविधता की सम्भावना स्वीकार करता है तथा सत्य को अनेक रूपो मे जानने के विचार का प्रतिपादन करता है। ऊपर जिन सात तत्त्वो का निरूपण किया गया है। उनके बारे मे जैन-दर्शन के अनुसार सात शकाएँ, सात जिज्ञासाएँ, सात प्रश्न और सात उत्तर उत्पन्न होते है—1 शायद वह है, 2 शायद वह नही है, 3, शायद वह है और नही भी है, 4 शायद उसका अस्तित्व अनिर्वचनीय है, 5 शायद उसका न होना अनिर्वचनीय है, 6 शायद उसका वर्णन नही किया जा सकता, तथा 7 शायद उसका होना और न होना अनिर्वचनीय है।

इस प्रकार जैन-दर्शन तर्क के स्तर पर पूर्ण सत्य के ज्ञान के बारे मे शका प्रकट करता है अथवा यो कहे कि यह स्वीकार करता है कि सत्य को अनेक प्रकार से और अनेक रूपो मे जाना जा सकता है, क्योकि जितने भी नाम और रूप है सबका अधिष्ठान सत्य है। इस प्रकार धार्मिक कठमुल्लापन अर्थात् यही—सत्य—है—का हठ नितात अनावश्यक हो जाता है। तर्क को ही यदि ज्ञान का मार्ग मान ले तो तर्क कही भी ले जा सकता है। इसीलिए जैन-दर्शन तर्क पर आश्रित रहने के बजाय विषयासक्ति के निरसन पर बल देता है, और अहिंसा का मार्ग प्रशस्त करता है।

जैन-दर्शन का दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त अहिंसा है। हिंसा बधन का कारण बनती है अत मोक्ष के अनुगामियो को हिंसा से उपराम रहकर अहिंसा का मार्ग अपनाना चाहिए। सकल्पपूर्वक की गयी हिंसा विशेषत जीव के बधन का कारण बनती है अत मनुष्य को सकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग करना चाहिए।

बौद्ध-दर्शन

सामान्यतया ऐसा माना जाता है कि बौद्ध-धर्म वैदिक धर्म का विरोधी है। वास्तव में यह कथन धर्म के केवल उस पक्ष तक ही सत्य ठहरता है जिसका सम्बन्ध कर्मकाण्ड से है, लेकिन जहाँ तर्क वेदान्तिक तत्त्वज्ञान का प्रश्न है उस मामले मे बौद्ध-दर्शन उसके बहुत समान ठहरता है।

बौद्ध-दर्शन कहता है कि अस्थिर अथवा 'नश्वर' तत्त्वों को स्थिर अथवा शाश्वत मानना अविद्या है और इस अविद्या के कारण ही जीव में उन तत्त्वों को प्राप्त करने की तृष्णा उत्पन्न होती है जो आसक्ति को जन्म देती है और यही आसक्ति जीव को जन्म लेने के लिए बाध्य करती है। यही भव है। भव अर्थात् होना, ससार।

यहाँ तक तो बुद्ध वेदान्त के साथ-साथ चले हैं लेकिन आगे जाकर जहाँ स्थिर अथवा शाश्वत तत्त्व की धारणा का प्रश्न उठता है वहाँ बुद्ध उससे अलग हट जाते हैं और कहते है कि स्थिर तत्त्व अथवा शाश्वत तत्त्व जैसा कुछ होता ही नही। यही बौद्ध-दर्शन का शून्यवाद है। वह ईश्वर अथवा आत्मा या ब्रह्म को नही मानता।

बौद्ध-दर्शन के अनुसार वासना सस्कार उत्पन्न करती है और सस्कार दुःख तथा बधन का कारण हैं अत वासना का निर्मूलन करने से निर्वाण की प्राप्ति होती है। यह निर्वाण महाशून्यता की स्थिति है।

यह दर्शन केवल चार तत्त्वो को स्वीकार करता है—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। आकाश को वह शून्य होने के कारण तत्त्व नही मानता। बौद्ध-दर्शन आत्मा के अस्तित्व को नही मानता फिर भी वासना के आवरण को नष्ट करने की बात करता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ये आवरण किस पर आये हैं और आवरण होने पर शून्यता को कौन प्राप्त होता है, निर्वाण किसका है ? इन सब प्रश्नो का उत्तर यह कहकर दिया जाता है कि चेतना-तत्त्वो के सयोग से उत्पन्न होती है। निर्वाण की आवश्यकता बुद्ध इसलिए मानते है कि व्यक्ति को दुःख की अप्रिय अनुभूति होती है और वह दुःख से छूटना चाहता है अत चेतना को शून्यता मे पहुँचा देने से दुःखो से मुक्ति हो जाती है।

बौद्ध धर्म ने वैदिक कर्मकाण्ड की घोर निंदा की, परन्तु वह स्वयं कर्मकाण्ड के जाल मे ऐसा उलझा कि कर्मकाण्ड ही धर्म बन गया तथा निर्वाण पीछे छूट गया। बौद्ध-दर्शन करुणा और अहिंसा पर बल देता है। उसके पीछे कोई पारमार्थिक कारण नही है केवल यह तर्क है कि क्योकि हम दुःख नहीं भोगना चाहते अत यह आवश्यक है कि हम दूसरो को दुःख न दें।

26

भारत : साहित्य, कला और विज्ञान

(India : Literature, Arts & Science)

भारत की प्रागैतिहासिक भाषा सिन्धु-सभ्यता की भाषा है जिसकी लिपि को आज तक पढ़ा नहीं जा सका है। यहाँ जब हम प्राचीन भारतीय साहित्य की चर्चा करते है तो हमारे सामने संस्कृत, प्राकृत और पाली भाषाओं के साहित्य का एक विशाल और विस्तृत भण्डार खुल जाता है।

साहित्य

प्राचीन भारतीय साहित्य मे वैदिक-साहित्य, जैन साहित्य तथा बौद्ध साहित्य है। सबसे पहले वैदिक साहित्य को ले।

वैदिक साहित्य

वैदिक साहित्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चार वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद—है। इनमे सबसे प्राचीन ऋग्वेद है जिसका रचनाकाल 3500 से 3000 ई. पू माना जाता है। ऋग्वेद की पाँच प्रसिद्ध शाखायें थीं—शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, शाखायन और माण्डूक्य। ऋग्वेद मे लगभग 10,589 मन्त्र उपलब्ध है। ये मन्त्र मूलत उपासना के मन्त्र है, लेकिन यहाँ यह कहना समीचीन होगा कि अभी तक इन्हे धार्मिक मन्त्र मानकर ही इनके अर्थ किये गये है। ऋग्वेद के मन्त्रो की धर्म-निरपेक्ष व्याख्या होना अभी शेष है। अनेक विद्वानो का मत है कि इन मन्त्रो मे प्रकृति के वे अगणित रहस्य निहित है जिनके आधार पर ऋग्वेदकालीन आर्य जाति प्रकृति पर विजय प्राप्त करती थी।

वेदों के साथ लौकिक जानकारी का सयोग 2000 ई पू. मे ब्राह्मण-ग्रन्थो की रचना के साथ हुआ। इनमे से कुछ ब्राह्मण ग्रन्थ ऋग्वेद के साथ, कुछ यजुर्वेद के साथ, कुछ सामवेद के साथ और कुछ अथर्ववेद के साथ जुड गये। यही आरण्यको और उपनिषदो के मामले मे भी हुआ। वे भी चारो वेदो के अग बन गये। आरण्यको की रचना 1500 ई पू मे और उपनिषदो की 1000 ई पू. मे हुई।

और उसके पड़ोसी देशों के भूगोल की ओर संकेत करता है। अपने जमाने के वैज्ञानिक विकास का उल्लेख युद्ध में काम आने वाले शस्त्रास्त्रों के माध्यम से कुछ है। भले ही हम इसे कपोलकल्पित मिथक कहें कि श्रीकृष्ण ने अपनी माया से सूर्य को ढाँप दिया जिसके कारण जयद्रथ बाहर निकल आया और उसी समय फिर से सूर्य चमकने लगा तथा उसे देख कर अर्जुन ने जयद्रथ का वध कर दिया; लेकिन आज यह असम्भव नहीं रह गया है। तब ऐसा क्यों मानें कि उस जमाने में यह असम्भव रहा होगा।

महाभारत राजनीति के साथ ही कूटनीति का भी एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है; उसमें जहाँ विदुरनीति का समावेश है वहीं श्रीकृष्ण के सन्धि प्रयासों का ब्यौरा भी कूटनीति का एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। महाभारत मानवीय मन की गुत्थियों, प्रेम, घृणा, शंका, विश्वास, अविश्वास, छल, छद्म, धर्म-संकट इत्यादि का बहुत यथार्थ चित्रण करता है। भीष्म का सम्पूर्ण चरित्र अन्तर्द्वन्द्व और धर्म पर चट्टान की तरह अडिग खड़े रहने का एक शानदार नमूना है।

महाभारत में ही धर्म और दर्शन का वह पावन काव्य भी है जिसे भारत में ही नहीं समूचे विश्व में ज्ञान, कर्म, भक्ति और योग का श्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। इस प्रकार महाभारत एक दार्शनिक संहिता का रूप ले लेता है। महाभारत जिस कृष्ण को भगवान कहता है उसे ही वह एक साधारण मानव की तरह प्रेम और विरह में लिप्त दिखाता है, उसे ही वह अपनी बहिन सुभद्रा द्वारा अर्जुन के साथ भागकर विवाह कर लेने में सहायक और षड्यन्त्रकारी के रूप में भी पेश करता है। अन्ततः वही श्रीकृष्ण जो कौरवों और पाण्डवों के बीच युद्ध टालने के प्रयास करता है अर्जुन को युद्ध के लिए ललकारता है और स्वयं यादवों का नाश कर देता है। अन्ततः स्वयं एक बाण से आहत होकर देह विसर्जित कर देता है। यह सब कुछ नितान्त मानवीय और सहज प्रतीत होता है तथा इतिहास जैसा लगता है। शायद यह इतिहास ही है जिसे महाकवि वेद व्यास की लेखनी ने अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया है।

दार्शनिक साहित्य

पिछले अध्याय में हमने भारतीय दर्शन के प्रसंग में अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकार—दार्शनिकों का उल्लेख किया है, यहाँ उनकी गणना दार्शनिक साहित्य के प्रसंग में करना अनुचित न होगा।

दार्शनिक साहित्य में कपिल के सांख्यसूत्र, पतंजलि के योगसूत्र, गौतम के न्यायसूत्र, कणाद के वैशेषिक सूत्र, जैमिनी के मीमांसा सूत्र, बादरायण के ब्रह्मसूत्र और बृहस्पति के चार्वाक दर्शन का उल्लेख किया जा सकता है।

जैन साहित्य

भगवान महावीर ने अपने जीवनकाल में जैन धर्म के तत्त्वों और शिक्षाओं का एक लम्बे समय तक निरूपण किया था। उनके उपदेशों को जैन आचार्यों ने

अनेक ग्रन्थो मे सकलित किया। इन ग्रन्थों मे निम्न को महत्त्वपूर्ण माना जाता है—आचारांग सूत्र, सूत्र कृतांग, स्थानांग, समवायाग, भगवती सूत्र, ज्ञान धर्म कथा, उपासक कथा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपादिक दशा, प्रश्न व्याकरणाविृ, विपाकश्रुत तथा दृष्टिवाद।

बौद्ध साहित्य

ईसा पूर्व काल मे बौद्ध धर्म के केवल दो ग्रन्थों की रचना हुई—तीसरी शताब्दी ई॰ पू॰ मे आचार्य वसुमित्र का 'अभिधर्म' तथा इसके उपरान्त सम्राट् अशोक के काल मे आचार्य वसुमित्र की अध्यक्षता मे पाँच सौ भिक्षुओ की बौद्ध सुगीति ने आर्य कात्यायनीपुत्र द्वारा रचित 'ज्ञान प्रस्थानशास्त्र' पर एक टीका तैयार की जिसका नाम 'विभाषा' रखा गया। भगवान बुद्ध की शिक्षाओं को 'धम्मपद' नामक ग्रन्थ में संकलित किया गया। ईसा पश्चात् काल में बौद्ध धर्म का अधिकाश साहित्य लिखा गया जिसमे जातककथाएँ बहुख्यात है।

अन्य साहित्य

ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व स्मृतियों की रचना आरम्भ हुई, जिनमे सबसे पहली मनुस्मृति है। इसके बाद लगभग चार सौ ईसा पश्चात् तक अनेक महत्त्वपूर्ण स्मृतियो की रचना की गयी।

तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व मे कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' की रचना की। दूसरी शताब्दी ईसवी में आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' की रचना की जिसमे उन्होंने एक सम्पूर्ण अलंकार शास्त्र और रस-शास्त्र का प्रतिपादन किया।

प्राचीन भारत मे कला

प्राचीन भारत मे ललित कलाओ, मूर्तिकला और वास्तुकला के क्षेत्रो मे उच्च कोटि का विकास हुआ। इस काल को हम तीन भागो मे विभाजित कर सकते है—हड़प्पा सभ्यता काल, पूर्व तथा उत्तर वैदिक काल, तथा मौर्य-शुंग-सातवाहन और कुषाण युग।

हड़प्पा सभ्यता काल

रोपड से लोथल और बलूचिस्तान से बुलन्दशहर (उत्तर प्रदेश) तक फैली हड़प्पा सभ्यता 3000 से 1500 ई॰ पू॰ के बीच विकसित हुई। इस काल की बनी हुई मिट्टी, कांसे और पत्थर की मूर्तियाँ मिली है। ये मूर्तियाँ स्त्री, पुरुष, पशु तथा पक्षियों की अनुकृति है। विशेषतः स्त्रियों की मूर्तियों मे शृगार तथा भावभंगिमा के साथ विभिन्न अगो का उभार और गोलाइयाँ करीने के साथ प्रदर्शित हुई हैं। इन्हे हाथो से बनाया गया है।

मोहन जोदड़ो से प्राप्त नर्तकी की मूर्ति उस काल की मूर्तिकला का उत्कृष्ट प्रमाण है। मूर्ति के सिर पर एक पट्ट से मुकुट बंधा है तथा शरीर के प्रत्येक अंग पर भुजबन्द और चूडियो से लेकर त्रिकोण कर्णफूल और गले के पाँच लड़ियो वाले हार तक आभूषण बनाये गये है।

विशेषत. नारी मूर्तियो के बारे मे ऐसा माना गया है कि ये मूर्तियाँ

खिलौने या सजावट की वस्तुएँ न थी वरन् मातृदेवी के रूप मे इनकी पूजा होती थी। अथर्ववेद मे ऐसी ही विवस्त्र मातृदेवी का उल्लेख है। परन्तु सभी नारी मूर्तियो के बारे मे ऐसा नही है, जैसे बच्चे को दूध पिलाती अथवा आटा गूँथती हुई नारी मूर्ति।

सीगो वाली पुरुष मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिनका प्रयोजन मनोरंजन अथवा बच्चो के लिए खिलौने के रूप मे प्रयोग रहा होगा। मिट्टी की मूर्तियाँ कही खोखली और कही ठोस हैं तथा उन्हे आवे मे पका कर उन पर लाल रंग पोता गया है।

पशुओं की मूर्तियो मे पेड पर चढता हुआ बन्दर, क्रुद्ध साँड, हाथी, गडा, बकरा, गले और सीगो मे घण्टियो से युक्त बछडा इत्यादि कला का दर्शनीय नमूना हैं। ऐसे ही मिट्टी का रथ है जिसका अगला भाग भेड के और पिछला भाग पक्षी के आकार का है।

इस काल की प्रस्तर मूर्तियाँ अधिकांशत खण्डित अवस्था मे मिली हैं। पुरुष मूर्ति के अधोभाग पर धोती है, ऊपर का भाग खण्डित है, सम्भव है उस पर उत्तरीय रहा हो। कुछ मूर्तियाँ बैठने की मुद्राओ मे हैं, जिनसे यह पता चलता है कि लोग किन-किन आसनो मे बैठते थे। एक मूर्ति की मुद्रा और उसके अर्धोन्मीलित नेत्रों से ऐसा लगता है कि वह योगी की प्रतिमा है।

इस काल की मूर्तिकला का एक अन्य उन्नत प्रमाण इस काल की मुद्राएँ है, जिन पर साँड, गैंडा, हाथी तथा नागो इत्यादि की आकृतियो को किसी पैने औजार की मदद से उकेरा गया है। एक मुहर पर तो तीन मुख वाले देवता की प्रतिमा है जो ध्यानावस्थित है। एक अन्य मुहर मे नारी की नाभि से वृक्ष का उदय प्रदर्शित किया गया है।

वास्तुकला—हडप्पा-सभ्यता के दो प्रमुख नगर—सिन्धु के तट पर मोहन जोदडो (मुएँ-जो-डेरो) और रावी के तट पर हडप्पा थे। इन दोनो नगरो का नियोजन दुर्गों के समान है। इनके चारो ओर सुरक्षा के लिए परकोटा है जिसकी नीव गीली मिट्टी को कूटकर 25 फुट चौड़ी बनायी गयी थी। उसकी दीवारें ईंट की हैं। परकोटे की दीवारो का ऊपरी भाग 4 फुट चौडा था और उस पर थोडी-थोडी दूरी पर बुर्ज बने थे। दीवार मे चारो दिशाओ मे चार द्वार हैं।

उस काल की वास्तुकला के नमूने तो नगर की बसावट और घरो की बनावट मे मिलते हैं। पूरे नगर मे चार राजमार्ग थे जिनकी चोडाई 33 फुट थी। सडकें 12 से 9 फुट चौडी और गलियाँ 4 फुट चौडी थी। सडक के बीच मे पक्की ईंटो की बनी नालियाँ है। 18 से 25 फुट ऊँची दीवारें मिली हैं। भवनो मे रसोई घर, शयनागार, स्नानागार तथा बरामदे होते थे। इन्हे गारे की मदद से ईंटो से चुना गया था। घर के बीच मे आँगन है। छत पर लकडी की कडियो पर मिट्टी बिछायी जाती थी। हवा के लिए पत्थर की जालियाँ थी। दरवाजे लकडी के होते थे और उनका आकार चौडाई मे साढे तीन फुट तथा ऊँचाई मे सात फुट था। कुछ

दरवाजे तो 28 फुट तक चौड़े पाए गए। ये शायद सभागारों अथवा गोदामों के दरवाजे रहे होंगे।

स्नानागारों के फर्श पक्की ईंटों के मिले हैं, और वे भी ऐसे कि पानी उनमें होकर रिसना असम्भव था। पानी की निकासी की माकूल व्यवस्था थी। ऊपर की मंजिलों का पानी सीधा बाहर की नाली में गिरता था।

लगभग प्रत्येक मकान के भीतर कुआँ मिला है। कुओं की जगत काफी ऊँची होती थी तथा उन पर रस्सियों और घड़ों के निशान मिले हैं। नालियों को पक्की ईंटों से ढका जाता था। थोड़ी-थोड़ी दूरी पर नालियाँ गड्ढों में गिरायी जाती जिससे कि उनका कचरा वहाँ इकट्ठा हो सके। ये गड्ढे बन्द कर दिए जाते थे। समय-समय पर उनकी सफाई की व्यवस्था रही होगी।

ईंटों से निर्मित बीस गोलाकार खम्भों पर खड़े एक विशाल भवन का अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि मोहनजोदड़ो का वह भवन राज-प्रासाद, सभागार, नृत्य-मण्डप या बाजार रहा होगा। ऐसे ही हड़प्पा में 39 फुट लम्बा, 23 फुट चौड़ा और 8 फुट गहरा एक जलाशय मिला है। यह सम्भवतः सामूहिक स्नानागार था। इसमें उतरने के लिए दो ओर सीढ़ियाँ हैं। जलाशय के चारों ओर एक विशाल घेरा है जिसकी दो मंजिलों पर अनेक छोटे-बड़े कमरे और बरामदे बने थे। पास के कुएँ से जल आने का प्रबन्ध है और गन्दे जल की निकासी के लिए मेहराबदार नाली है। इसका तल पक्की ईंटों से बना है और उसमें पानी के रिसाव की गुंजायश नहीं है। यही स्थिति जलाशय की तीन परतों वाली दीवार की है जिसके भीतर की ओर एक इंच मोटा तारकोल का लेप है और दीवार की पहली और दूसरी तथा दूसरी और तीसरी परत के बीच प्लास्तर के बाद मिट्टी को कूट-कूटकर भरा गया है, जिसके कारण न तो पानी का रिसाव सम्भव है न दीवार के फटने की सम्भावना ही है। निर्माण के पाँच हजार वर्ष बाद भी वह जलाशय ज्यों का त्यों खड़ा है। काश, हमारे देश के निर्माण और अभियन्ता उस काल के लोगों की वास्तुकला और उनके नैतिक मानदण्डों से कुछ सीख ले सकते। हमारे यहाँ तो इधर बाँध बनते हैं उधर टूट जाते हैं।

दोनों नगरों में अन्न-संग्रह के लिए 150 फुट लम्बे और 75 फुट चौड़े आयताकार भण्डारणगृह मिले हैं जिनमें हवा और रोशनी का समुचित प्रबन्ध है और जिनका निर्माण पक्की ईंटों से किया गया है। ऐसे 25 से अधिक भण्डारण-गृह मिले हैं जिनमें से किसी में भी चूहे का छेद तक नहीं मिला है।

लोथल में तो एक पूरी गोदी मिली है जो अरब सागर में होकर समुद्री व्यापार का प्रमुख केन्द्र रही होगी। यह गोदी पूर्व तथा पश्चिम की ओर 710-710 फुट, उत्तर की ओर 124 फुट और दक्षिण की ओर 116 फुट भुजाओं वाले एक विषम चतुर्भुज में बनी है और इसकी दीवारें 14 फुट ऊँची हैं। इसका मुँह समुद्र की ओर खुलता है। मुँह पर तल से ऊपर उठती हुई एक नीची दीवार है जिसका प्रयोजन यह है कि ज्वार के समय जहाज पानी के वेग से गोदी में आ सकें किन्तु भाटे के समय पानी के साथ वापस न जा सकें। दक्षिण की ओर लकड़ी का

एक बड़ा फाटक था जिसे ऊपर उठाया और नीचे गिराया जा सकता था। यह पानी की निकासी के लिए रहा होगा।

वैदिक काल में कलाएँ

न जाने कैसा संयोग है कि वैदिक काल की सभ्यता के सारे प्रमाण ग्रन्थों तक ही सीमित हैं, उसके अवशेष प्रमाण के रूप में उपलब्ध ही नहीं होते।

वैदिक काल के बारे दो धारणाएँ प्रचलित हैं—एक तो यह कि वैदिक काल में निराकार की उपासना मन्त्रों और यज्ञों के द्वारा होती थी तथा लोग अपने-अपने घरों में ही उपासना करते थे; उपासना के लिए मन्दिर नहीं होते थे। दूसरी धारणा यह कि उस काल में मूर्ति की उपासना प्रचलित थी।

मूर्तिपूजा के समर्थक विद्वानों ने ऋग्वेद के इस मन्त्र का उल्लेख किया है—'क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः' अर्थात् मेरे इस इन्द्र को दस गायों के बदले में कौन खरीदेगा। निश्चय ही दस गायें इन्द्र का नहीं इन्द्र की मूर्ति का मूल्य रही होगी।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि वैदिक काल में आर्य मूर्तिपूजक रहे हों या न रहे हों, इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि इस काल में हड़प्पा सभ्यता का मानव विद्यमान था, और वह निश्चय ही शिव की नाना रूपों में उपासना करता था, जिसमें एक लिंग भी है—"शिश्नः देव येषाम्"। आर्यों ने भी इस मानव के सम्पर्क से, जिसको उसने, अनार्य कहा शिव का परिचय प्राप्त किया और उन्हें ऋग्वेद ने देवता के रूप में स्वीकार कर लिया। ऐसी स्थिति में आर्य शिव देवता की मूर्ति की उपासना से सर्वथा असपृक्त रह सके होंगे यह असामान्य लगता है।

पूर्व-वैदिक काल में मूर्तिपूजा भले ही व्यापक तौर पर प्रचलित न हुई हो उत्तर-वैदिक काल में मूर्तिपूजा के अनेक प्रमाण मिलते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में देवायतन और देव-प्रतिमा शब्दों का प्रयोग हुआ। देवायतन का अर्थ निश्चय ही देवता के घर अथवा मन्दिर से है।

ये मूर्तियाँ लकड़ी या मिट्टी से बनायी जाती रही होंगी जो कालान्तर में नष्ट हो गयी। यदि यह मानें कि शिवलिंग प्रस्तर के बनाए जाते थे तो सम्भव है कि जिन शिवलिंगों का परवर्ती काल में उत्खनन करके पता लगाया गया वे उत्तर-वैदिक काल के ही रहे होंगे, जिन्हें आज ज्योतिर्लिंग के नाम से पुकारा जाता है।

वास्तुकला—वैदिक काल में भवनों का निर्माण मिट्टी, बाँस और लकड़ी से किया जाता था, ऐसा प्रमाण वैदिक वाङ्मय से मिलता है। इन ग्रन्थों में स्तम्भों (खम्भों) का बार-बार उल्लेख किया गया है। इन स्तम्भों से ही घर बनाए जाते थे और इन्हीं से यज्ञशालाएँ निर्मित होती थीं। इन पर बाँस और लकड़ी का जाल बनाकर फूस के छप्पर बाँधे जाते थे।[1]

1 अथर्ववेद, 9-3-4.

इस सम्बन्ध में डॉ० वासुदेवशरण का मत प्रामाणिक माना जाता है। उन्होंने लिखा है कि वैदिक काल में आवास-गृहों के लिए गृह, सदन, दुरोण, शरण आदि शब्दों का प्रयोग होता था। उस काल में घर चार भागों में विभक्त होते थे—(1) प्रवेशद्वार और ड्योढ़ी, (2) सदस् अथवा सभा या आस्थान मण्डप, (3) अन्तःपुर तथा (4) अग्निशाला। अन्तःपुर में स्त्रियों का निवास था और अग्निशाला के सम्भवतः दो भाग रहे होंगे जिनमें से एक में रसोई बनती होगी और दूसरे में अग्नि स्थापित और प्रज्वलित रहती होगी।

ऋग्वेद में हजार खंभों पर टिके हुए भवनों का उल्लेख मिलता है—सहस्रथूण। आज भी राजस्थान के देहातों में खंभे को 'थूणी' कहा जाता है।[1] उसमें ही बाँस की कड़ियों और बाँस की जाली पर फूस के छप्पर का भी वर्णन मिलता है।

शतपथ ब्राह्मण कहता है कि घर में स्त्रियों तथा पुरुषों के लिए अलग-अलग खण्ड होते थे, पिछले खण्ड में अन्तःपुर होता था। घर पूर्व से पश्चिम की ओर बनाए जाते थे। घर के साथ इतना आत्मीय सम्बन्ध होता था कि गृहपति अपने घर को वधू के तुल्य मानता था—'वधूमिव त्वा शाले'। अथर्ववेद घर को सचमुच वधू मानकर उसके पति के दीर्घजीवन की कामना करता है। वह कहता है—"इहैव ध्रुवा प्रतितिष्ठ शालेऽश्वावती, गोमती, सूनृतावती। ऊर्जस्वती, घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय"—हे शाले (शाला अर्थात् घर) तू अश्व, श्रेष्ठ ऋत, ऊर्जा, घृत, दूध से भरी रहे, तेरी उन्नति हो और तू सौभाग्यवती बने (अर्थात् तेरा गृहपति चिरकाल तक तुझमें वास करता रहे)।

उत्तर-वैदिक काल में रामायण और महाभारत महाकाव्यों में ललितकलाओं, चित्रकला और वास्तुकला के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। जहाँ तक ललित कलाओं का प्रश्न है उनमें विशेषतः संगीत को वैदिक काल में ही उदय हो चुका था जिसका साक्षात् प्रमाण संपूर्ण सामवेद है जो गेय है और संगीतशास्त्र के प्रत्येक नियम का पालन करता है। रामायण और महाभारत काल में आर्यों और अनार्यों के राजमहलों में संगीत और नृत्य का विशेष उल्लेख मिलता है। महर्षि नारद की वीणा तो सर्वत्र विद्यमान है ही। नाना प्रकार के अन्य वाद्यों का उल्लेख है—सात तारों वाली तन्त्री (वीणा) शंख, दुंदुभि, ताल, पणव और मृदंग। संगीतज्ञों को रामायण में तालजीवी कहा गया है। वाल्मीकि लव और कुश को वीणा सौंपकर आदेश देते हैं कि तुम राजा के यज्ञ में मेरे द्वारा रचित इस काव्य का ताल और स्वर सहित मार्ग (शास्त्रीय) पद्धति से गायन करना और वे ऐसा ही करते हैं। रामायण में नट, नर्तक और गणिका का भी उल्लेख बार-बार हुआ है जो अपने करतबों, नृत्य और गायन कौशल से प्रजा को प्रसन्न रखते थे।

1 वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय कला, पृ. 79.

अयोध्या के वास्तुशिल्प का वर्णन महर्षि वाल्मीकि ने विस्तार से किया है। वे कहते हैं कि अयोध्या को स्वय महाराजा मनु ने बनाया और बसाया था। यह नगर बारह योजन लम्बा और तीन योजन चौडा था। बाहर के जनपदो में जाने वाले राजमार्ग के दोनो ओर वृक्षो की पंक्तियाँ थी। राजमार्ग पर प्रति दिन खिले हुए फूल बिखेरे जाते और जल का छिडकाव होता। अयोध्यापुरी बडे फाटको और तोरणो से सुशोभित थी। उसमे सब प्रकार के यन्त्र और आयुध थे तथा सभी कलाओ के शिल्पी रहते थे। वहाँ ऊँची अट्टालिकाएँ (बहुमजिली इमारतें) थी और उन पर ध्वज फहरा रहे थे। उसकी रक्षा के लिए सैंकडो शतघ्नियाँ (तोपें) लगायी गयी थी। नगरो के चारो ओर आम के बाग और पुष्प-उद्यान थे। नगर की परिधि पर खाई खुदी हुई थी जिसे लाँघना आसान न था। वहाँ के महलो का निर्माण नाना प्रकार के रत्नो से हुआ था और वे आकाश को चूमने वाले ऊँचे पर्वतो के समान लगते थे। उसमे असख्य कूटागार (गुप्त मन्त्रणा गृह) तथा स्त्रियो के लिए सुरक्षित क्रीडाभवन थे। राजमहल नगर के बीच मे था और उसके चारो ओर राजवीथियाँ थी। राजमहल सात मजिलो वाले थे। नगर को समतल भूमि पर बसाया गया था तथा पुरवासियो के घरो के कारण वह बहुत सघन हो गया था। नगर का प्रत्येक व्यक्ति कुण्डल, मुकुट और पुष्पहार-धारण करता था। प्रत्येक पुरुप बाजूबन्द तथा कडा पहनता था तथा उसके हार मे निष्क (सोने का सिक्का) रहता था।

रामायण मे कहा गया है कि महाराजा दशरथ के पुत्रेष्ठि यज्ञ मे सम्मिलित होने वाले अतिथियो के लिए जो भवन बनाए गए उनके लिए कई हजार ईटें (इष्टका बहुसाहस्री) मगायी गयी थी।

यज्ञ के लिए यूप बनाए, गए थे—बेल की लकडी के 6, खैर के 6, पलाश (ढाक) के 6, बहेडे के वृक्ष की लकड़ी का एक तथा देवदार के 6। उन सबको सोने से मढा गया था। प्रत्येक यूप पाँच सौ चार अगुल ऊचा बनाया गया। अग्निकुण्ड के लिए ठीक माप से ईटें तैयार की गयी। अग्निकुण्ड की आकृति गरुड जैसी बनायी गयी और उसके पख सोने की ईटो मे बनाए गए थे।

इसी प्रकार महाभारत मे नाना प्रकार की कलाओ का वर्णन मिलता है। उसमे वास्तुकला का महत्त्वपूर्ण स्थान है जिससे हस्तिनापुर के नगर-नियोजन तथा भवन-निर्माण कला का ज्ञान होता है।

मौर्यकाल मे कला

छठी शताब्दी ई पू में मूर्ति शिल्पकारो को राज्याश्रय प्राप्त हो गया था। इस कार्य मे राजा बिंबिसार का बहुत योग-रहा। इस परम्परा को उनके वंशजो ने बनाए रखा। लौरियानन्दन गढ की नारी स्वर्ण-मूर्ति उत्कृष्ट कलात्मकता की प्रतीक है, इसका काल आठवी शताब्दी ई पू निर्धारित किया गया है।

321 ई. पू. में चन्द्रगुप्त मौर्य के सिंहासन पर बैठने के साथ ही मौर्य युग का आरम्भ होता है। यह युग भारतीय कला के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। इसका सबसे अधिक श्रेय सम्राट् अशोक को है

जिन्होंने भगवान बुद्ध के उपदेशों के व्यापक प्रचार और प्रसार के लिए स्तूप, चैत्य, प्रस्तर-वेदिकाएँ तथा गुफाओं का निर्माण कराया। इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में पाटलिपुत्र का नगर-नियोजन और राजमहल वास्तुकला के महत्त्वपूर्ण नमूने हैं।

कहा जाता है कि सम्राट् अशोक महान् ने अपने जीवनकाल में 80,000 स्तूप बनवाए। इनकी नींव पत्थर अथवा ईंटों पर रखी गयी। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि ये स्तूप तक्षशिला, श्रीनगर, थानेश्वर, मथुरा, कन्नौज, कौशांबी, प्रयाग, श्रावस्ती, वैशाली, गया, वाराणसी, सारनाथ, कपिलवस्तु, कुशीनगर आदि स्थानों पर बनाए गए। इनमें से अधिकांश स्तूप नष्ट हो गए हैं, फिर भी भरहुत और साँची के स्तूप तत्कालीन वास्तुकला के प्रमाण हैं।

बौद्धों के सामूहिक पूजा-स्थलों को मन्दिर के बजाय चैत्य कहा गया। ह्वेनसांग कहता है कि ऐसा ही एक चैत्य अशोक ने गया में बनवाया था। कहा जाता है कि अशोक ने असंख्य चैत्य बनवाये लेकिन वे सब नष्ट हो गये।

प्रस्तर वेदिकाएँ भी अपने आपमें कला का श्रेष्ठ नमूना हैं। सारनाथ, साँची, भरहुत, वैशाली आदि स्थानों पर आज भी ये वेष्टियाँ विद्यमान हैं। इन पर कमल, हाथी, सिंह, साँड, मकर आदि जीव-जन्तुओं और राजाओं तथा रानियों के चित्रों को पत्थर में उकेरा गया है।

अशोक महान् ने गुफाओं के भीतर चैत्यों का निर्माण कराया जिनका वास्तु-विन्यास और कलापक्ष दोनों ही वर्णनीय है। प्रवरगिरि, नागार्जुन पर्वत और लोमस ऋषि गुफाएँ उस महान् निर्माता की कीर्तिगाथा आज भी कह रही हैं।

इसी काल में अनेक स्तम्भों का निर्माण हुआ। आज भी इनमें से निम्न स्तम्भ खड़े हैं—सारनाथ का स्तम्भ जिस पर चार सिंहों की मूर्तियाँ हैं, साँची, रामपुरवा के दो स्तम्भ, लौरियानन्दन स्तम्भ, लौरिया का अरराज स्तम्भ, प्रयाग, कौशांबी, लुंबिनी, निगलीवा, बखिरा, साँकाश्य (सकिसा), टोपरा एवं मेरठा के स्तम्भ। पटना-संग्रहालय में भी कुछ स्तम्भ रखे हैं।

सारनाथ का स्तम्भ तो विश्व की एक अनूठी कलाकृति है। उसका पत्थर बलुआ है लेकिन उसकी चमक 2200 वर्ष बाद भी ज्यों की त्यों है, उसका रहस्य किसी के हाथ नहीं लग सका। उस काल के सभी स्तम्भ चुनार के बलुआ पत्थर से बनाये गये।

सम्राट अशोक ने अनेक शिलालेख भी खुदवाये। इनमें से अनेक शिलालेख मिले हैं। इन पर उन्होंने भिन्न-भिन्न विषय उत्कीर्ण कराये हैं—किसी पर उपदेश, किसी पर सूचनाएँ और किसी पर घोषणाएँ।

मौर्यकाल में यक्ष और यक्षिणियों की नाना प्रकार की मूर्तियाँ बनायी गयी जिनका शिल्प उत्तम कोटि का माना गया है। सम्राट अशोक के बाद 200 ई पू. से लेकर 200 ई के बीच भारत में अनेक चैत्यों और विहारों का निर्माण कराया गया। इनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—भाजा, कोंडाने, पीतलखोरा, अजन्ता, बेडसा, नासिक, कार्ले।

प्रथम शताब्दी ई पू मे भारत मे दो नयी कला-शैलियो का जन्म हुआ, जिन्हे क्रमश गाँधार कला और मथुरा कला कहा जाता है। प्राचीन काल मे इस कला का मूल प्रतिपाद्य भगवान बुद्ध ही रहे। ये शैलियाँ शु ग, सातवाहन और कुषाण काल मे पनपी।

मौर्य वास्तुकला के बारे मे इतना जोडना होगा कि इस काल मे पाटलिपुत्र, ललितपाटन श्रीनगर आदि जो भी नगर बसाये गये उनका नियोजन वैज्ञानिक रीति से किया गया। इनमे परकोटा बनाया गया। नगर मे देवपथ (मन्दिर की ओर जाने वाला मार्ग), महापथ (मुख्य मार्ग), रथ्या (रथ ले जाने का मार्ग) और वीथियो का अलग-अलग निर्माण किया गया। परकोटे के बाहर खाई थी।

इस काल की वास्तुकला का एक उत्कृष्ट नमूना पाटलिपुत्र का राजप्रासाद था। इसका निर्माण चद्रगुप्त मौर्य ने कराया था। इसमे तीन भाग थे—प्रथम भाग जिसमे गजशाला और सैनिको का आवास था, द्वितीय भाग जिसमे सभागार था, तथा तृतीय भाग जिसमे अत पुर था।

प्राचीन भारत में विज्ञान

प्राचीन भारत मे विज्ञान का क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है। प्रस्तर युग मे जब भारत ताम्र और कांस्य काल मे प्रकट हुआ तो उसने हडप्पा की उन्नत सभ्यता को जन्म दिया। उस काल की वास्तुकला को ही लें तो यह सिद्ध हो जाता है कि उस काल मे भारतीयो को अकशास्त्र, रेखागणित, नक्षत्र-विज्ञान आदि का भरपूर ज्ञान था। उस काल का नगर-नियोजन, लोथल की गोदी, हडप्पा का जलकुण्ड और स्नानागार आदि इस बात के प्रमाण है कि भौतिक विज्ञान और तत्कालीन भारतीयो को गणित के बुनियादी नियमो का भरपूर ज्ञान था।

पूर्व-वैदिक काल मे विभिन्न प्रयोजनो के लिए भिन्न प्रकार के यज्ञो का विधान यह सिद्ध करता है कि यज्ञो के माध्यम से वायुमडल को प्रभावित करने के रहस्य आर्यों के पास अवश्य थे। उत्तर-वैदिक काल मे तो विशेषतः अथर्ववेद ने शरीर-विज्ञान और रसायन-विज्ञान का एक पूरा जगत् ही प्रस्तुत कर दिया। रामायण और महाभारत मे चिकित्सा-विज्ञान का व्यापक रूप से उल्लेख मिलता है। उस काल के शस्त्रास्त्र, वाहन और विमान, पाताल भेदी बाण, अग्निबाण, धुआँ छोडने वाले बाण, सम्मोहिनी डालने वाले बाण विज्ञान की उन्नत व्यवस्था का परिचय देते है। महर्षि कपिल और महर्षि कणाद ने भारत मे परमाणु-विज्ञान विकसित किया।

ज्योतिष और गणित

प्राचीन भारत मे गणित और ज्योतिष को एक साथ ही रखा गया था। वेदाग मे गणित को समस्त वेदाग शास्त्रो मे उसी प्रकार श्रेष्ठ माना गया है जिस प्रकार मोर की शिखा और नाग मे मणि श्रेष्ठ होती हैं :

यथाशिखामयूराणा नागाना मणयो यथा।
तद्वद्वेदागशास्त्राणा गणित मूर्ध्नि सस्थितम् ॥[1]

1 वेदाग ज्योतिष : 4.

वेदो मे नक्षत्रों और ग्रहो के बारे में नाना स्थलो पर उल्लेख मिलता है। वर्ष को काल-गणना की बुनियादी इकाई माना गया, वर्ष बारह महीनो का निश्चित किया गया और उसको छः ऋतुओ में बाँटा गया। वर्ष को शतपथ ब्राह्मण मे संवत्सर नाम दिया गया है तथा कहा गया है कि उसमे ऋतुओं का निवास रहता है।

ईसा-पूर्व छठी से पाँचवी शताब्दी के बीच षड्-वेदांग की रचना हुई जिनमें ज्योतिष-वेदांग बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें लगध नामक विद्वान् ने वेदों से तत्संबंधी कारिकाओ का संग्रह किया है।

ईसा-पूर्व चौथी और तीसरी शताब्दियो मे 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' और 'ज्योतिष-करण्डक' नामक जैन ज्योतिष ग्रन्थो की रचना हुई। ईसा के पश्चात् पाँचवी शताब्दी के बाद तो भारत मे ज्योतिष, गणित और नक्षत्र-विज्ञान विषयो पर उन्नत साहित्य का सृजन हुआ जिसका सूत्रपात आर्यभट्ट नामक खगोलशास्त्री ने किया।

आयुर्विज्ञान अथवा आयुर्वेद

वैदिक काल से ही भारत मे शरीर और उसके स्वास्थ्य के बारे मे पूरी सावधानी बरतने पर बल दिया तथा कहा गया कि मानव जीवन के समस्त धर्मों का मूल साधन शरीर है। ऋग्वेद से ही आयुर्विज्ञान अथवा आयुर्वेद का विकास आरम्भ होने लगा था। ऋग्वेद मे रुद्र अर्थात् शिवजी को भिषगाचार्य के रूप मे निरूपित किया गया है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि एक बार लम्बी समाधि के बाद, शिवजी कैलास से उतरकर घर के भीतर जाने लगे तो उनके बेटे गणेश ने उन्हे रोका। वे जब समाधि मे बैठे थे तब गणेश बहुत छोटा था, अब वह बड़ा हो गया था, शिवजी उसे पहचान नही पाए और उन्होने अपने त्रिशूल से उसका सिर काट दिया। इतने मे पार्वतीजी वहाँ पहुँच गयी और शिवजी से बोली कि आपने अपने ही बेटे का सिर काट दिया है। यह सुनकर शिवजी एक गजशावक को लाए और उसका सिर काटकर अपने बेटे के धड़ पर प्रत्यारोपित कर दिया। तब से गणेशजी का सिर हाथी जैसा है और उन्हे गजवदन कहा जाता है। वे देवताओ के स्वामी गणेश अथवा गणपति कहलाए। इससे जाहिर होता है कि शिवजी एक कुशल शल्य-चिकित्सक थे।

ऋग्वेद में यह उल्लेख भी है कि इन्द्र के राज्य मे अश्विनी कुमार आयुर्वेद के पण्डित और कुशल चिकित्सक थे। स्वयं इन्द्र को आयुर्वेद का सर्वप्रथम आचार्य माना गया है, उन्होने यह विद्या भरद्वाज मुनि को दी। अथर्ववेद में आयुर्वेद का विस्तार से वर्णन किया गया है।

आयुर्वेद के बारे में यह माना जाता है कि उसके प्रथम वैज्ञानिक आचार्य धन्वन्तरि हुए। वास्तव में धन्वन्तरि आचार्य भास्कर के शिष्य थे और धन्वन्तरि से पहले आचार्य भास्कर ने 'आयुर्वेद-संहिता' की रचना की थी। आयुर्वेद के दूसरे महान् प्रवर्तक महर्षि भृगु के पुत्र महर्षि च्यवन थे। राम के काल में हुए परशुरामजी महर्षि च्यवन के वंशज महर्षि जमदग्नि के पुत्र थे। च्यवन ऋषि ने 'जीवनदान' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। यह रसायन का एक महान् ग्रन्थ है। उन्होंने ही

पहले-पहल च्यवनप्राश का अविष्कार किया जिसके प्रयोग से वे स्वय बुढापे को दूर भगाकर दीर्घजीवी हुए ।

आयुर्वेद के विकास मे महर्षि चरक की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है । उनका काल ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी माना गया है । उन्होने चरक-सहिता की रचना की जिसमे रोगो के निदान की अचूक विधियाँ दी गयी हैं । यह विद्या इन्हें गुरु द्रोणाचार्य के गुरु महर्षि अग्निवेश की परम्परा से प्राप्त हुई जिनका काल ईसा से 1500 वर्ष पूर्व माना गया है । उन्होने दो ग्रन्थ लिखे—'अग्निपेशतन्त्र' और 'नाडी परीक्षा' ।

इस क्षेत्र मे महर्षि चरक जितना ही महत्त्व आचार्य सुश्रुत का है जिन्होने 'सुश्रुत-सहिता' का प्रणयन किया । वे महर्षि विश्वामित्र के पुत्र थे तथा उन्होने अपने निकट सम्बन्धी महर्षि जमदग्नि से आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि त्रेता युग मे जब लक्ष्मणजी रावण के पुत्र इन्द्रजीत के बाणो से बुरी तरह घायल हो गए तब वैद्यराज सुषेण ने लक्ष्मण जी को कोई औषधि सुझाई जिससे वे पूर्ण स्वस्थ्य हो गए । इस औषधि को सजीवनी कहा गया है ।

पीछे कहा गया है कि शिवजी महान् भिषगाचार्य थे । यहाँ यह उल्लेखनीय है उन्हें निम्न ग्रन्थो का रचयिता माना जाता है—रुद्रयामलतन्त्र, आयुग्रन्थ, पारदकल्प, वैद्यराजतन्त्र, आयुर्वेद, धातुकल्प, हरितालकल्प, रसार्णवतन्त्र और धातु प्रक्रिया । शिवजी के पुत्र भगवान कार्तिकेय को भी आयुर्वेद का प्रकाड पण्डित माना जाता है । महर्षि नारद को भी आयुर्वेद का महान् आचार्य कहा गया है ।

शस्त्रास्त्र-विज्ञान

भारत मे आर्य-सभ्यता को अपने प्रथम चरण से ही युद्धो का सामना करना पडा अत यह स्वाभाविक है कि यहाँ शस्त्रास्त्र-विज्ञान का प्रचुर मात्रा और उन्नत रूप मे विकास हुआ । राम के काल मे महर्षि विश्वामित्र शस्त्रास्त्र-विज्ञान के महान् पण्डित थे, उन्होने राम को कुछ अत्यन्त शक्तिशाली शस्त्रास्त्र प्रदान किए । राम जब बनवास के लिए निकले तो वे मार्ग मे ऋषियो के आश्रमो मे ठहरे जहाँ उन्हे नए-नए किस्म के हथियार भेंट किए गए ।

इसी प्रकार महाभारत मे नाना प्रकार के शस्त्रास्त्र का उल्लेख मिलता है । इन शस्त्रो का प्रयोग केवल युद्ध के लिए नही होता था । महाकाव्यो तथा आदि पुराणो मे यह उल्लेख मिलता है कि पृथ्वी को तीर से बेध दिया जाता था जिससे कि तुरन्त पानी फूट पडता था । इसी प्रकार राम ने समुद्र को धमकी दी कि यदि तूने मुझे मार्ग न दिया तो मैं तुझे अपने बाण से सुखा दूँगा । तीरो से आकाश को धुएँ और बादलो से ढँक दिया जाता, नागपाश द्वारा शत्रु को बाँध लिया जाता, और भयकर गर्जना करने वाले बाण छोडे जाते । रामायण मे शतघ्नी अर्थात् तोप का भी उल्लेख मिलता है । यह मात्र कल्पना नही हो सकती । भारत एक उच्च कोटि की वैज्ञानिक सभ्यता का स्वामी रहा है ।

27

बेबीलोनिया : सभ्यता की अवधारणा, भूगोल, स्थलाकृति और प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि

(Babylonia : The Concept of Civilization, Geography, Topography and Pre-Historic Background)

विश्व की प्राचीन सभ्यताओं मे बेबीलोनियाई सभ्यता का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सभ्यता का जन्म ईसा से 25,500 वर्ष पूर्व मध्य-प्रस्तर युग में गुफाओं के भीतर हुआ। विकास का यह काल लगभग 18,000 वर्ष लम्बा है। 7000 ई पू के आसपास बेबीलोनियाई सभ्यता गुफा से निकलकर खेतो और मिट्टी के झोपडो तक जा पहुँची। आगे की मंजिल तय करने के लिए अट्ठारह सहस्राब्दियो की आवश्यकता न थी, केवल चार हजार वर्षो मे बेबीलोनियाई मानव गाँवो को नगरो और ग्रामीण सभ्यता को नगरीय सभ्यता मे रूपान्तरित करने में सफल हो गया।

इसी पुस्तक मे मैसोपोटामिया की प्राचीन सभ्यता के प्रसग मे बेबीलोनिया की सभ्यता पर एक विहगम दृष्टि डाली गयी है। बेबीलोनिया प्राचीन मैसोपोटामिया का अविभाज्य अंग रहा है तथापि मैसोपोटामिया की सभ्यता के दो प्रमुख केन्द्र रहे तथा दो धाराएँ रही—असुर सभ्यता अर्थात् असीरिया की सभ्यता, तथा सुमेर-अक्कड सभ्यता जिसका प्रधान केन्द्र बेबीलोनिया रहा। यहाँ हम बेबीलोनिया की सभ्यता का विस्तार से वर्णन करेंगे।

बेबीलोनिया की सभ्यता के बारे मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह नगरीय सभ्यता के रूप मे विकसित हुई, इसने एक विकसित लिपि और समृद्ध भाषा (सुमेरियाई भाषा) को जन्म दिया तथा इसका बल समाज के भीतर शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए व्यापक कानूनो अथवा विधियों के निर्माण और उनके संहिताकरण पर रहा।

दजला और फरात नदियो के बीच पनपी बेबीलोनियाई सभ्यता का जन्म ईसा से पाँच हजार साल पहले हुआ, जिसका सर्वोत्कृष्ट प्रतीक एरिडू (Eridu) है। यह इस प्रदेश का सबसे पुराना नगर था तथा इसका उपास्य देवता जल का स्वामी एनकी है। आरम्भ से ही यह सभ्यता मन्दिरो के इर्द-गिर्द पनपी। इस सभ्यता ने मानवीय अस्मिता और दम्भ को प्रकृति के तत्त्वो के समक्ष नितान्त असहाय और महत्त्वहीन, महसूस किया तथा वह इस मान्यता को लेकर चली कि मानवीय व्यक्तित्व और भूमि इत्यादि सम्पदा का स्वामित्व प्राकृतिक देवी-देवताओ मे निहित है। इसमे मानवीय बस्तियाँ देवी-देवताओ के मन्दिरो के चारो ओर बसायी जाती थी। इस देवता की सेवा के लिए ही सम्पदा का उपार्जन आरम्भ और जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओ के निर्माण के कौशल का समारम्भ हुआ। यही वह आधार-शिला थी जिस पर अन्तत नगर-राज्य का ढाँचा तैयार हुआ।

बेबीलोनिया मे इस नगरीय क्रान्ति का उदय अनेक तत्त्वो के कारण सम्भव हो पाया—सिंचाई तथा खेती की सुधरी हुई प्रौद्योगिकी, पुरोहिताई, धातुओ के औजार, वर्तन और कलाकृतियो का निर्माण तथा नदी एव समुद्र के मार्गो पर नौ-परिवहन जिसके द्वारा दूर के क्षेत्रो से लकडी और धातुओ का लाना-ले-जाना सम्भव हो पाया।

इस सभ्यता का आधार बेबीलोन के निवासियो की धार्मिक आस्था थी। इसे मन्दिरो की सभ्यता भी कहा जा सकता है। इस सभ्यता को सुमेरियाई भाषा के प्रयोग के कारण सुमेरियाई सभ्यता का नाम देने की कोशिश भी की गयी। अल उबैद और उरुक की खुदाइयो से जिस सस्कृति के द्वार खुले हैं उससे यह स्पष्ट होता है कि इस समूचे क्षेत्र मे नगरो की सख्या बढती चली गयी और मन्दिरो की सम्पत्ति मे भी वृद्धि होती गयी। आरम्भ मे नगर तथा समाज मन्दिर के साथ जुडा हुआ था और उसे मन्दिर समाज भी कहा जा सकता था, लेकिन धीरे-धीरे जब नगरो का विस्तार हुआ तो वे एक देवता और उसके मन्दिर का समाज न रह पाये वरन् अनेक देवी-देवताओ और उनके मन्दिरो का समुच्चय बन गये। इन नगरो के साथ उन मन्दिरो के स्वामित्व की भूमि भी जुड गयी। इस प्रकार नगर धार्मिक-समाज अथवा मन्दिर-समाज से सर्वथा अलग एक आर्थिक समाज और राजनीतिक इकाई के रूप मे विकसित हुए।

नगर एक राजनीतिक इकाई तो बन गया लेकिन उसका आधार धर्म द्वारा निर्धारित यह सिद्धान्त ही रहा कि देवता की सन्तान होने के नाते सब नागरिक समान हैं। इसका अर्थ था—नगर के समस्त वयस्क स्वतन्त्र नागरिको के (दासो के नही) सामूहिक निर्णय द्वारा शासन और प्रशासन का सचालन तथा नियमन।

इस प्रकार बेबीलोनियाई सभ्यता का उदय दैवी-साम्राज्य के अन्तर्गत मनुष्यो की समानता के आधार पर हुआ। यह समानता केवल धार्मिक क्षेत्र तक सीमित न थी, वरन् राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रो तक भी विस्तृत थी।

बेबीलोनियाई सभ्यता की अवधारणा मूलत. राज्य के नागरिकों की व्यापक समानता के आदर्श पर अवलम्बित थी, जिसका केन्द्र मन्दिर थे। धीरे-धीरे राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रों मे समानान्तर नेतृत्व का उदय होने लगा—राजनीतिक क्षेत्र मे कुशल प्रशासक अर्थात् ऐन और कुशल सेनानायक अर्थात् लुगल की आवश्यकता महसूस हुई और उनका उदय हुआ तथा धार्मिक क्षेत्र मे नगर के प्रमुख मन्दिर के प्रधान पुरोहित अर्थात् ऐनकी का वर्चस्व रहा जो समय-समय पर राज्य का प्रमुख भी बना। इस प्रकार बेबीलोनियाई सभ्यता मे एक राजनीतिक सघर्ष का उदय हुआ जिससे अन्तत. राजतन्त्र का जन्म हुआ। इस सभ्यता की प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करने से पहले यह उचित होगा कि बेबीलोनियाई सभ्यता के भूगोल और उसकी स्थलाकृति का सक्षिप्त अध्ययन कर लिया जाये।

भूगोल और स्थलाकृति

बेबीलोनियावासियो को प्रतिकूल प्राकृतिक शक्तियो के साथ कभी पूजा द्वारा, कभी समझौता करके और कभी सघर्ष करके जीवन का मार्ग बनाना पड़ा। उनके जीवन-दर्शन तथा उनकी सभ्यता पर उनके प्रदेश की भूमि, उसके जलवायु, नदियो के प्रवाह तथा स्थलाकृति ने गहरा प्रभाव डाला।

दजला और फरात ने अपनी वार्षिक बाढो के दौरान इस समूचे क्षेत्र को उपजाऊ दुम्मट मिट्टी से ढक दिया है। इतना ही नही बेबीलोनिया के उत्तर मे ये दोनो नदियाँ एक-दूसरे के बहुत समीप आ गयी है तथा दक्षिण की ओर एक-दूसरे से थोड़ा हटकर और फिर, सटकर एक साथ समुद्र मे गिरती हैं। बेबीलोनियाई सभ्यता का निर्माण मूलत इन नदियो ने किया है। अत्यन्त अल्प वर्षा के इस क्षेत्र को इन नदियो ने उपजाऊ दुम्मट मिट्टी तो दी ही, इसे रेगिस्तान बनने से रोककर समूचे मैसोपोटामिया का खलिहान भी बना दिया है।

इन नदियो मे बाढ का काल अप्रैल से जून के बीच रहता है। यह काल जाड़े की फसल के बाद आता और गर्मियो की फसल से बहुत पहले खत्म हो जाता है, अत इसका इस प्रदेश की कृषि व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव नही पड़ता। इन दोनो नदियो के बीच मे बेबीलोनियाई सभ्यता के आदिकाल मे ही नहरो का जाल बिछा लिया गया था जिसके कारण एक कृषि-प्रधान सभ्यता का उदय हो सका। इन नदियो ने इस क्षेत्र के खुश्क और नाममात्र की वर्षा के दुष्प्रभाव को महसूस नही होने दिया। साथ ही इन नदियो के कारण यह सभ्यता जल-प्लावन (बाढ मे डूबने) की शिकार हुई, बार-बार उजड़ी और फिर बसी। इस समूचे प्रदेश मे गेहूँ, जौ, तिल, बाजरा और खजूर की खेती बड़े पैमाने पर की जाती थी तथा उपज बहुत अधिक होती थी। उद्यानो मे तरह-तरह के फल और सब्जियाँ उगाये जाते तथा कपास की खेती भी की जाती। कम उपजाऊ तथा झाड़ियो वाले क्षेत्रो मे गाय, बकरी और भेड़ इत्यादि पशु पाले जाते।

एक ओर विस्तृत मैदान और नदी घाटियाँ बेबीलोनियाई सभ्यता के लिए वरदान थी दूसरी ओर पहाड़ो जैसे प्राकृतिक व्यवधानों के अभाव मे यह प्रदेश चारो ओर फैले रेगिस्तान की घुमक्कड जातियों के आक्रमण का शिकार भी होते रहे।

बेबीलोन की भौगोलिक स्थिति और उसकी स्थलाकृति के बारे मे यह समझना बहुत आवश्यक है कि उसके महत्त्व को यद्यपि देर से पहचाना गया तथापि जैसे ही तत्कालीन राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वाकाक्षी राजाओ को इसका बोध हुआ बेबीलोन समूचे मैसोपोटामिया की राजधानी बन गया। एक लम्बे समय तक अक्कड और सुमेर प्रदेशो की ही नही वरन् असीरिया और सीरिया तक फैले सुमेरियाई साम्राज्यो की राजधानियाँ बेबीलोनियाई प्रदेश मे एक नगर से दूसरे नगर मे बदलती-बदलती रही, लेकिन अतत. बेबीलोन नगर को एक विशाल साम्राज्य की राजधानी बनने का गौरव मिला।

इसी समय यह महसूस किया गया कि उसकी भौगोलिक स्थिति एक व्यापारिक केन्द्र के रूप मे ही नही वरन् प्रतिरक्षा-दुर्ग के रूप मे भी उसे समूचे मेसोपोटामिया प्रदेश मे अनुपम स्थान प्रदान करती है। बेबीलोनिया प्रदेश के इस महत्त्व की पहचान हो जाने के बाद आज तक राजधानी इसी प्रदेश मे रही है, भले ही वह सेलूसिया मे रही हो, स्तेसीफोन में या बगदाद मे, जो कि इस समय ईराक की राजधानी है। अन्तर हुआ तो केवल इतना कि राजधानी फरात नदी के पास से दजला के पास ले जायी गयी क्योंकि दजला नौ-परिवहन की दृष्टि से अधिक उपयुक्त थी। विशेषत: जब मैसोपोटामिया को फारस के साम्राज्य मे मिला लिया गया था तब पूर्व की ओर से आक्रमण की आशका समाप्त हो गयी थी अत दजला का पश्चिमी तट राजधानी के लिए सुरक्षित समझा गया। दूसरा कारण यह भी था कि दजला के चौडे पाट मे बडे जहाज फारस की खाडी तक ले जाना सुगम और सम्भव था।

बेबीलोनिया का प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से मैसोपोटामिया (वर्तमान ईराक) के उस मध्य भाग मे स्थित है जहाँ दजला और फरात नदियाँ एक दूसरे से केवल 20 मील दूर रह जाती हैं। इस प्रदेश को दोनों नदियो की धाराएँ जलमार्ग के रूप मे व्यापार के लिए उपलब्ध हैं। दजला का जलमार्ग उत्तर मे असीरिया से होता हुआ पहाड़ो के उस पार अनातोलिया और काले सागर तक जाता है तथा दक्षिण मे फारस की खाडी तक। इसी प्रकार फरात का जलमार्ग सीरिया और भूमध्यसागर की ओर जाने वाली प्राकृतिक सडक का सा काम करता है। वहाँ यह जलमार्ग पश्चिम मे साइलीसिया होता हुआ अनातोलिया के पठार तक जाता है तथा पूर्व मे भूमध्यसागर मे होकर फिलस्तीन और मिस्र तक।

बेबीलोनिया प्रदेश के पश्चिम मे फरात नदी के उस पार अरब मरुस्थल है जिसमे खानाबदोश जातियाँ बसती थी जो समय-समय पर बेबीलोनिया के उपजाऊ

मैदान पर हमला करती थी। उनके मार्ग मे फरात प्राकृतिक वाधा थी। दूसरी ओर पूर्व मे दजला के उस पार डेर होता हुआ एक स्थलमार्ग जगरोस पर्वत के पार फारस (ईरान) तक जाता है। इसी जगरोस पहाड की दक्षिणी घाटियो मे बसे ईलम (Elam) प्रदेश के निवासी दजला को पार करके बेवीलोनिया पर आक्रमण किया करते थे। पश्चिम की ओर अमुर्रू (Amurru) प्रदेश और पूर्व की ओर बसे ईलम प्रदेश की खानावदोश जातियाँ सदा ही बेवीलोनिया पर निगाह गढाये रखती थी। यह एक विलक्षण सयोग ही मानना चाहिए कि बेवीलोनिया को उसका राजनीतिक गौरव और महत्त्व इतिहास मे सर्वप्रथम अमुर्रू प्रदेश के एक सरदार द्वारा ही प्रदान किया गया।

बेवीलोनिया के दक्षिण मे फारस की खाडी तक फैला सुमेर प्रदेश दजला और फरात से सिंचित उपजाऊ खेतिहर प्रदेश था जो समृद्धि का प्रतीक बन गया। उसके उत्तर मे अक्कड का प्रदेश भी उपजाऊ होने के साथ-साथ मानव-सभ्यता के आदिकाल से ही सम्पन्न रहा है।

बेवीलोनिया के राजनीतिक उत्थान और पतन मे उसकी भौगोलिक स्थिति ने बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उसके पूर्व मे बसे ईलम प्रदेश का उल्लेख हम कर चुके है। ईलम के उत्तर मे जगरोस पहाड के उस पार मध्य एशिया से आर्य नस्ल के लोग आए और कस्सीती प्रान्त मे बस गए। इन लोगो को कश्शू (Kashshu) नाम से पुकारा गया। इन्होने बेवीलोन के राजनीतिक जीवन मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। ये ही वे लोग थे जिन्होने बेवीलोन के प्रथम राजवश को उखाड फेंका और उस पर 400 वर्षो तक शासन किया। अन्तत इनका वर्चस्व असीरिया ने भग किया जो सात साल वाद ही ईलमवासियो के हाथो पराजित हो गया।

इस प्रकार बेवीलोनिया की सभ्यता विदेशियो के हाथो विकसित हुई और चरम शिखर पर पहुँचकर फारस के सम्राट् सायरस के हाथो नष्ट हुई। इसे इतिहास की विडम्बना ही माना जाएगा कि बेवीलोनिया की सभ्यता के उत्थान और पतन मे वहाँ के मूल निवासियो का किंचित योगदान नही रहा। इसके लिए किसे दोषी ठहराया जा सकता है? शायद बेवीलोनिया के भूगोल को। इस बारे मे इतना तो कहा ही जा सकता है कि उसकी भौगोलिक परिस्थितियाँ इसके लिए पूरी तरह नहीं तो बहुत बडी सीमा तक जिम्मेदार रही। इतिहास साक्षी है कि उपजाऊ मैदानो की खेतिहर जातियाँ सदा से शान्तिप्रिय रही तथा रेगिस्तानो और पहाडो मे बसी हुई जातियाँ प्रकृति के साथ कठोर सघर्ष के कारण शक्तिशाली और युद्धप्रिय बनी। इन जुझारू जातियो को जीवन के साधन खोजने और अपने यश की पताका फहराने के लिए हमेशा से मैदानो की ओर मुडने की प्रेरणा होती रही है। बेवीलोनिया के मामले मे भी यही हुआ। विश्व मे सर्वत्र नदी-घाटियाँ सभ्यताओ की जननी रही, लेकिन वे सभ्यताओ की रक्षा नही कर पायी। यही बेवीलोनिया मे भी हुआ।

दजला और फरात बेबीलोनियाई सम्यता को जल ही नही प्रदान करती थी, वे उसकी प्रमुख सडकें भी बन गयी थी। परिवहन-योग्य होने के कारण यहाँ नदी परिवहन अथवा नौ-परिवहन का विकास हुआ, जिसका विकास अन्तत समुद्र के रास्ते वैदेशिक व्यापार के लिए किया गया। जल-मार्ग केवल इन नदियो तक सीमित नही रहा, इनसे निकाली गयी लम्बी-चौडी नहरो ने नगरो और गाँवो को जोड दिया और उनका इस्तेमाल जलमार्गों के रूप मे किया गया। यह इसलिए भी अनिवार्य हो गया था क्योंकि बाढ के समय अधिकाश भूमि दलदल का रूप ले लेती थी जिसके कारण भूमि-मार्गों मे आवागमन प्राय असम्भव हो जाता था। बोझा ढोने वाले पशुओ के रूप मे बेबीलोनियाई सम्यता के पास केवल गधा था।

दक्षिणी मैसोपोटामिया अथवा अक्कड से सुमेरिया तक का प्रदेश जिसमें बेबीलोनियाई सम्यता फूली-फली और मुरझा गयी खनिजो से वचित रहा। प्राचीन काल मे वहाँ पैट्रोलियम की खोज तो न हो सकी लेकिन जहाँ-तहाँ तारकोल प्राप्त होता रहा जिसे इकट्ठा करके भवन-निर्माण, नौकाओ की तली मे पानी के रिसाव को रोकने तथा छतो पर इस्तेमाल किया जाता था। इस क्षेत्र मे ही क्या समूचे मैसोपोटामिया मे इमारती लकडी के जगल न थे, न इमारती पत्थर ही उपलब्ध था, ताँबे और लोहे का तो प्रश्न ही नही उठता था। यह सब कच्चा माल फारस की खाडी के रास्ते भारत जैसे सुदूर प्रदेशो और सायप्रस से लाया जाता था। फारस की खाडी को प्राचीन काल मे सूर्योदय का सागर कहा जाता था। भारत के लिए मेलुह्हा नाम का प्रयोग मिलता है।

प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि

बेबीलोन की प्रागैतिहासिक सम्यता को खुदाइयो मे मिले प्रमाणो के आधार पर तीन कालो मे विभाजित किया जाता है—1. अल-उबैद काल, 2 उरुक काल, और 3 जमदेत नस्र काल।

अल उबैद काल ईसा से चार हजार साल पहले ठहराया गया है। इस काल की सम्यता को दो शब्दो मे निरूपित किया जा सकता है—चिकनी मिट्टी और नरकुल (अथवा सरकण्डा)। इस प्रदेश मे पाषाण बहुत विरल है अत उसका उपयोग केवल औजार और आभूषण बनाने के लिए किया जाता था।

इस काल के मकान नरकुल अथवा सरकण्डे की चटाई से बनाए जाते जिन्हे लकडी की बल्लियो के सहारे खडा किया जाता और कभी-कभी उनपर चिकनी मिट्टी का लेप भी किया जाता था। एरिडू मे कच्ची ईंटो के घर भी मिले हैं। वहाँ के मन्दिर जो उबैद-काल के ही हैं मिट्टी की बडी-बडी ईंटो से बनाए गए थे। मन्दिरो मे एक चतुष्कोण मुख्य भवन और उसके चारो कोनो पर चार कमरे मिले हैं।

मुख्य भवन अथवा हाल के एक सिरे पर दीवार के सहारे ईंटो की एक वेदी मिली है जिसका आकार नीची मेज अथवा चौकी जैसा है। दीवारो पर भीतर और

बाहर चिकनी मिट्टी का प्लास्तर किया गया है तथा बाहर की ओर उन्हे इस प्रकार सजाया गया है कि सूरज की किरणें पडने पर वे चमक उठती हैं।

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि अल-उवैद काल की यह संस्कृति उत्तर की ओर असीरिया तथा सीरिया तक फैलती चली गयी। उर और उवैद मे मिट्टी की नौकाकृतियाँ मिली हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि उस काल मे दजला और फरात मे नौकाओ द्वारा धुर उत्तर तक आया-जाया जाता था। इसके साथ ही यह बात भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि अल-उवैद काल से ऐतिहासिक काल तक बेबीलोनिया की धार्मिक आस्थाओ और उनके देवी-देवताओ मे परिवर्तन नही हुआ। इतना ही नही गाँवो और नगरो को विशाल मन्दिरो के चतुर्दिक बसाने की परम्परा का भी अनुसरण किया जाता रहा। नगर का सबसे भव्य भवन राजप्रासाद नही मन्दिर होता था।

अल-उवैद काल लगभग सात सौ वर्ष रहा। उसके बाद 3300 से 2800 ई पू तक उरुक सभ्यता का काल माना जाता है। इस काल मे भी बस्तियाँ मन्दिरो के चारो ओर ही बसी और सिंचाई के साथ-साथ अन्य सेवाओ और कलाओ का विकास भी हुआ। मन्दिरो के समीप के नगरीय क्षेत्रो मे भिन्न श्रेणियो के पुरोहित, भण्डारी, वास्तुकार, चौकीदार, निर्माण-निरीक्षक, मकान बनाने वाले कारीगर, बढई, लोहार, कुम्हार, पत्थर काटने वाले और अन्य कारीगर रहते थे। यह एक ऐसा वातावरण था जिसमे नगरीय सभ्यता के साथ-साथ कलाओ और प्रौद्योगिकी का विकास स्वाभाविक था। जीवन का संघर्ष प्राकृतिक शक्तियो की उग्रता के कारण बहुत कठोर हो गया था, यही कारण है कि इस प्रदेश मे सभ्यता का उन्नयन हुआ।

उरुक संस्कृति का क्षेत्र अल-उवैद सभ्यता-क्षेत्र के उत्तर मे था। उरुक को दो दैवी-शक्तियो—आकाश के देवता ऐन अथवा ऐनु और प्रेम की देवी इनाश्ना अथवा इश्तर को समर्पित किया गया था। नगर के मध्य मे इनाश्ना का विशाल मन्दिर है जिसमे अनेक भवन हैं। इन भवनो की रचना उवैद काल के मन्दिरो की भाँति हुई है। ऐन अथवा ऐनु का मन्दिर नगर के एक अन्य भाग मे है तथा वह इनाश्ना के मन्दिर की तुलना में छोटा और सादा है। प्रो एच लेनजेन का मत है कि उरुक के ये मन्दिर प्रेम की देवी इनाश्ना के साथ-साथ उसके पति दुमुजी को भी समर्पित किए गए है।

1940 मे बेबीलोन नगर के उत्तर मे तैल उकैर की खुदाई मे उरुक काल का एक ऐसा मन्दिर मिला जिसकी दीवारो पर ऐसे भित्ति-चित्र थे जिनका रंग ऐसा चमकदार था मानो अभी किया गया हो। उरुक मे ऐनु का श्वेत मन्दिर धरातल से पचास फुट ऊँचे प्लेटफार्म पर बनाया गया है। ऐसा लगता है कि आकाश देवता के प्रति समर्पित यह मन्दिर जैसे आकाश मे ही बनाया गया हो।

उस काल की गोलाकार मुद्राओ से सभ्यता के अनेक आयाम उजागर होते है, जैसे एक मुद्रा पर वन्दियो की हत्या का दृश्य उकेरा गया है जो युद्ध का प्रतीक है। एक अन्य मुद्रा पर एकदम नग्न पुरोहित किसी रहस्यमय अनुष्ठान मे लगे हैं। इस काल के मिट्टी के वर्तनो मे यह स्पष्ट है कि उनका निर्माण कुम्हार के चाक पर किया गया। ताँबे तथा चाँदी के पात्र भी यत्र-तत्र मिले है। इस काल के मन्दिरो मे चित्राकृतियो वाली लिपि का अस्तित्व एक उन्नत सभ्यता की ओर सकेत करता है। मिट्टी की गीली तख्तियो पर नुकीले नरकुल से उकेरी गयी यह लिपि चित्रमय आकृतियो के रूप मे है। कुछ तख्तियाँ लिखने के वाद आवे मे पकायी गयी और कुछ यो ही सुखा ली गयी। इस लिपि और भाषा को सुमेरियाई कहा गया।

जमदेत-नस्र काल प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक काल के वीच का सन्धि काल अथवा आद्यैतिहासिक काल है। इस काल मे भाषा और मूर्तिकला का तेजी से विकास हुआ। तैल उकैर और वेवीलोन नगरो के वीच मे स्थित जमदेत-नस्र नगर के खण्डहरो से प्राप्त प्रमाण उरुक सभ्यता के विकास की कहानी कहते हैं। इस काल के मृद्भांडो पर रगीन चित्र मिले हैं। इस काल मे निप्पुर, किश, ऐशनुन्ना आदि अनेक ग्रामीण वस्तियाँ नगरो मे विकसित हुई। इस काल की ईंटें चौकोर हो गयी और उनका ऊपरी सिरा गोलाकार।

इस काल मे वेवीलोनियाई राजनीतिक व्यवस्था का मुख्य केन्द्र प्रमुख धार्मिक नगर निप्पुर वना जहाँ आसपास के सभी नगर-राज्यो के मुखिया एक ढीले-ढाले परिसघ मे एकत्र हुए। शुरू मे आपात्काल मे नगर की व्यवस्था सम्भालने के लिए एक राजनीतिक अधिकारी ऐन अथवा लुगल की नियुक्ति की जाती थी तथा आपात्काल समाप्त होने पर उसका पद समाप्त हो जाता था, परन्तु धीरे-धीरे ऐन, लुगल और मुख्य पुरोहित अर्थात् ऐनसी के वीच स्पर्द्धा शुरू हुई और एक सर्वोच्च नगर शासक की अवधारणा का जन्म हुआ। इस अवधारणा के अस्तित्व की पुष्टि इस काल मे मिली राजवशो की सूचियो से होती है।

प्रलय और स्वर्ग से अवतरित राजवश

मिट्टी की तख्तियो पर यह उल्लेख मिलता है कि राजपद और राजवशो का अवतरण स्वर्ग से पृथ्वी पर हुआ। राजवशो को दो कालो मे वाँटा गया है—प्रलय अथवा प्रलयकारी वाढ से पहले और उसके वाद। खुदाइयो से मिले प्रमाण अल-उवैद काल मे उर मे तथा वाद के काल मे किश, उरुक और शुरुप्पक मे वाढ द्वारा हुए भारी विनाश की पुष्टि करते हैं।

वाढ के वाद राजवश का अवतरण वेवीलोन नगर के पूर्व मे थोडी ही दूर पर स्थित एक अन्य नगर किश मे हुआ। किश राजवश के एक राजा ऐनमेवारागिसी ने ईसा से 2700 वर्ष पूर्व किश मे राज किया। किश की देखादेखी दक्षिणवर्ती राज्यो मे भी राजपद सुदृढ हुआ। उस समय तक इन राज्यो मे राजा चुना जाता

था, लेकिन अब वह वंश परम्परागत होने लगा तथा उसकी शक्ति का स्रोत सहमति के बजाय उसका बल हो गया। राजा नगर-राज्य का रक्षक और प्रशासक तो रहा ही उससे यह अपेक्षा भी की जाने लगी कि वह अपने बल से दूसरे राज्यो को जीत कर अपने राज्य का विस्तार करे।

यह आवश्यक नही था कि पराधीन नगर-राज्यो के शासक पीढ़ी-दर-पीढ़ी विजेता राजा की आधीनता स्वीकार करते रहे। किश के राजा ऐनमेबारागिसी के बाद उसका बेटा अग्गा गद्दी पर बैठा तो उसने निप्पुर मे मन्दिरो का निर्माण कराकर अपनी लोकप्रियता और सत्ता बनाये रखनी चाही परन्तु उरुक के राजा गिलगमेश ने उसकी आधीनता स्वीकार करने से इनकार कर दिया। दोनो के बीच युद्ध हुआ और अग्गा हार गया तथा किश पर उरुक का आधिपत्य स्थापित हो गया। इस प्रकार बेबीलोनियाई सभ्यता की प्रमुख महागाथा का नायक गिलगमेश एक ऐतिहासिक राजा सिद्ध होता है। इसके एक शताब्दी बाद उरुक की शक्ति को उर नगर राज्य की ओर से चुनौती मिली। इस काल मे उर मे दो सशक्त राजा हुए—मेसकलामडुग और अकलामडुग।

2550 के आसपास किश नगर-राज्य की सत्ता पुनः उभरी परन्तु 2520 ई पू के आसपास उर के राजा मेसअन्निपाद ने उसे चुनौती दी। उसके बेटो ने 2490 ई पू मे उरुक नगर-राज्य की उभरती हुई शक्ति को चुनौती दी, लेकिन वे पराजित हो गये और उर पर लागाश के राजा उरनानशे का अधिकार हो गया।

उरनानशे लागाश के राजा लुगलशागेनगुर के बाद गद्दी बैठा था, लेकिन वह उसके वंश का न था। उसके बारे मे मिथक प्रचलित है कि उसका चयन नगर की अधिष्ठात्री देवी ने नगर की प्रतिष्ठा मे चार चाँद लगाने के लिए सामान्य जनो के बीच से किया था। उसने बड़े पैमाने पर मन्दिरो का निर्माण कराया। उसके बेटे अकुरगल के काल मे उर स्वतन्त्र हो गया। 2470 ई पू. मे अकुरगल का बेटा ईयान्नातुम गद्दी पर बैठा। वह बहुत महत्त्वाकाक्षी था, उसने ईलम और किश नगर-राज्यो को पराजित करके दक्षिण की ओर कूच किया तथा उरुक, उर और उम्मा पर अधिकार कर लिया। इसी समय उसे अपने पडौसी राज्य अक्षक के राजा जूजू के आक्रमण का सामना करना पडा। वह पराजित तो नही हुआ लेकिन कमजोर पड गया तथा अन्तत दूरवर्ती नगर-राज्य मारी के राजा के आक्रमण के सामने घुटने टेकने के लिए विवश हो गया।

अगले लगभग सौ वर्षो तक इस क्षेत्र के नगर-राज्यो—*किश, लागाश, उम्मा,* उर, उरुक, अक्षक इत्यादि के बीच सर्वोच्च-सत्ता के लिए संघर्ष चलता रहा। इस संघर्ष मे ऐसा भी समय आया जब किश मे राजसत्ता कुबावा नामक वेश्या के हाथो मे चली गयी। वह इस क्षेत्र की सबसे अधिक शक्तिशाली साम्राज्ञी बनी। लागाश मे प्रधान पुरोहित ऐनेतारजी ने सत्ता हथिया ली। वह तथा उसका उत्तराधिकारी ऐसे

अत्याचारी शासक हुए कि प्रजा ने उनके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और उरुकाजिना को अपना राजा बनाया।

उरुकाजिना ने राज्य में नागरिक स्वतन्त्रताओं और पुरातन व्यवस्था की पुन स्थापना की। उसने राजमहल और पुरोहित वर्ग के विशेषाधिकार समाप्त कर दिये। राज्य की आर्थिक गतिविधि पर राज्य का नियन्त्रण समाप्त कर दिया और निजी सम्पत्ति का सरकार द्वारा अपहरण बन्द कर दिया। मन्दिरों की जागीरें राजा और राज्यपालों से छीनकर मन्दिरों को लौटा दी गयी। उरुकाजिना ने राजमहल की समस्त सम्पत्ति राजकोष में जमा कर दी और स्वय बहुत सादगीपूर्वक राजकाज चलाने लगा। उसने गरीबों, अनाथों और विधवाओं को सरक्षण प्रदान किया, अपराधियों के विरुद्ध अभियान छेड दिया जिसके फलस्वरूप चोरी, हत्या, सूदखोरी जैसे अपराध बन्द हो गये। एक वर्ष बाद उसने किश की आधीनता अस्वीकार कर दी और स्वय राजा बन गया।

लुगलजागिसी से सारगौन तक

उरुकाजिना लागाश के आन्तरिक सुधारों में ही व्यस्त था कि लागाश के पुराने शत्रु उम्मा नगर-राज्य के राजा लुगलजागिसी ने 2340 ई पू में उस पर आक्रमण करके उसे पूरी तरह तबाह कर दिया। उम्मा का यह राजा यही थमने वाला न था उसने फारस की खाडी तक समूचे सुमेर प्रदेश पर अधिकार कर लिया और किश नगर-राज्य में राज कर रहे साम्राज्ञी कुबाबा के वशजों की सत्ता को चुनौती दी। इसी समय किश के राजा उर्जबाबा के एक सेवक सारगौन ने उसकी हत्या कर दी और स्वय किश का राजा बन बैठा। उसने पहले तो लुगलजागिसी की आधीनता स्वीकार कर ली तथा बाद में एक सशक्त सेना खडी करके उत्तर की ओर दिग्विजय करने निकल गया। लुगलजागिसी को यह भ्रम रहा कि सारगौन उसके आधीन है तथा सारगौन की विजय का अर्थ उसकी अपनी विजय है लेकिन जब उसे यह पता लगा कि सारगौन उत्तर की दिग्विजय से दक्षिण की ओर लौट रहा है तथा लुगलजागिसी की सत्ता को चुनौती दे रहा है तो उसने सुमेर के 50 नगर-राज्यों के राजाओं को साथ लेकर कूच कर दिया। अक्कड क्षेत्र में उगवडा नामक स्थान पर दोनों की सेनाओं में मुठभेड हुई। सारगौन ने लुगलजागिसी को बन्दी बना लिया और वह उसे साथ लेकर दक्षिण की ओर बढ चला। उसने समूचा सुमेर प्रदेश जीत लिया और अपने रक्त-रजित शस्त्रों को फारस की खाडी के जल से धोया। उसने 2331 से 2276 ई. पू. तक अक्कड, बेबीलोनिया और सुमेरिया पर एकछत्र शासन किया। इतना ही नहीं उसने असीरिया, सीरिया तथा पश्चिम में भूमध्य सागर तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। सारगौन पहला शासक था जिसने मैसोपोटामिया राज्य को साकार स्वरूप प्रदान किया।

सारगौन ने इस क्षेत्र की नगर-राज्य व्यवस्था को नष्ट करने की चेष्टा की। उसने नगरों के परकोटे तुडवा दिये, केन्द्रीय शासन की स्थापना की और

अपने वफ़ादार अक्कड प्रशासकों को नगर-राज्यो के प्रशासन की जिम्मेदारी सौंप दी। उसने स्वय चारो दिशाओ के राजा की पदवी धारण की, परन्तु उसके जीवन के अन्तिम काल मे जहाँ-तहाँ विद्रोह शुरू हो गया, जिसे दबाने मे वह सफल रहा। उसके बाद उसका बेटा रिमुश गद्दी पर बैठा। वह राजमहल के षड्यन्त्र मे मारा गया और सारगौन का छोटा बेटा मनीश्तुसु राजा बना। वह भी विद्रोह दबाने मे सफ़ल रहा। 2252 मे सारगौन का पोता नरमसिन राजा बना। नरमसिन ने आन्तरिक विद्रोह का सफलतापूर्वक दमन तो किया ही अपने साम्राज्य को अरब तथा तुर्की-कुर्दिस्तान तक फैलाया।

नरमसिन ने सेना के बल पर जो कुछ जीता था वह प्रकृति की मार के आगे निर्बल पड गया। उसके शासन काल मे भीषण दुर्भिक्ष पडा। चारो ओर विप्लव उठ खडा हुआ। नरमसिन गुटियाई आक्रमणकारियो के हाथो मारा गया। उसके उत्तराधिकारी उसके साम्राज्य को सम्भाल नही पाये। अगले सौ वर्षों मे समूचा क्षेत्र गुटियन राजाओ के आधीन रहा। इस बीच 21 गुटियन राजाओ ने राज किया।

2113 ई. पू. मे उर के राज्यपाल उरनाम्मू ने अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया और शीघ्र ही सुमेर तथा अक्कड का राजा बन गया। उसने लागाश को पराजित कर दिया। उसने चोरी और सूदखोरी को कडाई से दबा दिया और नाप-तौल की समान प्रणाली लागू की। उसने नहरो को दोबारा खुदवाया और खेती की व्यवस्था को सुधारा। उरनाम्मू मन्दिर पर मन्दिर बनवाता चला गया। राजधानी एरिडू के अलावा उसने उरुक, निप्पुर, उम्मा तथा अन्य अनेक नगरो मे मन्दिर बनवाये।

उसके बाद उसका बेटा शुल्गी राजा बना और 2095 से 2049 ई पू तक राज करता रहा। उसने समस्त मैसोपोटामिया को जीतकर फिर से साम्राज्य की स्थापना की। यह राजवश 2005 ई पू तक सत्ता मे बना रहा। इसका अन्तिम राजा इब्बिसिन था। उसके द्वारा नियुक्त प्रान्तीय राज्यपाल अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र हो गये। इनमे से ही एक इसिन का राज्यपाल इश्बी-इर्रा था जिसने दक्षिणी बेबीलोनिया पर अपना आधिपत्य जमा लिया। उसने 2017 से 1985 ई पू तक शासन किया। इस राजवश का अन्तिम राजा लिपितइश्तर था जिसे 1923 ई. पू मे भागकर लारसा मे शरण लेनी पडी। इसिन के सिंहासन पर अब उर्निनुर्ता बैठा जिसने 1896 ई पू तक शासन किया।

बेबीलोन का उदय

उन्नीसवी शती ईसा पूर्व तक एक नगर-राज्य के रूप मे बेबीलोन का उल्लेख नही मिलता। बेबीलोन शब्द का शाब्दिक अर्थ सेमाइट भाषा मे 'ईश्वर का द्वार' है। ऐसा लगता है कि सुमेरिया सभ्यता के दौर मे यह एक तीर्थ के रूप मे प्रतिष्ठित था और मरडूक के मन्दिर ऐसागिला के लिए प्रसिद्ध था।

1894 ई पू मे यह नगर उम समय अचानक राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बन गया जब उस वर्ष बेबीलोन के पश्चिम मे फैले रेगिस्तान के अमुर्रू अरब नस्ल के सरदार सुमु-अबुम ने नगर पर कब्जा कर लिया और नगर के चारो ओर परकोटा खिचवा दिया। शीघ्र ही उमने नगर के बाहर दुर्ग बनवाये और तीसरे साल किश पर अधिकार कर लिया। अब उसने दक्षिण की ओर बढना शुरू किया लेकिन दक्षिणी नगर-राज्य लारसा के सुमुएल ने उसके मार्ग को रोक दिया।

1880 ई. पू. मे सुमुलेल बेबीलोन का राजा बना, 1844 मे साबियम और 1830 मे अपिलसिन जो 1813 ई पू तक गद्दी पर रहा। इन सब राजाओ ने लारसा के साथ सन्धि बनाये रखी और उत्तर मे अपनी शक्ति को सुदृढ करते रहे। बेबीलोन के राजा सिनमुबल्लित (1812 से 1793 ई पू) के शासन काल मे भी इसी नीति का अनुसरण किया गया। सिनमुबल्लित 1793 ई पू मे लारसा के हाथो इसिन प्रदेश हार जाने के बाद मर गया और उसका बेटा हम्मूराबी बेबीलोन का नया राजा बना। यहाँ से बेबीलोन की सभ्यता के अभ्युदय का इतिहास आरम्भ होता है।

28

बेबीलोनिया : राजनीतिक इतिहास की रूपरेखा, राजनीतिक चिन्तन और संस्थाएँ

(Babylonia : An Outline of Political History, Political Ideas & Institutions)

वेवीलोनिया का राजनीतिक इतिहास यो तो 1894 ई पू. मे सुमुअवुम के साथ शुरू होता है लेकिन 1792 ई तक वेवीलोन एक छोटा-सा और महत्त्वहीन राज्य था। 1792 ई मे जब वेवीलोन के सिंहासन पर हम्मूरावी (Hammurabı) वैठा तव उसे उसके पिता से वेबीलोनिया का जो राज्य उत्तराधिकार मे मिला वह केवल 80 मील लम्बा और 20 मील चौडा प्रदेश था। उसके चारो ओर बडे-बडे राज्य और शक्तिशाली राजा थे। दक्षिण मे लारसा के राजा रिम-सिन का राज था जिसने दो साल पहले ही इसिन का नगर-राज्य वेवीलोनिया से छीना था।

हम्मूरावी के मन मे अपने साम्राज्य के विस्तार की स्वाभाविक कामना थी लेकिन उसने धैर्य मे काम लिया और वह पूरे पाँच वर्ष तक अपनी शक्ति बढाता रहा। छठे वर्ष मे उसने इसन और उरुक राज्यो पर अधिकार कर लिया तथा अगले चार वर्षों तक फरात नदी के उत्तर की ओर बढता रहा तथा मन्दिरो का निर्माण कराता रहा।

अगले वीस वर्षों तक वेबीलोनिया पूर्व और दक्षिण के नगर राज्यो की उठा-पटक का साक्षी वना रहा और इस वीच उसका राजा हम्मूरावी किले तथा मन्दिर वनवाता रहा। अन्तत. 1763 ई पूर्व मे उसने अपने प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी तथा सुमेर प्रदेश के एकछत्र अधिशासक लारसा के राजा रिम-सिन को पराजित करके उसके 61 साल लम्बे राज्यकाल को समाप्त कर दिया। इस प्रकार वह सुमेर और अक्कड का राजा वन गया, लेकिन उसने अपनी राजधानी वेवीलोन मे ही रखी।

अव उसके सामने उत्तर की ओर असुर प्रदेश (असीरिया) का मार्ग खुला था। वह उस ओर वढ चला। 1759 ई मे उसने मारी और मालगम नगर-राज्य

जीते, 1756 में एशनुना तथा अगले वर्ष असीरियाई साम्राज्य की राजधानी असुर पर चढ़ाई करके उस पर कब्जा कर लिया। इस प्रकार वह मैसोपोटामिया के इतिहास में पहली बार समूचे मैसोपोटामिया को एक राज्य में संगठित करने तथा उसका सम्राट् बनने में सफल हो गया।

यह बेबीलोनिया का उत्कर्ष काल था। बेबीलोनिया के सम्राट् हम्मूराबी ने अब "बली सम्राट्, बेबीलोन का राजा, सम्पूर्ण अमुर्रु प्रदेश का राजा, सुमेर और अक्कड का राजा तथा विश्व की चारों दिशाओं का राजा" की पदवी धारण कर ली।

हम्मूराबी ने अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए सैनिक बल का सहारा तो लिया ही, वह अपने शत्रुओं में फूट भी डालता रहा। उसने अपने मित्रों के यहाँ अपने जासूस तैनात करके उनके भेद लिये तथा अपने वास्तविक प्रयोजन छिपाये रखे। उसने शत्रुओं को एक-एक करके पराजित किया। बीच-बीच में वह विजय-अभियान से होकर शान्त बैठ जाता और मौका देखकर फिर आगे बढ़ता।

बेबीलोन का साम्राज्य हम्मूराबी के व्यक्तिगत पुरुषार्थ का फल था, लेकिन उसने इसे बेबीलोनियाई रंग देने की कोशिश की। इसके लिए उसने बेबीलोन के प्रमुख देवता मरडूक को समूचे मैसोपोटामिया का प्रधान देवता घोषित कर दिया। इस प्रकार बेबीलोन समूचे मैसोपोटामिया का प्रमुख धार्मिक केन्द्र बन गया। उसने एक नई गाथा प्रचलित करायी कि जब निप्पुर के प्रधान देवता अनु (आकाश देवता) पर आदिम-सर्प-दैत्य तियामत ने आक्रमण किया तब अनु में उसका सामना करने का साहस न था। इस समय मरडूक उसकी मदद के लिए आया और उसने तियामत को नष्ट कर दिया। तभी मरडूक को देवताओं का राजा चुन लिया गया। लेकिन इसका अर्थ यह न था कि अन्य देवताओं का मान घट गया, हम्मूराबी ने उनके लिए बड़े-बड़े मन्दिर बनवाये, उनको शाही सम्मान प्रदान किया तथा बड़ी जागीरें दीं।

हम्मूराबी मैसोपोटामिया की एकात्मकता का प्रतीक बन गया। उसकी दाढ़ी और मूँछें उसके अमुर्रुवासी होने की पहचान थी तो उसके वस्त्र और उसकी पगड़ी सुमेर प्रदेश की थी। हम्मूराबी बेबीलोनियाई सभ्यता का आदि-निर्माता है, उसने ही पहली बार बेबीलोनियाई सभ्यता को उसकी अस्मिता और पहचान प्रदान की।

बेबीलोनियाई साम्राज्य के दुर्दिन

हम्मूराबी ने जिस विशाल साम्राज्य का निर्माण कूटनीति और सैन्य बल के द्वारा किया था, वह उसके उत्तराधिकारी पुत्र शम्सुइलना (1749 से 1712 ई. पू.) के शासनकाल में ही धूल धूसरित हो गया। बेबीलोनियाई साम्राज्य के पराभव का आरम्भ 1742 ई. में पूर्वी कस्सीती प्रदेश के आर्य नस्ल वाले कश्शू (कस्साइट) सरदारों के आक्रमण से हुआ, जिन्होंने 1746 ई. पू. में दजला नदी पर मध्यवर्ती क्षेत्र में अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। यहाँ से बेबीलोनिया की सत्ता के विरुद्ध

विद्रोह की शुरुआत हुई और 1712 ई मे बेबीलोनिया का राज्य सिकुड कर बेबीलोन नगर के इर्दगिर्द सिमट गया ।

हम्मूराबी बेबीलोनिया के प्रथम राजवंश का छठा राजा था । सातवें और आठवे राजाओ के काल मे साम्राज्य के पुन विस्तार के प्रयास नही किये गये । नवें राजा अमभिदितान ने दक्षिण का कुछ क्षेत्र वापस ले लिया तथा वह पुन. सुमेर और अक्कड का राजा बन गया । इस काल मे नहरो का जाल बिछाया गया, दुर्गो को सुदृढ कराया गया और मन्दिरो को जागीरें दी गई ।

इसके बाद बेबीलोनिया के गौरव की पुन. स्थापना के लिए कुछ नही किया गया तथा प्रथम राजवश के ग्यारहवें राजा शम्सुदिलान के शासनकाल मे 1595 ई. पू मे हित्ती राजा मुरसिलिस ने बेबीलोन पर अधिकार कर लिया । हित्ती जाति के ये लोग अनातोलिया के पठार से आए थे, मूलत आर्य नस्ल के थे तथा आर्य भाषा का प्रयोग करते थे । ये लोग बेबीलोनिया मे टिके नही वरन् बेबीलोन को लूटकर तथा मरडूक और उसकी पत्नी जारपनित (Jarpanit) की स्वर्ण-प्रतिमाओ को अपने साथ लेकर स्वदेश लौट गये ।

बेबीलोनिया मे इससे जो राजनीतिक रिक्तता पैदा हुई उसे कश्शू नस्ल के लोगो ने भरा और उनके सदाश राजवश के आठवें राजा आगुम द्वितीय ने 1595 ई पू मे बेबीलोनिया के दूसरे राजवंश की नीव रखी । इस राजवश ने बेबीलोनिया पर 1235 ई पू तक शासन किया ।

1235 मे इस वश के अन्तिम राजा काशतिलिआश चतुर्थ ने पूर्व दिशा मे सेना भेज दी । इससे असीरिया का राजा तुकुलतिनिनुर्ता क्रुद्ध हो उठा और उसने बेबीलोन पर धावा बोल दिया, राजा को कैद कर लिया और उसे असीरिया की राजधानी असुर ले गया । वह बेबीलोन का राजकोष और मरडूक की मुख्य प्रतिमा भी साथ ले गया ।

बेबीलोनियाई राष्ट्रवाद का उदय

असीरिया की इस कार्यवाही से बेबीलोनिया मे रोष उत्पन्न हो गया तथा वहाँ के अमुर्रू, अक्कड और कश्शू जैसे विभिन्न नस्लो के निवासियो मे एकता की भावना सुदृढ हो उठी । अभी असीरिया के आधिपत्य को सात साल ही बीते थे कि बेबीलोनियाई सरदारो ने दक्षिणी राज्यो में विद्रोह कर दिया और निप्पुर पर कब्जा करके वहाँ बेबीलोनियाई राज्य की नीव रखी । लेकिन इसी समय पूर्व दिशा से ईलम प्रदेश के राजा, किदिनखुतरान ने बेबीलोन पर धावा बोल दिया । अगले 10 वर्षों तक इस प्रदेश की राजनीतिक स्थिति अनिश्चित बनी रही, ईलम और कश्शू आपस मे लड़ते रहे साथ ही वे असीरिया के विरुद्ध भी संघर्ष करते रहे । अत 1218 मे असीरिया को पराजित करके बेबीलोनिया को मुक्त करा लिया गया और कश्शू राजवश के अन्तिम राजा काशतिलियाश चतुर्थ के बेटे अद्द शमुसुर को गद्दी पर बैठाया गया । उसने 1189 तक राज किया ।

अदद शुमुसुर ने अपने पिता की पराजय और हत्या का बदला लेने के लिए षड्यन्त्र रचा और असीरिया के राजा तुकुलतिनिनुर्ता को मरवा दिया। उसके बाद उसके उत्तराधिकारी अशुरनादिनाप्लि और अशुरनिरारी-द्वितीय बेबीलोनिया के आधीन रहे, लेकिन 1193 मे यह स्थिति समाप्त हो गयी और बेबीलोनिया फिर से सिकुड गया।

1161 ई पू मे बेबीलोनिया के तृतीय राजवश पर ईलम का सकट पुनः टूट पडा। अगले चार वर्ष बहुत बुरे बीते, समूचा बेबीलोनिया राज्य पूरी तरह लुट और तबाह हो गया तथा उसका राजवश धूल मे मिल गया।

1156 ई पू मे बेबीलोनिया के चौथे राजवश की नीव पडी जिसका प्रथम राजा मरडूक-कबित-अह्हेशू 1152 तक गद्दी पर रहा। उसके बाद उसका बेटा इत्ती-मरडूक-बलातू 1143 तक शासन करता रहा। इस राजा ने ईलमवासियो को बेबीलोनिया से पूरी तरह खदेड दिया और वह बेबीलोनिया का वास्तविक अधिपति बना। इसी समय असीरिया के राजा का देहान्त हो गया और उसका उत्तराधिकारी सत्ता के संघर्ष मे पराजित होकर बेबीलोन पहुँचा तथा बेबीलोन की मदद से पुन असीरिया की गद्दी पर बैठा। उसने बेबीलोनिया की आधीनता स्वीकार की और सौ साल पहले असुर ले जायी गयी मरडूक की प्रतिमा बेबीलोनिया को लौटा दी।

बेबीलोनिया अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए पुन. प्रयास करने लगा, तथा उसके नये राजा नेबूचैडनेजर-प्रथम ने समूचे ईलम और कस्सीती प्रदेशो को जीतकर असीरिया की ओर मुँह किया जहाँ उसे मात खानी पडी।

बेबीलोनिया को सबसे बुरे दिन 1067 ई पू. मे देखने पडे जब एक आर्मीनियाई सरदार उसका राजा बन बैठा। अगले चार सौ वर्ष बेबीलोनिया के लिए अपकर्ष के वर्ष थे।

बेबीलोनिया का पुनरोदय

बेबीलोनिया के अच्छे दिन लौटे। इसका श्रेय नेबोपोलास्सर (Nabopolassar) को है जो 23 नवम्बर, 626 ई पू मे बेबीलोनिया का राजा बना। उसने ईलम के साथ दोस्ती की, उनके देवता उन्हें लौटा दिये तथा धीरे-धीरे असीरिया की ओर बढना शुरू किया। साम्राज्य विस्तार की लालसा में बेबीलोनिया को अनेक शक्तियो के साथ दोस्ती और अनेक के साथ युद्ध करना पडा। नेबोपोलास्सर का बेटा नेबूचैडनेजर-द्वितीय तो मिस्र तक जा पहुँचा। 605 ई पू मे अपने पिता की मृत्यु पर उसने बेबीलोनिया का सिंहासन सम्भाला तथा पश्चिम मे मिस्र, सीरिया, फिलीस्तीन आदि देशो के विरुद्ध विजय अभियान छेड दिया। वह अपने साम्राज्य के विस्तार मे सफल रहा। 562 ई पू में उसका देहान्त हो गया और उसका बेटा अमेल मरडूक गद्दी पर बैठा। 559 ई. पू मे उसकी मृत्यु के बाद उसका बहनोई बेबीलोनिया का राजा बना। उसने साम्राज्य की रक्षा की।

इस वंश का अन्तिम राजा नेबोनिदस था, जिसने बेबीलोनिया के साम्राज्य का विस्तार अरब प्रदेश तक किया, लेकिन नियति उसके विरुद्ध षड्यन्त्र कर रही थी। फारस का राजा सायरस प्रबल होता जा रहा था। वह धीरे-धीरे बेबीलोनिया की ओर बढ़ा चला आ रहा था। सायरस के भाग्य ने उसका साथ दिया, बेबीलोनिया के ही एक उच्च सरकारी अधिकारी गुटियम के गवर्नर ने अपने देश के साथ विश्वासघात करके सायरस का साथ दिया। नेबोनिदस युद्ध में मारा गया और 29 अक्तूबर, 539 ई. पू के दिन सायरस ने बेबीलोन नगर मे प्रवेश किया। इस प्रकार बेबीलोन की स्वतन्त्रता और सभ्यता का अन्त हुआ। नियति की विडम्बना यह कि जिस समय सायरस ने बेबीलोन मे प्रवेश किया बेबीलोन के नागरिको ने उसे मुक्तिदूत कहकर उसका अभिनन्दन और जय जयकार किया। सभ्यताओ का अन्त तभी होता है जब उनके नागरिक अपनी धरोहर के महत्त्व और अस्मिता को भूल जाते हैं तथा दासवृत्ति से आक्रमणकारी का जय जयकार करने लगते है। बेबीलोनिया मे यही हुआ।

राजनीतिक चिन्तन और संस्थाएँ

बेबीलोनियाई सभ्यता के अन्तर्गत राजनीतिक सस्थाएँ ईसा से तीन हज़ार साल पहले पूर्णत विकसित अवस्था मे मिलती हैं। इसे पुरातत्त्वविदो ने सुमेरियाई काल कहा है, क्योकि उस काल मे बेबीलोनिया का नगर-राज्य प्रमुखता प्राप्त नही कर पाया था।

नगर-राज्य

उस काल मे राज्य की कल्पना नगर-राज्य के रूप में की गयी थी जिससे जुडा क्षेत्र उसके आधीन होता था। ये नगर-राज्य दजला और फरात नदियो के तट पर और उनकी घाटियो मे बसे थे। जैसे-जैसे नहरो का जाल बिछना शुरू हुआ, नहरो के किनारो पर भी नगर बसने शुरू हुए। शुरू में इस समूचे प्रदेश मे केवल तेरह नगर-राज्यो का उल्लेख मिलता है। उत्तर से दक्षिण की ओर इनकी गणना इस प्रकार की जा सकती है—सिप्पर, किश, अक्षक, लरक, निप्पुर, अदाब, उम्मा, लागाश, बड-टिबिरा, उरुक, आरसा, उर तथा एरिडू। यहाँ हम मैसोपोटामिया के उत्तरी भाग अर्थात् असीरिया के नगर-राज्यो का उल्लेख नही कर रहे है क्योकि हमारा यह अध्ययन दक्षिणी प्रदेश तक सीमित है जिसमे बेबीलोनियाई सभ्यता का उदय और विकास हुआ।

नगर-राज्य की यह धारणा और व्यवस्था इस प्रदेश मे ऐसी रूढ हो गयी थी कि जब यहाँ साम्राज्यो का निर्माण हुआ तब भी शासन की बुनियादी इकाई नगर-राज्य ही रहा और प्रत्येक नगर-राज्य की प्रतिरक्षा व्यवस्था के लिए परकोटे और दुर्ग अलग-अलग बनाये जाते थे। सम्राट् प्रत्येक नगर-राज्य के लिए अलग राज्यपाल नियुक्त करता था तथा सबसे बडी बात यह कि प्रत्येक नगर-राज्य का अधिष्ठाता देवता अलग होता था। सम्राट् मे भी यह मजाल न थी कि वह उस देवता को अस्वीकार कर सके, हाँ वह यह अवश्य करता था कि नगर-राज्य के

देवता को अपने साथ अपनी राजधानी मे ले जाये और वहाँ प्रतिष्ठित कर दे, लेकिन उसे उस नगर-राज्य का शासन उसके देवता के नाम पर ही करना होता था अन्यथा नगर-राज्य की प्रजा उस राजा को स्वीकार नही करती थी।

दूसरी बात यह कि जब किसी सम्राट् की विजय वाहिनी एक नगर-राज्य को जीतकर आगे बढती तो पराजित राजा नाममात्र के लिए ही विजयी सम्राट् के आधीन समझा जाता था। उसकी सेना के लौट जाने पर वह पुन स्वय को स्वतन्त्र शासक घोषित कर देता और प्राय स्वतन्त्र हो ही जाता था।

नगर-देव

सुमेरियाई प्रदेश मे राज्य एक दैवी संगठन था, उसका मुखिया उसका नगर-देव होता था। यह नगर-देव ही राज्य का स्वामी था तथा यही राजा की नियुक्ति करता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बेबीलोनियाई सभ्यता का उदय राज्य की दैवी उत्पत्ति की अवधारणा मे से हुआ। देव अथवा देवी की ओर से राज्य पर उसके प्रधान पुरोहित अथवा पुरोहिताइन का नियन्त्रण शुरू हुआ जिसे एन-सी (En-Si) कहा जाता था। यह एन-सी अनेक अधिकारियो की मदद से नगर-राज्य का नियमन और नियन्त्रण करता था जिनमे मुख्य निरीक्षक (नू-बन्दा Nu-Banda) अवीक्षक (अग्रिग Agrig), मन्दिर के पुरोहित (साँगा Sanga) का उल्लेख मिलता है। यह एक प्रकार की धार्मिक समाजवाद जैसी व्यवस्था थी जिसमे एक सीमा तक व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार तो था लेकिन राज्य की समस्त सम्पत्ति और प्रजा पर नगर-देव का सम्पूर्ण स्वामित्व और सर्वोच्च अधिकार माना जाता था।[1]

कालान्तर मे नगर-देव ने नगर के लिए एक एन (En) की नियुक्ति की। यह एन ही नगर का शासक बना और वह नगर-देव के प्रति उत्तरदायी होता था। एन को लुगल (Lugal महान् पुरुष) अथवा पा-ते-सी (Pa-Te-Si) भी कहा गया। पा-ते-सी का अर्थ है वह मुखिया जो देवता के राज्य की सीमाओ का निर्धारण करता है।

राजा की पत्नी अर्थात् रानी को सुमेरियाई भाषा मे निन (Nin) कहा गया। वह नगर-राज्य के धार्मिक और राजनीतिक जीवन मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती थी।

राजा और रानी मन्दिर से अलग राजमहल मे रहते थे। ये महल किश और एरिडू की खुदाइयो मे मिले हैं। ये विशाल तथा भव्य प्रासाद थे। इनमे ढेर सारे कमरे, बड़े हाल, अनेक आँगन और विस्तृत उद्यान थे।

नगर-देव की ओर से राजा उसकी सम्पत्ति का प्रबन्ध तथा राज्य का प्रशासन चलाता था। वह युद्ध के समय नगर-देव का प्रतिनिधित्व करता अर्थात्

1 *Georges Roux* : Ancient Iraq, George Allen & Unwin, London, 1964, p 115

नगर-राज्य की सेनाओ का प्रधान सेनापति होता, राज्य का मुख्य न्यायाधीश, प्रधान पुरोहित और सार्वजनिक निर्माण विभाग का मुखिया होता था। उसका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और पवित्र दायित्व मन्दिरो तथा भवनो का निर्माण, उनका रख-रखाव, पुनर्निर्माण तथा उनमे पूजा-उपासना जारी रखना था।

राजा को यह दायित्व इस दार्शनिक धारणा के आधार पर प्राप्त हुआ था कि देवताओ ने मानवजाति को अपनी सेवा के लिए पैदा किया है। राजा को देवता का प्रथम सेवक माना गया। अनेक मूर्तियो, भित्ति-चित्रो इत्यादि मे राजाओं को मन्दिर के निर्माण के लिए ईंटो से भरी टोकरी सिर पर लिए जाते हुए दिखाया गया है। ये चित्र और मूर्तियाँ पत्थर अथवा काँसे मे है।[1]

राजा नव-वर्ष के प्रमुख उत्सव के अवसर पर भी प्रमुख भूमिका निभाता था तथा देवता के विवाह के अवसर पर वर के रूप मे उसका प्रतिनिधित्व करता था। प्रारम्भिक काल मे गिलगमेश और लुगलवन्दा जैसे राजाओ को जीवित देवता ही मान लिया गया था। उनके बारे में यह धारणा प्रचलित थी कि देवता उनके भीतर निवास करते हैं और वे साक्षात् देवता ही हैं।

देवता के रूप मे प्रतिष्ठित राजा को यह अधिकार था कि वह मरने पर अपने सेवको, रानियो, सगीतज्ञो, सैनिको तथा शस्त्रास्त्र और आभूषणो को अपने साथ परलोक मे ले जा सके। इसका प्रमाण उर मे प्राप्त शाही कब्रो से मिला है जिनकी खोज करने वाले पुरातत्त्वविद सर लियोनार्ड वूले ने लिखा है कि इन कब्रो की खुदाई के समय गैंती का स्पर्श होते ही सोना फूट पडता था। उनमें से सोने के पात्र, खुखरियाँ, सोने की मूर्तियाँ, पशुओ के सिर, रानी का स्वर्ण-शिरस्त्राण, राजा का शिरस्त्राण और असख्य आभूषण मिले।[2]

इन कब्रो की सबसे अधिक विस्मयकारी बात यह थी कि इनमे से प्राप्त प्रमाणो से सिद्ध हुआ कि राजा के साथ तीन से 74 तक निजी सेवक, तारों के वाद्य-यन्त्र हाथ में लिए हुए सगीतज्ञ, शस्त्रो से सुसज्जित सैनिक और बहुमूल्य परिधानो मे सजी हुई रानियाँ तथा दरबारी स्त्रियाँ किसी तेज मादक द्रव्य का सेवन करके अपने स्वामी (राजा) के साथ उसकी कब्र मे जिन्दा दफन होने के लिए उतर गये और मादक द्रव्य के सेवन के कारण उन्होने पीडा-रहित मृत्यु पायी। सुमेरियाई गाथाओ मे उल्लेख मिलता है कि ये राजा मरते नही थे वरन् पाताल लोक मे राज करने के लिए अपने राजमहल के सगियो के साथ पृथ्वी के भीतर चले जाते थे। राजाओ की कब्रें वास्तव मे कब्रें नहीं मानी गयी, उन्हे पाताल लोक की ओर जाने वाला मार्ग माना गया तथा क्षण भर के लिए भी ऐसा नही सोचा गया कि उन कब्रो मे जो कुछ रखा गया है वह वही गडा रहेगा। धारणा यह रही कि वह सब राजा के साथ पाताल लोक में चला जायेगा।[3]

1 op cit, p. 116.
2 Antiquaries Journal, XI, 1931, p 343, London.
3 *T Fish* : In Iraq V (1938), p 164.

जैसा पीछे कहा गया है प्रारम्भ मे देवता का प्रधान पुरोहित भी राजा ही था, लेकिन कालान्तर मे साँगा (पुरोहित) और एन अथवा लुगल (राजा) के कृत्यो के बीच भेद किया जाने लगा। राजा और पुरोहित के कृत्य पृथक किये जाने लगे और 2500 ई पू के आसपास राजा प्रधान पुरोहित नही रहा।

राजा को देवता की ओर से आदेश पत्र प्राप्त होता था जिसके अनुसार वह राज्य के शासन और प्रशासन का सचालन करता था। यह धारणा बहुत जोरो से प्रचलित थी। लगभग 2400 ई पू मे लागाश के अन्तिम राजा उरुकाजिना ने घोषणा की कि उसे लागाश की नगर-देवी निनिगुरसू से आदेश प्राप्त हुआ है कि वह नगर मे फैली अव्यवस्था और कुरीतियो को समाप्त करके सुशासन स्थापित करे। अत' उसने देवी के प्रतिनिधि के रूप मे प्रजा के जीवन मे राज्य के निरीक्षको का हस्तक्षेप समाप्त कर दिया, मृतको के दफनाये जाने तथा विवाहो पर लगाये गये भारी करो का बोझा हटा दिया, समृद्ध सरकारी अधिकारियो द्वारा नागरिको के मकानो को नाममात्र के मूल्य पर खरीदने की कुप्रथा मिटा दी, तथा सरकार मे व्याप्त व्यापक भ्रष्टाचार समाप्त कर दिया। उससे पहले के राजाओ ने देवी की भूमि पर अपने लिए प्याज और खीरे की खेती करानी शुरू कर दी थी जिसके लिए वे मन्दिर के बैलो और गधो का प्रयोग करते थे। उरुकाजिना ने यह प्रथा समाप्त कर दी, करो का भार घटा दिया, राजा के भवनो और खेतो पर निनिगुरसू का स्वामित्व स्थापित कर दिया तथा लागाश के नागरिको को सूदखोरी, एकाधिकारवादी मनोवृत्ति, भूख, चोरी और आक्रमण से रक्षा करके उन्हे स्वतन्त्रता प्रदान की।[1]

राजा के कर्त्तव्य

उरुकाजिना ने जो कार्य किये उनसे बोध होता है कि प्राचीन बेबीलोनियाई सभ्यता के राजनीतिक चिन्तन मे राजा को निरकुश और स्वेच्छाचारी शासक के रूप मे प्रतिष्ठित नही किया गया वरन् उसे प्रजा-रजक माना गया और उसके कुछ महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य निश्चित किये गये।

इन कर्त्तव्यो का आभास हम्मूराबी के एक शिलालेख से मिलता है जिसमे वह कहता है कि—

"मैंने निर्मूल कर दिया शत्रु को उत्तर से दक्षिण तक,
मैंने कर दिया अन्त युद्ध का,
मैंने देश के कल्याण को दिया प्रोत्साहन,
मैंने प्रजा को मैत्रीपूर्ण बस्तियो मे प्रदान की निश्चिन्तता,
मैंने नही दिया अवसर किसी को भी कि सता सके वह उसे।

1 *S. N Kramer*: History begins at Sumer, Double Day, New York, 1959, pp 49-50

महान् देवो ने बुलाया मुझे और सौंपा कार्य यह,
जिससे बन गया लोकहितकारी चरवाहा मैं—
राजदण्ड है जिसका ऋतपूर्ण,
मेरा उदात्त साया फैला है मेरे नगर पर।
मैंने बसा लिया है प्रजा को सुमेर और अक्कड की अपने हृदय मे,
फली-फूली वह मेरे सरक्षण मे,
मैंने किया शासन उस पर शान्ति स्थापित करके,
मैंने दिया आश्रय उसको अपनी शक्ति के साये मे।"[1]

बेबीलोनियाई सभ्यता राजा को लोकहितकारी चरवाहा, शान्ति-सुव्यवस्था का संस्थापक, प्रजा का कल्याण करने वाला, सरक्षक, प्रजा-प्रेमी, उदात्त और ऋतपूर्ण राजदण्ड से सुशोभित देव-प्रतिनिधि के रूप मे निरूपित करती है जिसे यह सब करने का आदेश देव से मिलता है।

ऋत राजा का राजदण्ड है। यह उसका परम पवित्र दायित्व है। तभी तो हम्मूराबी कहता है कि उसने विधि सहिता को लागू किया और जो उसके यश की अमर कीर्ति-पताका बन गयी उसका निम्न प्रयोजन है—

"देश मे न्याय का प्रवर्तन,
कुकर्मियो और दुष्टो का निर्दलन, तथा
समर्थ लोगो के अत्याचारो से असमर्थ लोगो की रक्षा।"[2]

हम्मूराबी पहला राजा नही है जिसे देवता से ऐसा आदेश मिला हो। उससे पहले इसिन के राजा लिपितइश्तर ने भी ऐसा ही कहा। उसने कहा कि अनु और एनलिल देवताओ ने उसे बुलाया और आदेश दिया कि देश मे न्याय की स्थापना करो, लोगो की शिकायतो का निवारण करो, शस्त्रबल के द्वारा शत्रुओ और विद्रोहियो का सफाया करो तथा सुमेरियाई और अक्कड प्रजा के कल्याण के लिए कार्य करो।[3]

एक अन्य प्रथा से सिद्ध होता है कि किस प्रकार राजा देवता के आधीन होता था तथा वर्ष मे दो बार नववर्षोत्सव पर ऐसा अवसर भी आता था जब प्रधान-पुरोहित राजा को चाँटे लगाकर अपमानित करता था।

नववर्षोत्सव शुरू होने पर निसान मास के चौथे दिन राजा बेबीलोन से 10 किलोमीटर दक्षिण मे बरसिप्पा नामक नगर मे जाता और वहाँ के नगरदेव नाबू को लेकर आता था। नाबू मरडूक का बेटा था जिसे अपने पिता मरडूक को पाताल लोक से मुक्त कराना होता था। नाव पर सवार होकर राजा अगले दिन नाबू के साथ मरडूक के मन्दिर एसगिला लौटता।

1 *T H J, Meek* . Code of Hammurabi, Epilogue XXIV, 30–59
2 Ibid, Prologue I, 32–9.
3 *J G Macqueen* : Babylon, Robert Hale Ltd , London, 1964, p. 59

मन्दिर मे प्रवेश के समय राजद्वार पर ही अपने राजचिह्न—राजदण्ड, चक्र और तलवार उरिगल्लू अर्थात् पुरोहित को सौंप देता और पुरोहित उनको मरडूक के सामने एक कुर्सी पर रख देता।

इसके बाद पुरोहित राजा के गाल पर इतने जोर से चाँटे लगाता कि राजा की आँखो से आँसू छलकने लगते। पुरोहित राजा को कान से घसीटकर देवता के दरबार मे ले जाता जहाँ राजा को घुटनो के बल जमीन पर गिरा दिया जाता और तब राजा देवता से कहता—

"हे देशो के अधिपति, मैंने पाप नही किया है। मैंने आप भगवान की कभी उपेक्षा नही की। मैंने बेबीलोन को नष्ट नही किया। मैंने बेबीलोन का राज्य उखाड फेंकने का आदेश नही दिया। मैंने एसागिला के मन्दिर के अनुष्ठानो को कभी नहीं भुलाया। मैंने अपने मातहत के गालो पर चपत नही लगाए, मैंने उन्हे अपमानित नही किया। मैंने बेबीलोन की पहरेदारी की, मैंने इसकी दीवारें नही गिरायी.....।"

इसके बाद पुरोहित राजा को आश्वासन देता—"राजा, डरो मत। देवता तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करेगा। वह तुम्हारी गरिमा मे वृद्धि करेगा, तुम्हे महानता प्रदान करेगा, तुम्हे सदा के लिए आशीर्वाद देगा। वह तुम्हारे शत्रु को नष्ट कर देगा और तुम्हारे विरोधी का पतन करेगा।"[1]

अब राजा को उसके राजचिह्न लौटा दिए जाते और एक बार फिर उसके गालो पर चपत लगाए जाते। यदि चपत खाकर राजा की आँखो से आँसू गिरने लगते तो माना जाता कि देवता राजा से प्रसन्न हो गया है और यदि आँसू न निकलते तो समझा जाता कि देवता नाराज है तथा शत्रु उस पर आक्रमण करके उसे नष्ट कर देगा।

इस रस्म का स्पष्ट सकेत है कि राजा को यह समझ लेना चाहिए कि उसकी समूची सत्ता का स्रोत देवता है और उसे अपने पापो तथा जनता की ओर से उसके पापो के लिए प्रायश्चित करना होगा। इस अवसर पर पुरोहित राजा से ऊँचा हो जाता था, लेकिन इस अनुष्ठान मे राजा का नही वरन् उस व्यक्ति का अपमान किया जाता था जो राजा है क्योकि उसके राजचिह्न पहले ही ले लिए जाते थे।

राजा चाहे कोई भी रहा हो देवता की शक्ति मे कोई अन्तर नही आया। जब पारसी धर्म के अनुयायी सायरस ने बेबीलोनिया पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया तब भी नगर-देवता मरडूक की सत्ता अक्षुण्ण बनी रही। उसने तुरन्त एक घोषणा जारी कि जिसमे उसने कहा कि बेबीलोन के राजा नेबोनिदस ने मरडूक का अपमान करना शुरू कर दिया था जिसके कारण उससे नाराज होकर मरडूक ने सत्यनिष्ठ सायरस को बेबीलोनिया की रक्षा करने का आदेश प्रदान किया।

1 Ancient Near Eastern Texts, Princeton, N J. 1955, p 334

घोषणा मे कहा गया कि सायरस को मरडूक ने प्रजा के मुक्तिदूत के रूप में भेजा है। मरडूक ने ही सायरस को विजय दिलायी है। इसी प्रकार उर नगर-राज्य के घोषणापत्र मे कहा गया कि सायरस ने उनके नगर-देव सिन के आदेश पर उन्हें उनके अत्याचारी राजा से मुक्त कराया है।

बेबीलोन से लौटते समय सायरस ने अपने बेटे को अपना प्रतिनिधि बनाकर वहाँ छोडा था, नववर्षोत्सव के अवसर पर उसने अपने गालो पर पुरोहित के तमाचे खाए और अन्तत. मरडूक का हाथ पकडकर उसे सिंहासन पर बैठाया तथा उससे अपनें पिता के लिए बेबीलोन के सम्राट् की पदवी प्राप्त की।

प्रशासन-व्यवस्था

बेबीलोनियाई सभ्यता मे राज्य के शासन और प्रशासन की एक विशद् व्यवस्था स्थापित हो गयी थी। सम्राट् अपने साम्राज्य के अन्तर्गत आने वाले नगर-राज्यो मे अपने प्रतिनिधि नियुक्त करता था जिन्हे प्रान्तीय राज्यपाल कहा जा सकता है। ये राज्यपाल राजा के प्रति उत्तरदायी होते थे तथा उसकी ओर से करो का सग्रह करके राजकोष के लिए भेजते थे। ये नगर-राज्य के प्रशासन के लिए उत्तरदायी होते थे तथा किसी भी प्रकार की अव्यवस्था अथवा षडयन्त्र का पता चलने पर राजा इन्हे पदच्युत् कर देता अथवा मरवा डालता था। अनेक बार ये राज्यपाल सशक्त बन जाते थे तथा विद्रोह करके स्वतन्त्र भी हो जाते थे।

राज्य की कल्पना एक लोककल्याणकारी राज्य के रूप मे की गयी थी अत. उसके कार्यों की एक लम्बी सूची थी, जिनमे प्रमुख कार्य थे—नहरो का निर्माण, लेन-देन और व्यापार-वाणिज्य का नियमन और नियन्त्रण, करो का सग्रह, भूमि-व्यवस्था की देखभाल और नियमन, पशुपालन का नियमन, खजूर की खेती का नियमन और नियन्त्रण, उद्योगो को बढावा देना तथा उनके लिए कच्चे माल की आपूर्ति तथा बाजार मुहैय्या कराना, सेना, न्याय-विभाग, पुलिस और निर्माण विभाग, वैदेशिक सम्बन्धो का नियमन तथा राजदूतों की नियुक्ति।

हम्मूराबी के काल के अनेक ऐसे पत्र मिले हैं जो उसकी ओर से विदेशो मे उसके राजदूतो, सेनापतियो, प्रान्तीय राज्यपालो अथवा अन्य सरकारी अधिकारियो को भेजे गए अथवा उनसे उसे प्राप्त हुए। पत्र लाने ले जाने के लिए नियमित डाक-सेवा अथवा सदेश-सेवा थी। इन पत्रों से उन नाना विषयो का बोध होता है जिनकी ओर राजा और सरकारी अधिकारियो का ध्यान लगातार खिचाया जाता था। इनमे अधिकारियों की नियुक्ति, राजा की आज्ञाएँ और उसके आदेश, सरकारी अधिकारियों का दरबार मे बुलावा, नहरों की खुदाई, सफाई और उनको गहरा करने इत्यादि का उल्लेख भी रहता था।

अन्य राजाओ के शासनकाल मे भी यह पत्र-व्यवहार चलता था। मारी के राजा जिमरीलिम ने आदेश दिया कि खानाबदोश लोगों की जनगणना की जाए, सेनाओं को तैयार रखा जाए। उसके पत्रो में दूसरे राजाओ के साथ मन्त्रणाओ और उनके साथ भेंट स्वरूप वस्तुओं के लेन-देन का जिक्र भी है।

सरकारी अधिकारियो मे राजमहल के अधिकारियो का महत्वपूर्ण स्थान होता था। ये लोग राजमहल के ही एक भाग मे अथवा उसके समीप रहते थे। राजमहल के दरबार-हाल मे विदेशी-राजदूत तथा उच्च सरकारी अधिकारी राजा से मिलते थे। राजा और प्रजा के मिलने के लिए अलग द्वार तथा आँगन होता था।

राजा के अधिकारी खेतो का सही नापजोख रखते तथा ऐसी छोटी बातो पर भी निगाह रखते थे कि लोगो मे पोशाक के बारे मे क्या फैशन प्रचलित हैं। मारी के राजमहल के बाहर किसी छोटी बच्ची का शव पाया गया, इस पर राजा ने अधिकारियो को आदेश दिया कि इस मामले की पूरी जाँच की जाए और शव को धार्मिक विधि-विधान के साथ दफनाया जाए। बाजार भावो पर नियन्त्रण रखा जाता और बाजार में ब्याज की दरो को नियमित किया जाता।

न्याय-व्यवस्था

बेबीलोनिया अपनी न्याय-व्यवस्था के लिए विश्व मे प्रसिद्ध रहा है। बेबीलोनियाई कानूनो के अनुसार यदि कोई न्यायाधीश अपने निर्णय को बदलने की चेष्टा करता तो उसे तुरन्त पदच्युत कर दिया जाता और उसे भारी जुर्माना भरना पडता। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध लगाए गए आरोपो को सही सिद्ध नही कर पाता या गवाह झूठी गवाही देता तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता।

सूर्य अर्थात् शम्स को न्याय का देवता माना जाता था। अदालत राजमहल मे अथवा सूर्य के मन्दिर मे बैठती थी तथा एक साथ कई न्यायाधीश मुकदमे की सुनवायी करते थे। कभी-कभी अदालतें नगर के द्वार पर भी बैठती और सुनवायी सार्वजनिक होती। सरकारी वकील अथवा सरकार की ओर से आरोप लगाने वाले अधिकारी नहीं होते थे। अदालत मे मुकदमा तभी लाया जाता जब वादी और प्रतिवादी आपस मे उसे न निपटा सकते। अदालतो मे मौखिक और लिखित दोनो प्रकार के साक्ष्य स्वीकार किए जाते थे। राजा सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। न्यायाधीशो को फैसला सुनाने तक का अधिकार था, वे सजा नही दे सकते थे। सजा देने अथवा उसे लागू करने के लिए अलग सरकारी अधिकारी होते थे, लेकिन न्यायाधीश स्वय यह देखते थे कि दण्ड निश्चित मात्रा से अधिक न दिया जाए। मृत्युदण्ड के लिए पानी मे डुबोने, जला डालने अथवा सिर काटने की पद्धतियाँ प्रयोग मे लायी जाती थी।

चोरो और डाकुओ को मृत्युदण्ड दिया जाता था। यदि सरकारी अधिकारी अपराधी को पकडने मे विफल हो जाते तो जिस व्यक्ति को लूटा गया हो उसे हर्जाने की भरपाई अधिकारियो को अपने वेतन मे से करनी होती थी।

सरकारी अधिकारियो द्वारा अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करने पर उनके लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। यदि किसी सरकारी अधिकारी को राजकीय सेवा के दौरान विदेश में बन्धक बना लिया जाता तो वह वहाँ गए बेबीलोनियाई

व्यापारियों से अपने दन्धनकर्त्ताओं की रकम का भुगतान कराकर स्वदेश लौट सकता था। स्वदेश लौटने पर यदि उनके पास व्यापारी का धन लौटाने की सामर्थ्य न होती तो राजकोष से व्यापारी को भुगतान किया जाता। यदि कोई व्यापारी रकम देने से इनकार करता तो उसे स्वदेश लौटने पर कठोर दण्ड दिया जाता।

फसल खेत से घर आ जाने के बाद प्राकृतिक प्रकोप के कारण नहरें क्षतिग्रस्त हो जाती तो उनकी मरम्मत का भार उस क्षेत्र के किसानों पर पड़ता था, लेकिन यदि प्राकृतिक कारणों से फसल नष्ट हो जाती तो किसान पर भूमि के स्वामी को उसका अंश देने की जिम्मेदारी नहीं होती थी। इतना ही नहीं यदि किसान को लागत भी फसल से वसूल न हुई हो तो भूमि का स्वामी उसे अगली फसल के लिए अपनी भूमि नि शुल्क प्रदान करता था यदि किसान बीज आदि के लिए ब्याज पर ऋण लेता और फसल खराब होती तो उसे उस साल का ब्याज माफ हो जाता था।

नहरों के रखरखाव की जिम्मेदारी उन किसानों पर होती थी जो उनसे अपने खेतों को सींचते थे। यदि कोई किसान अपने खेत के पास के नहर-तट को हानि पहुँचाता तो उसे हर्जाना देना पड़ता था। इसी प्रकार यदि किसी की भेड़ें दूसरे का खेत चर जाती तो उसे जुर्माना भरना पड़ता था। भेड़ें पालने वालों के लिए यह अनिवार्य था कि वे रात में अपनी भेड़ों को बाड़े में बन्द रखें और दिन मे उन्हे निश्चित स्थान पर ही चराएँ।

खजूर की खेती करने वाले किसान यदि पेड़ों की समुचित देखभाल न करते तो उन्हे दण्ड दिया जाता था। इसी प्रकार यदि कोई किसान किराये पर लिए गए बैलों को पूरा चारा न देता या उनसे अधिक काम लेता तो उसे दण्ड देने की व्यवस्था थी। बीज की चोरी को गम्भीर अपराध माना गया था। इतना ही नहीं, यदि कोई व्यक्ति किसी बैल को पीटता तो उसे दण्ड दिया जाता।

यदि कोई महाजन निर्धारित दर से अधिक ब्याज वसूल करता या व्यापारी नाप-तौल मे हेराफेरी करता तो ऋण लेने वाले को ऋणमुक्त कर दिया जाता था। लेन-देन की प्रामाणिकता के लिए रसीद और बहियों का रखना अनिवार्य था तथा साक्षियों का होना भी आवश्यक माना गया था। सार्वजनिक सुरक्षा के लिए सराय के मालिक भटियारों अथवा भटियारिनों को यह हिदायत थी कि वे अपनी सराय मे ठहरने वाले मुसाफिरों के जानमाल की रक्षा के लिए उत्तरदायी होंगे तथा यदि वे वहाँ वेश्यावृत्ति अथवा अपराधियों को ठहराने का धन्धा करेंगे तो उन्हें कठोर दण्ड दिया जायेगा। इतना ही नहीं यदि उन्हे किसी मुसाफिर पर अपराधी होने का शक होता तो उन्हे इसकी सूचना सरकारी अधिकारियों को देनी होती थी।

शराब पीने पर कड़ा नियन्त्रण था, शराब पीकर अव्यवस्था उत्पन्न करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता था। शराब के दाम निर्धारित कर दिए गए थे तथा यदि कोई व्यापारी शराब के दाम अनाज मे लेने के बजाय चाँदी मे माँगता,

अधिक दाम वसूल करता अथवा उसमे पानी या खराब किस्म की शराब की मिलावट करता तो उसे मौत की सजा दी जाती।

सम्पत्ति के उत्तराधिकार, विवाह, तलाक जैसे विषयो का भी कानून द्वारा नियमन किया जाता था। स्त्रियो के व्यभिचार को गम्भीर अपराध माना गया था। बच्चे गोद लेने के स्पष्ट कानून थे। बेबीलोनियाई कानून के दो सबसे बड़े दोष थे कि वह स्त्री-बच्चो को पुरुष की सम्पत्ति मानता था तथा नागरिक और दास के बीच भेदभाव करता था।

व्यावसायिक नैतिकता स्थापित करने के लिए नियम बनाए गए थे। मनुष्यो और पशुओ की चिकित्सा और शल्य-चिकित्सा करने वाले चिकित्सको को एक निश्चित मात्रा मे ही शुल्क लेना होता तथा यदि वे गलत ढग से चीर-फाड कर देते तो उन्हे दण्ड दिया जाता। इसी प्रकार कारीगरो को दोषपूर्ण वस्तुएँ, नौकाएँ आदि बनाने पर दण्ड देने की व्यवस्था थी। हर प्रकार के मरम्मत कार्य के लिए शुल्क की दरें निश्चित की गयी थी। किराए पर सामान देने-लेने के बारे मे भी कानून थे और भाड़े की दरें निश्चित की गयी थी।

दासो को स्वामी की व्यक्तिगत सम्पत्ति माना गया था। स्वामी को यह अधिकार था कि वह दासियो का उपयोग रखैलो के रूप मे करना चाहे तो अवश्य करे। किसी दूसरे की दासी के साथ बलात्कार अपराध माना गया था।

29

बेबीलोनिया : समाज, अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकी

बेबीलोनियाई समाज एक स्तरीकृत (Stratified) समाज था। वह तीन वर्गों मे विभाजित था—स्वतन्त्र प्रजाजन आवेलू (Awelu), मुश्केनू (Mushkenu) अर्थात् साधारण गरीब प्रजाजन और वार्दू (Wardu) अर्थात् दास या गुलाम।[1]

वास्तव मे पहले दो वर्ग स्वतन्त्र नागरिको के ही वर्ग थे, उनमे अन्तर केवल उनके आर्थिक स्तर के कारण था। आवेलू वर्ग मे प्राय. सैनिक अधिकारी, व्यापारी, व्यवसायी, कारीगर और जमीदार लोगो की गणना होती थी तथा मुश्केनू वर्ग के पास आजीविका उपार्जन के स्वतन्त्र साधन न थे, वे राज्य के आश्रित रहते अथवा मेहनत मजदूरी करके अपना और अपने परिवार का पेट पालते थे। इस वर्ग की स्थिति आवेलू वर्ग की अपेक्षा हेय और हीन थी।

दास वर्ग समाज का स्वतन्त्र वर्ग नही था। प्राय. युद्धबन्दी ही दास बनाये जाते थे और उनके वशज पीढी-दर-पीढी दासता भोगते रहते थे। कभी-कभी मुश्केनू वर्ग के लोग भी गरीबी से तग आकर अपने बच्चो को बेच देते थे। उनके सिर मुंडवा दिये जाते और उनके शरीर पर एक विशेष दाग लगा दिया जाता जिससे उनकी पहचान दास के रूप मे हो सके। दासो पर उनके स्वामियो का पूर्ण प्रभुत्व होता था। जो लोग दूसरो के भागे हुए दासो को शरण देते अथवा उन्हे भगा लेते थे उन्हे कठोर दण्ड दिया जाता था।

दास वर्ग की स्थिति हताशाजनक न थी। स्वामी किसी भी दास को मुक्त कर सकता था अथवा उसे गोद ले सकता था। दासो पर स्वतन्त्र वर्गों की महिलाओ के साथ विवाह करने पर कोई प्रतिबन्ध न था। स्वामियो को अपनी दासियो के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता थी, किन्तु किसी दूसरे की दासी के

1 *George Roux* · Ancient Iraq, op cit, p. 170

साथ यौन-सम्बन्ध बलात्कार की कोटि मे आता था और उसके लिए कठोर राजदण्ड की व्यवस्था थी। दासियो से उत्पन्न हुए अपने बच्चो को पुरुष अपनी वैध सन्तान के समान अधिकार प्रदान कर सकता था और उन्हे अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नियुक्त कर सकता था, किन्तु यदि वह ऐसा न करता तब भी वे बच्चे दास नही, स्वतन्त्र नागरिक माने जाते थे। उनकी माँ भी अपने स्वामी की मृत्यु के बाद स्वतन्त्र हो जाती थी।

दास और स्वतन्त्र स्त्री के बीच विवाह होने पर दास तो दास बना रहता परन्तु पत्नी को दासी नही बनना पड़ता था। वे अलग से घर बसाकर रह सकते थे तथा स्वतन्त्र रूप से अपना धन्धा कर सकते थे। उनकी सन्तान दास नही होती थी। दास के मरने पर उसकी सम्पत्ति उसकी विधवा और उसके स्वामी के बीच बराबर-बराबर बाँट दी जाती थी। स्त्री यदि अपने पिता के घर से दहेज लाती तो वह उसकी ही सम्पत्ति मानी जाती और उसमे उसके पति के स्वामी का कोई हिस्सा न होता।

विवाह

बेबीलोनिया मे विवाह का प्रयोजन सन्तान उत्पन्न करना था। कोई पुरुष बालिग होने पर स्वय अथवा नाबालिग होने पर उसका पिता लडकी के पिता के पास विवाह के प्रस्ताव के साथ कोई भेंट लेकर जाता था। भेंट आम तौर पर नकद चाँदी के सिक्को के रूप मे होती थी। यदि सम्बन्ध तय हो जाता तो एक लिखित अनुबन्ध-पत्र तैयार किया जाता, वधू को उपहार दिये जाते और भोज दिया जाता। दावत का खर्च वर पक्ष उठाता था। यदि वर-वधू वयस्क होते तो, वे अलग से घर बसाकर साथ रहना शुरू कर देते परन्तु अवयस्क होने पर वधू अपने पिता के घर पर रहती और वर-वधू के बीच यौन-सम्बन्ध स्थापित नही होता था। कन्या के पिता का यह कर्त्तव्य होता था कि वह उसके कौमार्य की रक्षा करे। यदि उसके पति के अतिरिक्त कोई भी अन्य पुरुष उसका कौमार्य भग करता तो उसे मृत्यु दण्ड दिया जाता था।

अवयस्क वर और वधू को यह अधिकार था कि उनमे से कोई भी इस प्रतीक्षाकाल मे विवाह को भग कर सकता था। यदि विवाह पुरुष की ओर से भग किया जाता तो वधू के पिता को यह अधिकार था कि वह अपनी बेटी को उसके पति द्वारा दिए गए उपहार उसे न लौटाये, किन्तु यदि वधू का पिता अपनी बेटी को वर के साथ भेजने से मना कर देता तो उसे वधू को दिए गए उपहारों का दोगुना मूल्य वर को लौटाना पडता तथा दावत पर किया खर्च भी उसे चुकाना पडता। इस सम्बन्ध मे एक अन्य दिलचस्प व्यवस्था भी थी। यदि वर का मित्र उसकी पत्नी को प्राप्त करने के लिए वर के ससुर के पास जाकर वर की बुराई करता और विवाह भग हो जाता तब वधू के पिता को वर द्वारा दिए गए उपहार का दोगुना मूल्य और दावत पर किया गया खर्च तो उसे लौटाना ही पडता, वह

अपनी बेटी का विवाह वर की बुराई करने वाले मित्र के साथ नही कर सकता था।

विवाह पुष्ट हो जाने के बाद वधू अपने पिता के घर से दहेज लाती और उसका पति उसे अपनी सम्पत्ति का एक भाग प्रदान करता दहेज पर वधू का पूरा अधिकार होता लेकिन पति की सम्पत्ति मे से जो भाग उसे मिलता उसका प्रबन्ध उसके विधवा हो जाने पर उसका चहेता बेटा करता तथा उसकी आय विधवा को मिलती, किन्तु यदि वह पति के जीवनकाल मे उसे तलाक दे देती तो पति की सम्पत्ति के अपने इस भाग से वंचित हो जाती थी। उसका दहेज उसकी मृत्यु के बाद उसके बेटो मे बँट जाता तथा यदि वह सन्तानहीन रह जाती तो दहेज उसके पिता के परिवार को वापस मिल जाता।

विवाह की दूसरी पद्धति यह थी कि पिता अपने बेटे के लिए वधू का चयन कर लेता और उसके पिता को उपहार देकर वधू को अपने घर ले आता। वयस्क होने तक वह वधू अपने ससुर के घर मे उसकी बेटी की तरह रहती थी। बेबीलोनिया मे स्त्री-पुरुष के साथ रहने और यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेने भर को विवाह नही माना जाता था। विवाह के लिए अनुबन्ध-पत्र पर हस्ताक्षर होना अनिवार्य माना गया था।

तलाक

तलाक प्रधानत. पुरुष का ही अधिकार माना गया था। वह जब चाहे अपनी पत्नी को इतना कहकर तलाक दे सकता था कि 'तुम मेरी पत्नी नही रही', इसके बाद वह पत्नी के वस्त्र का एक सिरा काट देता जिसका अर्थ होता सम्बन्ध-विच्छेद। ऐसा करने पर उसे दहेज लौटाना पडता तथा विवाह के समय उसने जितने मूल्य का उपहार वधू को दिया था उतना ही धन उसे तलाक के समय मुआवजे के रूप मे देना पडता।

जैसा पीछे कहा गया है बेबीलोनियाई सभ्यता मे विवाह का प्रयोजन सन्तान उत्पन्न करना था अत स्वाभाविक है कि यदि कोई पत्नी अपने पति के लिए बेटे नही पैदा कर पाती तो उसे तलाक दिया जा सकता था। तलाक के दूसरे आधार पत्नी का फिजूल खर्च होना, पडोसियो मे चर्चा का विषय बनना अथवा पर-पुरुष मे दिलचस्पी भी हो सकते थे। यदि इन आधारो पर तलाक दिया जाता तो वह उसे किसी भी प्रकार का मुआवजा देने के लिए बाध्य न था। यदि वह उसे अपमानित करना चाहता तो उसे घर मे ही दासी बनाकर रखने तथा स्वय दूसरा विवाह करने के लिए स्वतन्त्र था।[1]

यदि विवाहित पुरुष किसी अन्य स्त्री से प्रेम करने लगा हो तो वह दूसरा विवाह कर सकता था, लेकिन इस स्थिति मे उसे अपना घर और अपनी सम्पत्ति अपनी पहली पत्नी के लिए छोड देनी पडती थी। स्त्री को तलाक देने का

1 *J G Macqueen* · Babylon, op cit, pp 73-85

अधिकार न था लेकिन वह पति के साथ सहवास से इनकार कर सकती थी और जब वह उसके विरुद्ध अदालत मे जाता तो वह उस आधार पर पति से तलाक प्राप्त कर सकती थी कि उसका पति अन्य महिलाओ के साथ रगरेलियाँ करता है तथा वह स्वय उसके प्रति वफादार रह कर अपने पारिवारिक दायित्वो का निर्वाह कर रही है। लेकिन यदि यह सिद्ध हो जाता कि वह फिजूलखर्च अथवा व्यभिचारिणी है तो उसे डुबोकर मार डाला जाता।

बेबीलोनिया मे एक विलक्षण प्रथा प्रचलित थी जिसे हम्मूराबी ने समाप्त किया। पिता की मृत्यु के बाद उसके पुत्रो मे यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपनी माँ को छोडकर पिता की अन्य पत्नियो के साथ विवाह करेंगे।

बेबीलोनिया के अभिलेखो मे एक ऐसा मामला भी उल्लिखित है जिसमे एक माँ और बेटे ने पति की मृत्यु के बाद यौन सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। उन दोनो को आग मे जलाकर मार डाला गया।

स्त्रियो की दशा

बेबीलोनिया मे स्त्री का कौमार्य अथवा पातिव्रत्य अनिवार्य माना गया था। यदि किसी स्त्री को अपने प्रेमी के साथ बिस्तर मे देख लिया जाता तो उन दोनो को आलिंगन की ही मुद्रा मे रस्सियो मे बाँधकर नदी मे फेंक दिया जाता था। यदि स्त्री का पति उसे क्षमा कर देता तो उसे मृत्यु दण्ड से मुक्त किया जा सकता था, लेकिन ऐसी स्थिति मे भी पुरुष को राजा द्वारा ही क्षमा दी जा सकती थी अन्यथा उसे मृत्यु दण्ड अवश्य दिया जाता।

जब कोई पति अपनी पत्नी पर कदाचार का आरोप लगाता तो पत्नी को ईश्वर की सौगन्ध लेनी पडती कि वह निर्दोष है तभी उसे पति के घर लौटने की अनुमति दी जाती।

लडकियो को अपने पिता की सम्पत्ति मे भाइयो के बराबर अधिकार होता था जो विवाह होने पर उन्हे दहेज के रूप मे दे दिया जाता तथा अविवाहित रहने पर उसे उनके हिस्से की सम्पत्ति की आमदनी मिलती रहती लेकिन उसका प्रबन्ध उनके भाइयो के हाथो मे रहता था। बहिन के मरने पर वह सम्पत्ति उसके भाइयो को मिल जाती थी।

पति की मृत्यु हो जाने पर यदि कोई स्त्री फिर से विवाह करना चाहती तो कर सकती थी, लेकिन यदि वह वैधव्य का जीवन काटना चाहती तो उसे अपने पति के घर मे रहने और पति की जायदाद की आय और अपने दहेज की आय से अपना भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार था। यदि उसके बेटे उसे घर से निकालने की कोशिश करते तो वह अदालत मे जा सकती थी और उसके बेटो को अदालत की ओर से दण्ड दिया जाता। दूसरा विवाह करने पर वह अपने पहले पति की सम्पत्ति मे हिस्सा पाने की अधिकारी न' रहती तथा अपना दहेज अपने

दूसरे पति के यहाँ ले जा सकती थी, लेकिन यदि उसे दूसरे पति से सन्तान न होती तो उसके मरने पर उसका दहेज पहले पति से हुए उसके वच्चो को मिलता।

वेबीलोनियाई सभ्यता मे महिलाओ को पौरोहित्य सम्बन्धी कार्य करने की पूरी छूट थी। प्राय प्रत्येक परिवार अपनी एक बेटी मन्दिर को अर्पित करता था। यह एक परम्परा वन गई थी। महिलाओ-पुरोहितो की कई श्रेणियाँ थी, उनमे सर्वोच्च स्थान 'देव-वधू' अथवा प्रधान-पुजारिन का होता था। समाज मे उसका बहुत मान होता था। बहुत वार यह पद राजा की बेटी को दिया जाता था। वह कौमार्य का व्रत धारण करती थी अत. उसके चरित्र पर लाँछन लगाने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता था। अपना कार्यकाल पूरा करने के वाद देव-वधू मन्दिर से जगत् मे लौट सकती थी। वाहर जाने पर वह विवाह भी कर सकती थी, लेकिन उसका व्यक्तित्व इतना पवित्र माना जाता था कि उसके पति को भी उसके साथ सभोग की अनुमति न थी। यदि कोई देव-वधू सराय-वेश्यालय खोल लेती तो उसे जलाकर राख कर दिया जाता था।

प्रधान-पुजारिन के मामले मे ही कौमार्य का इतना उत्कट आग्रह रहता था, अन्य कोटियो की पुजारिनो के वारे मे ऐसा आग्रह तनिक नही रहता था। उनमे से प्राय अभिमन्थ्य मन्दिर-वेश्या हो जाती थी। पूर्ण कौमार्य और मन्दिर वेश्या के पीछे मूल भावना मे कोई बुनियादी अन्तर न था। पुजारिन या तो देवता के लिए पूर्ण कौमार्य धारण करती या देवता के सभी सेवको के लिए समान रूप से मुक्त और उपलब्ध रहती, दोनो का भाव एकसा ही माना जाता। अत पुजारिन वर्ग की महिलाएँ किसी भी उपासक के प्रणय-निवेदन पर उसके सम्मुख समर्पण कर देती थी। पुजारिन की स्थिति समाज मे महत्त्वपूर्ण थी। वह निजी सम्पत्ति खरीद और वेच सकती थी तथा उसकी मालकिन वन सकती थी। राजा से उसे जो भूमि मिलती वह उसे भी वेच सकती थी। मन्दिर मे अपना कार्यकाल पूरा करने के वाद पुजारिन भी जगत् मे लौट और विवाह कर सकती थी, लेकिन उसे सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार न था।[1]

पुजारिनो मे सबसे नीचे के स्तर पर देवदासी होती थी। उसे अवैध सन्तान उत्पन्न करने की अनुमति थी। इस सिलसिले मे एक दिलचस्प नियम यह था कि सेवा-निवृत्त पुजारिन विवाह करने के वाद सन्तान उत्पन्न नही कर सकती थी, लेकिन उसे अपने पति को एक दासी भेंट करनी होती थी जिससे वह सन्तान उत्पन्न करता था। यह सन्तान वैध मानी जाती और अपने पिता की उत्तराधिकारी वनती थी। यदि वह अपने पति को दासी न दे पाती तो उसके पति को किसी निचले स्तर की दासी से विवाह करके सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार था, लेकिन इनमे से कोई भी स्वय उसके अर्थात् प्रमुख पत्नी के साथ वरावरी नही कर सकती थी।

1 Ibid, pp. 80–83.

उत्तराधिकार

बेबीलोनियावासियों को अपने पीछे अपना उत्तराधिकारी छोड़ने की बहुत चिंता रहती थी। सन्तान उनके लिए जीवन का लक्ष्य बन गयी थी। सन्तान होने पर पुरुष को दूसरा विवाह करने का अधिकार था, सन्तान होने परन्तु पत्नी के स्तनों मे उसके लिए दूध न होने की स्थिति में दूध पिलाने वाली धाय रखने का प्रचलन था तथा धाय के बारे मे कठोर नियम थे। उसे पौष्टिक भोजन दिया जाता था तथा शुल्क भी, तथा उससे यह अपेक्षा रहती थी कि वह जिस बच्चे की धाय है उसका पूरा ध्यान रखेगी, यदि इसमे कोई कमी पायी जाती या यह पता लग जाता कि वह एक साथ दो बच्चों की धाय बन गयी है तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था।

यदि पुरुष सन्तान उत्पन्न करने मे विफल हो जाता तो उसे बच्चे गोद लेने का अधिकार था जिससे कि उसका और उसके वंश का नाम चलता रहे। बच्चे को गोद लेने पर उसके पालन-पोषण की जिम्मेदारी आ जाती थी तथा उसे वैधानिक पुत्र के समस्त अधिकार प्राप्त होते थे। यदि गोद लेने वाला अपने कर्त्तव्यों के पालन मे कोताही करता तो बच्चे को अपने असली माता-पिता के पास लौटने का अधिकार रहता था। यदि कोई बच्चा जन्म देने वाले माता-पिता के बिना न रह पाता तो उसे भी उनके पास लौटा दिया जाता था। यदि किसी बच्चे को गोद लेने के बाद पुरुष की अपनी सन्तान का जन्म हो जाता तो वह गोद लिये गये बच्चे को अपनी सम्पत्ति का एक-तिहाई अंश देकर उससे पिण्ड छुड़ा सकता था।

सम्पत्ति की दृष्टि से परिवार को बुनियादी इकाई माना गया था। सामान्यतया पिता की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति उसकी सन्तान के बीच समानता के आधार पर बाँटी जाती थी। पिता अपने किसी पुत्र को उत्तराधिकार से वंचित कर सकता था, लेकिन इसके लिए उसे न्यायाधीशों के सामने यह सिद्ध करना होता था कि उसका वह बेटा लगातार अवज्ञाकारी और उद्दत रहा है। पहली बार पिता की आज्ञा का उल्लंघन करने वालो को चेतावनी देकर पिता के सुपुर्द कर दिया जाता था, लेकिन बार-बार ऐसा करने पर उसे उत्तराधिकार से वंचित होना पड़ता था। पुरुष को यह अधिकार था कि वह अपनी दासी से उत्पन्न हुई सन्तान को गोद ले ले, ऐसी स्थिति मे सबमें सम्पत्ति का समान बँटवारा होता था, लेकिन यदि वह उन्हें गोद लेने से पहले ही मर जाता तो उन्हे सम्पत्ति मे हिस्सा नहीं मिल सकता था।

यदि पिता के देहान्त के समय बच्चे अवयस्क हो तो उनकी माँ उनकी सम्पत्ति का प्रबन्ध सम्भालती थी। यदि वह दूसरा विवाह कर लेती तो उसका दूसरा पति भी उसके प्रबन्ध मे हाथ बँटाता था, लेकिन वे उस सम्पत्ति को न बेच सकते थे, न अपने लिए इस्तेमाल कर सकते थे। न्यायाधीश उस सम्पत्ति की सूची तैयार करते थे जिससे कि अमानत मे खयानत न की जा सके।

शहर और रहन-सहन

एक विस्तृत मैदान पर बसा बेबीलोन एक खूबसूरत शहर था और उसे नगर नियोजन के उन्नत सिद्धान्तो के आधार पर बसाया गया था। वह चौकोर और हर ओर चौदह मील लम्बा था। उसके चारो ओर पानी की एक चौड़ी और गहरी खाई मिली है। खाई के भीतर की ओर 86 फुट मोटी और 330 फुट ऊँची दीवार थी। शहर के बीच मे से फरात नदी बहती थी। दीवार मे सौ फाटक थे जो कांसे के बने थे।

शहर की सडके चौडी और सीधी थी। उनके किनारे बने मकान तीन-चार मजिलो के मकान थे। नदी के एक ओर राजमहल था तथा दूसरी ओर बेल देवता का मन्दिर। यह मन्दिर आठ मजिले बुर्ज की अन्तिम मजिल पर था जिस तक जाने के लिए गोलाकार सीढियाँ चढनी पडती थी। मन्दिरो मे वेदी और देवता का सिंहासन ठोस सोने के होते थे। नदी पार करने के लिए साम्राज्ञी निटोक्रिस ने पत्थर के खम्भो पर एक पुल बनवाया था जिस पर दिन के समय लकडी के शहतीर रख दिये जाते और रात को हटा दिये जाते जिससे कि चोर-उच्चके नदी पार न कर सकें।

शहर मे सेमीरामिस नामक महारानी ने चार सौ फुट लम्बा एक सीढीनुमा दुर्ग बनवाया था जिसकी सीढियो पर भारी मात्रा मे मिट्टी डलवाकर उसमे वृक्ष लगाये गये थे। यही वेबीलोन का मशहूर हैंगिंग गार्डन (लटकता उद्यान) था। उद्यान के नीचे शाही भवन थे जो गर्मियो मे ठण्डे रहते थे। नदी से पानी 75 फुट की ऊँचाई तक ले जाने के लिए यान्त्रिक व्यवस्था की गयी थी। सबसे बडी बात तो यह कि उद्यान के पानी की एक बूँद भी नीचे के भवनो मे नही रिसती थी। उद्यान की तली अर्थात् भवनो की छत को नरकुल, तारकोल और पत्थर के शहतीरो की मदद से जल-निरोधक (वाटर प्रूफ) बनाया गया था।

दुर्ग, राजमहल, मन्दिरो, परकोटे और फाटको का उल्लेख आगे कला के प्रसग मे करेंगे, यहाँ आम लोगो के मकानो पर निगाह डालते है। चौडी सडको के दोनो ओर पक्की ईंटो के मकान एक या अनेक आँगनो के चारो ओर बने कई कमरो वाले होते थे। मकान मे घुसने का एक द्वार होता था तथा बाहर की दीवारो मे खिडकी या रोशनदान न होते थे। कमरो मे हवा और रोशनी आँगन से ही आती थी, उसके लिए दीवारो मे ऊँचाई पर वायु चैनेल बनाये गये थे। भीतर बाहर से मकानो की पुताई की जाती और फर्श पक्की ईंटो के होते थे।

मकानो के आकार नाना प्रकार के होते थे। छोटे मकान आम तौर पर 59 फुट लम्बे और 42 फुट चौडे मिले है, जिनमे बीचोबीच 20 फुट वर्गाकार आँगन होता था जिसमे आठ छोटे और एक बडा कमरा खुलते थे। बडे कमरे की लम्बाई 30 फुट और चौडाई 10 फुट पायी गयी। दूसरी ओर एक बडा मकान

मिला जिसकी प्रत्येक भुजा 130 फुट थी, उसमे तीन आँगन और कुल 26 कमरे पाये गये। सबसे बड़ा कमरा 52 फुट लम्बा और 23 फुट चौड़ा था।[1]

प्रत्येक मकान मे रसोईघर, स्नानागार और शौचालय मिले हैं। इनमें पानी की निकासी की ऐसी उत्तम व्यवस्था थी कि पानी न घर के भीतर रुकता था, न जमीन के भीतर रिसता था। इसका प्रमाण तब मिला जब खुदाई के दौरान भारी वर्षा आ गयी और ऐसा लगा कि उस जगह कई महीने पानी भरा रहेगा, लेकिन सबको यह देखकर आश्चर्य हुआ कि थोडी देर मे सारा पानी नालियो में से बहकर न जाने कहाँ चला गया।

अर्थव्यवस्था

बेबीलोनिया की अर्थव्यवस्था कृषि-प्रधान थी। वहाँ के निवासियो के लिए खेती केवल भोजन और वस्त्र की अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए नहीं वरन् निर्यात के लिए भी महत्त्वपूर्ण थी। प्राचीन काल से ही बेबीलोन में नहरों और भूमि का रख-रखाव राज्य की जिम्मेदारी माना गया था। किसानो पर यह जिम्मेदारी थी कि वे भूमि को खाली न छोड़ें और उसकी परिश्रमपूर्वक देखभाल करें।

भूमि का स्वामित्व राज्य, मन्दिरो और जमींदारों में निहित था। किसान आम तौर पर एक वर्ष के लिए भूमि ठेके पर लेते थे और उसके बदले मे भूमि के स्वामी को उपज का एक भाग देते थे। यदि कोई किसान अपनी लापरवाही के कारण दूसरे किसानो से कम उपज प्राप्त करता तो उसे पडौसी खेती की उपज के हिसाब से भू-स्वामी का अश उसे देना पडता था। यदि कोई किसान जमीन को खाली छोड देता तो भी उसे भू-स्वामी का अंश तो देना ही पड़ता तथा अगली फसल मे जमीन को जोतना-बोना पडता था।

जो किसान परती भूमि को खेती योग्य बनाना चाहता था उसे इस कार्य के लिए तीन वर्ष का समय दिया जाता। पहले वर्ष मे वह भू-स्वामी को कुछ न देता, अगले साल मे सामान्य अंश का आधा देता और तीसरे वर्ष में उसे उसको पूरा अंश देना पड़ता। जो किसान तीन वर्ष के भीतर सामान्य उपज प्राप्त न कर पाता उसे खेत जोत कर भू-स्वामी को लौटा देना पडता।

बेबीलोनिया में वर्षा बहुत कम होती थी अतः सिंचाई का लगभग एकमात्र स्रोत नदियाँ और नहरें थी तथा राज्य की ओर से ऐसी व्यवस्था की गयी कि भूमि के प्रत्येक एकड़ तक नहरें पहुँचती थी और प्रत्येक एकड़ के लिए जल की मात्रा निर्धारित थी। प्रत्येक किसान को अपने खेत के पास वाले नहर-तट की सुरक्षा का ध्यान रखना होता था।

वहाँ भेड़-पालन का व्यवसाय भी बड़े पैमाने पर किया जाता था। भेड़ों से

1. Ibid, pp. 155-160.

ऊन, खाल और गोश्त मिलते थे। लेकिन भेड चराने के कुछ नियम थे जिनका चरवाहो को कडाई से पालन करना पडता था। चरवाहो पर यह पाबन्दी थी कि वे फसलो वाले खेतो मे जाने से अपनी भेडो को रोककर रखेंगे।

बेबीलोनिया मे खजूर की खेती पर बहुत जोर दिया जाता था, इसका कारण यह था कि वहाँ खजूर को खाने के काम मे तो लिया ही जाता था, उससे मदिरा, सिरका और शहद भी तैयार किया जाता था। खजूर के पेड के रेशे से टोकरियाँ तथा चटाइयाँ आदि बनायी जाती, खजूर की गुठली को ईंधन और पशुओ के चारे के रूप मे इस्तेमाल किया जाता था। यहाँ यह स्मरणीय है कि देश मे अन्य वृक्ष न होने के कारण खजूर की लकडी का उपयोग मकान बनाने और फर्नीचर आदि के लिए किया जाता था।

वहाँ खजूर की खेती वैज्ञानिक रीति से होती थी अर्थात् उसकी कलम लगायी जाती और इसके लिए या तो नयी तोडी गयी भूमि का इस्तेमाल किया जाता या खेती की भूमि का। खजूर के पेड को फलने मे चार-पाँच साल लग जाते है, इस दौरान किसान पेडो के बीच की भूमि पर खेती करके अथवा सब्जियाँ उगा कर अपनी गुजर करता। इस अवधि मे उसे भूमि का कर नही चुकाना पडता। इस बीच वह खजूर के बगीचे के चारो ओर दीवार बनाता और पेडो की रक्षा तथा उनकी सिंचाई आदि का ध्यान रखता। पाँचवें साल के बाद खजूर की फसल भू-स्वामी और किसान के बीच बराबर बराबर बाँट ली जाती थी।[1]

व्यापार और वाणिज्य

बेबीलोनिया के व्यापारी देश के भीतर और विदेशो के साथ व्यापार करते थे। वे अपने देश से अनाज, ऊन और तेल, खजूर तथा बर्तन आदि विदेशो मे ले जाते और वहाँ से सोना, चाँदी, कीमती पत्थर, साधारण पत्थर, बढिया लकडी और तैयार माल खरीद कर लाते थे।

व्यापार के लिए आम तौर पर नदी और नहरो तथा समुद्र का सहारा लिया जाता था। छोटी बडी नावें और बडे जहाज देश मे ही बनाये जाते तथा यदि उनके निर्माण मे दोष रह जाता जिसके कारण नौका डूब जाती या उलट जाती तो उनके निर्माताओ को दण्ड भरना पडता था।

व्यापार-वाणिज्य के लिए बैंकिंग अर्थात् उधार लेन-देन और ब्याज की निश्चित दरो का होना आवश्यक होता है। बेबीलोनिया मे उधार देने वाले साहूकारो की कमी न थी। ब्याज की दर निश्चित थी। जब उधार चाँदी मे दिया जाता तो ब्याज 20 प्रतिशत वार्षिक होता था तथा उसे चाँदी मे ही चुकाना पडता था। अनाज मे उधार दिया जाता तो ब्याज की दर 33 प्रतिशत वार्षिक होती थी तथा उसे अनाज मे ही चुकाना होता था। अधिक ब्याज वसूल करने

1 Babylon, op cit, p 67

वाले का मूल और ब्याज दोनो जब्त हो जाता था। समस्त लेन-देन गवाहों के सामने करना आवश्यक था तथा लेन-देन लिखित दस्तावेजों के आधार पर होता था जिन पर दोनो पक्षों के अलावा गवाहों के भी हस्ताक्षर होते थे।

व्यापार साझे मे भी किया जाता था तथा साझेदारी का नियम यह था कि साझियो की पूंजी के प्रतिशत भाग के हिसाब से मुनाफा अथवा घाटा उनमे बाँटा जाता। बड़े व्यापारी अपना माल बेचने के लिए एजेंट नियुक्त करते थे जो व्यापारी को ब्याज सहित उनकी पूंजी के अतिरिक्त मुनाफे का एक अंश चुकाते थे।

अर्थव्यवस्था और आर्थिक लेन-देन पर राज्य का कठोर नियन्त्रण था। जिस प्रकार ब्याज की दर निश्चित थी उसी प्रकार कर्ज चुकाने के बारे में भी कठोर नियम थे। यदि कोई अमानत मे खयानत करता तो उसे अमानत का दोगुना चुकाना पड़ता था। मनुष्यो और पशुओ के चिकित्सकों की फीस राज्य की ओर से निर्धारित की जाती थी तथा यदि कोई चिकित्सक अपने रोगी के प्रति लापरवाही दिखाता तो उसे दण्डित किया जाता था। निर्धारित शुल्क से अधिक माँगने पर भी उसे दण्ड मिलता था।

उद्योग-धन्धे

बेबीलोनिया कृषि-प्रधान देश था, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वहाँ उद्योगो का विकास नही हुआ था। इन उद्योगो को अनेक वर्गों में रखा जा सकता है—कृषि से सम्बन्धित उद्योग, बर्तनो का निर्माण, भवन-निर्माण, नहरों और सड़को का निर्माण, मन्दिरो का निर्माण, राजप्रासादो और दुर्गों का निर्माण, शस्त्र उद्योग, लकड़ी की वस्तुओ का उद्योग, मूर्तियो का निर्माण, आभूषणों का उद्योग, नौकाओ और जहाजो का निर्माण, पशुपालन तथा वस्त्रोद्योग इत्यादि।

कृषि से सम्बन्धित उद्योगो में तीन प्रकार के उद्योग प्रमुख थे—खेती के औजारो का निर्माण, दालो और अनाज की पिसाई तथा तिलहन की पिराई और खजूर के रेशे से चटाई व टोकरी आदि का निर्माण तथा खजूर की गुठली की पिसाई।

बर्तनो का निर्माण मिट्टी और काँसे तथा ताँबे से होता था। पूजा के बर्तन आम तौर पर ताँबे से बनाए जाते थे तथा घरो मे इस्तेमाल के लिए काँसे के बर्तन। बर्तनो का निर्यात भी होता था। राजप्रासादों तथा मन्दिरों से चाँदी और सोने के बर्तन भी मिले हैं। विशेषत मन्दिरों की छत पर सोने का परत चढाया जाता था। मरदूक के मन्दिर मे सूर्य देवता की मूर्ति तो सोने की थी ही, उनका सिंहासन, वेदी और पाँव रखने की चौकी भी सोने की थी जिसका कुल वजन साढ़े अठारह टन था। यह सामग्री खुदाई से पहले ही चोरों ने साफ कर दी थी लेकिन सौभाग्य से हेरोडोटस के वर्णन में इसका उल्लेख मिलता है।

जहाँ तक भवनो के निर्माण का प्रश्न है उस बारे मे हम इसी अध्याय मे सामाजिक जीवन के प्रसग मे विस्तार से लिख चुके है। यहाँ यह उल्लेख समीचीन रहेगा कि आम लोगो के घर प्राय: कच्ची ईंटो से बनते थे, लेकिन आँगन, स्नानागार, शौचालय और भांडारगृहो मे पकायी हुई ईंटें काम मे लायी जाती थी। कभी-कभी खजूर की चटाई पर मिट्टी के गाढे लेप की कई परतें चढाकर दीवारें बनायी जाती थी और छत को खम्भो पर टिकाया जाता था। खम्भे लकड़ी के या ईंटो के होते थे। दीवारो पर चूने से पुतायी की जाती थी, जिसके कारण चूना उद्योग का विकास हुआ।

यहाँ यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि बेबीलोनिया के आर्थिक जीवन मे राज्य और धर्म का बहुत बडा हाथ था। दोनो के पास भूमि की बडी-बडी जागीरें होती थी। दोनो राज्य मे नहरें और सडकें बनवाने का कार्य करते थे और दोनो के सयुक्त प्रयास से बडे-बडे राजमहल, किले और मन्दिर बनवाये जाते थे। मन्दिरो और महलो के निर्माण और उनकी साज-सज्जा के लिए जिन वस्तुओ की आवश्यकता होती थी उनका निर्माण राज्य और मन्दिरो की देखरेख मे ही कराया जाता था, जैसे पत्थरो पर खुदाई और लकडी पर नक्काशी का काम, सोने का काम, ईंटो का निर्माण इत्यादि। राज्य और मन्दिरो की ओर से बडी सख्या मे कुशल कारीगरो को काम पर लगाया जाता था जिनमे स्वतन्त्र नागरिक और दास दोनो होते थे।

बेबीलोनिया के शासक अपने राज्य की स्थिरता के लिए मन्दिरो को भारी महत्त्व प्रदान करते थे तथा मन्दिरो की सम्पत्ति तथा आर्थिक गतिविधि पर किसी प्रकार के कर नही लगाए जाते थे। बेबीलोनिया के शासक नेबोनिदस ने मन्दिरों की सम्पत्ति की देखभाल के लिए अपनी ओर से अधिकारी नियुक्त किया तथा मदिर की आय का बीस प्रतिशत राजकोष मे जमा कराना शुरू किया। उसके इस कार्य ने ही पुरोहित वर्ग को उसका, या यो कहे कि बेबीलोनिया राज्य का ही, शत्रु बना दिया, वे फारस के आक्रमणकारी शासक सायरस से मिल गये और बेबीलोनिया का प्रभुत्व समाप्त हो गया।

मुद्रा

बेबीलोनिया मे दिन-प्रतिदिन का लेन-देन आम तौर पर वस्तु-विनिमय के आधार पर होता था तथा मूल्य का मानदण्ड भेड थी। लेकिन व्यापारियो का लेन-देन चाँदी मे होता था। लगभग तीन तोले का एक शेकेल होता था। शेकेल सिक्का नही वरन् वजन था। इसी तरह 60 शेकेल का एक 'मान' होता था और 60 मान का एक 'बिलटू'। इससे पहले असीरिया मे जस्ता, कांसा और तांबा मुद्रा के रूप मे इस्तेमाल किया जाता था। चाँदी का मुद्रा के रूप मे प्रयोग पहली बार बेबीलोनिया मे हुआ।[1]

1 Ancient Iraq, op cit, p 337

सोने का मूल्य भी चाँदी के आधार पर ही आँका जाता था। यह भाव अदलता-बदलता रहता था, कभी चाँदी के दस शेकेल के बदले मे एक शेकेल भार का सोना मिलता था और कभी 14 शेकेल चाँदी बदले मे एक शेकेल सोना। चाँदी का मुद्रा के रूप मे प्रचलन होने के कारण ही बेबीलोनिया मे बैंकिंग व्यवस्था विकसित हुई तथा लेन-देन, कर्ज, ब्याज और वैदेशिक व्यापार मे सुविधा होने लगी। इस व्यवस्था ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व मे जहाँ साहूकारो को धनी बना दिया वहीं जनसाधारण को ब्याज की ऊँची दरो के कारण उनका दास बना दिया और निहायत गरीबी मे जीने के लिए विवश कर दिया।

प्रौद्योगिकी

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बेबीलोनिया की सभ्यता को खेती, उद्योगो, भवन-निर्माण इत्यादि की प्रौद्योगिकी उपलब्ध थी, जिसका विकास बेबीलोनिया के कारीगरो ने तो किया ही था, उसके व्यापारियो ने उसका दूसरे देशो से आयात भी किया था।

मिट्टी के बाद धातुओ के बर्तन बनाने, खदानो से प्राप्त चूने के पत्थर को पकाकर चूना बनाने, मिट्टी की ईंट को धूप मे सुखाकर अथवा पकाकर प्रयोग करने, भवनो के लिए भूमितीय आकृतियाँ तैयार करने, मन्दिरो की बहुमंजिली इमारतें बनाने, जल-स्तर के अध्ययन के आधार पर नहरो का जाल बिछाने, दुर्ग बनाने, नगर-नियोजन और शस्त्रास्त्र तैयार करने की प्रौद्योगिकी बेबीलोनियावासियो को उपलब्ध थी। उन्होने खजूर के पेडो की कलम लगाने और उनके पुंसवन की प्रौद्योगिकी भी खोज निकाली थी। वे खजूर के फल से मदिरा और सिरका बनाने की कला जानते थे तथा उन्होने मधुमक्खी पालन की प्रौद्योगिकी भी प्राप्त कर ली थी जिसके द्वारा बहुमूल्य शहद उनके भोजन का महत्त्वपूर्ण अंग बन गया था। वे खजूर के फल की गुठली अथवा वृक्ष के पत्तो और छाल को भी फेंकते न थे वरन् उनसे क्रमश पशुओ का चारा (पीसकर), पखे, चटाइयाँ, टोकरियाँ, रस्सी इत्यादि बनाने की प्रौद्योगिकी विकसित कर ली थी।

बेबीलोनियावासियो के लिए नौकाएँ जीवन का एक बडा आधार थी क्योकि नदियाँ और नहरें ही उनकी सडकें थी। प्राय समूचा यातायात नहरो के माध्यम से होता था। इसके लिए वे तीन प्रकार की नौकाएँ बनाते थे—बकरे की खोल मढकर लकडी की छोटी नौका जिसे लकडी के पतवार से खेया जाता था, दूसरी नौकाएँ उनसे बडी होती थी और पूरी लकडी से बनायी जाती तथा तारकोल पोतकर उनकी पानी से सुरक्षा की जाती। उन्हे पतवारो से खेया जाता था, और बडे जहाज जिन्हे नदी से होकर समुद्र मे ले जाया जा सकता था। ये पाल की मदद से चलते थे। नहरो मे माल ढोने के लिए लकडी के लट्ठो के बेडे बनाये जाते, मल्लाह नहर के किनारे-किनारे चलता और उन्हे रस्सी से खीचकर ले जाता था।

इन विभिन्न प्रकार की नौकाओ के निर्माण की प्रौद्योगिकी खूब विकसित थी और यदि कोई कारीगर अपनी बनायी हुई नौका मे दोष छोड देता जिसके कारण

उसके खरीददार अथवा भाड़ेदार को हानि पहुँचती तो वह हानि नौका के उस निर्माता को भरनी पड़ती थी। नौकाओ के निर्माण के साथ ही उनकी मरम्मत का धन्धा भी खूब जोरो से चलता था।[1]

बेबीलोनिया मे एक अन्य प्रौद्योगिकी का सम्यक् विकास हुआ था—पशु-पालन, पशु-चिकित्सा और ऊन का उद्योग। वहाँ से कच्ची ऊन तथा ऊनी वस्त्रो का निर्यात किया जाता था। वहाँ बहुत अच्छी नस्ल की भेड़ें पाली जाती थी और उनकी नस्ल के सुधार के प्रयोग किये जाते थे। भेडो और बकरियो के चमडे से पानी की मशक और नौकाएँ तैयार की जाती थी। गाय-बैल का चमडा जूते बनाने के काम आता था। बैल का बेबीलोनिया मे बहुत सम्मान था। यदि कोई व्यक्ति बैल का चारा चुराता हुआ पकडा जाए अथवा बैल के चारे को बाजार मे बेच देता तो उसके हाथ काट दिये जाते अथवा चुराए गए चारे से दोगुना चारा वसूल किया जाता।

पत्थर काटने की प्रौद्योगिकी का भी बडे पैमाने पर विकास हुआ था, जिसका उपयोग राजमहल और मन्दिर बनाने मे होता था। यह काम करने वाले लोगो को राज्य अथवा मन्दिर की ओर से जमीन का एक टुकडा दिया जाता जिसमे उनके परिवार के लोग खेती करके गुजर करते। इसके अतिरिक्त एक महीने मे एक शेकेल अर्थात् तीन तोला चाँदी भी दी जाती थी।

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष नही निकाल लेना चाहिए कि आर्थिक जीवन पूरी तरह राज्य और मन्दिरो के नियन्त्रण मे था। व्यक्तिगत उद्यम और व्यापार के लिए काफी गुन्जायश थी तथा साहूकारी का व्यवसाय तो राज्य के दायरे से बाहर ही था जिसके कारण आम प्रजा गरीब होती चली गई और अन्ततः वह विदेशी शासक सायरस का साथ देने मे तनिक नही झिझकी।

---

1 Babylon, op cit., pp 90-92.

30

बेबीलोनिया : धर्म और दर्शन

आरम्भ से ही मनुष्य ने समूचे विश्व और उसकी ज्ञात अथवा शक्तियो को अपने जीवन के साथ जोडकर देखने की चेष्टा की है। उसने स्वय को विश्व का अभिन्न अग अथवा केन्द्र बिन्दु मानकर विश्व की उत्पत्ति और शक्तियो की व्याख्या की है। यही बेबीलोनियाई सभ्यता मे भी हुआ। विभिन्न शक्तियो को देवताओ का नाम दिया गया और उनके चारो ओर काल्पनिक बिम्ब तथा मिथक बुन लिये गये।

इन देवताओ के बारे मे दो धारणाएँ मोटे तौर पर सभी सभ्यताओ की धार्मिक आस्थाओ मे मूलभूत तौर पर प्रचलित रही—देवता अमर होते है, और उनके पास अतिमानवीय शक्तियाँ होती हैं। बेबीलोनिया मे भी ये धारणाएँ प्रचलित रही लेकिन इसके साथ ही वहाँ देवताओ को सामान्य मानवीय कामनाओं, वासनाओ, इच्छाओ, भावनाओ, आवेगो और सवेगो से युक्त माना गया, उनसे मुक्त या परे नही।

बेबीलोनियावासी यह मानते थे कि उनके देवताओ मे मनुष्य की भाँति ही स्वार्थ की वृत्ति होती है और वे वीर के साथ-साथ कायर भी होते हैं। आज हम यह प्रश्न उठा सकते है कि बेबीलोनिया के निवासी ऐसे देवताओ की उपासना कैसे कर पाए होगे जिन्हे आचरण की दृष्टि से आदर्श नही माना जा सकता, लेकिन यह एक महत्वपूर्ण बात है कि उन लोगो ने अपने देवताओ पर अपनी इच्छाएँ अथवा कल्पनाएँ आरोपित नही की वरन् इस जगत् को उन्होने जैसा देखा वैसा ही देवताओ को भी माना। और, यदि गहराई से देखें तो हमे ज्ञात होगा कि ऐसा सभी प्राचीन सस्कृतियो मे था। भारत को ही लें, यहाँ समूचा प्राचीन वाङ्मय तथा विशेषत पुराण जिन देवताओ की गाथाओ से भरे पडे हैं, वे साधारण मानवीय आवेगो, सवेगो और गुण दोषो से युक्त है, इन्द्र तपस्वियो की तपस्या खडित करता फिरता है, उसे डर है कि कही तपस्वी उससे उसका पद न छीन ले। देवलोक की अप्सराएँ तपस्वियो को लुभाती है। पृथ्वीलोक का मुनि एक ओर अतिमानवीय शक्तियो से विभूषित है और वरदान तथा शाप देता है दूसरी ओर उसमे सामान्य काम क्रोध और लोभ विद्यमान हैं।

बेबीलोनिया का धर्म भी इसी प्रकार के देवताओं की उपासना मे विश्वास और उसकी व्यवस्था करता है। बेबीलोनिया के देवता नैतिक गुणो के प्रतीक नही हैं, वास्तव मे उनकी कल्पना विश्व की शक्तियो के रूप मे की गई है। ये शक्तियो का प्रतिनिधित्व करते है न कि आदर्श चरित्र का। मनुष्य उनकी आराधना करता है और उन्हे प्रसन्न करने की चेष्टा करता है क्योकि वह उन शक्तियों के अधीन है जिनके प्रतीक वे देवी-देवता है। मनुष्य यह नही जानता कि उन देवताओ के क्या प्रयोजन है, इसी से वह उन्हे प्रसन्न करने की चेष्टा करता है।

बेबीलोनिया का धर्म नितान्त यथार्थवादी है। वह इस जगत् को ही सत्य मानता है और इस जगत् के सुख-दुःख, ऐश्वर्य और वैभव को ही जानता है तथा महत्त्वपूर्ण मानता है। उसके लिए इस जीवन मे दुःखो से छुटकारा पाना और सुखो की प्राप्ति ही अन्तिम लक्ष्य है। वह इस जीवन से परे अर्थात् मरने के बाद किसी लोक अथवा जीवन की कल्पना से अभिभूत नही है। वह जो कुछ करता है, चाहे वह फावडा चलाता हो या मरदूक देवता की पूजा—उसका उद्देश्य उसका फल जीवनकाल मे ही प्राप्त करना है। वह यह नही सोचता कि इस जगत् और इस जीवन मे कष्ट सहने से परलोक मे सुख मिलेगा। न वह यह सोचता है कि भले ही इस जगत् मे न्याय न हो परलोक मे तो न्याय मिलेगा ही। इसका कारण यह है कि उसके देवता सामान्य मानवीय भावनाओ और मनोदशाओ से परिचालित होते हैं तथा उनसे यह अपेक्षा नही की जा सकती कि वे मरणोत्तर जीवन मे यहाँ की अपेक्षा कोई अधिक श्रेष्ठ वरदान दे सकेंगे।

हमे यह ध्यान रखना होगा कि बेबीलोनिया की सभ्यता मानवीय सभ्यता के उदय और निर्माण का काल है। उस सभ्यता मे मनुष्य को प्राकृतिक शक्तियो के रोष के विरुद्ध किसी प्रकार का सरक्षण प्राप्त न था। उसे कभी बाढ का सामना करना, कभी तूफान का और कभी सूखे का। उसका जीवन और जीवन के साधन कुछ भी न आश्वस्त था, न सुरक्षित। यही अनिश्चितता उसके धर्म मे भी प्रतिबिम्बित होती है।

बेबीलोनिया के प्राचीन मानव के सामने प्रकृति अपने मूलभूत और नग्न रूप मे विद्यमान थी। वही उसके जीवन का आधार अथवा उसकी मित्र थी, और वही उसके विनाश का कारण अथवा शत्रु थी। उसके पाँवो के नीचे पृथ्वी थी, सिर पर तना आकाश का चदोवा, आकाश से पृथ्वी तक बहती हुई हवा, नदी मे बहता हुआ जल और सूर्य मे दहकती हुई आग थी।

देवता

बेबीलोनिआई सभ्यता ने सबसे पहले आकाश देवता की कल्पना की और उसे अनु कहकर पुकारा। मगर जैसे आकाश दूरवर्ती था वैसे ही अनु भी दूरवर्ती प्रतीत हुआ और किसी ऐसे देवता की आवश्यकता महसूस हुई जो उसकी अपेक्षा अधिक समीप हो। ऐसा देवता प्राप्त हुआ वायु के देवता एनलिल के रूप मे।

आकाश से पृथ्वी तक व्यापक और विस्तृत है जिसका साम्राज्य ऐसा एनलिल देवता मनुष्य का सबसे अधिक सशक्त देवता बन गया। वह रुष्ट होने पर तूफान बनकर प्रकट होता और प्रसन्न होने पर शान्त पवन बन जाता।

आकाश अथवा अनु एक निष्क्रिय देवता था, लेकिन एनलिल अर्थात् वायु देवता एकदम सक्रिय था, उसकी शक्ति का प्रत्यक्ष आभास होता था, कभी ठण्डी हवा के रूप मे, कभी गरम हवा के रूप मे, और कभी तूफान बनकर वह रौद्र रूप धारण कर लेता था। इसलिए उसको प्रसन्न रखना बहुत आवश्यक हो गया। शुरू मे एनलिल अर्थात् वायु देवता को ही बाढ का कारण माना गया अत अलग से जल के देवता की कल्पना नही की गई।

आकाश और वायु के साथ ही बेबीलोनिया का मानव पृथ्वी की भी उपेक्षा नही कर सकता था। उसके लिए पृथ्वी समस्त सृष्टि का आधार थी। वह उर्वरा-शक्ति अर्थात् मातृत्व की महान् और पवित्र प्रतीक बन गई। पृथ्वी की कल्पना आकाश अथवा स्वर्ग के देवता की पत्नी निनमाह (मातृदेवी) अथवा निनहुरसाग के रूप मे की गई। निनहुरसाग गर्भ धारण करने वाली महान् और सर्वोच्च मातृदेवी के रूप में पूजित हुई।[1]

मगर निनहुरसाग की जनन-शक्ति जल पर निर्भर करती थी, अत. जल भी देवता बन गया। शुरू मे उसे एनकी कहा गया और बाद मे वह ईया बन गया। यहाँ सबसे दिलचस्प बात यह है कि मनुष्य ने देवताओ मे गुणो की कल्पना उनके चरित्र के आधार पर की। आकाश दूरगामी और सिर पर छाया हुआ है अत वह पिता बन गया। पृथ्वी प्रजनन क्षमता मे युक्त है अत वह माता बन गयी, एनलिल अर्थात् वायु सक्रिय, गतिशील, विस्तृत और व्यापक प्राणतत्त्व है अत वह देवताओं के दरबार मे प्रधान कार्यपालिका सत्ता बन गया, तथा जल गहरे कुओ और टेढी-मेढी धाराओ मे बहता है अत. वह गहनता और अगम्यता का अर्थात् बुद्धि का प्रतीक बन गया। यहाँ यह भी महत्त्वपूर्ण है कि मनुष्य को इन प्राकृतिक शक्तियो के रहस्यो को समझने और उनका उपयोग करने के मामले मे पहली बार सबसे अधिक बुद्धि का प्रयोग जल को कुओ से निकालने और नदियो की धाराओ को बाँधकर नहरो के द्वारा खेतो तक लाने मे ही करना पडा। यह तब तक सम्भव न था जब तक कि जल के देवता ईया को प्रसन्न करके उससे बुद्धि का वरदान प्राप्त न कर लिया जाता। इस प्रकार ईया बुद्धि का देवता बन गया और उसे देवी शासन-व्यवस्था में प्रधान मन्त्री का पद मिला।

बेबीलोनिया के देवताओ की सूची बहुत लम्बी है, भारत की भाँति उनकी सख्या तैंतीस करोड़ से कम न होगी। जीवन के प्रत्येक पक्ष और कर्म के लिए अलग देवता की कल्पना की गई और उसके चारों ओर मिथक तथा गाथाएँ गढ ली गईं। सगीत का देवता होता तो भवन-निर्माण का देवता अलग होता, बढई का देवता

1 Babylon, op. cit, pp 206-210.

अलग और व्यापार का देवता उससे भी अलग। मानव का समूचा जीवन देवी-देवताओ की कृपा पर निर्भर करता था। जीवन मे धर्म ही लाना था और धर्म ही बाना। धर्म से ओत-प्रोत जीवन मन्दिरो और पुजारी-पुरोहित के इर्द-गिर्द चक्कर काटता रहता था।

वेबीलोनिया मे नगर-राज्य थे, अत यह स्वाभाविक था कि नगर-देवताओ की भी प्रतिष्ठा हुई। जब एक नगर-राज्य का प्रभुत्व दूसरे नगर-राज्य पर स्थापित होता तब विजयी नगर का देवता पराजित नगर के प्रमुख देवता के रूप मे प्रतिष्ठित हो जाता। पराजित नगर का देवता उसके मुकाबले कनिष्ठ स्थान प्राप्त कर लेता तथापि उसे हटाया नही जाता और उसकी पूजा-उपासना पूरी श्रद्धा और आदर-भावना से की जाती। बेबीलोनिया के प्रथम राजवंश के काल मे मरडूक देवता को प्रथम स्थान मिला और उसके लिए अनेक वैभवशाली मन्दिरो का निर्माण हुआ।

चन्द्रमा देवता को भी महत्त्वपूर्ण माना गया। उसे नन्ना अथवा सिन कहा गया। वह बेबीलोनियाई पचाग अर्थात् कालक्रम के निर्धारण का नियामक देवता बन गया। सुमेरियाई सभ्यता मे सूर्य को शम्स कहा गया और उसे चन्द्रमा अर्थात् नन्ना का बेटा माना गया। उसके अन्य नाम थे ऊतू अथवा बब्बर।

सूर्य प्रकाश का देवता है और उसे समूची सृष्टि का साक्षी माना गया। इस प्रकार वह सत्य और न्याय का देवता बन गया। जिस प्रकार आकाश के देवता अनु की शक्तियो के हिसाब से सूर्य (शम्स, ऊतू, बब्बर) तथा चन्द्रमा (नन्ना, सिन) नामक देवताओ की कल्पना की गयी उसी प्रकार पृथ्वी की देवी निनहुरसाग की प्रजनन-शक्ति को आधार मानकर एक अलग देवी की कल्पना की गई जिसे प्रेम, प्रजनन और उर्वराशक्ति की देवी इश्तर कहा गया। उसका साम्राज्य बहुत व्यापक बनता चला गया और यह उसी की शक्ति का प्रभाव और प्रमाण है कि मन्दिरो के साथ मन्दिर-वेश्या (देवदासी) की सस्था का विकास हुआ। ये मन्दिर-वेश्याएँ देवी इश्तर की माधुरी और प्रेम की प्रतीक बन गयी जो साधको, भक्तो और उपासकों के जीवन मे माधुर्य और प्रेम घोलती थी। इन मन्दिर-वेश्याओ के लिए नियम था कि वे किसी भी उपासक के प्रेम-प्रस्ताव को ठुकरा नही सकती थी।

आदान-प्रदान का सम्बन्ध

वेबीलोनियाई धर्म मे कोई पारलौकिक तत्त्व न था। वह उपासको और देवताओ के बीच एक सासारिक अनुबन्ध था। वहाँ धर्म यह सिखाता था कि मनुष्य के जीवन का अन्तिम तथा श्रेष्ठतम प्रयोजन देवताओ की सेवा करना है जिससे कि उन्हे अपने लिए कुछ भी न करना पड़े, इसके बदले मे देवता उसे इसी जीवन में सुख और समृद्धि प्रदान करते हैं। इस धारणा ने समाज मे निठल्लापन और निष्क्रियता को भी जन्म दिया क्योकि व्यक्ति के कष्टो के लिए उसकी उद्यमहीनता और काम के प्रति लापरवाही को जिम्मेदार न माना जाता वरन् यह मान लिया जाता कि उससे देवता अप्रसन्न है।

पुरोहित वर्ग

वेबीलोनियाई सभ्यता मे सबसे बडी और सर्वोच्च सत्ता देवताओ की मानी

गई। देवताओं की पूजा-उपासना का महत्त्व बढ गया और उसके लिए एक पुरोहित वर्ग का निर्माण हो गया। जीवन पर धर्म की पकड जितनी मजबूत थी उतनी ही पुरोहित वर्ग की पकड भी मजबूत हो गई तथा राजा और प्रधान-पुरोहित (एनसी) के बीच सत्ता का सघर्ष चालू हो गया जिसमे या तो एनसी राजा बनता अथवा राजा प्रधान पुरोहित बन जाता। अतत राजा ही प्रधान-पुरोहित बन गया और अनेक पुरोहित रहे जो उसके अधीन हो गए।

मन्दिरो और धर्म के चारो ओर अनेक व्यवसाय विकसित हो गए। कुछ लोग देवताओ की उपासना कराने और राक्षसी शक्तियो अथवा भूत-प्रेतो को भगाने का धन्धा करने लगे, कुछ लोग देवताओ को प्रसन्न करने के लिए मन्दिरो मे सगीत गाने और बजाने लगे, तथा कुछ अन्य लोग भविष्यवाणी करने वाले ज्योतिषी, शकुन विचार करने वाले और स्वप्नो की व्याख्या करने वाले पण्डित बन बैठे। उस काल मे वहाँ यह धारणा जोरो से प्रचलित थी कि देवता मनुष्य के भाग्य का सकेत भौतिक घटनाओ और पदार्थों के माध्यम से देते हैं। भली प्रकार प्रशिक्षित और कुशल पुरोहित उन सकेतो की सही-सही व्याख्या कर सकते हैं।

पिछले अध्याय मे हम यह वर्णन कर चुके है कि पुरोहित केवल पुरुष न होते थे, स्त्रियाँ भी पुरोहिताई का काम करती थी तथा अनेक राजाओ की बेटियाँ मन्दिरो मे प्रधान पुरोहिता बनी।

पुरोहिताई का धन्धा पीढी-दर-पीढी चलता। पुरोहितो के बच्चो को मदिर के साथ जुडे विद्यालय मे पुरोहित बनने की शिक्षा ग्रहण करते थे। इस विद्यालय को बिट-मुम्मी (Bit Mummi) कहा जाता था।

मुख्य पुरोहित को सुमेरियाई भाषा मे एन (En) तथा अक्कदी मे एनु (Enu) कहा जाता। शुरू मे मन्दिरो के द्वारपालो को उरिगल्लू (Urigallu) कहा जाता था, लेकिन बाद मे वे मुख्य पुरोहित बन गए। गल्लू (Gallu) का अर्थ होता है देवता। मशमशू (Mashmashshu) मन्त्रोच्चार और रक्ताभिषेक करता, पशिशू (Pashishu) देवताओ को उबटन और तेल लगाता तथा उनकी चौकी सजाता, कालू (Kalu) नामक पुरोहित दुखियो का दु ख देवताओ को सुनाता। आशिपु (Ashipu) सयाने की तरह भूत-प्रेत बाधा का निवारण कराता और ज्योतिषी को बारू (Baru) कहा जाता। इसी प्रकार प्रधान स्त्री पुरोहित को एन्तु (Entu) और साधारण स्त्री पुरोहित को नादीतु (Naditu) कहा जाता था।

नव-वर्षोत्सव : अकितु

धर्म के साथ धार्मिक उत्सवो का विधान प्राचीन काल से चला आ रहा है। बेबीलोनिया मे धार्मिक नव-वर्ष का आरम्भ उस दिन से होता था जिस दिन वसत शुरू होता है। वहाँ सबसे बडा धार्मिक उत्सव बारह दिनो तक चलने वाला नव-वर्षोत्सव होता था। यह उत्सव बेबीलोनियाई साम्राज्य की राजधानी बेबीलोन मे ही आयोजित किया जाता था।

वसन्त को अतीत अर्थात् पुराने जीवन की समाप्ति और वर्तमान अर्थात् नूतन के समारभ का प्रतीक माना गया । प्रकृति के नवीकरण की इस प्रक्रिया मे मनुष्य भी साभी है क्योकि वह प्रकृति का अग है । वसत के प्रारम्भिक दिनो को पुरातन व्यवस्था और अराजकता की समाप्ति का दिन माना गया । साथ ही यह धारणा भी प्रचलित थी कि उस दिन देवता जो भी निर्णय सुनाएँगे उस पर ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का भविष्य निर्भर रहेगा ।

नव-वर्षोत्सव को अकितु (Akıtu) कहा जाता था । ऐसे प्रमाण मिले हैं कि यह उत्सव ईसा से 1000 वर्ष पहले भी मनाया जाता था । इसका एक प्रमुख समारोह उर्वरता और प्रजनन की देवी तथा परमपिता आकाश के बीच विवाह का समारोह था । लागाश मे निनिगुरसू और बावा के बीच, उर मे नन्ना और गुला के बीच तथा निप्पुर मे एनलिल और निनलिल के बीच विवाह रचाया जाता था । निप्पुर मे ससार के जन्म और उदय के वारे मे यह मिथक गढ लिया गया था कि अराजकता और अव्यवस्था की शक्तियो की प्रतीक तियामत को जब दैवी गुणो से विभूपित एनलिल ने पराजित कर दिया तब सृष्टि का निर्माण हुआ । उसके वाद देवताओ की एक सभा हुई जिसकी अध्यक्षता वायु के देवता एनलिल ने की । इस सभा मे भूमि और मानवजाति के भाग्य का निर्णय किया गया । यह निर्णय अतिम न था । आसुरी और दैवी शक्तियो का सघर्ष प्रति वर्प होता है और देवसभा मे भूमि और मानवजाति के भाग्य का निर्णय किया जाता है । हम्मूरावी ने एनलिल स्थान पर मरडूक की प्रतिष्ठा की ।

वेवीलोनिया के अकितु नव-वर्पोत्सव मे देवी और देवता का विवाह तथा दैवी और आसुरी शक्तियो के सघर्ष और मानव जाति के भाग्य के निर्णय की गाथा को वहुत ही सुन्दर रीति से मिश्रित किया गया था । वहाँ मरडूक (आर्यों के द्यौस देवता) को एनलिल (वायु देवता) का प्रतीक माना गया । यह मरडूक ही अकितु मे मुख्य भूमिका निभाता था ।

भारत मे जिस प्रकार फाल्गुन की पूर्णिमा को नव-वर्षोत्सव मनाया जाता है उसी प्रकार वेबीलोनिया मे मार्च-अप्रेल के सधिमास निसान की पहली तारीख से अकितु शुरू होता था । शुरू के आठ शोक के दिन होते थे । चार दिन तक केवल पुरोहित मरडूक के मुख्य मन्दिर ऐसागिला मे प्रार्थना करता था । चौथे दिन शाम के समय उरिगल्लू पुरोहित एनुमा-एलिश अर्थात् सृष्टि के जन्म की गाथा का पूरा पारायण करता था । पाँचवाँ दिन शुद्धि का दिन था । इस दिन मशमशू पुरोहित मन्दिर पर चारो ओर पवित्र जल छिडकता था । उस समय नगाडे बजाए जाते, मन्त्रोच्चरण किया जाता और धूपवत्ती जलाई जाती थी । समारोह के अन्त मे मशमशू पुरोहित एक तगडे से वकरे का सिर काटकर वलि देता, उसका रक्त मन्दिर की दीवारो पर मलता तथा वकरे के सिर और धड को नदी मे फेंककर उत्सव की शेप अवधि के लिए ऐसागिला मन्दिर से चला जाता था । ऐसा माना

जाता था कि बलि का पशु बेबीलोन का समस्त अमगल, अनिष्ट और पाप अपने साथ ले गया।

चौथे दिन राजा स्वय मरडूक देवता के बेटे नाबू को लेने के लिए बेबीलोन से 16 कि मी दक्षिण की ओर स्थित वारसिप्पा नगर जाता जिससे कि नाबू अपने पिता मरडूक को पाताल लोक मे मुक्त करा सके। पाँचवें दिन शुद्धि सम्पन्न हो जाने के बाद वह नौका द्वारा बेबीलोन के एसागिला मन्दिर मे लौटता। यहाँ देवता का प्रतिनिधि उरिगल्लू पुरोहित बेबीलोन की समस्त प्रजा के प्रतिनिधि के नाते राजा को प्रजा के अपराधो के लिए दण्ड स्वरूप गालो पर जोर-जोर से चाटे लगाता क्योंकि यदि चाँटो से राजा की आँखो मे आसू न आते तो यह माना जाता था कि देवता ने प्रजा और राजा को क्षमा नही किया है तथा कुछ अमगल होने वाला है।

अगले दो दिनो तक सिप्पर, किश, निप्पुर, उरुक आदि अनेक नगरो के देवता बेबीलोन आते। उनमे से किसी देवता को सडक के रास्ते लाया जाता और किसी को नौका मे शोभायात्रा के साथ। आठवें दिन मरडूक को पाताल लोक से मुक्ति मिलती और वह पृथ्वी पर लौटता। मरडूक का हाथ थाम कर राजा उसे ऐसागिला मन्दिर के सुसज्जित आँगन मे सुशोभित सिहासन पर बिठलाता तथा उसका परिचय वहाँ आए अन्य देवी-देवताओ से कराता। सृष्टि के जन्म की महागाथा मे जिस प्रकार मरडूक को देवसभा का अध्यक्ष बनाया गया था उसी प्रकार इस अवसर पर मरडूक को प्रभुता सम्पन्न देवाधिपति घोषित किया जाता।

इसके बाद एक विराट शोभायात्रा शुरू होती जिसमे सबसे आगे सोने और मणियो से जडा हुआ मरडूक का चमचमाता रथ रहता। यह शोभायात्रा बेबीलोन के रथयात्रा-पथ से निकलती। समूचे मार्ग पर धूपबत्ती की सुगन्ध और भजनो की सुमधुर लहरियाँ सगीत की तान पर झूमती रहती। इश्तर-द्वार से होकर रथयात्रा फरात नदी पर होती हुई एक विशाल उद्यान के बीच फूलो और पौधो से सुसज्जित मन्दिर बिटू अकितु पहुँचती। मरडूक सहित समस्त देवता इस मन्दिर मे तीन दिन तक विश्राम करते।

उत्सव के अन्तिम दिन सभी देवता ऐसागिला के मन्दिर मे लौट आते जहाँ, देवसभा आयोजित की जाती और अगले वर्ष के लिए आदेश दिए जाते। इसी बीच बिटू अकितु अथवा ऐसागिला मन्दिर मे मरडूक का विवाह जारपणित (Zarpanit) नामक देवी के साथ सम्पन्न होता। अन्त मे प्रार्थनाओ और सगीत से गुंजित वातावरण मे एक विशाल भोज दिया जाता और समस्त देवता अपने पुरोहितो के साथ अपने-अपने नगर मे अपने मन्दिरो को लौट जाते। इस प्रकार नव-वर्षोत्सव नए वर्ष के लिए शुभ कामनाओ के साथ सम्पन्न हो जाता।[1]

1 A. Pallis की पुस्तक The Babylonian Akitu Festival, Copenhegen, 1926 पर आधारित

मन्दिर

बेबीलोनियाई सभ्यता मे मन्दिर को बिटू (Bitu) कहा जाता था। छोटे देवताओ के मन्दिरो मे कुछ भवन, एक आँगन, एक वेदी और एक ऊँचा मच होता था जिस पर देवता की मूर्ति प्रतिष्ठित होती थी। वह मूर्तिपूजा का युग था।

मरडूक जैसे बडे देवताओ के मन्दिर एक विशाल परिसर मे बने होते थे जिनमे अनेक आँगन होते। सबसे बडे आँगन मे मरडूक का मन्दिर था और अन्य आँगनो मे अनेक अन्य देवी-देवताओ के मन्दिर थे।

इन मन्दिरो मे प्रतिदिन अनेक बार पूजा-अर्चना होती, प्रार्थनाएँ होती, भजन-कीर्तन चलते, सुगन्धित धूप जलायी जाती और सगीत की मधुर ध्वनि गूँजती रहती। देवताओ के सामने रखी हुई चौकी पर भोग लगाया जाता जिसमे रोटी, मिष्ठान्न, मधु, मक्खन और फलो की बहुतायत रहती। देवताओ को जल चढाया जाता और मदिरापान कराया जाता। देवी को बकरे के ताजे रक्त से स्नान कराते तथा भुना हुआ मास अर्पित किया जाता।

देवताओ को प्रतिदिन स्नान कराया जाता, उबटन और तेल लगाया जाता, सुगन्ध लगायी जाती, नए वस्त्र पहनाए जाते और उनके पद की गरिमा के अनुरूप वेश सजाया जाता और भोजन का भोग लगाया जाता। देवताओ के खर्च के लिए राजा मन्दिरो को स्थायी रूप से बडी-बडी जागीरे प्रदान करते थे। महीने के कुछ दिन जैसे महीने का ग्यारहवाँ दिन और पूर्णिमा पवित्र माने जाते थे। वर्ष मे अनेक पर्व होते थे जिनमे स्नान, शुद्धि और दान, तप आदि का महात्म्य माना गया था।

रोगी, दु खी, दीन, पाश्चताप करने वाले तथा अन्य नाना प्रकार की कामना करने वाले लोग देवताओं के सामने विशेष यज्ञ और पूजन करते तथा भेट चढाते थे। शुरू मे मन्दिरो मे सुमेरियाई भाषा मे पद्य गाये जाते, बाद मे अक्कड की भाषा का प्रचलन हुआ। जब मन्दिर के नगाड़े पर खाल मढी जाती तो सरकडे की पोली नली मे एक विशेष प्रार्थना उच्चारित की जाती, उसके बाद एक बैल के दाहिने कान मे सुमेरियाई भाषा मे तथा बायें कान मे अक्कदी भाषा मे प्रार्थना गुनगुनायी जाती।

मरडूक के मन्दिर के सामने जिग्गुरत (Ziggurat) अथवा बेबीलोन का मन्दिर-गुंबज (Tower of Babel) है जिसके लिए बेबीलोन ससार भर मे प्रसिद्ध रहा है। हेरोडोटस ने लिखा है कि यह गुँबज वर्गाकार था, उसमे आठ मजिलें थी। सबसे निचली मजिल धरातल से 108 फुट ऊँची थी, और इसका आयत 300 फुट वर्ग था, दूसरी मजिल पहली से 60 फुट ऊँची और 256 फुट वर्ग थी, तीसरी, चौथी और पाँचवी मजिले प्रत्येक 20 ऊँची और क्रमश 197 फुट वर्ग 167 फुट वर्ग तथा 138 फुट वर्ग आयत की थी। इसी प्रकार छठी, सातवी और आठवी

मंजिलें भिन्न ऊँचाइयों और क्षेत्रफल वाली थीं। चोटी की मंजिल में मन्दिर था जिसमें आकाश से अवतरित होने वाले देवता विश्राम करते थे।

इस गुंबज की दीवारें 50 फुट मोटी थीं जिनमें बाहर पकी हुई ईंटें और भीतर कच्ची ईंटें लगी थीं। हेरोडोटस ने लिखा है कि गुंबज के चारों ओर सर्पाकार सीढ़ियाँ थीं, जिनमें बीचोंबीच आराम करने के लिए स्थान था। खुदाई से ज्ञात हुआ कि गुंबज में एक नहीं, दो सीढ़ियाँ थीं।

बेबीलोन के धार्मिक स्थलों में वह रथयात्रा-पथ भी था जिससे होकर देवताओं की रथयात्रा ऐसागिला मन्दिर पहुँचती थी। वह इश्तर द्वार से होकर जाता था जहाँ पास में ही पाताल की देवी निनमाह का मन्दिर था। ऐसागिला मन्दिर के दक्षिण में स्वास्थ्य की देवी गुला (Gula) का मन्दिर मिला है और उसके पास ही पूर्व दिशा में युद्ध के देवता निनुर्ता (Ninurta) का मन्दिर है। रथयात्रा-पथ पर ही अक्कड़ की इश्तर देवी का मन्दिर मिला है। वहीं निनुर्ता के बेटे नुस्कु (Nusku) का मन्दिर है। इस प्रकार बेबीलोन को मन्दिरों का नगर कहा जा सकता है। 500 एकड़ में बसे नगर में 1179 मन्दिर थे। लोगों के घरों में भी कुलदेवता की पूजा के लिए अलग से मन्दिर होते थे जिनमें नित्य नियमित रूप से पूजा आरती होती थी और दीपक जलाया जाता था।

दार्शनिक चिन्तन

प्राचीन बेबीलोनियाई दार्शनिक चिन्तन को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—सृष्टि के जन्म और विकास की गाथा, सृष्टि के आदितत्त्व अथवा परम तत्त्व अर्थात् आत्मा और परमात्मा का चिन्तन। जहाँ तक बेबीलोनियाई सभ्यता का प्रश्न है उसके पास सृष्टि के जन्म और विकास की एक विशद महागाथा रही है। इसका नाम एनुमा-एलिश है।

ऐनुमा-एलिश

एनुमा-एलिश (Enuma-Elish) महागाथा की रचना ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व महाकाव्य के रूप में की गई थी। मिट्टी की तख्तियों पर लिखी हुई उसकी जो भी प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं वे सब उसकी रचना एक हजार वर्ष बाद की हैं। उसमें मुख्य भूमिका बेबीलोनियाई प्रधान-देवता मरडूक की है। यही महागाथा असीरियाई सभ्यता ने भी अपना ली और उसमें मरडूक की भूमिका अपने प्रमुख देवता असुर को सौंप दी। सुमेरिया में मरडूक के स्थान पर एनलिल इस गाथा का प्रमुख पात्र था। सम्भवतः हम्मूराबी के जमाने में इसमें मरडूक का नाम उस समय जोड़ा गया जब उसने बेबीलोन के प्रधान देवता मरडूक को अपने साम्राज्य में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। इस गाथा में एक स्थल पर मरडूक को देवताओं का एनलिल कहा गया है। एनलिल सुमेरियाई सभ्यता में वायु का देवता और देवताओं का राजा है।

इस महाकाव्य में सृष्टि के जन्म की महागाथा उस समय से आरम्भ होती है जब आकाश और पृथ्वी का न नाम था न अस्तित्व, केवल जल ही जल था जो

अपने तीन रूपों—अप्सु-(मीठा जल), तियामत (खारा जल) और मुम्मू (बादल) मे विद्यमान था। तब न नरकुल की चटाई की झोपड़ी थी, न दलदली भूमि, न देवताओ की प्रतिष्ठा हुई थी, न उन्हे नाम दिया गया था, न उनकी शक्तियो का वर्णन किया गया था।

इस जल से ही देवताओ का उदय हुआ। प्रथम देवता हुए लहमू (Lahmu) और लहामू (Lahamu) जो पानी की तली मे जमी मिट्टी की परत का प्रतिनिधित्व करते है। उनके बाद हुए अशर और किशर (Anshar and Kishar) जो क्रमश आकाश और पृथ्वी के दो क्षितिजो के प्रतीक है। अशर और किशर ने मिलकर आकाश के देवता अनु को जन्म दिया। अनु ने ईया अथवा एनकी अर्थात् पृथ्वी के देवता को। इसके बाद अनेक छोटे-बड़े देवताओ का जन्म हुआ जिससे तियामत बहुत परेशान हो उठी और उसने इन सब देवताओ को नष्ट करने का निश्चय कर लिया। जैसे ही देवताओ को तियामत के इस षड्यन्त्र का पता लगा वे आपस मे मन्त्रणा करने लगे। उपाय निकाला एनकी ने, उसने मुम्मू अर्थात् बादलो पर जादू करके उसे निष्क्रिय कर दिया और अप्सू (मीठे जल) को सम्मोहित करके मार डाला। इसके बाद वह अप्सू की झील के पास बने अपने मन्दिर मे जाकर आराम करने लगा। उसने अपनी पत्नी दमकिना (Dimkina) की कोख से अपने बेटे मरडूक को जन्म दिया जिसकी महिमा इस प्रकार गायी गई है—

"पूर्ण थे अग उसके कल्पना से परे,
अगम्य बुद्धि के लिए और अदृश्य नेत्रो को।
चार थे नेत्र उसके, कान भी चार थे,
भभक उठी अग्नि हिलाये जैसे ही अधर उसने।
विराट थे चारो कान उसके,
विशाल चारो आँखें कि सुन और देख सकता था वह सब कुछ।
महानतम सब देवो मे, व्यक्तित्व उसका था सबसे परे।
विशाल थे सब अग उसके,
ऊँचा था अत्यन्त कद उसका।"

तियामत अपनी सन्तान का यह विद्रोह देखकर क्रोध से पागल हो उठी और उसने देवताओ को नष्ट करने के लिए अत्यन्त विषैले दैत्याकार नाग और सर्प उत्पन्न किए तथा अपने वफादार बेटे किंगू (Kingu) को नागसेना का सेनापति बनाकर युद्ध छेड़ दिया। देवता डर गए। अशर ने आदेश दिया कि किंगू को मार डाला जाए, लेकिन प्रश्न यह था कि यह साहस कौन करे, सभी देवता चुप थे। अतत मरडूक बोला कि यदि तुम सब मेरी अधीनता स्वीकार करो और विश्व की नियति मेरे हाथो मे सौप दो तो मै किंगू को मार दूँगा।

देवताओ के सामने दूसरा कोई मार्ग न था। उन्होने मरडूक को देवताओ के राजा (इन्द्र) का पद प्रदान कर दिया और उसे उसके पद का राजचिह्न भी

सौंप दिया। मरडूक ने अपने हाथ में धनुष, वज्र, प्रलय, चार प्रबल पवन और जाल (इन्द्रजाल) लिए। आतंकित करने वाला कवच धारण करके वह अपने प्रचण्ड रथ पर सवार हुआ और युद्ध के लिए चल दिया।

मरडूक को देखते ही किंगू की सेना में भगदड़ मच गई। किंगू को पकड़ कर बन्दी बना लिया गया। मरडूक ने तियामत को पकड़ने के लिए जाल फेंका, वह उसमें फँस गई। जैसे ही उसने मुँह खोला मरडूक ने उसमें चार पवन भर दिए, उसके हृदय को तीर से बेंध डाला तथा उसकी खोपड़ी को गदा से फोड़ दिया।

अब उसने तियामत के शव को बीच में से चीर डाला। उसका आधा भाग उसने ऊपर की ओर अंतरिक्ष में तान दिया जो आज तक आकाश के चंदोवे के रूप में हमारे सिर पर तना रहता है। दूसरा आधा भाग उसने नीचे रख दिया जिससे पृथ्वी का निर्माण हुआ।

मरडूक ने विश्व में व्यवस्था स्थापित की, सूर्य और चन्द्रमा के मार्ग निर्धारित किए, और मानव की रचना करने का इस प्रकार संकल्प किया—

"मैं निर्माण करूँगा एक लूल्लू (Lullu) का
जिसका नाम होगा मनुष्य।
करेगा सेवा वह देवताओं की,
जिससे रह सकें आराम से देवता सारे।"

तब मरडूक ने ईया के सुझाव पर किंगू की हत्या करके उसके रक्त से पहले मानव की रचना की। उसके बाद उसने देवताओं को दो भागों में बाँटा। मरडूक ने 300 देवताओं को स्वर्गलोक में निवास करने और 300 देवताओं को पृथ्वी पर जाने का आदेश दिया। इन देवताओं ने बेबीलोन में मरडूक के लिए मन्दिर का निर्माण किया।

इस गाथा से बेबीलोनवासियों ने दो पाठ सीखे—पहला तो वह कि मरडूक ने मनुष्य का निर्माण देवताओं की सेवा के लिए किया है, और दूसरा यह कि मनुष्य का निर्माण किंगू नामक दैत्य के रक्त से किया गया है अतः उसके स्वभाव में बुराई और दुष्टता होना स्वाभाविक है। दो हजार वर्षों तक बेबीलोन के पुरोहित इस महागाथा को दोहराते रहे, इसका परिणाम यह हुआ कि यह बेबीलोन वासियों की चेतना का अनिवार्य अंग बन गयी।[1]

नैतिकता का सन्देश

तियामत और किंगू की आसुरी शक्तियों पर मरडूक की दैवी शक्ति की विजय से यह निष्कर्ष निकाला गया कि असत्य पर सत्य की विजय होती है तथा देवता उस मनुष्य पर ही प्रसन्न होते हैं जो सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं, आदर्श माता-पिता, आदर्श सन्तान, आदर्श नागरिक, आदर्श पड़ौसी और आदर्श

1 City Invincible, Chicago, 1960 p 89 (Kramer) and p 94 (Jacobsen)

प्रजा के धर्म का पालन करते हैं, एव जिनमे सत्यानुराग, करुणा, दया, न्यायप्रियता, वफादारी, कानूनो के प्रति सम्मान और स्थापित व्यवस्था के प्रति आदर का भाव होता है। बेबीलोनियाई दर्शन ने सिखाया कि अपने से नीचे व्यक्ति का अपमान मत करो, जीवन भर सेवा भाव रखो और दान देते रहो, किसी के लिए कभी बुरा मत कहो, सबकी भलाई की कामना करो।

नियतिवाद और भाग्य के सम्मुख समर्पण

यह दर्शन तो अपनी जगह ठीक था, लेकिन जब लोगो ने व्यावहारिक जीवन मे यह देखा कि जो लोग सदाचारी हैं और देवताओ की सेवा मे लगे रहते हैं वे कष्ट उठा रहे हैं तथा जो लोग दुराचारी है तथा देवताओ का आदर तक नही करते उन्हे जीवन मे हर प्रकार का सुख है तब उनके मन मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि ऐसा क्यो है ? क्या देवता अन्यायी हो गए है ?

इस द्वन्द्व का समाधान दो ही प्रकार से हो सकता था—देवताओ की मनगढत कहानियो पर अविश्वास और उनके प्रति अनास्था द्वारा, अथवा भाग्य के सम्मुख समर्पण करके। बेबीलोनवासियो ने देवताओ का परित्याग नही किया, उन्होने यह कहकर सन्तोष कर लिया कि देवताओ की महिमा बहुत विलक्षण है उनकी इच्छाओ के रहस्य को मनुष्य नही समझ सकता।

धर्मगुरुओ और पुरोहितो ने इस भय से कि कही यह द्वन्द्व नागरिको को देवताओ के प्रति उदासीन न बना दे, नाना प्रकार की दतकथाएँ गढ डाली कि अमुक व्यक्ति बहुत सदाचारी था फिर भी उसे भारी कष्ट उठाने पडे, मगर उसने देवताओ की सेवा मे कोई प्रमाद नही किया जिसके कारण अन्त मे मरडूक ने उसका दु ख दूर कर दिया।

अमरत्व और मृत्यु का द्वन्द्व

बेबीलोनवासियो के मन मे इसी प्रकार एक अन्य द्वन्द्व उठना भी स्वाभाविक था कि जब मनुष्य की रचना स्वय मरडूक ने की है तो वह देवताओ की भाँति अमरत्व क्यो नही प्राप्त कर सका और उसको मृत्यु क्यो घेर लेती है? इस द्वन्द्व का समाधान भी उन्हे नियतिवाद के माध्यम से ही करना पडा। एक ही उत्तर था उनके पास कि मनुष्य देवताओ के प्रयोजनो को समझने मे नितान्त असमर्थ है। वह क्षणभगुर जीवन लेकर आता है, उसमे इतनी बुद्धि नही है कि वह सत् और असत् मे विवेक कर सके। देवताओ का मन गहरे जल की भाँति अथाह है, मनुष्य उसकी थाह नही पा सकता, उसे कष्ट सहना ही होगा और देवताओं की सेवा भी करनी ही होगी क्योकि उसका निर्माण इसी कार्य के लिए किया गया है।

इस दर्शन ने मनुष्य को स्वतन्त्र और अभिक्रमशील प्राणी नही बनने दिया, तथा उसे देवताओ की दासता मे डाल दिया। बेबीलोनियाई गाथाओ मे ऐसे लोगो का उल्लेख है जिन्होने अमरता प्राप्त करने अथवा देवलोक मे जाने की कोशिश

की। इनमे एक प्रख्यात गिलगमेश महागाथा है जिसमे अन्तत गिलगमेश को अपने मित्र की मृत्यु के यथार्थ को स्वीकार करना ही पडता है। एक अन्य गाथा नि सन्तान राजा एताना की है जिसने अपनी पत्नी के लिए देवी तन्त्र-मन्त्र प्राप्त करने के इरादे से चील-पक्षी के पखो पर चढकर देवलोक जाने की चेष्टा की थी। वह वापस पृथ्वी पर गिर गया, उसका प्रयास विफल हो गया, क्योकि मनुष्य देवलोक मे नही जा सकते, अमरत्व प्राप्त नही कर सकते, उनके जीवन का नियन्त्रण उनके हाथ मे नही है।

एक बार एक मनुष्य को अमरत्व प्राप्त करने का अवसर मिला भी मगर उसने अपने अविश्वासी मन के कारण वह अवसर अपने हाथ से गँवा दिया। ईया के बेटे अदापा ने दक्षिणी पवन को रोक देने का अपराध किया तब उसे आकाश के देवता अनु के दरबार मे बुलाया गया। अदापा ने नम्रतापूर्वक अपना अपराध स्वीकार कर लिया जिससे अनु उससे बहुत प्रसन्न हुआ उसने उसके सामने अमरत्व प्रदान करने वाले दैवी व्यजन परोसे, मगर अदापा के मन मे शका आ गई कि कही इन व्यजनो मे विष न हो। उसने उन व्यजनो को खाने से इन्कार कर दिया, जिससे अनु अदापा से बेहद नाराज हो गया और उसने उसे देवलोक से धरती पर धकेल दिया। तब से मनुष्य अमरत्व प्राप्त करने की आशा गवा चुका है।

मरने के बाद क्या होता है ?

बेबीलोनियावासियो ने मृत्यु को मानव की नियति मानकर उसके साथ समझौता कर लिया तथापि यह जीवन उनके लिए इतना यथार्थ था कि वे यह स्वीकार करने को तैयार न थे कि मृत्यु जीवन का अन्त है, तथा इसके परे कुछ नही रह जाता। अकेले बेबीलोनियावासियो को ही क्यो दोष दे, ससार मे किसी भी सभ्यता और धर्म के लोग मृत्यु को जीवन का अन्त मानने को तैयार नही हैं और आज तक मरणोत्तर जीवन के बारे मे चिंतन तथा गवेषणाएँ चालू है।

यदि बेबीलोनिया के लोगो को मरने के बाद किसी प्रकार के जीवन की सम्भावना मे विश्वास न होता तो वे मरने वालो के शवो के साथ उनकी कब्रो मे भोजन, पेय तथा उनके नित्य उपयोग का अन्य सामान रखते। मगर वैसा नही है, वहाँ प्राचीन काल की कब्रो से नाना प्रकार की बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती रही है।

वहाँ एक ऐसे लोक की कल्पना की गई जहाँ जाने पर कोई लौटकर नही आता। वह लोक पृथ्वी के नीचे अथवा पाताल मे है तथा उस पर एर्शकिगल (Ershkigal) देवी अपने पति नर्गल (Nergal) के साथ राज करती है। नर्गल युद्ध का देवता है।

पाताल लोक मे पहुँचने के लिए मृतको को नौका द्वारा एक नदी (भारतीय मिथक के अनुसार वैतरणी) पार करनी होती है। उनके कपडे उतार दिए जाते हैं तथा वहाँ पहुँचकर उन्हे अनेक कष्ट उठाने पडते है।

एक अन्य चिंतन यह भी रहा कि रात के समय सूर्य पाताल लोक मे जाता है तथा मृतको के कर्मों पर प्रकाश डालता है जिसके कारण सभी मृतको को कष्ट नही उठाने पडते। सूर्य देवता उटू (Utu) सत्कर्म करने वालो की रक्षा करता है।

वास्तव मे बेबीलोनियाई सभ्यता का दार्शनिक-नियतिवाद महज एक धार्मिक धारणा का परिणाम न था, वह बेबीलोन की भौगोलिक और प्राकृतिक परिस्थितियो का सहज परिणाम भी था। वहाँ जीवन इतना अनिश्चित और खतरो से भरा था कि बेबीलोनिया के लोगों ने उसे अपनी नियति मानकर स्वीकार कर लिया था, तथा उन्हे जीवन मे जो कछ सुख प्राप्त हो जाता था उसे वे देवताओ की कृपा मानकर मौज और मस्ती से जी लेते थे। इससे अधिक दार्शनिक चिन्तन का झझट उन्होने नही उठाया।

31

बेबीलोनिया : साहित्य, कला और विज्ञान

(Babylonia : Literature, Art & Science)

भाषा, लिपि और साहित्य के बीच चोली दामन का सम्बन्ध है। यहाँ यह कहना उपयुक्त होगा कि बेबीलोनिया की भाषा का विकास संस्कृत की भाँति धातुओं के आधार पर हुआ। धातुओं ने व्याकरण के अन्तर्गत नाना प्रकार के रूप ग्रहण कर लिए तथा उनसे शब्दों का निर्माण स्वर, उपसर्ग और विसर्ग लगाकर किया गया। उदाहरण के लिए बेबीलोनियाई भाषा में एक धातु है परस, उसमें उपि सर्ग लगाने से बनता है परसु जिसका अर्थ होता है काटना।

इस भाषा को प्रख्यात प्राचीन सुमेरियाई नुकीली लिपि में लिखा गया। इस लिपि में अक्षरों ने नाना प्रकार के रूप धारण किए। शुरू में यह चित्रमय लिपि रही जिसमें शब्दार्थ को चित्र के द्वारा प्रदर्शित किया जाता था, बाद में उसने ध्वनि लिपि का रूप ले लिया अर्थात् चित्र लिपि सांकेतिक हो गई और ये संकेत शब्द की ध्वनि के आधार निर्धारित किए गए।

लेखन-सामग्री

प्राचीन बेबीलोनिया में लिखने के लिए कागज का विकास नहीं हुआ था। उस काल के अभिलेख अधिकांशतः मिट्टी की तख्तियों पर मिले हैं। कुछ लेख शिलाओं पर उत्कीर्ण हैं और कुछ अन्य मुद्राओं के रूप में उपलब्ध हैं। इन अभिलेखों के पढ़ने में सबसे अधिक सहायता प्राचीन बेबीलोनियाई शब्दावलियों से मिली जिनमें सुमेरियाई शब्दों के अनुवाद या समानार्थक शब्द अक्कदी भाषा में दिए हुए थे। इन शब्दावलियों की खोज को बेबीलोनियाई सभ्यता की खोज के सिलसिले में एक महत्त्वपूर्ण आयाम माना जा सकता है।

इन अभिलेखों में नाना विषयों का विवेचन और वर्णन मिलता है, जैसे समारोहों का वर्णन, आर्थिक क्रियाकलाप, अनुबन्ध, गणित, ज्यमिति, चिकित्सा-विज्ञान, औषधि-विज्ञान, कानून और शुद्ध साहित्य।

साहित्य की दृष्टि से बेबीलोनियाई अभिलेख पर्याप्त समृद्ध हैं। इनमें महाकाव्य और श्रेष्ठ गद्य-कृतियाँ हैं, जैसे गिलगमेश महाकाव्य, एनुमा-एलिश

महाकाव्य, स्वामी-दास संवाद, राजाओ द्वारा तैयार कराए गए ऐतिहासिक अभिलेख, राजकीय एव निजी पत्र व्यवहार, देवताओं की स्तुतियाँ, प्रार्थनाएँ और गीत। हम्मूराबी के कानूनो की संहिता, धार्मिक समारोहो के विवरण इत्यादि मे भी साहित्यिक भाषा का प्रयोग हुआ है।

बेबीलोन मे जिस प्रकार जीवन के अन्य पक्षो से सम्बन्धित गतिविधि का प्रमुख केन्द्र मन्दिर थे, उसी प्रकार साहित्यिक गतिविधि का केन्द्र भी वे ही थे। विशेषत. मन्दिरो के विद्यालयो मे विद्वान अकेले अथवा मिलजुलकर साहित्यिक कृतियो का सम्पादन और उनकी रचना करते थे।

पिछले अध्याय मे दार्शनिक चिंतन के प्रसंग मे एनुमा-एलिश महाकाव्य की कथावस्तु का सारांश दिया गया है। यहाँ उसे दोहराने के बजाय उसके बारे मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उसकी गणना ससार की महानतम साहित्यिक कृतियो मे होती है तथा उसे होमर के ईलियड और वेद-व्यास के महाभारत की कोटि मे रखा जाता है।

गिलमेश महाकाव्य (Gilgamesh Epic)

ऐसा ही एक अन्य बेबीलोनियाई महाकाव्य गिलगमेश है। गिलगमेश एक अर्द्ध-दैवी किन्तु नितान्त मानवीय चरित्र-सम्पन्न पुरुष है। उसका समूचा संघर्ष उसकी अर्थात् मनुष्य मात्र की उस मरणधर्मा प्रकृति से है जो उसे अमरत्व और परिपूर्ण सुख की अनुभूति से वंचित कर देती है। गिलगमेश मृत्यु को देखकर उसी तरह विचलित हो जाता है जिस प्रकार महाराजा शुद्धोदन का युवराज गौतम तथा वह दु ख की निवृत्ति के लिए घर छोड़कर निकलता और अन्तत बोधि प्राप्त करके बुद्ध बन जाता है।

गिलगमेश महाकाव्य का मूल विषय मृत्यु है जिस पर विजय प्राप्त करने के लिए गिलगमेश प्रयास करता है, किन्तु जिसे अपरिहार्य मानने के लिए उसे बाध्य होना पड़ता है।

गिलगमेश उरुक का पचम राजा था। आरम्भ मे गिलगमेश को अपने बल और सत्ता का इतना मद था कि वह अपनी प्रजा की भावनाओ का तनिक आदर न करता। आखिर हारकर प्रजा देवताओ से रक्षा की प्रार्थना करती है। देवता गिलगमेश का सामना करने के लिए उसके विरुद्ध जगली पशुओ के बीच रहने वाले और सभ्यता के कुप्रभावो से सर्वथा मुक्त एनकिडू (Enkidu) को नियुक्त करते हैं।

मगर सभ्यता की छूत एनकिडू को शीघ्र ही लग जाती है और वह भ्रष्ट हो जाता है। परिणामत जब वह उरुक मे गिलगमेश से कुश्ती करता है तो गिलगमेश उसे पछाड़ देता है। यहाँ से एनकिडू और गिलगमेश के बीच दोस्ती स्थापित होती है और वे एक साथ मिलकर एक सुदूरवर्ती जगल के सरक्षक दैत्य को परास्त कर देते हैं।

यह विजय गिलगमेश को और अधिक दभी बना देती है, तथा जब इश्तर देवी उसके साथ विवाह का प्रस्ताव रखती है तो वह उसे अस्वीकार कर देता है।

इस पर इश्तर क्रुद्ध हो उठती है। देवी यह कैसे सहन कर सकती थी कि मृत्युलोक का कोई पुरुष उसके प्रणय निवेदन को ठुकरा दे। वह 'स्वर्ग-साँड' नामक दैत्य को गिलगमेश की हत्या के लिए भेजती है लेकिन गिलगमेश और एनकिडू उसकी हत्या कर देते हैं।

देवी का प्रकोप वृथा नहीं रह सकता। गिलगमेश से बदला तो लिया ही जाना था, मगर गिलगमेश सूर्य देवता का उपासक है अतः उसका इष्ट शम्स उसकी ओर से इश्तर को समझा देता है और गिलगमेश की जान बचा लेता है। किंतु, गिलगमेश एनकिडू की जान नहीं बचा सका। एनकिडू की मृत्यु के समय गिलगमेश को जीवन की निस्सारता का और मानव की शत्रु मृत्यु की भीषणता का अहसास होता है। अब मृत्यु उसके लिए कोई काल्पनिक, अमूर्त और भावी घटना नहीं रह जाती, वह उसकी आँखों के सामने आकर खड़ी हो जाती है, और गिलगमेश एक अजीब बेचैनी तथा विवशता अनुभव करता है कि मौत मानव के वश में बाहर है, वह आदमी को निगल जाती है, आदमी उसे परास्त नहीं कर सकता। आदमी मौत से मर जाता है लेकिन वह चाहे कितना ही बली क्यों न हो मौत की हत्या नहीं कर सकता।

यहाँ पहुँचकर गिलगमेश का समूचा नशा उतर जाता है, उसका वह जीवन जो आनन्द और उपभोग का एक सिलसिला था अब उसके लिए नीरस बन जाता है और उसके सिर पर एक ही धुन सवार हो जाती है कि मौत को किस तरह जीता जाए। अमरत्व की खोज में गिलगमेश मौत के सागर के उस पार देवताओं के उद्यान (नंदन कानन) में पहुँच जाता है। उसमें एक झील है जिसके एक द्वीप पर उसकी भेंट एक ऐसे पुरुष से होती है जिसने अमरत्व प्राप्त कर लिया है। यह पुरुष है उत्नपिश्तिम। वह उत्नपिश्तिम से अमरत्व की प्राप्ति का मार्ग पूछता है लेकिन उत्नपिश्तिम उसे अपनी कहानी सुनाता है कि उसने प्रलय के समय किस प्रकार देवता के आदेश का पालन करके एक विराट नौका बनाई और वह सृष्टि के बीज को सुरक्षित रखने में सफल हो गया जिससे प्रसन्न होकर स्वयं एनलिल देवता ने उसे अमरत्व का वरदान प्रदान कर दिया।

गिलगमेश के लिए प्रलय तो फिर से नहीं आ सकती थी। उत्नपिश्तिम से मिलकर भी गिलगमेश का समाधान नहीं होता। हाँ उत्नपिश्तिम उसे इतना अवश्य बताता है कि समुद्र के भीतर एक ऐसा पौधा होता है जिसे खा लेने से मनुष्य फिर से जवान हो सकता है। गिलगमेश समुद्र में गोता लगाता है, उस पौधे को निकाल लाता है तथा अपने घर की ओर चल पड़ता है। रास्ते में वह एक सरोवर में स्नान के लिए घुसता है तभी वहाँ एक अजगर आता है जो सरोवर के तट पर गिलगमेश द्वारा रखे गए उस पौधे को खा लेता है।

हताश गिलगमेश उरुक लौट आता है। महाकाव्य यहीं समाप्त हो जाता है। इस महाकाव्य के रचनाकार बेबीलोनिया के अनाम महाकवि ने सुमेरियाई गाथाओं के अनुसार न तो गिलगमेश की मृत्यु का वर्णन किया, न गिलगमेश और

एनकिडू की पाताल लोक मे भेंट का दिग्दर्शन ही कराया। यही इस महाकाव्य का सौन्दर्य और उसकी दार्शनिकता है। महाकवि इस महाकाव्य मे बार-बार मृत्यु का दिग्दर्शन नही कराना चाहता था, उसका प्रयोजन मृत्यु की अपरिहार्यता का दिग्दर्शन था जिसे उसने भली प्रकार सिद्ध किया। उसने महाकाव्य को वही आकर समाप्त कर दिया जहाँ साँप द्वारा दोबारा जवानी प्रदान करने वाली जडी बूटी खा लेने के बाद गिलगमेश के पास मृत्यु की अनिवार्यता तथा अपराजेयता को स्वीकार कर लेने के सिवाय कोई अन्य मार्ग ही नही बचता। उसने जिस राजप्रासाद और दुर्ग का निर्माण कराया है वही उन्ही की दीवारो के बीच लौट आता है और यह जानकर वहाँ रहता है कि वे दीवारें खडी रह जाएँगी लेकिन स्वय उसे मृत्यु निगल जाएगी। गिलगमेश को मृत्यु पर विजय प्राप्त नही हो पाती, ठीक वैसे ही जैसे कि महात्मा बुद्ध जीवन भर जिस रोग, बुढापे और मौत से बचने के लिए मार्ग खोजते हैं तथा दावा करते है कि वह मार्ग (आर्य मार्ग) उन्हे प्राप्त हो गया है, उसी रोग, बुढापे और मृत्यु का शिकार अतत वे स्वय होते है।

यहाँ यह उपयुक्त होगा कि इस महाकाव्य से कुछ अवतरण प्रस्तुत किए जाएँ। जिस समय देवी इश्तर गिलगमेश के प्रेम मे दीवानी होकर उससे प्रणय की भिक्षा माँगती है तो गिलगमेश उसे धिक्कारता है[1]—

तू चादर है ऐसी—
रोक नही पाती जो शीत को,
तू पिछवाडे के दरवाजे सी—
रोक नही पाता जो आँधी तूफानो को,
तू मशक है ऐसी—
सोख लेती जो उसको ही
धारण करता जो उसे,
तू जूती है ऐसी
काटती जो पाँव मे उसके ही
पहनता है जो तुझे।
एनकिडू की मृत्यु उसे विचलित कर देती है और वह कह उठता है—
भटक रहा मैं मैदानो मे, मौत से डरा हुआ,
बन गई है बोझ भारी मेरे मन पर
मृत्यु मेरे मित्र की।
कैसे रहूँ अब मौन? कैसे रहूँ अब शान्त?
हो गया जब मिट्टी, मित्र मेरा
प्रेम करता था मैं जिसे।

1 'Gilgamesh' Tablets, Tr A Heidel

लेटना होगा धरा पर निश्चेष्ट होकर
क्या मुझे भी उसकी तरह
हमेशा के लिए
न उठ पाऊँगा क्या फिर कभी ?

महल और किले की दीवारे खडी रह जाएँगी और गिलगमेश चला जाएगा। यह सोचकर वह विचलित हो जाता है—

बनाते है क्या हम
घर हमेशा के लिए ?
क्या नदी उमडी रहती है हमेशा और लाती रहती है बाढ ?
दैत्य-मक्खी छोड देती है घोघा अपना
कि डाल सके दृष्टि अपनी चेहरे पर सूरज के ।
स्थायित्व रहा ही नही, अतीत से आज तक ।
विश्राम मे लेटे हुए लोग और मुर्दे
कितने समान लगते है दोनो ।

प्रलय-गाथा—कल्पना और अभिव्यक्ति की इसी उत्कृष्टता का परिचय हमे उत्नपिश्तिम के चारो ओर बुनी गई प्रलय महागाथा मे मिलता है । प्रलय के समय देवता कैसे कायर बन जाते है और रोने लगते हैं, ठीक मनुष्यो की तरह—

देवता डर गए
रेंगने लगे घबराकर दुम दबाए कुत्तो की तरह,
रोने लगी इश्तर उस तरह
रोती है जैसे मानवी कोई मुसीबत मे ।

प्रलय का जल उतर जाता है तब उत्नपिश्तिम उस पर्वत की चोटी पर जल चढाता है तथा गन्ने के रस से तैयार की गई मिठाई का प्रसाद चढाता है जिससे टिककर उसकी नौका बच गई थी । उस समय देवता क्या करते हैं ? महाकवि कहता है—

देवताओ ने सूँघी सुगन्ध प्रसाद की
भीनी-भीनी और मीठी-मीठी,
भिनभिनाने लगे फिर वे, मक्खियो की तरह, प्रसाद पर ।

अन्त मे एनलिल जब उत्नपिश्तिम से प्रसन्न हो जाता है तो वह उसे वरदान देता है—

केवल मनुष्य था—
उत्नपिश्तिम अब तलक,
होगा वह स्वय और पत्नी भी उसकी, किन्तु अब—
हम देवताओ की ही तरह ।
दूर वहाँ, मिलती हैं नदियाँ सागर से जहाँ
रहेगा आज से उत्नपिश्तिम ।

उत्नपिश्तिम की गाथा समूचे मैसोपोटामिया मे प्रचलित रही। असीरिया मे उसे इसी नाम से पुकारा गया लेकिन सुमेरिया मे उसे जियूसूद्र(द्यौशूद्र) कहा गया। बेबीलोनिया मे परवर्ती काल मे उसके लिए उसका उपनाम अत्रहासिस(Atrahasis) प्रयोग मे आया।[1]

पाताल लोक सम्बन्धी साहित्य

बेबीलोनियावासियो मे यह विश्वास प्रचलित था कि मरने के बाद प्राणी पाताल लोक मे चला जाता है अतः यह स्वाभाविक था कि वहाँ पाताल लोक से सम्बन्धित गाथाओ की रचना हुई। ऐसी ही एक गाथा मे प्रेम और उर्वरता की देवी इश्तर अपनी बहिन एरेशकिगल से मिलने जाती है जो पाताल लोक की रानी है। एरेशकिगल उसके शरीर मे 60 बीमारियाँ पैदा कर देती है और उसे पृथ्वीलोक लौटने से रोक देती है। इधर इश्तर के जाने के बाद से पृथ्वी की उर्वरा शक्ति नष्ट होने लगी, दुष्काल और दुर्भिक्ष के कारण चारो ओर हाहाकार मच गया, न प्रजा के पास खाने को रहा, न देवताओ को भोग लगाने के लिए। तब देवताओ ने पाताल लोक की रानी के नाम आदेश भेजा कि इश्तर को तुरन्त पृथ्वीलोक मे वापस भेजो। एरेशकिगल विवश होकर इश्तर पर पवित्र जल छिड़कती है जिससे उसके रोग नष्ट हो जाते है और वह स्वस्थ होकर धरती पर लौटती है।

बेबीलोनियाई साहित्य मे ऐसी ही एक गाथा सूर्य देवता नर्गल की है। एक बार देवताओ ने पृथ्वी पर एक भोज दिया जिसमे पाताल की रानी एरेशकिगल किसी कारण स्वयं नही पहुँच सकी और उसने अपने प्रतिनिधि के रूप मे नान्तर को भेजा जिसका नर्गल के सिवाय सभी देवताओ ने स्वागत किया। इस पर एरेशकिगल बहुत नाराज हो गई और उसने नर्गल को बुला भेजा। नर्गल ने वहाँ पहुँचते ही एरेशकिगल पर आक्रमण कर दिया, उसे सिंहासन से नीचे खीच लिया और उसे मार डालने की धमकी दी। एरेशकिगल उसके सामने गिडगिडाकर प्राणो की भीख माँगने लगी तथा उसने नर्गल के साथ विवाह कर लिया। तब से नर्गल पाताल का राजा बन गया। यह गाथा बहुत अर्थपूर्ण है। इसमे यह सन्देश निहित है कि अन्धकार और मृत्यु के प्रतीक पाताल लोक पर सूर्य अर्थात् प्रकाश, न्याय, विवेक से विजय प्राप्त की जा सकती है।

पाताल लोक पर नर्गल की विजय से पहले वहाँ जाने वाले सभी प्राणियो को सताया जाता था। नर्गल दिन मे पृथ्वीलोक पर विचरण करता था, उसे मनुष्यो के सत्कर्मों और दुष्कर्मों का ज्ञान रहता था अत· मृत्यु के बाद जब वे पताल लोक मे जाते तो नर्गल उन्हे उनके कर्मों के अनुसार नरक और स्वर्ग प्रदान करने लगा।

स्वामी-दास सवाद

बेबीलोनियाई साहित्य की एक अन्य महत्वपूर्ण कृति स्वामी-दास सवाद है।

1 The Flood, E Sollberger, London, 1962 पर आधारित।

इसमे स्वामी जब अपने दास से कुछ कहता है और दास उसके पक्ष मे तर्क देकर उसे प्रसन्न करता है। कुछ समय बाद स्वामी का भाव बदल जाता है और वह पहले जो कुछ कहता था अब उसके विपरीत कहने लगता है, तब दास उस विपरीत बात के पक्ष मे तर्क देता है और स्वामी की हाँ मे हाँ मिलाता जाता है।

दास के इस आचरण मे विसगति नही है, ऐसा नही लगता कि वह अपने स्वामी की खुशामद कर रहा है। इस कृति का प्रयोजन यही बताना है। इस जगत मे न कुछ शाश्वत सत्य है न शाश्वत असत्य, न कुछ अच्छा और न बुरा। सत्, असत् अथवा अच्छा, बुरा इस बात पर निर्भर करता है कि कोई व्यक्ति किस तरह सोचता है। जीवन व्यर्थ है, खाली है, उसमे मूल्य होते ही नही। जीवन का एक ही सत्य है—मृत्यु। जब मरना ही है तब व्यर्थ मे बौद्धिक व्यायाम क्यो किया जाए।

राजाओ के दस्तावेज

बेबीलोनिया के अनेक प्राचीन राजाओ द्वारा छोडे गए अभिलेख मिले हैं, लेकिन वे असीरिया के नरेशो के अभिलेखो से भिन्न हैं, असीरिया के नरेश अपने अभिलेखो मे अपनी प्रशसा गाते थे और अपनी विजय का इतिहास लिखते थे, लेकिन बेबीलोनियाई नरेशो के अभिलेखो मे मन्दिरो और धार्मिक विषयो की ही चर्चा है। उनसे अधिक महत्त्वपूर्ण राजाओ और प्रादेशिक गवर्नरो के बीच हुआ पत्र-व्यवहार है जिससे उस काल की राजनीतिक गतिविधि और इतिहास का बोध होता है। यह भी पता चलता है कि व्यापार-व्यवसाय कैसा था और वित्तीय स्थिति कैसी थी।

इन दस्तावेजो मे नागरिको, व्यापारियो, साहूकारो, राजाओ और पुरोहितो के बीच होने वाले अनुबन्ध भी है जिनसे उस काल की कानूनी और आर्थिक एव सामाजिक स्थितियो का सम्यक् प्रकार से बोध होता है।

कानूनी दस्तावेजो मे हम्मूराबी की विधि सहिता है, तथा धार्मिक साहित्य में तत्कालीन धार्मिक समारोहो, पूजा के विधान, मत्रो, प्रार्थनाओ, देवताओ की स्तुतियो और देवताओ के आपसी सम्बन्धो का ज्ञान मिलता है।

बेबीलोनियाई कला

भाषा और साहित्य के लिए जिस प्रकार बेबीलोनियाई सभ्यता को सुमेरियाई स्रोतो पर निर्भर रहना पडा उसी प्रकार उसकी कला का विकास भी सुमेरियाई प्रभुत्व-काल मे तथा उसके प्रभाव मे हुआ। यह एक निर्विवाद सत्य है कि समूचे मैसोपोटामिया मे सबसे पहले सभ्यता का विकास दजला और फरात के उस मैदानी क्षेत्र मे हुआ जो उनके सगम से लेकर उनके समुद्र मे मिलने तक विस्तृत है। यह सभ्यता उत्तर की ओर फैलती गई तथा बेबीलोन, अक्कड और असीरिया तक जा पहुँची।

प्राचीन सभ्यताओ मे कला का विकास मन्दिरो से शुरू हुआ। यही सुमेर और बेबीलोन मे भी हुआ। देवताओ की मूर्तियाँ गढी गईं, मन्दिरो के विशाल भवन बनाए गए, देवताओ के लिए सिंहासन, चौकियाँ, पलग तथा अन्य साज-सामग्री के

निर्माण मे कला ने अपनी अभिव्यक्ति की। कला उस अवस्था मे देवताओ को समर्पित थी, तथा कलाकार कला को अपनी धार्मिक साधना का अग मानते थे, भले ही वे चित्रकार हो, मूर्तिकार, सगीतकार, साहित्यकार या बढई।

कलात्मक कृतियो के लिए कलाकारो ने विविध माध्यम चुने, जैसे मिट्टी की तख्तियाँ, लकडी, एनेमल की हुई और पकी हुई ईंटे जिनपर विविध प्रकार की आकृतियाँ बनाई गई थी, ताँवा, काँसा, दीवारें और द्वार इत्यादि। मानवाकृतियो मे चेहरे के भावो, आँखो, नाक, होठो और बालो इत्यादि को बहुत यथार्थ रूप मे उभारा गया है।

सारगौन के शासनकाल मे राजा की विजय के अभियान, विजय और विजयोत्सव तथा लागाश के गुडिया नामक राजा के काल मे गुडिया की अनेक प्रस्तर एव धातु मूर्तियो मे अवसर के अनुरूप भाव दिग्दर्शित होता है। पहले मे वीरता, साहस और उल्लास का तथा दूसरे मे धार्मिक उत्साह और नम्रता का।

हम्मूराबी के काल मे बेबीलोनियाई कला अपने चरम उत्कर्ष पर थी। खुदाइयो मे मिली हम्मूराबी के सिर की मूर्ति मे राजा के चरित्र को यथार्थ रूप मे उभारा गया है।

बेबीलोन के कलाकारो ने मिट्टी की मूर्तियो मे आम आदमी के जीवन को चित्रित किया है, जैसे बढई, सगीतज्ञ, बैल की सवारी करता हुआ किसान, बन्दर नचाता हुआ मदारी इत्यादि। बेबीलोनियाई प्रभुता के काल मे मारी के राजमहल के भित्तिचित्र सुरक्षित मिले है जो बेबीलोनियाई कलाकारो द्वारा ज्यामितीय आकृतियो, मानवीय चेहरो तथा चमकीले स्थानीय रगो के प्रयोग की कथा सुनाते हैं।

राज्य की सीमा पर लगाये जाने वाले असख्य पत्थर मिले हैं जिनपर राजाओ, देवताओ तथा धार्मिक प्रतीको की आकृतियाँ खुदी हुई है। इसी प्रकार पशुओ की विशेषत शेर और बैल की आकृतियो को भी बहुतायत से तथा कुशलता से उकेरा गया है और मूर्तियो मे अवसर एव स्थल के अनुरूप सशक्त भावाभिव्यक्ति की गई है।

असीरियाई प्रभुत्व से मुक्त होने के बाद बेबीलोन मे कला का ज्वार सा आ गया और यह नगर विश्व की कला-राजधानी बन गया।[1] इन कलाकृतियो मे से विरली ही आज उपलब्ध हैं लेकिन जो भी उपलब्ध है उनसे तत्कालीन कलाकारो की सामर्थ्य का बोध होता है। इनमे बेबीलोन के इश्तर द्वार की आज तक सुरक्षित 36 फुट ऊँची दीवारो पर एनेमल की हुई ईंटो पर बनी बैलो और दैत्याकार पशु की आकृतियाँ आज भी अपने आप मे कला और कला-प्रौद्योगिकी दोनो का उत्कृष्ट नमूना है। इश्तर द्वार पर बने बैल (साँड) अत्यन्त सजीव दिखाई पडते है ऐसा लगता है कि ये अभी चल पडेगे, उनकी आकृतियो मे वृषभ-शक्ति साफ-साफ उभर कर आँखो के सामने आ जाती है। इसी प्रकार दैत्यो की आकृतियो मे उनका छरहरापन, उनकी चपलता और उनका खूँखारपन उभरे है।

1 Babylon op. cit., pp. 194–198.

मुद्राएँ (मोहरें)

बेबीलोन की खुदाइयों में उपलब्ध मुद्राएँ (Seals) गोलाकार हैं, उनपर नाना प्रकार की मानव, पशु एवं पक्षी आकृतियों के अतिरिक्त ग्रहों—चाँद-सितारे आदि को भी उकेरा गया है। बेबीलोन के प्रथम राजवंशकाल की एक मुद्रा पर नीचे दो भेड़ों को एक पत्तों से रहित वृक्ष के ठूँठ के साथ दिखाया गया है तथा उनके ऊपर एक गाय अपने बछड़े को दूध पिला रही है।

स्थापत्य कला

बेबीलोनियाई स्थापत्य का सर्वोत्तम प्रमाण बेबीलोन की वह प्रसिद्ध मीनार थी जिसे टॉवर ऑफ बेबीलोन कहा जाता है। उसके अतिरिक्त वहाँ के राजमहल, मन्दिर, पुल, राजमार्ग, रथयात्रा मार्ग और नागरिकों के घर स्थापत्य का उत्कृष्ट नमूना हैं। यहाँ बेबीलोन नगर के नियोजित रूप पर भी ध्यान देना होगा जिससे यह ज्ञात होता है कि ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व बेबीलोनवासियों को नगर-नियोजन के सिद्धान्तों का पूरा ज्ञान था।

बेबीलोन के झूलते हुए बाग जिनके नीचे राजमहल के कक्ष सार्वजनिक भवन और गलियारे थे अपने आपमें बेबीलोनियाई स्थापत्य की विकसित अवस्था के प्रमाण हैं। उनकी सिंचाई के लिए जंजीर से बन्धी बाल्टियों से पानी ऊँचा उठाया जाता था तथा क्यारियों की भरपूर सिंचाई के बावजूद एक बूँद पानी नीचे नहीं टपकता था।

नगर के बीचोंबीच नदी बहती थी। नगर को उसके दोनों ओर बसाया गया था। एक ओर नागरिकों के आवास थे तो दूसरी ओर राजा के महल, देवताओं के मन्दिर, उत्सव-गृह, उद्यान और विद्यालय। नगर के परकोटे की दीवारें जिन पर एक साथ चार घोड़ों वाले दो-दो रथ सरपट दौड़ सकते थे और दीवार में विशालकाय द्वार जिनमें भारी भरकम काँसे के फाटक थे, आज भी स्थापत्यकारों के लिए एक चुनौती पेश करते हैं।

नदी पर नौकानुमा स्तम्भों से पुल बनाया गया था जिन पर दिन में आवागमन के लिए शहतीर बिछाए जाते थे जिन्हें रात में सुरक्षा की दृष्टि से हटा दिया जाता था। नगर के परकोटे के बाहर बनी खाई कहीं-कहीं तो 250 फुट तक चौड़ी थी, उसके दोनों ओर सुदृढ़ बाँध बने थे। ऐसे ही बाँध नदी के दोनों तटों पर भी बाँधे गए थे जिससे कि नदी का पानी नगर में न फैल सके। परकोटे के बाहर की खाई को पाटकर नगर के आठ द्वारों में से जाने का मार्ग बनाया गया था। पूर्व की दिशा में मरडूक तथा जबाबा द्वार थे, दक्षिण में एनलिल और उराश द्वार, उत्तर में सिन तथा इश्तर द्वार एवं पश्चिम की ओर शम्स और अदाद द्वार।

राजमहल का दरबार-कक्ष जिसमें राजा का सिंहासन था 170 फुट लम्बा और 56 फुट चौड़ा था। महल के एक कोने में बावड़ी थी जिससे राजमहल और झूलते-बगीचे की सिंचाई के लिए पानी प्राप्त होता था।

बेबीलोन के मन्दिरो मे सोने, चाँदी, बहुमूल्य पत्थरो, ताँबे, काँसे तथा भारत देश से आयात की जाने वाली लकड़ी इस्तेमाल होती थी। वहाँ भारत को मगन कहा गया है। मन्दिर की छत मे देवदार की लकडी के शहतीर लगाए गए थे जिन्हे राजा लेबनान से लाया था। इन शहतीरो पर चाँदी और सोने की चादरे मढी गई थी तथा उन्हे मणियो से जड़ा गया था। पीछे के अध्यायो मे हम यह वर्णन कर चुके हैं कि इस मन्दिर मे कुल मिलाकर 18 5 टन सोना लगाया गया था।

बेबीलोनिया में विज्ञान

बेबीलोनियाई सभ्यता विज्ञान के क्षेत्र मे भी काफी विकसित थी। बेबीलोनिया की खुदाई मे मिट्टी की तख्ती पर बना हुआ विश्व का एक मानचित्र मिला है। यह ईसा से छह सौ वर्ष पहले का है। इसमे पृथ्वी को गोलाकार दर्शाया गया है और उसके चारो ओर खारे पानी की नदी (समुद्र) दिखाई गई है। मानचित्र के बीचोबीच फरात नदी बह रही है। इस मानचित्र की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसके धुर उत्तरी भाग पर लिखा है—"इस भूमि पर सूर्य कभी नही चमकता।" इससे यह सकेत मिलता है कि बेबीलोनियावासियो को आर्कटिक क्षेत्र की शीत ऋतु की लम्बी रात के बारे मे ज्ञान था।

बेबीलोन मे पत्थर नही होता लेकिन वहाँ नालियाँ पत्थरो से बनाई गई, महलो, मन्दिरो और पुलो मे पत्थर की भारी चट्टाने लगाई गयी। इससे यह ज्ञात होता है कि वहाँ के लोगो को भार की ढुलाई से सम्बन्धित भौतिकी के नियमो का बोध था। औषधियो और रगो मे प्रयोग होने वाले रसायनो का भी उन्हे भरपूर ज्ञान था और वे उन पदार्थों की रासायनिक प्रकृति से परिचित थे।

गणित और खगोल विद्या

बेबीलोनियाई अभिलेखो मे गणित (Mathematics) के कुछ ऐसे प्रश्न मिले है जिनसे यह सकेत मिलता है कि वहाँ के लोगो को उच्च-गणित और बीज-गणित का ज्ञान था। सत्रहवी और अठारहवी शताब्दी ई पू मे उन्हे वर्गमूल और घनमूल निकालने की विधि मालूम थी तथा वे वृत्त, आयत और त्रिभुज से परिचित थे।

बेबीलोन के विद्वानो ने ज्योतिष विद्या (Astrology) के अध्ययन की दृष्टि से ग्रहो की स्थिति और गति का अध्ययन किया जो खगोलशास्त्र (Astronomy) बना। साथ ही उन्होने चन्द्र-पचाँग स्वीकार किया, तथा वर्ष का प्रारम्भ बसत मे सूर्य के कर्करेखा पर आने के बाद पडने वाली पूर्णिमा से शुरू किया। उनका दिन सूर्यास्त के समय शुरू होता था और उसे बारह घटो की दो किस्तो मे बाँटा गया था। सप्ताह मे सात दिन होते थे, उनके नाम थे रविवार (शम्स), सोमवार (सिन), बुधवार (नर्गन), शुक्रवार (नाबू), मगलवार (मरडूक), वृहस्पतिवार (इश्तर) और शनिवार (निनिब)। महीना कभी 29 और कभी 30 दिन का होता था और 12 महीनो का एक वर्ष। जाहिर है कि आज हम उस काल मे जिस पचाँग (Calendar) का अनुसरण कर रहे थे उसका आविष्कार बेबीलोनिया मे भी ईसा

मे दो हजार वर्ष पहले हो चुका था। उन्होंने जल घडी तथा परछाई के आधार पर समय बताने वाली छडी-घडी का आविष्कार कर लिया था और सूर्य तथा चाँद की गति और उनके मार्ग का सही ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वे यह निर्धारित करने मे सफल रहे कि 19 सौर-वर्षों मे 235 चन्द्र-मास होते हैं। इसी आधार पर 747 ई. पू में उनके राजा नाबूनासिर ने यह घोषणा की 19 वर्षों मे सात अतिरिक्त मास जोड़े जाएँगे। चौथी शताब्दी ई. पू. मे नाबूरिमानी (Nabu-Rimani) ने चन्द्र और सूर्य ग्रहण के बारे में जो तालिकाएँ बनायी थीं वे एक दम सही थीं। बेबीलोनिया के महान् खगोलशास्त्री किदिन्नू (Kidinnu) ने सौरवर्ष का जो समय आँका था उसमे केवल 4 मिनट और 32 645 सैकण्ड का अन्तर है।

चिकित्सा विज्ञान

बेबीलोनिया के लोग रोग को देवता की अप्रसन्नता का संकेत मानते थे तथापि वहाँ चिकित्सा-विज्ञान का विकास हुआ। वहाँ के चिकित्सा-विज्ञान दैवी-प्रकोप के अलावा रोगो के पाँच प्राकृतिक कारण भी मानते थे—धूल, गन्दगी, खाना, पीना और छूत। चिकित्सक (Asu) के लिए हम्मूराबी ने नैतिक और कानूनी मर्यादाएँ तय की थीं जिनका उल्लंघन करने पर उसे दण्ड मिलता था।

बेबीलोनिया के अनेक अभिलेखो मे रोगो के निदान, लक्षणो और इलाज का उल्लेख मिलता है। इनमे मिरगी, पथरी तथा पीलिया आदि रोगो का जिक्र है। पीलिया के रोगी को तो असाध्य मान लिया गया था। इन अभिलेखो मे जडी-बूटियो और धातुओं से मलहम, लेप और खाने की दवाइयाँ बनाने के नुस्खे भी हैं। चिकित्सक रोगियो को दवाएँ सुँघाते, मालिश करते, भाप या धूनी लगाते तथा पेट साफ करने के लिए एनिमा भी देते थे। पुल्टिस एक आम दवाई थी। छूत के रोगियो को स्वस्थ लोगो से अलग रखने के बारे मे हिदायत दी जाती थी।

हम्मूराबी के काल मे शल्य-चिकित्सा (सर्जरी) का उल्लेख मिलता है। राज्य की ओर से उनकी फीस निश्चित की गई थी। गलत चीर-फाड करने वाले चिकित्सक को दण्ड भोगना पडता था।

32

रोम : सभ्यता की अवधारणा, भूगोल, स्थलाकृति और प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि

(Rome : The Concept of Civilization, Geography, Topography and Pre-historic Background)

रोम की सभ्यता की गणना विश्व की प्राचीन सभ्यताओ मे की जाती है तथापि यह स्वीकार करना होगा कि वह चीन, भारत, मैसोपोटामिया, यूनान और मिस्र की सभ्यताओ की अपेक्षा परवर्ती है। पुरातत्व सम्बन्धी खुदाइयो से यह सिद्ध होता है कि रोम नगर की स्थापना 735 ई पू मे हुई। रोम की सभ्यता का विकास इसी काल से आरम्भ होता है।

सभ्यता की अवधारणा

रोम की सभ्यता विश्व की प्राचीन सभ्यताओ की अपेक्षा एकदम भिन्न है। उसकी विलक्षणता इस बात मे निहित है कि यद्यपि रोम पूर्व और पश्चिम से आने वाली अनेक जातियो और समूहो से मिलकर बना तथापि वहाँ विश्व की शायद सबसे पहली राष्ट्रीयतापरक सभ्यता का विकास हुआ। रोम चाहे गणतन्त्र रहा हो या साम्राज्य उसके लोग स्वय को रोम का नागरिक मानने मे गौरव महसूस करते थे, रोम ही उनकी समूची आस्था का केन्द्र था, रोम ही उनका धर्म था और रोम ही उनका देवता। रोम की सभ्यता राष्ट्र-पूजा की सभ्यता थी।

रोम मे सभ्यता को धर्म, चिन्तन, दर्शन और मूल्यो की दृष्टि से नही देखा गया। रोम-सभ्यता की बुनियादी अवधारणा नितान्त भौतिक थी, इतनी भौतिक कि यह भौतिकवाद ही रोम का अध्यात्म बन गया और इसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सूक्ष्म आयाम ग्रहण कर लिए, भले ही वह भवन-निर्माण का क्षेत्र हो, मनोरजन का अथवा राजनीति का। बहुत बार तो ऐसा लगता है कि रोमवासियो के लिए जीवन मे भावना, भावुकता, कोमलता और मानवीय मूल्यो का कोई स्थान ही न था और आदमी की जिन्दगी उनके लिए एक खिलवाड़ बन गई थी। वे अपने जीवन के साथ खेलते थे और दूसरो के जीवन के साथ खेलने मे उन्हे कोई सकोच नही होता था।

रोम की सभ्यता एक बहिर्मुखी सभ्यता है। वहाँ के शासकों और चिन्तकों मे शायद मारकस ऑरेलियस पहला राजा और दार्शनिक है जिसने मानव-जीवन के के मूल्य का चिंतन किया, अन्यथा तो आदमी को आदमी से और आदमी को हिंसक पशुओं से लडवाकर खून-खच्चर होते देखना रोमवासियो के लिए साधारण मनोरंजन बन गया था, जिसमें न उनका राजा बाधा डालता था, न धर्म। काया अर्थात् मनुष्य देह की पूजा ही उनका धर्म बन गई थी। लूट के माल पर जीना, दिन भर खाते रहना और भोग विलास ही उनका जीवन था, उनकी सभ्यता थी।

रोम की सभ्यता आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता की जननी है। उसने जहाँ एक ओर राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद सरीखी राजनीतिक धारणाओं को जन्म दिया, वही यूरोप अथवा यो कहे कि पश्चिमी जगत् में पहली बार गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का सूत्रपात किया। इनके साथ ही रोम ने एक विलक्षण राजनीतिक-विसंगति को जन्म दिया जिसके अन्तर्गत एक ओर गणतन्त्र का ढाँचा बना रहा, दूसरी ओर राजतन्त्र पनपता रहा, एक ओर नागरिको के अधिकारों की रक्षा के लिए कानून बनते रहे दूसरी ओर एक निरंकुश सम्राट् उन पर राज करता रहा।

रोम की सभ्यता की एक अन्य अवधारणा साम्राज्यवाद है। इससे पहले यूरोप ने इस रूप मे और ऐसे विस्तृत साम्राज्यवादी अभियान का अनुभव नहीं लिया था। रोम के शासको ने ब्रिटेन से लेकर फिलस्तीन तक और जर्मनी से लेकर अफ्रीका के उत्तरी सहारा प्रदेश तक एक विराट साम्राज्य की स्थापना की जो भौगोलिक दृष्टि से परस्पर सटे हुए प्रदेशो पर फैला हुआ था।

इतना ही नहीं रोम की सभ्यता ने यूरोप मे पहली बार राज्य और साम्राज्य के शासन-प्रबन्ध की एक सुव्यवस्थित प्रणाली, लोक-कार्मिक (नौकरशाही) और न्याय व्यवस्था की नींव रखी।

रोम की सभ्यता विशाल भवनो, सभागृहो, क्रीडांगनों, थियेटरो, मन्दिरो, और नगरों के निर्माण के क्षेत्र मे अपनी समकालीन सभ्यताओ से आगे निकल गई। साथ ही उसमें सार्वजनिक उपयोग की इमारतों पर भी ध्यान दिया गया, जैसे सार्वजनिक स्नानागार और शौचालय। एक प्रकार से यो कहा जा सकता है कि, यूरोप के जगली लोगो को रोम ने नहाना और स्वच्छ रहना सिखाया। नगरो के लिए जल-आपूर्ति पर रोम की सभ्यता ने विशेष ध्यान दिया तथा भूमि के ऊपर सैकडो मील लम्बी स्वच्छ पानी की नालियाँ बनाई गयी। सार्वजनिक स्वास्थ्य मे राजाओ की रुचि के साथ ही निर्माण प्रौद्योगिकी का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

रोम की सभ्यता ने जहाँ स्थापत्य पर बल दिया वहीं उसने कलाओ और विशेषतः मूर्तिकला का भरपूर पोषण किया। उस जमाने की विशाल मूर्तियाँ आज भी रोम की गरिमा सिद्ध करती हैं।

आर्थिक क्षेत्र मे रोम ने तीनो प्रमुख विधाओ पर ध्यान दिया। उसने बंजर पडी जमीनो को लहलाते खेतो और भरे पूरे खलिहानो मे बदल दिया, उद्योगो

की स्थापना की तथा व्यापार के स्थल और जल-मार्गों का निर्माण किया। भारत और चीन जैसे सुन्दर प्रदेशों के साथ भी रोम का व्यापार चलता था। मार्गों की सुरक्षा का प्रबन्ध तो रोम ने किया ही, मार्ग में आने वाली नदियों पर ऐसे सुदृढ़ पुल भी बाँधे जो सहस्रों वर्षों तक अपनी जगह अडिग खड़े रहे।

रोम ने यूनान की प्राचीन सभ्यता को पराजित किया, लेकिन उसका तिरस्कार किया। उसकी संस्कृति और उसके दर्शन से बहुत कुछ सीखा। अपनी लेटिन भाषा का विकास किया और उसमें प्रमुख यूनानी दार्शनिकों के साहित्य को अनूदित कर डाला। रोम ने शिक्षा की एक व्यवस्थित प्रणाली को जन्म दिया तथा कम से कम समृद्ध वर्ग में तो शिक्षा को बढ़ावा दिया। उसने साहित्य तथा दर्शन के क्षेत्र में सीजर, लिवी, होरेस, वर्जिल जैसे साहित्यकार, लुक्रेशियस और सिसरो, सेनेका, एपिक्टेटस और मार्कस ऑरेलियस सरीखे दार्शनिक, सिसरो और ज्येष्ठ प्लिनी जैसे विज्ञान विश्वकोष प्रणेता तथा पर्गामम के गैलेन और एफेसस के रूफस सरीखे चिकित्सा-विद पैदा किए।

एक ऐसा समय आया जब रोम की लेटिन भाषा यूरोप के समस्त सभ्य समाज की भाषा बन गयी। यह वह समय था जब अंग्रेजी का कहीं नामो-निशान तक न था। लेटिन भाषा यूरोप के लिए संस्कृत के समान समस्त यूरोपीय भाषाओं की जननी बन गई। अंध-विश्वासों और मिथकों के बीच से उत्पन्न रोम का धर्म धीरे-धीरे ग्रहों की पूजा पर जाकर केन्द्रित हुआ और ईसाई धर्मावलंबियों पर घोर अत्याचार करने के बाद अंतत रोम के शासक और प्रजाजन ईसाई धर्म के अनुयायी बने तथा रोम आज तक ईसाई धर्म का सर्वोच्च तीर्थ है।

रोम में न तो सभ्यता का अर्थ मानवीय मूल्यों से युक्त सभ्यता था, न वहाँ धर्म का अर्थ आध्यात्मिक साधना अथवा सृष्टि के नियामक, नियंता, मूल तत्त्व अर्थात् परमात्मा के साथ एकाकार होने की अभीप्सा। वहाँ तो सभ्यता एक पदार्थवादी मूल्य के रूप में उभरी, जिसने मनुष्य को सभ्यता का अन्तिम मूल्य, मानदण्ड और लक्ष्य नहीं वरन् उसका साधन, उसकी आधारशिला और उसका वाहन समझा। रोम की सभ्यता में रोम देवता बन गया, रोम ही लक्ष्य बन गया। रोम का गौरव, रोम की गरिमा, रोम की महत्ता, रोम का विस्तार और रोम का अस्तित्व रोम के नागरिकों का सर्वोच्च धर्म बन गया जिसकी वेदी पर उन्हें निर्ममतापूर्वक बलि चढ़ाया जाता रहा। आश्चर्य यह है कि यह सब उस रोम में हुआ जिसने पश्चिमी विश्व में सबसे पहले गणतन्त्र और प्रतिनिधिमूलक लोकतन्त्र की धारणाओं और संस्थाओं को जन्म दिया।

पाश्चात्य जगत् का पदार्थवादी दृष्टिकोण और स्वरूप रोम की प्राचीन सभ्यता का ही फल है, उसकी ही विरासत है। इसके बावजूद इतिहास गवाह है कि रोम के जिस गौरव को रोम की सभ्यता ने चरम लक्ष्य माना था वह रोम कभी का अतीत के गर्त में समा चुका है तथा जिस मनुष्य को रोम के गौरव का साधन मात्र माना गया था वह मनुष्य आज भी अपनी जगह खड़ा है और दो हजार साल बाद

मुसोलिनी जैसे बर्बर तानाशाह द्वारा रौंदे जाने के बावजूद अपने आपको मूल्य के रूप मे स्थापित करने की चेष्टा कर रहा है।

भूगोल और स्थलाकृति

रोम की सभ्यता का विस्तार-पूर्वक अध्ययन करने से पहले यह आवश्यक है कि रोम के भूगोल तथा उसकी भौगोलिक स्थिति और स्थलाकृति को भली-भाँति समझ लिया जाये क्योंकि ये तत्त्व प्रत्येक सभ्यता का निर्धारण करने मे महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते रहे है।

रोम शब्द मे तो महज रोम नगर का बोध होता है, मगर जब हम रोम की सभ्यता का उल्लेख करते हैं तब हमारा अभिप्राय महज रोम नगर नही होता। वास्तव मे रोम समूचे इटली पर फैल गया जिसमे कोर्सिका, सारडीनिया और सिसली भी शामिल थे। धीरे-धीरे रोम की सभ्यता उसके साम्राज्य के साथ-साथ पुर्तगाल, स्पेन, फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन (स्कॉटलैंड को छोड़कर), पश्चिमी जर्मनी, हालैंड, बेल्जियम, चेकोस्लोवाकिया, आस्ट्रिया, स्विट्जरलैंड, हगरी, रूमानिया, यूगोस्लाविया, बुलगारिया, अल्बानिया, यूनान, क्रीट, जार्जिया, आर्मीनिया, सीरिया, असीरिया, फिलस्तीन, मिस्र, लीबिया और अल्जीरिया तक फैली।

रोम की सभ्यता का प्रमुख केन्द्र रोम ही नही लन्दन, पेरिस, कुस्तुनतुनिया, सिकदरिया और कार्थेज (वर्तमान ट्यूनिस) जैसे नगर भी उस सभ्यता के प्रमुख केन्द्र बन गये थे। ऐसी स्थिति मे रोम की सभ्यता के भूगोल को व्यापक दृष्टि से परखना, पहचानना होगा।

रोम और इटली

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि विश्व की सभी प्राचीन सभ्यताएँ नदी घाटियो मे स्थापित और विकसित हुई। रोम भी इस नियम मे अपवाद नही रहा। रोम की स्थापना परम्परा और पुरातात्विक प्रमाणो के अनुसार 735 ई. पू मे हुई। यह नगर टाइबर नदी के मुहाने पर है तथा इटली के पश्चिमी तट पर लेटियम प्रदेश का प्रमुख नगर और राजधानी था।

सभ्यता के इस केन्द्र की भौगोलिक स्थिति को इटली के भूगोल की मदद से समझा जा सकता है। यूरोप महाद्वीप के दक्षिण मे इटली भूमध्यसागर के भीतर उसे पाटता हुआ एक लम्बा प्रायद्वीप है, जिसके उत्तर मे आल्पस पर्वत-शृखला फैली हुई है जो इसे शेष यूरोप से अलग करती है। इसके उत्तरी प्रदेश मे पो नदी की विस्तृत उपजाऊ और मैदानी घाटी है तथा उत्तर मे माउन्ट ब्लैक से लेकर दक्षिण मे सिसली के गर्भ तक एपेनाइन पर्वत-शृंखला फैली हुई है जिसके दोनो ओर पूर्वी और पश्चिमी घाटी के मैदान है जिनमे सभ्यता के अँकुर फूटे। पूर्व मे एड्रियाटिक सागर है जिसके पूर्वी तट पर यूगोस्लाविया और यूनान देश है।

इटली के पश्चिमी मैदान की अपेक्षा पूर्वी मैदान सकरा है तथा पूर्वी समुद्र तट पर वैसे अच्छे बन्दरगाह नही है जैसे कि पश्चिमी तट पर। इटली के उत्तरी

प्रहरी आल्पस पर्वत की रचना विधाता ने कुछ इस प्रकार की है कि वह इटली की रक्षा करने मे नितान्त असमर्थ रहा है। यूरोप महाद्वीप की ओर से इस पर्वत की बनावट ऐसी है कि उत्तर की ओर से इसे पार करना बहुत आसान तथा इटली की ओर से यूरोप के अन्य देशो तक जाना कठिन है। यही कारण है कि यूरोप की अनेक जातियाँ समय-समय पर इटली मे प्रवेश करती और बसती रही।

इटली की कुल लम्बाई 1152 कि॰ मी और चौडाई उत्तर मे 512 कि मी तथा प्रायद्वीप मे अधिक से अधिक 200 कि मी है। इटली की सबसे बडी नदी पो (Po) है जो आल्पस पर्वत से निकलकर 576 कि मी की दूरी तय करके पूर्व दिशा की ओर एड्रियाटिक सागर मे गिरती है। रास्ते मे इसमे अनेक सहायक नदियाँ मिलती हैं। पो नदी का मैदान नदियो द्वारा पहाडो से बहाकर लाई गई दुम्मट से बना है अत वह खूब उपजाऊ है। पो नदी के मार्ग मे ढलान होने के कारण वह अपने जल के साथ मिट्टी भी समुद्र मे ले जाती तथा समुद्र को पाटती रही है, जिससे इटली के समुद्र तट का विस्तार होता रहा है। वेनिस शहर के आसपास तो इसने अनेक झीलें बना दी है। इन नदियो की सबसे बडी उपयोगिता यह है कि ये बारहमासी होने के कारण इटली के उत्तरी भाग को खेती के लिए पर्याप्त जल प्रदान करती है।

उत्तरी मैदान के दक्षिण मे इटली प्रायद्वीप है जिसमे उत्तर से दक्षिण तक एपेनाइन पर्वत दो समानान्तर शृखलाओ मे रीढ की हड्डी की तरह फैला हुआ है जिसकी सबसे ऊँची चोटी 309 मीटर ऊँची है, और उस पर हिमपात नही होता। पश्चिम की ओर समुद्र तथा पहाड के बीच मैदान पूर्व की अपेक्षा चौडा है तथा वह उत्तर से दक्षिण तक क्रमश एट्रूरिया (Etruria), लेटियम (Latium) और कैम्पेनिया (Campania) प्रदेशो मे विभाजित है। पश्चिमी तट के मैदान मे पूर्व की तरह ही अनेक नदियाँ बहती हैं जिनमे प्रमुख वोल्तुरनस (Volturnus), लिरिस (Liris), टाइबर (T.ber) और अर्नो (Arno) है। रोम नगर इनमे से ही एक टाइबर के मुहाने पर बसा है। इस ओर प्राचीन काल से ही ज्वालामुखी फूटते रहे हैं, जिनमे तीन प्रमुख हैं जो सनातन काल से आग उगलते रहे हैं—नेपल्स की खाडी के निकट विसूवियस (Vesuvius), लिपारी द्वीपसमूह के एक द्वीप पर स्त्रोमबोली (Stromboli), और सिसली मे एटना (Etna)।

सिसली, सार्डीनिया और कोर्सिका—ये तीन द्वीप इटली का तीसरा -प्रदेश माने जाते रहे हैं। इटली के दक्षिण मे सिसली त्रिभुजाकार तथा 25,000 वर्ग कि मी क्षेत्रफल वाला द्वीप है जिसे सकरी सी मेसिना खाडी इटली की मुख्यभूमि से अलग करती है तथा जिसके निचले छोर से अफ्रीका महाद्वीप केवल 125 कि मी दूर रह जाता है। कोर्सिका और सारडीनिया द्वीप पश्चिम की ओर भूमध्यसागर मे हैं तथा उनका क्षेत्रफल क्रमश 8,000 वर्ग कि मी और 23,800 वर्ग कि मी. है।

प्राचीन काल मे समुद्र मे चलने वाले जहाज बहुत बड़े नही होते थे अत

उन्हें बहुत गहरे बन्दरगाहो की आवश्यकता नही होती थी। प्राय नदियो के मुहानों मे ही जहाज खडे कर लिए जाते थे इटली के पूर्वी तट पर ब्रुन्डीसियम (Brundisium) अकेला बन्दरगाह और दक्षिण मे केवल टारेंटम (Tarentum) था, लेकिन पश्चिमी तट पर नेपल्स की खाडी पर नियापोलिस (Neopolis), जिनोआ की खाडी पर जिनोवा (Genoa) और लुने पोर्टस (Lunae Portus) तथा रोम सरीखे अनेक अच्छे बन्दरगाह थे। सिसली मे कई अच्छे बन्दरगाह थे—सायराक्यूज (Syracuse), पेनोरमस (Panormus), ड्रेपानम (Drepanum) इत्यादि।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रकृति ने लम्बी नदी घाटियो, चौडे मैदानो और अच्छे बन्दरगाहो द्वारा पश्चिमी तट को इटली का नेतृत्व सौंपा, अत इटली की संस्कृति और सभ्यता का उदय इसी क्षेत्र मे हुआ।[1]

प्राकृतिक संसाधन और सम्पदा

प्राचीन काल मे इटली मुख्यतया कृषि-प्रधान देश था। मैदानो मे सिंचाई की भरपूर सुविधा थी तथा बाजरा, मक्का, गेहूँ, जौ, दालें, मटर और नाना प्रकार की सब्जियाँ उगाई जाती थी। कैम्पेनिया मे तो साल मे तीन फसलें ली जाती थी और सिसली को भूमध्य-सागर के जगत् का खलिहान कहा जाता था। धीरे-धीरे इटली मे अंगूर, अंजीर और जैतून की खेती ने जोर पकडा और उनसे किसानो मे समृद्धि आई।

पहाडो के लम्बे और निचले ढलानो पर बरसात मे घास ही घास हो जाती थी तथा वे झाडियो से ढक जाते थे। इन चरागाहो मे भेड, बकरी, गाय, घोडे आदि खूब पाले जाते थे।

खनिज पदार्थों के मामले मे इटली बहुत सम्पन्न नहीं रहा है प्राचीन काल मे वहाँ लोहे और ताँबे की खदानें थी। आल्पस से निकलने वाली जलधाराओ के रेत से सोना भी निकाला जाता था। पहाडो से अच्छे किस्म का पत्थर मिलता था, तथा इटली अपने उच्च कोटि के संगमरमर के लिये सदा से प्रसिद्ध रहा है।

इटली की एक बडी सम्पदा उसके समृद्ध वन थे। आल्पस और एपिनाइन पर्वतो पर नाना प्रकार के वृक्षो के वन थे—बरगद, चीड, देवदार, बीच इत्यादि। इन वनो से इमारती लकडी, जहाज बनाने की लकडी, सजावटी सामान और फर्नीचर की लकडी, जलाऊ लकडी, फल और पशुओ का चारा भारी मात्रा मे उपलब्ध होता था। इटली की लकडी अफ्रीकी देशो तक जाती थी, और उसका संगमरमर तो भारत जैसे सुदूर देशो तक जाता था।

जलवायु

भूमध्य सागर के गर्भ मे बसा होने के कारण इटली का जलवायु सदा से

1 A History of Rome to A. D 565, William G Sinnigen and Arthur E. R Boak, Macmillan, New York, 1977 पर आधारित।

सम-शीतोष्ण रहा है, न गर्मियो मे अधिक गर्म, न सर्दियो मे अधिक ठंडा । इसके बावजूद स्थलाकृति के अनुसार इटली के विभिन्न भागो और क्षेत्रो का तापमान अलग-अलग रहता है । पहाडो पर ठड रहती है, घाटियो मे थोडी गर्मी । पो नदी की घाटी तथा उत्तरी मैदान का जलवायु प्रायद्वीप की अपेक्षा सर्दियो मे अधिक ठडा और गर्मियो मे अपेक्षाकृत गर्म रहता है । आल्पस के प्रभाव के कारण सर्दियो मे वर्फ भी पडती है तथा बसन्त और पतझड मे वर्षा होती है । दक्षिण मे तो वर्षा नाममात्र की ही रह जाती है । प्राचीन काल मे दलदल और सघन वनो के कारण इटली मे मच्छरो का भारी प्रकोप रहा करता था ।

सभ्यता पर स्थलाकृति का प्रभाव

इटली की स्थलाकृति ने उसकी सभ्यता पर गहरा प्रभाव डाला । जैसा पीछे कहा गया है, इटली की सभ्यता प्राकृतिक दृष्टि से सम्पन्न पश्चिमी घाट के मैदानो मे विकसित हुई । इसी प्रकार पर्वतो और समुद्र के कारण सुगम यातायात मे बाधा पडने के कारण इटली अनेक छोटे-छोटे राज्यो मे बँटा रहा और उसकी साँस्कृतिक तथा राजनीतिक एकता मे बहुत रुकावटें आईं ।

इटली की भौगोलिक स्थिति इस दृष्टि से रोम-साम्राज्य के विस्तार के अनुकूल सिद्ध हुई कि वहाँ से समूचे यूरोप, मैसोपोटामिया, फिलस्तीन, मिस्र और अफ्रीका के उत्तरी भूभाग तक पहुँचना बहुत सरल था । इटली अपने चारो ओर अपना साम्राज्य फैलाने मे अपनी केन्द्रीय भौगोलिक स्थिति के कारण ही सफल हो सका ।

यह बहुत आश्चर्य की बात है कि इटली का नामकरण यूनानवासियो ने किया । वे इटली की मुख्यभूमि के ठेठ दक्षिणी भाग को 'पशुओ का देश' अर्थात् 'विटालिया' कहा करते थे । धीरे-धीरे विटालिया इटालिया बन गया और उत्तर से दक्षिण तक समूचा प्राय्द्वीप इटालिया अथवा इतालिया कहा जाने लगा । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रोम की सभ्यता इटली की सभ्यता है । रोम प्रारम्भ मे एक नगर-राज्य था लेकिन कालान्तर मे वह इटली और उसके साम्राज्य की राजधानी बन गया ।

इटली की प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि

इटली मे मानव का प्रादुर्भाव पुरातन प्रस्तरयुग मे अन्तर-हिमशैल के अन्तिम चरण मे उस समय हुआ जबकि जलवायु मे उष्णता आ गई तथा इटली के जगलो मे हाथी, गेंडे, नीलगाय, भैंसे, घोडे, हाथी और दरयाई-घोड़े विचरने लगे । यह काल यूरोप मे ईसा से 9000 वर्ष पूर्व तक बना रहा ।

जैसा कि हमने पीछे कहा है कि इटली चारों ओर से खुला हुआ देश रहा है । उत्तर मे आल्पस को पार करके इटली मे प्रवेश करना जितना सुगम रहा उतना ही सुगम समुद्र के रास्ते आकर इटली मे बसना था । ऐसा वास्तव मे होता रहा, इसका प्रमाण इटली के विभिन्न क्षेत्रो मे बोले जाने वाली भाषाएँ, प्रचलित शासन-व्यवस्थाएँ और जीवनशैलियाँ है ।

पुरातन प्रस्तरकाल के मानव की उपस्थिति तथा उसकी सभ्यता का सबसे पहला प्रमाण इटली की गुफाओ और शैलाश्रयो मे मिला है, जिनका काल ईसा से 10,000 वर्ष पूर्व आँका गया है। सबसे पुरानी गुफा सिसली द्वीप के पश्चिमी तट पर लिवाँजो (Livanzo), तथा प्राचीनतम शैलाश्रय सिसली के उत्तरी तट पर पैलेग्रिनो (Pellegrino), कैलेब्रिया के डैल रामितो (Del Ramito) और टिवोली के समीप ग्रोटो पोलेसिनी मे मिले हैं। इटली के धुर दक्षिण-पूर्व मे ओटराँटो के समीप रोमानेली (Romanelli) गुफा तथा इतालवी रिवीरा पर बाल्जी रौसी की ग्रिमाल्डी गुफा भी लगभग इतनी ही पुरानी है। इन गुफाओ मे पशुओ का शिकार करते शिकारियो के चित्र हैं। ग्रिमाल्डी गुफा से जो मानव अस्थिपजर मिले हैं उनसे यह प्रमाणित होता है कि उस समय इटली मे क्रो मैगनन मनुष्य रहता था। पत्थर के औजारो और सीपी के जेवरो से यह भी ज्ञात होता है कि उसका सम्बन्ध फ्रांस की मैग्डालेन सस्कृति से था। इसका अर्थ यह है कि ये लोग आल्पस के मार्ग से होते हुए इटली मे आकर बसे।

ये लोग वृक्षों से भोजन एकत्रित करते, शिकार करते, मछली पकडते तथा जगली घासो के बीज आदि से अपना पेट भरते थे। वे न तो खेती करते थे, न पशु ही पालते थे। इनके औजार पत्थर के होते थे तथा ये पहाडो की गुफाओ और शैलाश्रयो मे छोटे-छोटे झुँडो मे रहते थे। इनकी आबादी बहुत कम तथा बिखरी हुई थी।[1]

मध्य-प्रस्तर युग

5000 ई पू. तक इटली का जलवायु प्रात. स्थिर हो गया तथा पिछले सात हजार वर्षो मे वह लगभग अपरिवर्तित रहा है। इस युग मे इटली के निवासी प्रायद्वीप के भीतरी भागो तक फैलने लगे। उनके औजार अधिक परिष्कृत होने लगे तथा उनमे हड्डियो के औजार भी शामिल हो गये। इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह रही कि इटली के लोगो ने इस युग मे शिकार के लिए धनुष-बाण का आविष्कार कर लिया। किन्तु जहाँ इस शस्त्र ने उन्हे जगली पशुओ का स्वामी बना दिया वही उनकी मुट्ठियो मे वह शक्ति भी भर दी जिसके द्वारा उन्होने पूर्व-प्रस्तर युग के बचे-खुचे इतामवियो का सहार कर डाला। जो कुछ लोग बच गये उन्होंने नई सभ्यता को अपना लिया। ये लोग भी शिकार, मछली तथा घास और पेडो से अपना भोजन प्राप्त करते थे।

नव-प्रस्तर युग

इटली मे मध्य-प्रस्तर युग 1500 वर्ष तक रहा, तथा 3500 ई पू मे वहाँ नव-प्रस्तर युग की सभ्यता ने प्रवेश किया। इस सभ्यता ने सबसे बडी क्रांति यह की कि अब इटली का मानव अपने भोजन का स्वय उत्पादन करने लगा। उसने खेती शुरू की, फलो के पेड लगाये और पशुओ को पालना शुरू किया। ये पशु तीन

1 Op. cit, pp 8–20

कामो मे आते थे—खेत जोतने और बोझा ढोने, भोजन के लिए माँस जुटाने और शरीर ढँकने के लिए खाल और ऊन प्रदान करने के लिए। पशुओ का एक अन्य उपयोग भी था—उनकी हड्डियो से नुकीले तीर तथा अन्य उपकरण और आभूषण बनाए जाते थे।

नव-प्रस्तर युग की यह सभ्यता इटली मे सिसली से प्रविष्ट हुई तथा इसे दक्षिण से उत्तर की पो घाटी मे पहुँचने मे 1000 वर्ष लग गये। इस सभ्यता मे इटली के मैदानी क्षेत्रो मे गाँव बसने शुरू हुए जिनके चारो ओर खेत और चरागाह होते थे। गाँवो के बसने से मनुष्य को सुरक्षा मिली तथा खेती और पशु-पालन के द्वारा भोजन की सुनिश्चितता प्राप्त हो गई, अत- मानव-आबादी मे वृद्धि शुरू हुई। उधर खेती तथा पशु-पालन के कारण मानव जाति का सामना पहले-पहल ऐसी एक अर्थव्यवस्था से हुआ जिसमे *एक ओर स्वामित्व का विकास हुआ। दूसरी ओर* श्रम-विभाजन अनिवार्य हो गया, जिसके कारण नितान्त सहज और सरल समाज-व्यवस्था मे जटिलताएँ आनी शुरू हुईं।

खेती के साथ-साथ औजारो मे क्रान्तिकारी परिवर्तन आया, वे अधिक पैने, सुडौल और मजबूत बनने लगे तथा उनपर पालिश होने लगी। अब मिट्टी के बर्तन चाक पर बनाए और आवे मे पकाए जाने लगे। इसके अतिरिक्त सूत कातने और कपडा बुनने की कला भी विकसित हुई। घरो, खेतो, पात्रो और वस्त्रो पर सामान्य ज्यामितीय आकार उभरने लगे तथा रगो की विविधता के बोध और उनके मिश्रण द्वारा अनेक प्रकार के कलात्मक चित्र बनाए जाने लगे।

इस काल मे गेहूँ, जौ और रेशे के लिए सन अथवा जूट का उत्पादन होने लगा। पालतू पशुओ मे प्रमुखता भेड-बकरियो, सूअर और कुत्तो की रही। धीरे-धीरे गाय भी पाली जाने लगी, क्योकि खेती और बोझा ढोने के लिए बैलो की आवश्यकता महसूस होने लगी थी।

मृतको को निरपवाद रूप से दफनाया जाता था। उनके हाथ सीने पर और घुटने मोडकर पेट पर रखे जाते तथा उन्हे इसी रूप मे दफनाया जाता। गुफाओ मे रहने वाले लोग अपने मृतको को गुफाओ के फर्श के नीचे गड्ढे खोदकर दफना देते थे।

नव-प्रस्तरकाल का मानव इटली मे सिसली की ओर से होकर उत्तरी अफ्रीका से आया। उस काल में उसके पास पतवार से चलने वाली नौकाएँ होती थीं, जिनके द्वारा समुद्री व्यापार भी विकसित होने लगा था।

इस काल के अन्तिम चरण में मध्य यूरोप से आल्पस पार करके यूरोप की जातियो ने प्रवेश किया और वे झीलो के किनारो पर बस गईं। ये लोग अपने मृतको को जलाने के बाद उनकी अस्थियाँ और राख मिट्टी के पात्रो मे भरकर दफना देते थे। दलदल वाले क्षेत्रो तथा निचले क्षेत्रो में बसने के कारण वे अपने घर लकडियो के ऐसे मचानो पर बनाते थे जो धरती से इतने ऊँचे होते थे कि उनमें

बाढ का पानी प्रवेश नही कर पाता था । ये लोग यूरोपीय (Indo-European) भाषाओ का प्रयोग करते थे ।

ताम्र-प्रस्तर युग

नौकाओ द्वारा समुद्र के तटीय प्रदेशो और द्वीपो की यात्रा तथा व्यापार के सिलेसिले मे इटली के लोगो को पहले-पहल सायप्रस द्वीप पर तांबे के प्रयोग का ज्ञान हुआ और वे वहाँ से तांबा लाए । यही से इटली मे ताम्र-प्रस्तर युग का समारम्भ होता है । इस प्रकार सायप्रस से तांबा इटली के द्वीपो और दक्षिणी इटली मे आया तथा उत्तर के मैदानो मे स्पेन और मध्य डेन्यूब-घाटी से ।

इस युग मे इटली मे बाहर के लोगो का प्रवेश बडे पैमाने पर नही हुआ, परन्तु उत्तर की ओर से आकर पो घाटी में बसे मध्य-यूरोपीय नस्लो के लोगो ने प्रायद्वीप मे फैलना शुरू किया । इन लोगो को वहाँ पैलाफाइट (Palafitte) कहा जाता है । पैलाफाइट का अर्थ इतालवी भाषा मे नींव अथवा मचान है । जैसा पीछे कहा गया है, ये लोग मचानो पर घर बनाते थे, इसीलिए इन्हे पैलाफाइट कहा गया । ये जैसे दक्षिण की ओर फैले इन्होंने मैदानो मे जगल साफ करके खेत और चरागाहो का निर्माण किया । जलमार्गो से यात्रा के लिए ये लकडी के लट्ठो को बीच मे से खोखला करके छोटी नावें बनाते थे । इन्होंने पालतू पशुओ मे बैल तथा घोडे को भी शामिल किया तथा ये बाजरे की खेती भी करने लगे । ये मिट्टी के पात्र हाथ से बनाते और उन पर रगीन चित्रकारी करते तथा पहनने के लिए कपडा बुनते थे । खुदाइयो मे इनके द्वारा इस्तेमाल किए गए तकुए मिले हैं । ये पहियोदार गाडी का इस्तेमाल करते तथा पत्थर और काँसे के बर्तन एव औजार बनाने लगे थे।

काँस्य-युग

लगभग 1800 ई पू मे उत्तरी इटली मे काँसे का प्रयोग शुरू हुआ । अगले पाँच सौ वर्षो मे यह कला पूरी तरह विकसित हो गई । पिघले हुए तांबे को टिन के साथ मिलाकर काँसा बनाया जता था । मैसोपोटामिया और मिस्र मे काँसा 3000 ई पू. से ही इस्तेमाल हो रहा था, उसे इटली पहुँचने मे एक हजार वर्ष से अधिक समय लगा । उस काल की गति ऐसी ही मन्द थी ।

काँसे के औजार कठोर और मजबूत होते थे । उन्होंने पत्थर के औजारो की जगह ले ली । इसी समय आल्पस को पार करके मध्य-यूरोप से अनेक जातियाँ इटली मे आईं और पो-घाटी मे बस गई, धीरे-धीरे वे दक्षिण की ओर फैलती गईं । इन्होंने जो बस्तियाँ बसाईं और जिस सभ्यता का विकास किया उसे इतालवी भाषा मे टैरामारा (Terramara) कहा जाता है जिसका अर्थ होता है काली मिट्टी । इन लोगो को टेरामारिकोली (Terramaricoli) कहा जाता है । ये लोग लकडी के ढाँचे पर काली मिट्टी से घर बनाते थे, तथा गाँवो के बाहर मिट्टी की दीवार अथवा खाइयाँ होती थी । ये लोग दुधारी तलवार, चाकू और खुखरियाँ इस्तेमाल करते, पहियेदार बैलगाडी मे चढ़ते तथा काँसे का बिगुल बजाते थे ।

ये लोग अपने मृतकों को जलाकर उनकी अस्थियों और राख को कलश में भरकर गाँव के बाहर एक खाई के भीतर दफना देते थे। शुरू में कलश एक पंक्ति में सटाकर रखे जाते थे लेकिन बाद में उनके बीच पत्थर गाड़ने शुरू हो गए। यहीं से पृथक् कब्रें बनाने का रिवाज पड़ा। इन कब्रों में मृतक के बर्तन, जेवर और हथियार भी दफनाए जाने लगे।

प्रारम्भिक लौह-युग

900 ई पू में सिसली में लोहे का प्रयोग शुरू हुआ और अगली एक शताब्दी के भीतर उत्तर तक फैल गया। डेन्यूब की घाटी से लोहे के प्रयोग का ज्ञान उत्तरी इटली में पहुँचा।

प्रारम्भिक लौह युग में इटली में अनेक क्षेत्रीय संस्कृतियाँ पनपी। पो नदी की घाटी के मध्य भाग में कोमेनाइन-गोलासेक्कन (Comanine-golaseccan), तथा पूर्वी भाग में अटेस्टाइन (Atestine) संस्कृतियाँ विकसित हुईं। इसी प्रकार इटली प्रायद्वीप के उत्तरी भाग में अर्थात् टाइबर नदी-घाटी के उत्तर में विलानोवान (Villanovan), टाइबर-घाटी के निचले भाग में लेटियन (Latian), पूर्व में एड्रियाटिक सागर के तट पर पिसेनम के पठार पर पिसेन (Picene), दक्षिण में कैंपेनियन (Campanian), अपूलियन (Apulian), ब्रूटियन (Bruttian), तथा सिसीलियन (Sicilian) संस्कृतियाँ उभरी।

इन सबमें ऐतिहासिक दृष्टि से विलानोवान संस्कृति बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। इसमें काँसे, काँच, तृणमणि (Amber), सोने, लोहे और ऊन का बहुतायत से उपयोग हुआ। युद्ध में सैनिक तलवार, ढाल और कवच का प्रयोग करने लगे थे तथा अँगूठी, बाजूबन्द आदि आभूषण सोने से बनाये जाने लगे थे। मकान गोलाकार झोपड़ीनुमा होते थे और मृतकों की राख तथा अस्थियाँ मिट्टी और ताँबे के कलशों में दफनाई जाती थी। इस संस्कृति का एट्रस्कन जाति के उदय के साथ गहरा नाता रहा। इस जाति ने इटली के इतिहास पर अपनी गहरी छाप छोड़ी। विलानोवान संस्कृति को एट्रस्कन संस्कृति की जननी अथवा पूर्ववर्ती माना जाता है।

इस युग में इटली में आने वाली जातियों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण यूनानी जाति थी जो एड्रियाटिक सागर को पार करके दक्षिण इटली और सिसली के प्रान्तों में बस गई। यूनानवासियों के साथ हुए संसर्ग ने ही इटली के निवासियों को सभ्यता के नये पाठ पढ़ाये जिन्होंने रोम की सभ्यता के उदय में बहुत भारी भूमिका अदा की।

रोम की सभ्यता का प्रागैतिहासिक काल ईसापूर्व सातवीं शताब्दी के अन्त तक समाप्त हो गया और छठी शताब्दी ईसापूर्व में वह ऐतिहासिक युग में प्रवेश कर गई। रोम सभ्यता के राजनीतिक इतिहास और उसकी राजनीतिक संस्थाओं का वर्णन अगले अध्याय में किया जा रहा है।[1]

---

1 Op cit. pp, 8-20

33

रोम : राजनीतिक इतिहास की रूपरेखा, राजनैतिक चिन्तन और संस्थाएँ

(Rome : Outline of Political History, Political Ideas & Institutions)

रोम की प्राचीन सभ्यता का इतिहास छठी शताब्दी ई. पू. से आरम्भ होता है। इस काल मे इटली अनेक राज्यो मे विभाजित था जिनमे विविध प्रजातियों, कबीलो तथा जातियो के लोग निवास करते थे। उत्तर के मैदान मे पश्चिम से पूर्व की ओर लिगूरियन (Ligurians), राएती (Raeti) और वेनेती (Veneti) जातियाँ बसी हुई थी। प्रायद्वीप के पश्चिम मे टाइबर नदी से उत्तर की ओर एट्रस्कन (Etruscans), टाइबर नदी के दक्षिण मे लातीनी तथा मध्य इटली प्रायद्वीप मे उम्ब्रो-साबेलियन (Umbrosabellians) प्रजाति की अनेक उपजातियाँ स्वतन्त्र रूप से जीवन व्यतीत करती थी। दक्षिणवर्ती कैंपेनिया प्रान्त के निवासी ओस्कन (Oscans) कहलाते थे, सबसे नीचे एड्रियाटिक सागर के किनारे अपूलिया मे इयापाइजियन (Iapygians) तथा ठेठ दक्षिण-पश्चिम मे यूनानी रहते थे। सिसली मे मप्ल सिसेल (Sicels) जाति के लोगो को यूनानियो ने पराभूत कर दिया था। सार्डीनिया के उत्तर मे प्रस्तरयुग का मानव था तथा दक्षिण मे कार्थेजियन बस गये थे। इसी प्रकार कोर्सिका में वहाँ के आदिवासी थे, लेकिन उसके पूर्वी तट का कुछ भाग एट्रस्कन जाति का उपनिवेश बन गया था।

छठी शताब्दी ई पू मे यह ढाँचा बदला। इसका मुख्य कारण यह था कि इस काल में एट्रस्कन जाति ने दक्षिणी इटली को छोडकर लगभग समूचे देश और कोर्सिका द्वीप पर अपने पाँव पसारने शुरू किये तथा उनके साथ उनकी सभ्यता भी फैली। उधर दक्षिणी इटली, सिसली और सार्डीनिया पर यूनानियो ने फैलना शुरू किया तथा उनके साथ उनकी सभ्यता का प्रसार हुआ।

एट्रस्कन सभ्यता का प्रसार[1]

एट्रस्कन जाति को रोम के लोग टस्की (Tusci) कहते थे। इस जाति के उद्गम के बारे में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता लेकिन आम तौर पर यह माना जाता था कि यह जाति एड्रियाटिक सागर के पूर्व की ओर से आकर बसी मूलत आर्य जाति थी।

प्रायद्वीप के पश्चिम मे टाइबर नदी के उत्तर तथा पो घाटी के दक्षिण में एट्रस्कन जाति के बारह प्रमुख नगर-राज्य थे जिनमें किसी प्रकार की राजनीतिक एकता तो न थी लेकिन धार्मिक उत्सव तथा पर्व मनाने के लिए उनमे एक प्रकार का सम्मिलित सगठन बना हुआ था। आरम्भ में उनमे राजा होते थे जो कुलीन परिवारो के मुखियाओ अर्थात् लुकुमोन (Lucomones) की मदद से राज करते थे। बाद मे राजा समाप्त हो गए और कुलीनतन्त्र की स्थापना हो गई। वास्तव मे इन राज्यो मे किसी प्रकार का सुबद्ध राजनीतिक सगठन न था। जिस समय एट्रस्कन लोगो ने अपना राजनीतिक प्रभाव फैलाना शुरू किया तब भी उनके पास कोई राजनीतिक व्यवस्था न थी, चन्द सैनिक सरदार विजय अभियान पर निकलते और इटली के विभिन्न प्रदेशो को जीतते चले जाते। उसके बाद साम्राज्य के प्रशासन की कोई व्यवस्था उनके पास न थी। इन सरदारो ने अपने अलग-अलग राज्य बना लिए जिनमे न तो कोई केन्द्रीय सत्ता थी, न राजनीतिक एकता का कोई सूत्र। युद्धकाल मे अवश्य वे एक दूसरे की मदद करते थे। वे अपनी प्रजा को लूटते और सताते थे जिसके कारण वे लोकप्रिय नही हो पाये, लेकिन छठी शताब्दी ई पू मे वे सबसे अधिक शक्तिशाली राजनीतिक तत्त्व हो गए थे।

दक्षिण इटली मे तथा कोर्सिका मे उनका सामना यूनानियो से हुआ जिन्हे पराजित करने मे वे सफल रहे। वे एपेनाइन पहाड को लाँघकर उत्तर मे पो नदी घाटी तक जा पहुँचे तथा उन्होने एड्रयाटिक तट से आल्पस पर्वत तक का समूचा उत्तर भाग जीत लिया। उन्होने एपेनाइन के उत्तर मे फैलसिना नगर और पो नदी के मुहाने के समीप एड्रिया बन्दरगाह का निर्माण किया। इसी के नाम पर इस सागर का नाम एड्रियाटिक पडा।

एट्रस्कन सभ्यता एक मिश्रित सभ्यता थी जिसमे विलानोवान सभ्यता के साथ इटली के अन्य भागो तथा यूनान की सभ्यता का मिश्रण था। यह सभ्यता तीन प्रमुख आर्थिक स्तम्भो पर टिकी थी—खेती, उद्योग और व्यापार, तथा इस सभ्यता ने इन तीनो का बहुत विकास किया। उस काल मे इटली मे अगूर और जैतून के बाग लगाये गये, अनाज की उपज मे निर्यात की दृष्टि से वृद्धि की गई और घोडे पालने का उद्यम आरम्भ हुआ। कोर्सिका मे ताम्बे की तथा मुख्य भूमि पर एट्रूरिया मे ताँबे और टिन की खदानें खोदकर ये धातुएँ निकाली गई। काँसे का

1 The Etruscans Their Art and Civilization, *Richardson E.*, 1964 पर आधारित।

उत्कृष्ट कोटि का सामान बनने लगा, विशेषत कांसे के दर्पण तो यूनान तक मशहूर हो गये। एट्रस्कन जाति के स्वर्णकार सोने और चाँदी के सुन्दर आभूषण बनाने मे माहिर थे तथा कुम्हार बहुत उत्तम किस्म के काले मृदभांड बनाते थे।

वे कुशल नाविक थे तथा लम्बे समय तक नौसैनिक शक्ति बने रहे। वे बड़े जहाज बनाते और यूनान, फिनीशिया तथा कार्थेज के साथ भारी व्यापार करते थे। छठी शताब्दी के अन्त और पाँचवी शताब्दी ई. पू के आरम्भ मे उन्होने सोने और चाँदी के सिक्को की मुद्रा अपना ली थी। उन्होने अपनी बस्तियाँ ऊँचे स्थलो और पहाडियो पर बसाईं जिससे कि उनकी प्रतिरक्षा आसान हो गयी थी। अपनी बस्तियो के चारो ओर ये लोग मिट्टी का परकोटा बनाते थे जिसके बाहरी हिस्से मे पत्थर जडे जाते थे।

एट्रस्कन लोगो के जीवन मे धर्म का स्थान सर्वप्रमुख था। उनकी सबसे अधिक कलापूर्ण और पक्की इमारतें उनके मन्दिर थे, जिनमे उनके देवताओ की प्रतिष्ठा की जाती थी। इनमे पत्थर की नीव, मिट्टी की कच्ची ईंटो की दीवारें और लकडी की छतें होती थी जिन्हे पकाये हुए कलात्मक मृद्पात्रो से सजाया जाता था। एट्रस्कन सभ्यता के बारे मे सबसे अधिक जानकारी उनकी कब्रो से मिली है। वे अपने मृतको का दाह-सस्कार करके उनकी राख और अस्थियो को कलशो मे दफनाते थे। इसके अतिरिक्त उनमे मुर्दो को दफनाने की परम्परा भी थी। कब्रें कलात्मक ढग से बनायी और सजायी जाती थी तथा उनमे मृतको अथवा उनके अवशेषो के साथ उनके आभूषण भी दफनाये जाते थे। इन कब्रो मे सोने और चाँदी के जेवर भारी मात्रा मे मिले हैं।

एट्रस्कन लोग देवताओ के साथ शैतानी आत्माओ मे भी विश्वास करते थे और उन्हे सन्तुष्ट करने के लिए बलि चढाते थे तथा देवताओ की इच्छा जानने के लिए बलि चढाये गये पशु के जिगर का परीक्षण करते थे। उनके सर्वोच्च देवता तिनिया, ऊनी और मिनर्वा (Tinia, Uni and Minerva) थे। उन्हे यह विश्वास था कि पुरखो को प्रसन्न करने के लिए पशुओ और मनुष्यो की बलि चढाना बहुत आवश्यक है। इसके लिए वे दासो, विदेशियो और युद्धबन्दियो का इस्तेमाल करते थे। उनकी हत्या सार्वजनिक समारोह मे बर्बरतापूर्वक की जाती थी।

यूनान का प्रभाव[1]

इस काल का एक अन्य राजनीतिक यथार्थ इटली मे यूनान के लोगो का प्रभाव था। वे तेजी के साथ उपनिवेश बनाकर इटली मे प्रवेश करते गए, लेकिन एट्रस्कनो ने उन्हे टाइबर के उत्तर मे नही जाने दिया तथा कार्थेजियनो ने सिसली के पश्चिमी तटवर्ती क्षेत्रो, कोर्सिका और सारडीनिया मे प्रवेश नही करने दिया। परन्तु 480 ई पू. मे सायराक्यूज के शासक गेलोन ने हिमेरा मे कार्थेजियनो को परास्त करके प्राय: समूचे सिसली द्वीप पर आधिपत्य जमा लिया। छह साल बाद उसके

1 The Western Greeks, Dunbabin, T. J., 1948 पर आधारित।

उत्तराधिकारी तथा भाई ह्यरोन ने एट्रस्कन नौसेना को पराजित करके इटली की मुख्य भूमि पर वसे यूनानियो को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रदान की। प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग पर यूनानियो का पूर्ण अधिकार था जिसे वे इतालिया कहते थे। वे नेपल्स तक अपना प्रभुत्व स्थापित करने मे सफल रहे। इस समूचे क्षेत्र को वे महान् यूनान (Great Hellas) कहते थे। उनके नगर ही राजनीतिक इकाई थे और राज्य कहलाते थे, लेकिन सकट के समय ये आपस मे मिल जाते और शत्रु का सामना करते थे। इन राज्यो मे आपस मे काफी रागद्वेष रहता था जिसके कारण वे कमजोर पड़ते चले गए। पाँचवी शताब्दी के अन्तम चरण मे यूनानी नगर-राज्य लड़खड़ाने लगे तथा इटली की विभिन्न जातियाँ उन पर कब्जा जमाने लगी। सिसली मे सायराक्यूज के तानाशाह डायोनीसियस-प्रथम ने 360 ई पू तक यूनानी नगर-राज्यो को आपस मे मिलाकर एक साम्राज्य बना लिया जिसके कारण वे कार्थेजियो के दवाव को रोके रख सके। 339 ई पू मे कार्थेजियनो ने उनसे आधा सिसली छीन लिया।

राजनीतिक दृष्टि से इटली से यूनानी प्रभुत्व धीरे-धीरे समाप्त हो गया। लेकिन यूनानी सस्कृति, सभ्यता, भाषा, साहित्य, दर्शन, कला, स्थापत्य, राजनीतिक चिन्तन, धर्म और ऐतिहासिक चेतना का उस पर गहरा प्रभाव स्थायी रूप से बना रहा।

रोम का प्रादुर्भाव और विस्तार

रोम की स्थापना के बारे मे एक मिथकीय गाथा प्रचलित है कि अल्वा लोगा (Alba Longa) के एक राजा की बेटी और मगल देवता के सयोग से रोमुलस (Romulus) का जन्म हुआ जिसने रोम की स्थापना की। रोमुलस और रेमस जुडवाँ भाई थे। उन्हें एक मादा भेडिया ने अपना दूध पिलाकर पाला था। रोमुलस ने देवी के आदेश पर रोम नगर की स्थापना के लिए भूमि की हदवन्दी करने की दृष्टि से हल से एक रेखा खीची जिसे उसका भाई रेमस लाँघ गया। इस पर रोमुलस ने रेमस की हत्या कर दी। उसने रोम मे वसने वाले युवा लोगो के लिए पत्नियाँ प्राप्त करने के हेतु सैवाइन जाति की स्त्रियो का अपहरण किया।

वास्तव मे रोम की स्थापना इतालवी लोगो ने की थी तथा छठी शताब्दी ई पू के अन्त तक उन्होने समूचे लेटियम प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। रोम मे शासन-व्यवस्था का प्रारम्भ राजतन्त्र से हुआ। वहाँ राजा की कल्पना पिता के रूप मे की गई थी। जिस प्रकार रोम मे परिवार के भीतर यह परम्परा प्रचलित थी कि पिता को परिवार का मुखिया होने के वावजूद अपने वयस्क पुत्रो की इच्छाओ का आदर करना होता था, उसी प्रकार राजा भी एक ऐसे सविधान से बधा था जिसका सशोधन वह अपने राज्य के प्रमुख सरदारो की सहमति के विना नही कर सकता था। वास्तव मे राजा विधायी सत्ता का नही वरन् कार्यपालिका और न्यायपालिका सत्ता का अधिपति था।

रोम की सरकार के अन्तर्गत एक विधानसभा और एक परिषद् अथवा सीनेट होती थी। सभा मे वे सव नागरिक सदस्य होते थे जो सेना मे भरती होने

योग्य आयु प्राप्त कर चुके हों। इस सभा को यह अधिकार था कि वह राजा द्वारा प्रस्तावित किसी भी संविधान-संशोधन प्रस्ताव को रद्द कर सकती थी। वह राजा द्वारा दण्ड प्राप्त व्यक्तियो को क्षमा प्रदान करने और युद्ध छेड़ने के बारे मे भी अन्तिम निर्णय करती थी। इसके बावजूद इसे नीतियो मे परिवर्तन अथवा नये कानूनो के बारे मे प्रस्ताव पेश करने का अधिकार न था। इसके सदस्य तब तक भाषण नही दे सकते थे जब तक कि राजा उन्हे इसके लिए आमन्त्रित न करता।

रोम के समाज मे अनेक कबीले थे। इन कबीलो के मुखिया सीनेट के सदस्य होते थे। सीनेट को राज्य की प्रभुता का प्रतीक माना जाता था। जहाँ तक राजा का प्रश्न है वह सीनेट के अनेक सदस्यों मे से एक था, अन्तर केवल यह था कि उसे सीनेट की ओर से इस प्रभुता के उपयोग की शक्ति दे दी गयी थी। राजा का पद रिक्त हो जाने पर उसकी शक्ति वापस सीनेट को प्राप्त हो जाती थी तथा वह तब तक उसमे ही निवास करती थी जब तक कि प्रजा नये राजा का वरण नही कर लेती थी।

सीनेट का एक मुख्य कार्य सभा द्वारा अनुमोदित राजा के प्रस्तावो की समीक्षा करके यह पता लगाना था कि वे कबीलो और जनता के परम्परा द्वारा स्थापित अधिकारो का उल्लंघन तो नही करते। सीनेट की सहमति के बिना कोई भी प्रस्ताव कानून का रूप नही ले सकता था।

गणतन्त्र की स्थापना

राजा और सीनेट के बीच सत्ता के इस संघर्ष मे अन्ततः राजतन्त्र पराजित हो गया तथा उसको समाप्त कर दिया गया। छठी शताब्दी ई पू. के अन्त मे रोम मे कुलीन गणतन्त्र की स्थापना हो गयी। यह भी कहा जाता है कि अन्तिम राजा एट्रस्कन नस्ल का था जिसके परिवार के हाथो में सत्ता कुछ वर्ष पूर्व ही आयी थी। यह राजा कठोर प्रकृति का था। इसके शासन को विदेशी आततायी का शासन बताकर समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार राजतन्त्र की समाप्ति के पीछे राष्ट्रवादी दृष्टिकोण भी दिखायी देता है। यह रोमन गणराज्य अगली दो शताब्दियो तक जीवित रहा, लेकिन यह पूरा काल युद्ध का काल था जिसके द्वारा रोमन साम्राज्य का विस्तार हुआ। 265 ई. पू तक रोम ने पो नदी घाटी को छोड़कर समूचे इटली पर अधिकार कर लिया।

साम्राज्य का विस्तार

265 ई पू तक रोम का आधिपत्य सिसली पर स्थापित नही हो पाया था। रोम सिसली पर कार्थेज-साम्राज्य के विस्तार को ईर्ष्या की दृष्टि से देख रहा था, अन्ततः 264 ई पू मे कार्थेज के सैनिको ने पूर्वी सिसली मे सायराक्यूज और मेसाना के यूनानी प्रभुत्व वाले नगर-राज्यो पर कब्जा करने की कोशिश की तो रोम ने कार्थेज के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। कार्थेज की स्थापना 800 ई पू. मे फिनीशियनो ने की थी। छठी शताब्दी मे वह फिनीशिया से स्वतन्त्र हो गया

और उसने अफ्रीका के उत्तर मे नूमीदिया से लेकर जिब्राल्टर जलडमरूमध्य तक अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। धीरे-धीरे कार्थेज ने इटली के सारडीनिया और सिसली द्वीपो के अधिकांश पर भी अपना आधिपत्य जमा लिया।

सयोग की बात है कि आज से 2500 वर्ष पहले रोम और कार्थेज दोनो मे गणतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था थी तथा दोनो के गणतन्त्र मूलत धनिक-तन्त्रात्मक तथा सैनिक गणतन्त्र थे। कार्थेज का शासन वास्तव मे सीनेट की अन्तरंग परिषद् के हाथो मे था जिसके तीसो सदस्य कार्थेज के प्रमुख व्यापारिक घरानो के मुखिया होते थे।

रोम उसे भूमध्य सागर के अपने द्वीपो पर से अफ्रीका के उसके राज्य मे खदेडने के लिए 23 वर्षों तक युद्ध करता रहा और अन्त मे जीत गया। कार्थेज को क्षतिपूर्ति के तौर पर 3200 टेलेंट चाँदी चुकानी पडी जिसका वर्तमान मूल्य 25 लाख डॉलर होता है।

इस युद्ध और उसमें विजय ने रोम को दम्भी और साम्राज्य का प्यासा बना दिया। 218 ई पू मे जब कार्थेज ने स्पेन मे अपने साम्राज्य का विस्तार करने की कोशिश की तो रोम ने उस पर चढाई कर दी। मगर इस बार कार्थेज के सेनापति हनीबल ने रोम की सेना को 16 वर्ष तक छकाया तथा समय-समय पर वह इटली तक पहुँच गया और उसने इटली को जी भरकर लूटा मगर अन्तत' वह रोम की सेना के हाथो पराजित हो गया और रोम को इस बार 10,000 टेलेंट चाँदी का हर्जाना चुकाकर कार्थेज लौट गया, जिसका मूल्य आज 80 लाख डॉलर बैठता है।

रोम को इतने से सतोष न हुआ और उसके सेनापतियो ने कार्थेज को नेस्तनाबूद करने का सकल्प कर लिया। दूसरी शताब्दी ई पू. के मध्य मे कार्थेज अफ्रीका के अपने साम्राज्य मे सीमित और युद्धो से बचा रहने के कारण खूब सम्पन्न हो गया था। उसकी यह सम्पन्नता रोम से देखी न गयी। कार्थेज की सम्पन्नता का आधार उसका समुद्र-पारीय व्यापार था।

149 ई पू. मे रोम की सीनेट ने कार्थेज सरकार को आदेश दिया कि कार्थेज के लोग नगर खाली करके समुद्रतट से कम से कम दस मील भीतर चले जाएँ। कार्थेज के लिए यह आदेश स्वीकार करने का प्रश्न ही नही था। रोम यह जानता था। अब उसने कार्थेज पर चढाई कर दी तथा तीसरा प्यूनिक युद्ध शुरू हो गया। युद्ध केवल तीन वर्ष चला। रोम ने जिस क्रूरता और बर्बरता से कार्थेज के निवासियो को उनके घरो मे घुसकर मारा और उनके नगर को लूटा और जलाया, आज भी मानव जाति के इतिहास का वह अध्याय बर्बरता की पराकाष्ठा के रूप मे स्मरण किया जाता है। जिन कार्थेजवासियो ने समर्पण कर दिया उन्हे दास बना लिया गया। कार्थेज की समस्त भूमि सीनेट के सदस्यो के बीच बाँट दी गयी।

यूनान पर विजय

रोम के शासक यह नही भूले कि दूसरे प्यूनिक युद्ध के समय मेसीडोनिया

के फिलिप पचम ने कार्थेज के साथ सैनिक मैत्री स्थापित कर ली थी तथा वह सीरिया के सम्राट के साथ मिलकर मिस्र को आपस मे बाँट लेना चाहता था। अत. रोम ने यूनान पर धावा बोल दिया और शताब्दी के अन्त तक यूनान के सम्पूर्ण साम्राज्य को रोम साम्राज्य मे शामिल कर लिया।

गणतन्त्र का पराभव

रोम के साम्राज्य का इतना विस्तार होता जा रहा था और उसके लिए रोम के साधारण नागरिक सेना मे भरती होकर अपना जीवन बलिदान कर रहे थे लेकिन साम्राज्य के विस्तार का पूरा का पूरा लाभ सीनेट के सदस्यो को मिल रहा था, तथा साधारण नागरिको की आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय होती जा रही थी। यह एक खतरनाक स्थिति थी और शीघ्र ही नागरिको और सीनेट-सदस्यो के बीच गृहयुद्ध छिड गया। इसका नेतृत्व ग्राची (Gracchi) बन्धुओ ने किया। 133 ई पू मे टाइबीरियस ग्राची रोम की जन-प्रतिनिधि सभा (Plebian Council) का सदस्य चुना गया। उसने एक विधेयक पेश किया जिसमे कहा गया था कि रोम के किसी भी नागरिक अथवा सीनेटर के लिए भूमि के स्वामित्व की अधिकतम सीमा 620 एकड होनी चाहिए और इस कानून के बन जाने पर जिन लोगो के पास इससे अधिक भूमि है वह राज्य अपने हाथ मे ले ले और भूमिहीन लोगो मे बाँट दे। रूढिवादी सदस्यो ने टाइबीरियस के सहयोगी आक्टेवियस (Octavius) को अपने पक्ष मे कर लिया तथा आक्टेवियस ने टाइबेरियस के प्रस्ताव के विरुद्ध अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करके उसे समाप्त कर दिया। टाइबीरियस हार मानने वाला न था, उसने सविधान का उल्लघन करके आक्टेवियस को ट्रिब्यून पद से हटा दिया और अपना कार्यकाल समाप्त होने पर सविधान का उल्लघन करके पुन चुनाव लडने का फैसला कर लिया। इस बीच उसने अपने विधेयक को कानून बनवा लिया था।

टाइबेरियस द्वारा दोबारा चुनाव लडने का फैसला रोम की राजनीति मे हिंसा और हत्या के दौर का निमित्त बन गया। रूढिवादी सीनेटरो ने तोडफोड शुरू कर दी तथा हाथो मे डण्डे और कुर्सियो के पाये लेकर चुनाव के दौरान टाइबेरियस और उसके कई सौ साथियो तथा समर्थको को मार डाला।[1]

मगर टाइबेरियस की हत्या से सुधार और क्रान्ति का तूफान थमने वाला न था। 124 ई पू. मे टाइबीरियस का छोटा भाई गेयस ग्राची (Gaius Gracchi) उठकर खडा हो गया और अगले साल वह भी अपने भाई की तरह ट्रिब्यून चुना गया। अगली बार वह फिर से चुना गया। अब उसने क्रान्तिकारी सुधारो का काम हाथ मे लिया तथा सभा से कुछ कानून बनवाए जिनके अन्तर्गत अनाज के विशाल भण्डार बनाए गए और जीवन की बुनियादी आवश्यकताओ की सामग्री की कीमतो को चढने से रोका गया। रोम का साम्राज्य अब इटली के बाहर तक फैल गया था।

1 The Gracchi, H. C. Boren, 1968 पर आधारित।

ग्राची ने साम्राज्य के सभी देशो के मध्यमवर्गीय लोगो को रोम की नागरिकता प्रदान की। उसके द्वारा बनवाया गया सबसे अधिक क्रान्तिकारी कानून वह था जिसके अन्तर्गत यदि साम्राज्य के किसी प्रदेश का शोषण करने के आरोप पर किसी गवर्नर के विरुद्ध मुकदमा चलाया जाए तो मध्यमवर्ग के लोगो को जूरी के रूप मे कार्य करने का अधिकार होगा।

सीनेट इस बार पुन सुधारो का विरोध करने के लिए डटकर सामने आ गयी और उसने टाइबेरियस की तरह गेयस को भी उसके 3,000 अनुयायियो सहित मरवा डाला।

इस गृहयुद्ध का परिणाम यह हुआ कि रोम का गणतन्त्र स्वत समाप्त हो गया और उसके सेनापतियो ने उसका प्रशासन अपने हाथो मे सम्भाल लिया। यह प्रक्रिया सत्ता के अपहरण के रूप मे नही वरन् लोकतन्त्रात्मक रीति से ही सम्पन्न हुई। नागरिको ने सेनापतियो को विधिवत् निर्वाचित किया, और वे पहले की भाँति कौसल (Consul) ही कहलाए।

ऐसा प्रथम सेनापति गेयस मारियस (Gaius Marius) था जो 107 ई पू मे कौसल चुना गया। इसके बाद मारियस पाँच बार इस पद पर निर्वाचित हुआ।

मारियस ने अपने शासनकाल मे उत्तर की ओर से आने वाले आक्रमण-कारियो को परास्त किया और फ्रांस तथा जर्मनी के दक्षिणी भागो पर रोमन-साम्राज्य को सुदृढ बनाया। 88 ई पू. मे मारियस को अफ्रीका खदेडने के बाद उसके सहायक सुल्ला ने सत्ता सम्भाल ली।

अगले साल सुल्ला यूनान और एशिया की दिग्विजय के लिए सेना लेकर निकला। उसके पीछे से मारियस और उसका साथी सिन्ना रोम लौटे तथा सीनेट ने सिन्ना को कौसल बना दिया। अगले साल मारियस स्वयं सातवी बार कौसल चुना गया। 85 ई पू मे सिन्ना पुन कौसल बना। इसी समय सुल्ला एशिया की दिग्विजय से लौटा। सिन्ना ने अपनी सेना लेकर सुल्ला का सामना करने के लिए मैसीडोनिया की ओर कूच किया लेकिन उसकी सेना ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और वह अपनी ही सेना के हाथो मारा गया।

83 ई पू के बसन्त मे सुल्ला अपने 40,000 वफादार सैनिको और सोने-चाँदी के विशाल कोष के साथ इटली लौटा तथा ब्रुण्डीसियम के बन्दरगाह पर उतरा। अगले साल तक उसने अपने समस्त विरोधियो को पराजित कर दिया और रोम पर पुन अधिकार कर लिया। उसने इटली की शासन-व्यवस्था और साम्राज्य के प्रशासन को चुस्त बनाया। वह रोम का अधिनायक बन गया था, लेकिन वास्तव मे वह सत्ता मे व्यक्तिगत कारणो से नही वरन् रोम के गौरव की दृष्टि से रुचि लेता था। 81 ई पू मे उसने गणतन्त्रात्मक व्यवस्था पुन· स्थापित कर दी तथा धीरे-धीरे सत्ता का विकेन्द्रीकरण करने लगा। अगले साल उसने एक अन्य व्यक्ति को भी अपने साथ कौसल बना लिया और 79 ई. पू. मे सत्ता का

परित्याग कर दिया । जूलियस सीजर ने सुल्ला द्वारा सत्ता के परित्याग के कारण उसे राजनीतिक गधा कहा, लेकिन इटली के राजनीतिक इतिहास मे सुल्ला को एक विवेकी शासक तथा साम्राज्य-निर्माता के नाम से जाना जाता है । 78 ई पू. में सुल्ला का देहावसान हो गया ।[1]

पौम्पई-महान् के अट्ठारह वर्ष

इटली के एक सेनापति सेरटोरियस ने 77 ई पू मे स्पेन मे रोम के वैधानिक गवर्नर को पराजित करके स्पेन पर कब्जा कर लिया तथा वह अपने आपको रोम का शासक कहने लगा । सीनेट उसे मान्यता देने को तैयार न थी अत: उसने युवा सेनापति पौम्पई को 31,000 सैनिक देकर सेरटोरियस (Sertorius) पर चढाई के लिए भेज दिया । पौम्पई (Pompey) के लिए यह एक कठिन काम था । युद्ध लम्बा चला । पौम्पई के सौभाग्य से सेरटोरियस के सहायक परपरना ने ही सेरटोरियस की हत्या कर दी और स्वय उसकी सेना की कमान सम्भालकर पौम्पई के सामने आ डटा । मगर वह पौम्पई के सामने टिक नही पाया । अगले साल पौम्पई ने उसे पराजित कर दिया तथा बन्दी बनाकर फाँसी पर लटका दिया । पौम्पई विजयी होकर 71 ई पू मे रोम लौटा ।

सीनेट का बहुमत पौम्पई के पक्ष मे था अत सविधान के नियमो के विपरीत पौम्पई को कम आयु के बावजूद इटली के एक अन्य सेनापति क्रेसस के साथ कौसल बना दिया गया ।

इस समय रोम साम्राज्य के सामने एक बडी चुनौती समुद्री डाकुओ की थी जो रोम के व्यापारिक जहाजो को समुद्र पर लूट लेते थे । सीनेट ने उनका सामना करने के लिए पौम्पई को 500 जहाज तथा नौ-सैनिक भरती करने का अधिकार देकर नौ-सेनापति नियुक्त कर दिया । पौम्पई ने 40 दिनो के भीतर इटली के पश्चिम मे भूमध्यसागर से इन डाकुओ का सफाया कर डाला, और अगले 49 दिन मे उन्हे सिलीसिया मे घेर कर दुर्ग समर्पित करने के लिए बाध्य कर दिया । उसने उदारता से काम लिया । जिन डाकुओ ने उसका विरोध किये बिना उसके सामने समर्पण कर दिया उन्हे उसने क्षमा कर दिया और अपनी ओर से निर्जन द्वीपो मे बसा दिया ।

पौम्पई ने यह काम तीन महीने मे निपटा दिया, लेकिन सीनेट ने उसे तीन वर्ष तक अपना नौ-सैनिक अभियान जारी रखने की अनुमति दी थी अत उसके मन मे रोम-साम्राज्य के विस्तार की कामना उत्पन्न हो गयी । इसके लिए सीनेट की ओर से अधिकार की आवश्यकता थी । सीनेट ने पूर्व मे मिथ्रिडेट्स और टाइग्रेनेस का दमन करने तथा एशियाई प्रदेशो पर दिग्विजय प्राप्त करने का अधिकार दे दिया । एक साल के भीतर पौम्पई ने सीरिया तक समूचा क्षेत्र जीत लिया और 64 ई पू मे सीरिया तथा फिलीस्तीन पर भी अधिकार कर लिया ।

1 *N. G Sinnigen & A. E R. Boak* : A History of Rome to A D 565, MacMillan Pub. Co. New York, 1977, p. 194.

पौम्पई ने रोम के पूर्वी साम्राज्य को प्रशासनिक दृष्टि से सुदृढता प्रदान की तथा ईरान अथवा पर्थिया के साम्राज्य के विस्तार को रोकने के लिए एशिया माइनर के उन अनेक राज्यो के साथ मैत्री स्थापित कर ली जिनके राजा पौम्पई को सर्वोपरि मानने लगे थे। पौम्पई ने उनके राज्य नही छीने, लेकिन उनकी ओर से रोम के लिए वार्षिक भेंट की रकम निश्चित कर दी।

इसके बाद वह अपनी सेना लेकर रोम लौटा तथा लूट का समस्त सोना और चाँदी उसने रोम के राजकोष मे जमा करा दिया। रोम पहुँचकर उसने क्रेसस (Crassus) और जूलियस सीजर के साथ मिलकर एक त्रिगुट बना लिया। 59 ई. पू मे इस त्रिगुट के सामूहिक प्रयास से जूलियस सीजर कौसल चुना गया।

जूलियस सीजर (Julius Caesar) के प्रति पौम्पई पूरी तरह वफादार था। उसने सीजर की बेटी जूलिया के सग विवाह कर लिया। सीजर अगले वर्ष यूरोप की दिग्विजय के लिए निकला और उसने समूचा गाल प्रदेश (फ्रांस) तथा बेल्जियम और जर्मनी के दक्षिणी क्षेत्र जीत लिये। अगले वर्ष उसने समूचे बेल्जियम पर अधिकार कर लिया। 55 के अन्त और 54 ई. पू के आरम्भ मे सीजर ने ब्रिटेन पर चढाई की और उसे भी रोम साम्राज्य मे शामिल कर लिया।

इसी समय गाल प्रदेश के निवासियो ने रोम के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। जूलियस सीजर ब्रिटेन से लौटा और उसने विद्रोह का दमन कर दिया।

पौम्पई और सीजर मे फूट

सीजर की विजय ने पौम्पई को उसके प्रति ईर्ष्यालु बना दिया, तथा उसने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी कि 7 जनवरी, 49 ई. पू को सीनेट ने सीजर को रोम का शत्रु घोषित कर दिया तथा पौम्पई को राज्य की रक्षा का भार सौप दिया।

सीजर को जैसे ही यह समाचार मिला, उसने अपनी सेना लेकर आल्पस पार किया तथा वह इटली मे घुस आया। इटली के नगरो मे सीजर का स्वागत हुआ और वे उसे कर चुकाने लगे। यह देखकर सीनेट ने उसके साथ शान्ति वार्ता का प्रस्ताव रखा, लेकिन सीजर ने बात करने से इनकार कर दिया तथा यह प्रस्ताव रखा कि यदि पौम्पई अपनी सेना भग कर दे तो वह, अर्थात् सीजर भी सेना भग कर देगा। पौम्पई सीजर का सामना नही कर पाया तथा इटली से भागकर पूर्व की ओर चला गया। सीजर के पास नौ-सैनिक जहाज आदि नही थे अत वह पौम्पई का पीछा करने के बजाय रोम लौट गया। उसके सहायको ने सारडीनिया और सिसली पर अधिकार कर लिया, साथ ही रोम-साम्राज्य के अफ्रीकी प्रदेशो पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया जिससे कि रोम के लिए अनाज की आपूर्ति मे बाधा न पडने पाये।

सीजर और पौम्पई के बीच घोर सघर्ष चला जिसमे अन्तत पौम्पई पराजित होकर मिस्र भाग गया जहाँ उस राजा ने ही उसकी हत्या करा दी जिसके पिता को किसी समय पौम्पई ने जीवन का वरदान दिया था।

सीजर-क्लेयोपेट्रा गठबन्धन

सीजर भी मिस्र जा पहुँचा, जहाँ बीस वर्ष की क्लेयोपेट्रा और उसके 13 वर्षीय भाई टोलेमी-14 डायोनिसोम (Ptolemy XIV Dionysos) के बीच उत्तराधिकार का सघर्ष चल रहा था। मिस्र की परम्परा के अनुसार डायोनिसोस अपनी बहिन क्लेयोपेट्रा (Cleopatra) का पति भी था।

जूलियस सीजर ने मिस्र के राजघराने के इस संघर्ष मे हाथ डालने का निश्चय करके डायोनिसोम को गिरफ्तार कर लिया तथा सिकन्दरिया के लोगो द्वारा नगर से बहिष्कृत क्लेयोपेट्रा को वापस सिकन्दरिया ले आया। इस पर सिकन्दरिया की जनता सीजर के प्रति क्रुद्ध हो उठी और उसने मिस्र के राजमहल को घेर लिया जहाँ सीजर ठहरा हुआ था। उसके पास अपनी रक्षा के लिए पर्याप्त सेना न थी अत: उसने राजा को रिहा कर दिया जो उस के विरोधियो से जा मिला।

सीजर का भाग्य प्रबल था कि इसी समय पैरगामोन के मिथ्रिडेटेस ने सीरिया के मार्ग से मिस्र पर चढाई कर दी। इस युद्ध मे टोलेमी डायोनिसोस मारा गया। सीजर ने आक्रमणकारियो से दोस्ती गाँठ ली। सिकन्दरिया ने उनके सामने समर्पण कर दिया और क्लेयोपेट्रा का विवाह उसके छोटे भाई के साथ कर दिया गया तथा उसे राजा बना दिया गया।

सीजर और क्लेयोपेट्रा के बीच गहरा आकर्षण स्थापित हो गया। सीजर ने जाडो का पूरा मौसम उसके साथ रगरेलियो मे बिताया, लेकिन गरमी शुरू होते ही उसे एशिया माइनर के रोम-साम्राज्य पर आई विपत्ति का सामना करने के लिए जाना पड़ा।[1]

सीजर की तानाशाही

उधर रोम मे सत्ता के लिए सघर्ष छिड गया। सकट की इस घडी मे सीनेट ने 47 ई. पू. में सीजर को अधिनायक घोषित कर दिया। उस वर्ष सितम्बर मे वह रोम पहुँचा और उसने विद्रोह को कुचल दिया। वहाँ से वह अफ्रीका गया जहाँ उसके प्रतिद्वन्द्वी केटो ने पराजय के क्षणो मे आत्महत्या कर ली। अब सीजर का मार्ग साफ हो गया और 28 जुलाई, 46 ई पू को वह रोम का अधिनायक बन गया।

सीजर ने गणतन्त्र समाप्त कर दिया तथा साम्राज्य की समूची सत्ता अपने हाथो मे सम्भाल ली। उसने सीनेट को परामर्शदात्री परिषद् का रूप दे दिया तथा असेम्बली का मजाक उडाना शुरू कर दिया। उसके इस दम्भी व्यवहार से उसके निकट सहयोगी कैसियस (Cassius) और ब्रूटस (Brutus) जैसे लोग भी उससे नाराज हो गये तथा सीनेट की अगली बैठक के अवसर पर उसकी हत्या के षड्यन्त्र मे शामिल हो गये।

1 A History of Rome, op cit, p. 220.

15 मार्च, 44 ई पू को जूलियस सीजर सीनेट की बैठक मे भाग लेने गया। उस दिन वह सीनेट से राजा की उपाधि प्राप्त करना चाहता था। इसी समय कुछ सीनेटर उसके पास इकट्ठे हो गए और उन्होंने छुपाकर रखे हुए खंजरो से उसे घायल करना शुरू कर दिया। सीजर पहले तो उनका सामना करता रहा लेकिन जब उसने देखा कि उसके निकटतम मित्र ब्रूटस के हाथ मे भी खजर है तब वह मुस्कुराया और उसने इतना कहकर हथियार डाल दिये—'तुम भी ब्रूटस !'

सीजर की मृत्यु के बाद उसके मित्र मार्क एँटोनी ने सत्ता सम्भाली। सीनेट के सदस्यो का यह विचार सही न निकला कि सीजर की हत्या से जनता प्रसन्न होगी। इसके विपरीत, जनता सीजर का गुणगान करने लगी। एटोनी ने सीजर के उत्तराधिकारी और दत्तक पुत्र ऑक्टेवियन के साथ गठबन्धन करके सत्ता पर कब्जा बनाए रखा।

कुछ समय बाद एंटोनी ने मिस्र जाकर क्लेयोपेट्रा के साथ विवाह कर लिया, तथा वह मिस्र का सह-शासक बन गया। जिन दिनो जूलियस सीजर क्लेयोपेट्रा के साथ रहा उन दिनो वह गर्भवती हो गई थी तथा उसने एक पुत्र को जन्म दिया था जिसका नाम टोलेमी सीजर रखा गया। एटोनी ने सार्वजनिक रूप से यह घोषणा कर दी कि वह राजकुमार सीजर का बेटा है।

ऑक्टेवियन पहले ही एन्टोनी से नाराज था क्योकि उसने उसकी बहिन ऑक्टेविया को छोड कर क्लेयोपेट्रा के साथ विवाह कर लिया था। यह सुनने पर कि एन्टोनी ने क्लेयोपेट्रा के बेटे टोलेमी को सीजर का सगा बेटा घोषित कर दिया है ऑक्टेवियन एन्टोनी का शत्रु बन गया। इस प्रकार 33 ई पू मे उनका गठबन्धन समाप्त हो गया। दोनो के बीच युद्ध हुआ। एन्टोनी ने इस गलतफहमी मे कि क्लेयोपेट्रा ने आत्महत्या कर ली है स्वय आत्महत्या कर ली और एन्टोनी के मरने के बाद क्लेयोपेट्रा ने भी आत्महत्या कर ली। क्लेयोपेट्रा से सीजर और एन्टोनी दोनों के बेटो को ऑक्टेवियन ने मरवा दिया और वह रोम का एकछत्र अधिपति तथा जूलियस सीजर की विरासत का निर्द्वन्द्व उत्तराधिकारी बन बैठा।

सम्राट् ऑगस्टस (Augustus)

रोम के इतिहास मे पहली बार सम्राट् पद की स्थापना 16 जनवरी, 20 ई पू को उस समय हुई जब सीनेट ने ऑक्टेवियन को ऑगस्टस (आदरणीय) तथा इम्पेरेटर (Imperator) की उपाधियाँ प्रदान की। इम्पेरेटर का अर्थ है एम्परर (Emperor) यानी सम्राट्।

लेकिन इसका यह अर्थ नही कि रोम मे गणतन्त्र समाप्त हो गया। ऑगस्टस एक विवेकशील और पटु राजनीतिज्ञ था, उसने गणतन्त्र की सभी संस्थाओं को बनाए रखा, साथ ही वह वंशगत राजतन्त्र की स्थापना मे भी सलग्न रहा।

ऑगस्टस ने लम्बी उम्र पाई। 75 वर्ष की परिपक्व आयु मे वह 19 अगस्त, 14 ईसवी को दिवगत हुआ। उसके देहान्त के बाद उसे देवता घोषित कर दिया गया और उसकी विधिवत पूजा होने लगी। उसका मन्दिर भी बनाया गया।

टाइबीरियस

ऑगस्टस के देहान्त के बाद उसका सौतेला बेटा तथा उसकी बेटी जूलिया का तीसरा पति टाइबीरियस, जिसे उसने जीवनकाल में ही गोद ले लिया था, रोम का सम्राट् बना। वह एक कुशल सम्राट् था और उसने रोम-साम्राज्य का संरक्षण किया। 16 मार्च, 37 ईसवी में उसका देहान्त हो गया।

गेयस कैलीगुला

टाइबीरियस के बाद गेयस कैलीगुला उसका उत्तराधिकारी बना। गेयस उसका पोता था तथा उसने जीवनकाल में ही उसे गोद ले लिया था। गेयस की एक ही कामना थी कि उसके जीवनकाल में ही उसे देवताओं की तरह पूजा जाये। उसने नब और आदेश जारी कर दिए कि साम्राज्य के सभी मन्दिरों में उसकी मूर्तियाँ लगाई जायें और उनकी पूजा की जाएँ। यहूदियों को इस पर आपत्ति हुई तो उन्हें उत्पीडन झेलना पड़ा।

गेयस बहुत फिजूलखर्च था। उसने टाइबीरियस द्वारा छोड़े गए विशाल राजकोष को एक साल में ही खर्च कर डाला, धन प्राप्त करने के लिए प्रजा पर तरह-तरह के कर लगाए और उनकी जबरन वसूली की।

उसने जर्मनी और ब्रिटेन को जीतने की योजनाएँ बनायीं लेकिन उसका भारी विरोध हुआ। उसके बर्बर शासन से तंग आकर उसके ही लोगों ने जनवरी 41 ई में उसकी पत्नी और बेटी सहित उसका वध कर दिया।

क्लाडियस (Claudius)

कैलीगुला के देहान्त के बाद उत्तराधिकार की समस्या उठी क्योंकि वह निःसन्तान था। इसी बीच उसका एक चाचा क्लाडियस सामने आ गया और सीनेट ने उसे सम्राट् घोषित कर दिया। क्लाडियस देखने में बुद्धू लेकिन एक पटु राजनीतिज्ञ था। उसने 41 ई से 54 ई तक रोम पर राज किया तथा अफ्रीका और थ्रेस में रोम-साम्राज्य का विस्तार किया।

इस सम्राट् का अन्त राजमहल के एक घृणित षड्यन्त्र में हुआ। उसकी तीसरी पत्नी मेसालिना युवा गेयस सिलियस के प्रेम में फँस गई और उसने अपने इस प्रेमी को सम्राट् बनवाने के लिए जोड़तोड़ शुरू कर दिया। क्लाडियस के निकट के लोगों ने मेसालिना की खोटी नीयत पहचान ली और सम्राट् ने उसे मृत्यु दंड देने के लिए कहा। उसने यह तो नहीं किया लेकिन अपनी भतीजी एग्रिप्पिना (Agrippina) के साथ चौथा विवाह कर लिया। मेसालिना से क्लाडियस के एक बेटा और एक बेटी थी। इस बेटे को सम्राट् का उत्तराधिकारी माना जाता था, मगर क्लाडियस की चौथी पत्नी अपने पहले पति के उत्पन्न अपने बेटे डौमिटियस (Domitius) को सम्राट् बनवाना चाहती थी। 50 ई में उस आग्रह पर क्लाडियस ने डौमिटियस को गोद ले लिया तथा अब उसका नाम रखा गया नीरो क्लाडियस सीजर (Nero-Claudius-Caesor)। अगले साल तेरह वर्ष के नीरो को राजकुमार की पदवी प्रदान कर दी गई। ऐसे में यह निश्चित हो गया कि वह रोम का भावी

सम्राट् होगा। 53 ई में उसने क्लाडियस की सगी बेटी (अर्थात् अपनी सौतेली बहिन) ऑक्टेविया (Octavia) के संग विवाह कर लिया।

जब एग्रिप्पिना अर्थात् नीरो की माँ ने देखा कि मेसालिना अपने प्रेमी को एवं नारसिसस नामक एक सरदार क्लाडियस के बेटे ब्रिटानिकस को सम्राट् बनवाने के लिए षड्यन्त्र कर रहे हैं तो उसने समय गंवाना ठीक न समझा और क्लाडियस (अपने पति और रोम के सम्राट्) को विष दिलवा दिया।

नियति का कैसा विधान है कि क्लाडियस ने मेसालिना के हाथो से बचने के लिए जिस एग्रिप्पिना के संग विवाह किया था, उसने ही अपने एक ऐसे बेटे के लिए अपने पति को विष दिलवाया जिसने रोम के विशाल साम्राज्य और गौरव को धूल मे मिला दिया तथा स्वयं एग्रिप्पिना अर्थात् अपनी माँ को अपनी रखैल बनाकर रखा और अन्त मे अपनी एक अन्य रखैल के हाथो उसकी हत्या करा दी।

नीरो (Nero)

नीरो 54 ई मे रोम का सम्राट् बना। अगले साल ही उसने अपने भाई तथा सिंहासन के दावेदार ब्रिटानिकस की हत्या करा दी और 59 ई. मे अपनी माँ को मरवा डाला। ऑक्टेविया को तलाक देकर उसने मारकस सालवियस ओथो की पत्नी और अपनी रखैल पोप्पाया सैबिना के संग विवाह कर लिया तथा बीस वर्ष का होते-होते राज्य की बागडोर अपने हाथो मे सम्भाल ली।

नीरो एक सनकी और स्वेच्छाचारी सम्राट् था। उसके शासनकाल में एशिया माइनर से लेकर ब्रिटेन तक विद्रोह भड़क उठा जिसे दबाने के लिए उसने और भी अधिक बर्बरता का आश्रय लिया। स्वयं रोम मे वह अपने आपको असुरक्षित महसूस करने लगा था। इसी कारण उसने रोम के प्रायः सभी प्रमुख राजनीतिज्ञो को मरवा दिया जिनमे उसका गुरु और प्रमुख स्पेनी दार्शनिक सेनेका भी था।

अन्ततः नीरो को रोम से भागना पड़ा और जब उसे आत्मरक्षा की तनिक भी आशा न रही तो उसने अपने एक अंगरक्षक की मदद से आत्म हत्या कर ली।[1]

सेना का वर्चस्व

सन् 68—69 के एक वर्ष में रोम पर क्रमश. चार सम्राटों ने शासन किया। सेना मे जो पक्ष प्रबल हो गया उसने ही अपना सम्राट् स्थापित कर दिया। इसके बाद 235 ई तक रोम पर दो दर्जन से अधिक सम्राटो ने शासन किया जिनमे से अधिकांश की हत्या की गई। इन सम्राटो मे से अधिकांश साधारण प्रतिभा के लोग थे। इस काल के सम्राटो मे नेरवा (Nerva), ट्राजान (Trajan), एंटोनियस

1 *H. S Scullard* : From The Gracchi to Nero, Barnes & Noble, New York, 1959 पर आधारित।

पायस (Antonius Pius), मार्कस ऑरेलियस (Marcus Aurelius) तथा हेड्रियन (Hadrian) प्रसिद्ध हुए।

235 के बाद अगले 50 साल रोम के इतिहास मे विघटन तथा साम्राज्य के पुनर्गठन का काल माने जाते हैं। इस काल मे रोम गणतन्त्र की प्रतीक सीनेट नपुंसक होती चली गई तथा उसके हाथो से सम्राट् को नियुक्त करने की शक्ति पूरी तरह निकल गई। अब "गणतन्त्रात्मक व्यवस्था मे राजतन्त्र" का युग समाप्त हो गया तथा सम्राट् अपनी शक्ति के आधार पर बनने और बिगडने लगे। सीनेट नाममात्र के लिए बनी रही, लेकिन उसके हाथो मे राजनीतिक शक्ति तनिक न रही।

285 से 565 ईसवी

रोम साम्राज्य का अगला 280 वर्षों का इतिहास तीन कालखण्डो मे बाँटा जा सकता है। पहला कालखण्ड 285 से 395 का है जिसमे रोम साम्राज्य सगठित और सशक्त बना रहा तथा न विद्रोह से उसका कुछ बिगडा, न सीमा पार की बर्बर जातियो के आक्रमणो से उसको आँच आई। 395 से 518 तक साम्राज्य पूर्वी और पश्चिमी दो भागो मे बँटा रहा। पश्चिमी भाग जिसमे समूचा इटली (रोम सहित) रोम के हाथो से निकल गया तथा उस पर जर्मनी का अधिकार स्थापित हो गया, लेकिन पश्चिमी रोमन साम्राज्य सगठित बना रहा, और इस काल मे उसकी राजधानी कुस्तुन्तुनिया रही।

तीसरा कालखण्ड 518 से 565 का है जिसमे सम्राट् जस्टीनियन के प्रयासो से पश्चिमी रोम साम्राज्य भी पूर्वी रोम साम्राज्य मे मिल गया और रोम एक बार फिर राजधानी बन गया। इसके बाद रोम-साम्राज्य का विघटन तेजी से शुरू हो गया और विश्व की यह महान् प्राचीन सभ्यता तेजी से पतन के गर्त में चली गई।

यह समूचा काल निरकुश राजतन्त्र का काल है। इसमे डायोक्लेशियन (Diocletian), कॉस्टेन्टाइन–प्रथम (Constantine–I), जूलियन (Julian) और थियोडोसियस–प्रथम (Theodosius–I) सरीखे प्रसिद्ध सम्राट् हुए। इनमे कॉस्टेन्टाइन–प्रथम को सबसे अधिक महत्वशाली माना जाता है। उसने ही पूर्वी साम्राज्य मे कुस्तुन्तुनिया नगर बसाया जो जर्मनो द्वारा इटली पर कब्जा कर लिए जाने के बाद रोम साम्राज्य की राजधानी बना।[1]

राजनीतिक चिन्तन और संस्थाएँ

प्राय. सभी प्राचीन सभ्यताओ के बारे मे कहा जा सकता है कि उनमे राजनीतिक विचारो और सस्थाओ का जन्म एक साथ हुआ। यह कहना कठिन है कि रोम की सभ्यता मे विचार पहले उदय हुआ या सस्थाएँ पहले बनी। दोनो का विकास साथ-साथ होता रहा।

1 Western Civilizations, op cit, p. 207.

राजतन्त्र

रोम के प्राचीन इतिहास मे राजनीतिक संगठन की शुरुआत राजा (Rex) से होती है, किन्तु यह राजा न तो आरम्भ मे स्वेच्छाचारी था, व पितृगत उत्तराधिकार पर आधारित। राजा के साथ एक परिषद् और एक सभा की व्यवस्था भी थी। इसके अतिरिक्त राज्यो का स्वरूप नगर-राज्य का था और नागरिक नगर के मामलो मे सक्रिय भाग लेते थे।

राजा का निर्वाचन राजपरिवार के सदस्य करते थे। राजा की सत्ता (Imperium) मुख्यत तीन क्षेत्रो तक विस्तृत थी। वह प्रधान सेनापति, प्रधान पुरोहित और प्रधान न्यायाधीश होता था। राजचिह्न लकडियो का एक गट्ठर होता था जो रस्सी मे बँधा होता तथा उसमे एक कुल्हाडी भी होती थी।

राजा निरकुश नही होता था, उस पर पारम्परिक रीति-नीति और विधि-विधान का बन्धन तो रहता ही था, वह प्रजाजनो को नाराज करने का खतरा भी मोल नही ले सकता था।

परिषद् (Senatus) अथवा सीनेट आरम्भ मे नगर के वयोवृद्ध नागरिको और परिवारो के मुखियाओ का सदन थी, लेकिन धीरे-धीरे यह धनी तथा सैनिक दृष्टि से समर्थ सरदारो का सदन बन गई। शुरू मे रोम के लोग तीस समूहो (Curiae) मे बँटे थे। प्राचीन इतालवी भाषा के शब्द कोविरिया (Coviria) का अर्थ है समुदाय अथवा बिरादरी। इसी से क्यूरिया (Curiae) शब्द बना। 495 ई पू तक आसपास के गाँवो के रोम राज्य में मिल जाने के कारण इन समुदायो की सख्या तीस हो गई थी। क्यूरिया की सदस्यता परिवारगत होती थी तथा प्रत्येक क्यूरिया की अपनी अलग संस्कृति होती थी। कालांतर मे ये तीस क्यूरिया तीन समान भागो मे विभक्त होकर तीन कबीलो मे सगठित हो गईं रैमनेस (Ramnes), टाइटीज (Tities) तथा लुसेरेज (Loceres)।

तीसो क्यूरिया के सदस्य जब इकट्ठे बैठते तो उनकी बैठक को क्यूरियेट सभा अथवा समिति (कोमीटिया क्यूरियाता Comitia Curiata) कहा जाता। जब कभी समूचे समाज से सम्बन्धित कोई प्रसग उपस्थित होता, जैसे बच्चे गोद लेना, नागरिकता प्रदान करना इत्यादि, तब राजा स्वेच्छा से इस सभा की बैठक बुलाता था। इसे राज्य-सचालन के लिए कानून बनाने की शक्ति न थी, लेकिन जब कभी नये राजा (Rex) की नियुक्ति अथवा युद्ध की घोषणा का अवसर आता तो इसकी औपचारिक स्वीकृति लेना अनिवार्य माना जाता था। इस सभा का अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि उस काल मे रोम की सरकार को वैचारिक दृष्टि से नागरिको के प्रति उत्तरदायी माना गया था।

आरम्भ मे परिषद् अथवा सीनेट मे कुलीन घरानो के 100 मुखिया होते थे। बाद मे राजाओ ने सीनेट मे अपना प्रभाव स्थापित करने के उद्देश्य से सामान्य घरानो के 200 धनी व्यक्तियो को मनोनीत करना शुरू कर दिया जब

एक राजा ने कबीलो को समाप्त करके सभा को नष्ट करने की चेष्टा की ता सीनेट और सभा ने मिलकर 509 ई पू मे राजतन्त्र को ही समाप्त कर दिया।

गणतन्त्र

509 मे राजतन्त्र की समाप्ति के बाद रोम के गणतन्त्र ने राजा के पद का विकल्प खोजने की चेष्टा मे दो प्रधान कार्यपालिका अधिकारियो का निर्वाचन करना शुरू किया जिन्हे आरम्भ मे प्रेटर्स (Praetors) कहा गया और आगे जाकर कौसल (Consul)। ये कौंसल वर्तमान गणतन्त्रो मे राष्ट्रपति के समान होते थे, अन्तर केवल यह था कि वे दो होते थे तथा जब तक किसी भी विषय पर दोनो एकमत न होते तब तक वे कुछ नही कर सकते थे। एक को दूसरे पर निषेधाधिकार प्रदान किया गया था। यह सयुक्त उत्तरदायित्व (Collıgıalıty) की श्रेष्ठ व्यवस्था मानी जा सकती है।

रोम के लोगो की राजनीतिक चेतना काफी विकसित थी। वे यह जानते थे कि राज्य के जीवन मे ऐसे अवसर आ सकते है जब एक अधिनायक की सेवाओ की आवश्यकता हो, ऐसी स्थिति का सामना करने के लिए दोनो कौसलो को यह अधिकार दिया गया था कि वे सीनेट के परामर्श पर एक अधिनायक की नियुक्ति कर सकते थे, लेकिन यह अधिनायक छह महीने से अधिक अपने पद पर नही बना रह सकता था। इसे मैजिस्टर पौपुली (Magıster Populı) अर्थात् लोकप्रिय राष्ट्रपति कहा गया। केवल रोम के कुलीन नागरिक ही ये पद प्राप्त कर सकते थे जिन्हे पैट्रीशियन (Patrıcıans) कहा जाता था।

सीनेट के सदस्यो की नियुक्ति कौसल करते थे, लेकिन जो व्यक्ति एक बार सीनेट-सदस्य बन जाता उसे उसके जीवनकाल मे उस पद से हटाया नहीं जा सकता था, वह आजीवन सीनेट-सदस्य बना रहता था।

सीनेट अब बहुत प्रभावशाली हो गयी थी। उसकी सलाह की उपेक्षा करना किसी कौसल के लिए सम्भव नही था। कौसल का कार्यकाल केवल एक वर्ष होता था तथा वह लगातार दूसरे वर्ष कौसल नही चुना जा सकता था। सीनेट एक स्थायी सदन थी, ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक ही था कि वह अत्यधिक प्रभावशाली हो गयी। सीनेट को लोकसभा द्वारा पारित प्रस्तावो को रद्द करने का अधिकार भी था।

अब क्यूरियेट सभा का स्थान लोकसभा (Assembly of the People) ने ले लिया। लोकसभा का प्रमुख कार्य कौसलो का निर्वाचन करना और कौंसलो द्वारा उनके सामने रखे गये प्रस्तावो पर अपना मत व्यक्त करना था। सीनेट उसके निश्चय को उलट सकती थी। लोकसभा अपनी ओर से किसी प्रस्ताव की पहल नहीं कर सकती थी। लोकसभा मे मतदान क्यूरिया सामूहिक तौर पर करती थी। पहले तीसो क्यूरिया मे से प्रत्येक के सदस्य क्यूरिया मे निश्चय कर लेते थे, बाद मे क्यूरिया लोकसभा में इस निश्चय के अनुसार मतदान करती थी।[1]

1 A History of Rome, op. cit., pp. 66–67.

पैट्रीशियन—रोम गणतन्त्र मे सबसे अधिक प्रभावशाली समूह पैट्रीशियन वर्ग था। सीनेट पर इस वर्ग का एकाधिकार था तथा राज्य के सभी महत्त्वपूर्ण पदो पर इसके सदस्य ही नियुक्त होते थे, पुरोहित भी उन्हे ही बनाया जाता था।

रोम के केवल 1000 परिवार इसके अन्तर्गत आते थे जिनके वयस्क सदस्यो की सख्या लगभग 4,500 थी। ये रोम के कुल नागरिको का सात या आठ प्रतिशत भाग थे।

पुरोहित वर्ग—रोम मे धर्म का स्वरूप सार्वजनिक था तथा वह राज्य के प्रशासन का एक अंग बन गया था। धार्मिक मामलो का सचालन एक पुरोहित मण्डल (College of Priests) करता था। प्रधान-पुरोहित (Pontifex Maximus) का निर्वाचन नागरिक करते थे। प्रधान-पुरोहित एक पुरोहित को 'बलि समारोह का सम्राट्' (Rex Sacrorum) नियुक्त करता था। यह प्रथा राजतन्त्र के उस जमाने से चली आ रही थी जब यह पद राजा के पास होता था। प्रधान-पुरोहित द्वारा नियुक्त होने पर भी 'बलि समारोह का सम्राट्' (पदवीधारी पुरोहित) पुरोहितो मे प्रथम माना जाता था। पुरोहितो का कोई अलग वर्ग न था, वे पैट्रीशियन वर्ग के सदस्य होते थे। कई बार तो सीनेट के सदस्य अथवा कौसल भी पुरोहित नियुक्त किये जाते थे, क्योकि रोम मे धर्म की मुख्य चिन्ता का विषय राज्य का कल्याण था। राज्य, रोम तथा राजा की उपासना रोम के धर्म का प्रमुख अग बन गयी थी।

प्रधान पुरोहित पचाँग और धार्मिक उत्सवो-त्यौहारो की तिथियो का निर्धारण तथा हर महीने काम और अवकाश के दिनो की घोषणा करता था।

शतांक सभा (Centuriate Assembly)

पाँचवी शती ई पू के उत्तरार्द्ध मे लोकसभा का स्थान शतांक-सभा अथवा सैचूरियेट असेम्बली (Comitia Centuriata) ने ले लिया। चौथी शताब्दी ई पू के अन्त तक यह सभा प्रभावशाली बनी रही और लोकसभा के समस्त कार्य और अधिकार इसके पास रहे।

मूल रूप मे शतांक-सभा सैनिक-सिद्धान्त के आधार पर गठित सभा थी जिसमे सेना की बुनियादी इकाई सैचूरियाता (अर्थात् सौ सैनिको का एक दस्ता) को मतदान का आधार बनाया गया था। इसमे सैनिक उपयोग की दृष्टि से नागरिको का दो आधारो पर विभाजन किया गया था। पहला आधार था आयु वर्ग अर्थात् कनिष्ठ और वरिष्ठ आयु-वर्ग—17 से 46 वर्ष का कनिष्ठ आयुवर्ग तथा इससे ऊपर वरिष्ठ आयुवर्ग। दूसरा आधार था सम्पत्ति के आधार पर वर्ग-विभाजन। प्रथम वर्ग मे वे लोग आते थे जिनके पास भारी सैनिक-सामग्री खरीदने की क्षमता होती थी। इस वर्ग को क्लासिस (Classis) कहा जाता था तथा शेष नागरिको को वर्गेतर अथवा इन्फ्रा क्लासेम (Infra Classem) वर्ग जिसमे चार वर्ग होते है।

तीसरी शताब्दी ई पू के आरम्भ मे प्रथम वर्ग अर्थात् क्लासिस को शतांक सभा मे 80 शतांक (कनिष्ठ और वरिष्ठ वर्गो को चालीस चालीस), दूसरे, तीसरे

कौसल के अन्य कार्यो मे हाथ बटाते थे। दूसरे प्रकार के अधिकार सैंसर कहलाते थे। इनका काम हर पांचवें साल नागरिको की जनगणना और उनका विविध वर्गों मे विभाजन करना था।

प्रेटरो का निर्वाचन शतांक-सभा द्वारा एक वर्ष की अवधि के लिए और सैंसर का डेढ वर्ष के लिए किया जाता था। सैंसर को राजसत्ता (इम्पीरियम : Imperium) प्राप्त न थी। आगे जाकर ये अधिकारी सीनेट सदस्यो के आचरण का लेखाजोखा भी लेने लगे।

प्लेबियन विद्रोह

पाँचवी शताब्दी ई पू मे ही रोम के प्लेबियन (जन-साधारण) वर्ग ने पैट्रीशियन (कुलीन वर्गीय) प्रभुता के विरुद्ध आवाज उठानी शुरू कर दी, जिसने थोडे समय मे ही विद्रोह का सा रूप ले लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य के कानूनो को सहितावद्ध किया गया तथा जन-साधारण को कुलीन वर्ग के चगुल से बचाने के लिए व्यवस्था की गई। शताब्दी के मध्य तक स्थिति विस्फोटजनक हो गई तथा प्लेबियनो ने नये राज्य के गठन की धमकी देनी शुरू कर दी। उन्होने सैनिक ट्रिब्यूनो के नमूने पर अपने बीच से दस अधिकारियो का निर्वाचन करके प्लेबियन ट्रिब्यून (Tribuni-Plebis) की स्थापना कर ली।

पैट्रीशियनो को उनके सामने झुकना पडा। उन्होने इन ट्रिब्यनो को कौसल अथवा राजसत्ता-प्राप्त अधिकारियो का स्तर तो प्रदान नही किया लेकिन राज्य का अधिकारी मान लिया। प्लेब-ट्रिब्यून धीरे-धीरे शक्तिशाली हो गये तथा उन्हे पैट्रीशियन अधिकारियो के कार्यो पर निषेधाधिकार प्राप्त हो गया। यदि कोई अधिकारी उनके निषेधाधिकार को स्वीकार न करता तो वे उसे पकड़कर मार डालते थे। वास्तव मे प्लेब-ट्रिब्यून सस्था रोम के सविधान का अग नही बन पायी, वह एक क्रान्तिकारी सस्था थी।

जन-साधारण कबीलो मे सगठित थे। इन कबीलो ने रोम मे अपनी बृहत् सभा करनी शुरू की जिसमे हर कबीले की ओर से एक मत दिया जाता। इन सभाओ मे कुलीन वर्ग के लोगो को शामिल नही किया जाता था। ये सभाएँ प्लेब-परिषद् (Concilium Plebis) कहलाईं और इनके द्वारा पारित प्रस्ताव जन-निर्णय (प्लेबिसिटम : Plebiscitum) कहलाये। सीनेट ने प्लेब-परिषद् को स्वीकार नही किया, फिर भी वे इसकी उपेक्षा नही कर सकते थे अतः 447 ई. पू से ही कौसलो के निर्वाचन के लिए प्लेब-परिषदो (Concilium Plebis) के नमूने पर कबायली-सभा (Comitia Tributa) के अधिवेशन बुलाने लगे, जिनमे कुलीन वर्ग के लोगों को भी भाग लेने का अवसर मिला और इन सभाओ की अध्यक्षता एक कौंसल करता था।

इस प्रकार रोम गणतन्त्र में चार प्रकार की सभाएँ अथवा समितियाँ काम कर रही थी—क्यूरियेट, सैंचूरियेट, ट्राइबल असेम्बली और प्लेबियन काउंसिल (लोकसभा, शतांक-सभा, कबायली सभा और प्लेब-परिषद्)।

इस प्रसग में एक दिलचस्प बात यह है कि रोम के कानून के अनुसार यदि कोई पैट्रीशियन किसी प्लेबियन के साथ विवाह कर लेता तो उस विवाह को अवैधानिक माना जाता था। प्लेबियनो मे इस भेदभाव के प्रति गहरा रोष था। लेकिन जब पैट्रीशियनो की जनसख्या तेजी से गिरने लगी तब उन्होने ही 445 ई. पू मे इस कानून को रद्द कर दिया।

रोम बहुत समय तक जन-साधारण की उपेक्षा नही कर सकता था अत 367 ई पू मे यह व्यवस्था स्वीकार कर ली गई कि दो मे से एक कौंसल जन-साधारण मे से चुना जाए। 356 ई पू. मे तो एक प्लेबियन को अधिनायक चुना गया। सिनेट की सदस्यता के बारे मे एक प्रावधान यह था कि भूतपूर्व कौंसल, तथा प्रेटर सीनेट के सदस्य होगे अतः इस प्रकार सीनेट के द्वार प्लेबियनो के लिए खुल गए। 366 से 265 ई. पू. तक 36 प्लेबियन घरानो के 90 प्रमुख प्लेबियन सीनेट मे प्रवेश पा चुके थे। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस प्रकार सीनेट रोम के नागरिको की अधिक प्रतिनिधि बन गई जिससे उसके प्रभाव और उसकी शक्ति मे वृद्धि हुई। धीरे-धीरे प्लेबियन पुरोहित वर्ग मे भी प्रवेश पाने लगे।

287 ई पू मे प्लेबियन वर्ग के गरीब किसानो के कर्जे की समस्या बहुत उग्र हो उठी। उसके समाधान के लिए प्लेब-परिषद् ने सीनेट पर दबाव डालना शुरू किया जिसके फलस्वरूप सीनेट ने इस समस्या को हल करने के लिए एक प्लेबियन नेता क्विनटुस होरटेन्सियस (Quintus Hortensius) को अधिनायक चुना जिसने यह कानून बना दिया कि आगे से प्लेब-परिषद् द्वारा बनाए गए समस्त कानून सीनेट के अनुमोदन के बिना ही कानून के रूप मे मान्य होगे। यहाँ से प्लेब-परिषद् को सांविधानिक स्तर प्राप्त हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि शतांक-सभा महज निर्वाचन करने वाली सभा रह गई और प्लेब-परिषद् देश की सर्वोच्च विधायिका बन गई। इसके फलस्वरूप ट्रिब्यूनो की सत्ता मे भी वृद्धि हो गई। इस प्रकार रोम मे दोहरी तथा लगभग समानान्तर सांविधानिक सस्थाओ का निर्माण हो गया। एक ओर सीनेट, शतांक-सभा तथा उनके द्वारा निर्वाचित कौंसल थे, दूसरी ओर प्लेब-परिषद् और उसके द्वारा निर्वाचित ट्रिब्यून। 287 ई पू के बाद प्लेबियन-पैट्रीशियन सघर्ष समाप्त हो गया।[1]

दूसरा युग : 265 से 133 ई. पू.

रोम गणतन्त्र की राजनीतिक विचारधारा और सस्थाओ के विकास में दूसरा चरण 265 ई. पू. मे आरम्भ हुआ। इस काल मे अधिनायक की नियुक्ति के विरुद्ध सविधान मे उल्लेख तो नहीं किया गया लेकिन परोक्षतः उसको छोड़ दिया गया, साथ ही सत्ता के विभाजन की दृष्टि से तथा साम्राज्य के कुशल प्रशासन के लिए प्रेटर के पदो मे वृद्धि की गई तथा साम्राज्य के उपनिवेशो के राज्यपालो को भी प्रेटर का पद प्रदान किया गया। 140 के बाद उन्हे प्रोकौंसल और प्रोप्रेटर की पदवियाँ दी गयी और उनके साथ इन पदो के अधिकार भी।

1 A History of Rome, op, cit , p. 80–82.

धनिकतन्त्र का उदय

प्लेबियन-पैट्रीशियन सघर्ष मे जन-साधारण की विजय के कारण रोम-गणतन्त्र को न्यूनाधिक मात्रा मे लोकतान्त्रिक स्वरूप प्राप्त हो गया तथापि राज्य की प्रभुता 287 ई पू के बाद भी राज्य के धनिक वर्ग के हाथो मे बनी रही और शासन-व्यवस्था ने धनिक-तन्त्र का रूप ले लिया। इसका एक ही अच्छा पक्ष था कि कुलीनवर्ग के ह्रास के साथ धनिकतन्त्र जन-चरित्र ग्रहण करने लगा। उसमे रोम-साम्राज्य के विजित प्रदेशो के नागरिक भी भाग लेने लगे। हाँ, यह अवश्य हुआ कि रोमन कुलीनवर्ग को सामन्त अथवा नोवल (Nobiles, Nobilitas) कहलाने का एकमात्र अधिकार प्राप्त हुआ।

इस काल मे रोम के लोकतन्त्र के साथ वही त्रासदी घटित हुई जो आधुनिक काल मे लोकतन्त्र और साम्यवाद जैसे आदर्शो के साथ होती है। जन-साधारण वर्ग के जिन लोगो ने कुलीनवर्गीय सत्ता के विरुद्ध विद्रोह किया था वे जब सीनेट और सत्ता के पदो पर पहुँच गए तो वे स्वयं भी समाज के सुविधाभोगी और विशिष्ट वर्ग मे शामिल हो गए तथा लोकतन्त्र का अभियान अधर मे लटक गया। सत्ता और सुविधा पर धनिक वर्ग का एकाधिकार स्थापित हो गया।

यद्यपि शतीक-सभा का स्थान प्लेब-परिषद् ने ले लिया था तथापि उसके द्वारा निर्वाचित ट्रिब्यून प्लेबियनो के धनी वर्ग से ही आने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि सीनेट और प्लेब-परिषद् दोनो पर धनिक वर्ग का कब्जा हो गया और सीनेट अब सलाहकार परिषद् के स्थान पर सक्रिय कार्यकारिणी अथवा मन्त्रि-परिषद् बन गई।

रोम के लोकतन्त्र ने न तो नागरिक के मूल अधिकारो पर ध्यान दिया न उसकी स्वतन्त्रताओ पर। उसका ध्यान केवल उनके कानूनी सरक्षण पर रहा।[1]

छद्म रूप में राजतन्त्र : 133 से 78 ई पू.

यह काल रोम के इतिहास मे आन्तरिक विग्रह, कलह और गृहयुद्ध का काल रहा इस सघर्ष मे धनिकतन्त्र की जड़ें खोखली हो गई और छद्म रूप मे राजतन्त्र का उदय हुआ। वास्तव मे इस काल मे रोम-साम्राज्य के सामने जो राजनीतिक, सामाजिक, सैनिक तथा आर्थिक समस्याएँ उभर आई थी उनका हल खोजने मे परम्परावादी सीनेट (जिस पर धनपतियो का वर्चस्व था) सर्वथा विफल रही। इस काल मे होने वाले परिवर्तन की जड़ें इन समस्याओं मे थी लेकिन उनकी दिशा पूरी तरह राजनीतिक रही, धीरे-धीरे गणतन्त्र ने राजतन्त्र के सामने घुटने टेक दिए और राजा की निरकुश एव वशगत सत्ता का उदय हुआ। राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओ वाले स्वेच्छाचारी शासक सीनेट को अपने हितो की दृष्टि से विभाजित करने और अपने प्रयोजनो के लिए इस्तेमाल करने मे सफल रहे।

1 *F E Adcock*, op. cit., पर आधारित।

इस काल मे यह स्पष्ट हो गया कि रोम साम्राज्य मे सत्ता तक पहुँचने का सुगमतम और सीधा मार्ग सैनिक अभियानो मे सफलता है, अत सभी महत्त्वाकांक्षी राजनीतिज्ञ सेना का गठन करके विजय अभियानो का मार्ग अपनाने लगे।

83 ई पू मे सुल्ला ने सविधान की धाराओ का पूरी तरह अनुसरण करते हुए अपने लिए अधिनायक का पद और अधिकार प्राप्त कर लिए। यह इस बात का प्रमाण है कि सीनेट किस सीमा तक भ्रष्ट और विभाजित हो चुकी थी। सुल्ला ने अपनी असीम शक्ति का प्रयोग सबसे पहले रोम गणतन्त्र की आधार-शिला अर्थात् प्लेब-परिषद् के पख काटने के लिए किया। उसने ट्रिब्यून की शक्ति भी कम कर दी। उसने सीनेट मे अपने समर्थक भरने के लिए उसके सदस्यो की सख्या 300 से बढाकर 600 कर दी।

अधिनायकवाद और गणतन्त्र का पतन 76 से 14 ई. पू.

सुल्ला द्वारा राजनीतिक सन्यास ग्रहण करने और पोम्पई के उदय के साथ ही रोम मे अधिनायकवाद धीरे-धीरे प्रचण्ड रूप ग्रहण करने लगा तथा जूलियस सीजर के हाथो मे तो रोम-गणतन्त्र अधमरी अवस्था को ही पहुँच गया।

ब्रूटस, कॅसियस तथा उनके साथियो द्वारा सीजर की हत्या को रोम के कतिपय इतिहासकारो ने गणतन्त्र के पुनरुद्धार का प्रयास सिद्ध करने की चेष्टा की है, लेकिन इतिहास इस बात का साक्षी है कि सीजर का रक्त जैसे ही रोम की धरती पर गिरा उसमे से वशगत राजतन्त्र पूरी तरह और नंगे रूप मे उभर कर सामने आ गया। ऑक्टेवियन से लेकर नीरो तक की शासक-श्रृखला का इतिहास यह बताता है कि सीनेट और सभा उनके सामने कुछ नही कर पाई। भले ही ऑगस्टस जैसा उदार और लोक-हितैषी शासक रहा हो या नीरो जैसा स्वेच्छाचारी, दम्भी और दुश्चरित्र राजा; रोम की प्रजा और गणतन्त्रात्मक सस्थाएँ उनके सामने विवशतापूर्वक हाथ बाँधे खडी रही। उन्होने उनको अस्वीकार नही किया।

16 जनवरी, 27 ई पू का दिन रोम गणतन्त्र के इतिहास मे यथार्थ की स्वीकृति का दिन था जिस दिन रोम की सीनेट ने ऑक्टेवियन को 'ऑगस्टस' और एम्पेरेटर अर्थात् आदरणीय सम्राट् की उपाधि प्रदान की।

ऑगस्टस ने रोम मे एक छद्म राजतन्त्र की स्थापना की जो एक सांविधानिक तथा गणतन्त्रात्मक प्रतीत होने वाले ढाँचे के पीछे छिपा था। उसने अपने जीवनकाल मे ही अपने उत्तराधिकारी की खोज शुरू कर दी थी। इसी खोज मे उसने अपनी इकलौती सन्तान बेटी जूलिया के तीन विवाह किए और अन्तत. जब जूलिया व्यभिचारिणी हो गई और उसके दोनो बेटे अकाल मृत्यु का ग्रास हो गए तब हारकर उसे अपनी तीसरी पत्नी के बेटे (अपने सौतेले बेटे) टाइबीरियस को गोद लेना पडा। ऑगस्टस के देहान्त के बाद यही टाइबीरियस रोम का सम्राट् चुना गया। चुनाव महज रस्म थी।

एक ओर इस छद्म राजतन्त्र ने गणतन्त्र को उपहासास्पद बना दिया दूसरी ओर राजवश के भीतर सत्ता की गलाकाट होड उत्पन्न कर दी। राजपरिवार मे

नित्य षड्यन्त्र रचे जाने लगे, हत्याएँ होने लगी और रोम की समूची गरिमा धूल मे मिलने लगी। इस दुखद प्रकरण का अन्त नीरो के भ्रष्ट शासन के रूप मे हुआ।

चार राजाओ का राज

रोम की राजनीति मे सबसे अधिक दिलचस्प प्रयोग डायोक्लेशियन ने किया। उसने अपने सेनापति मैक्सीमियन को अपने सह-राजा के रूप मे वरण किया और उसको ऑगस्टस की उपाधि प्रदान की। इसके बाद उसने तथा मैक्सीमियन ने क्रमश दो उत्तराधिकारी नियुक्त किए जिन्हे सीजर की उपाधि दी गई—गेलेरियस और कॉंस्टेन्टियस। अपने उत्तराधिकारियो के पक्ष को मजबूत करने के लिए डायोक्लेशियन ने अपनी बेटी का विवाह गेलेरियस के सग और मैक्सीमियन ने अपनी बेटी का विवाह कॉंस्टेन्टियस के साथ कर दिया।

इन चारो ने साम्राज्य के अलग-अलग भागो मे अपनी राजधानियाँ बनाई। यह पहली बार था कि रोम-साम्राज्य की राजधानी रोम नगर मे नही रही। इन चारो मे से केवल एक राजधानी इटली मे रही वह भी रोम मे नही, मिलान मे।

यह प्रयोग रोम-साम्राज्य के लिए बहुत महँगा पडा। डायोक्लेशियन ने 1 मई, 305 को अपना पद छोड दिया और अपने सह-राजा मैक्सीमियन को भी पद-त्याग के लिए विवश कर दिया। बस यही से उत्तराधिकार का सीधा सघर्ष शुरू हुआ और राजा पद के सात दावेदार मैदान मे आ डटे। अन्तत कॉंस्टेन्टियस के बेटे कॉंस्टेन्टाइन प्रथम ने सबको पराजित करके चार राजाओ वाली विसगतिपूर्ण व्यवस्था को समाप्त कर दिया।

दैवी-राजतन्त्र का उदय

नीरो तक जो राजतन्त्र छद्म रूप मे चल रहा था वह चौथी शताब्दी ईसवी मे आकर पूर्णतया दैवी राजतन्त्र बन गया। तीसरी शताब्दी के अन्त मे डायोक्लेशियन ने ही यह दावा करना शुरू कर दिया था कि उसका चयन राजा पद के लिए जुपीटर (वृहस्पति) भगवान ने किया है, और वह अपने आपको जोवियस कहने लगा था।

कॉंस्टेन्टाइन-प्रथम के काल मे रोम का सम्राट् सीनेट के प्रति नही वरन् दैवी शक्ति के प्रति उत्तरदायी माना जाने लगा था जिसकी कृपा से वह अपना पद प्राप्त करता था। अब सम्राट् रोम का प्रथम नागरिक नही रह गया था, वह रोम का अधिशासक बन गया था और रोम के नागरिक उसकी प्रजा बन गए थे। राजा राज्य की समूची विधायी, कार्यकारी और न्यायिक सत्ता का स्वामी और प्रभुता का प्रतीक एव अधिष्ठान बन गया था। राजा को दैवी पद, तत्त्व और स्वरूप प्राप्त हो गया था और उसे "दैवी-सम्राट्" कहा जाने लगा था। उसके आदेश दैवी आदेश होने के कारण पवित्र समझे जाते थे और उनका उल्लंघन अपराध ही नही पाप भी माना जाता था।

राजा कानूनो का एकमात्र निर्माता और शासन तथा प्रशासन का एकमात्र नियामक और नियन्ता बन गया था। राजा को कानून बनाने की शक्ति असीमित थी, उस पर कोई सॉंविधानिक सीमाएँ अथवा मर्यादाएँ न थी, लेकिन यह कानून से

ऊपर अथवा उससे परे न होता था। वह जो कानून बनाता था स्वयं भी उनका आदर करता था अर्थात् वे कानून उस पर भी लागू होते थे। यदि वह स्वयं उनका उल्लंघन करता तो उनकी पवित्रता नष्ट हो जाती।

उत्तराधिकार की प्रक्रिया को सरल बना दिया गया था। अब उत्तराधिकार पितृगत या वंशगत नहीं होता था वरन् सम्राट् अपने उत्तराधिकारी के नाम की घोषणा करके उसे सेना के सम्मुख पेश करता था। सेना उसे सलामी देती थी। इसका अर्थ यह था कि सेना ने सम्राट् द्वारा मनोनीत उत्तराधिकारी को चुन लिया है। राजा के मनोनयन में किसी भी गैर-सैनिक तत्त्व की कोई भूमिका नहीं रह गयी थी।

सीनेट और अभिजात वर्ग

अब सीनेट रोम की नगर-परिषद् बन गई। नयी राजधानी कुस्तुन्तुनिया में बनाए जाने के बाद वहाँ भी सीनेट की स्थापना की गई। धीरे-धीरे उसमें राज्य के अधिकारियों की नियुक्ति होने लगी तथा उसका पुराना स्वरूप समाप्त हो गया।

अभिजात वर्ग का स्वरूप भी बदल गया। अब इस वर्ग पर पुराने पैट्रीशियन अथवा रोमवासी कुलीन लोगों का एकाधिकार न रहा। राजा की ओर से जिसे पैट्रीशियन की पदवी दे दी जाती वही अभिजात वर्ग में शामिल हो जाता। इसके अलावा सरकार के उच्च अधिकारी भी अभिजात वर्ग में गिने जाने लगे।

गणतन्त्र की किसी संस्था का कोई अस्तित्व न रहा। न सीनेट रही, न किसी प्रकार की कोई जनसभा रही, न नागरिकों को राज्य के कार्यों में भाग लेने का कोई अवसर ही राजनीतिक स्तर पर रहा। वे सरकारी नौकरियाँ कर सकते थे। उनमें भी अभिजात वर्ग को प्राथमिकता दी जाती थी।

34

रोम : समाज, अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकी

(Rome : Society, Economy & Technology)

रोम के लोग छठी शताब्दी ई. पू तक क्विराइट कहलाते थे, लेकिन जैसे-जैसे उनमे रोम का नागरिक होने की चेतना जागृत हुई वे रोमानी (Romani) कहलाने लगे। रोम के जो निवासी सेना मे भर्ती तथा सार्वजनिक धार्मिक समारोहों मे भाग लेने योग्य होते थे अथवा जिन्हे सभा मे भाग लेने का अधिकार था वे रोम के नागरिक अथवा पापुलस रोमोनस (Populus Romanus) कहलाए।

रोम के समाज की संरचना परिवार की बुनियादी इकाई के आधार पर हुई। परिवार उस समय एक सुबद्ध सामाजिक और आर्थिक सस्था था। एक ही पुरखे के वशज जन (Gentes) अथवा कवीला कहलाते थे। ये जन बुनियादी तौर पर सामाजिक इकाई थे, हालांकि वाद मे इन्होने राजनीतिक महत्त्व भी प्राप्त किया। जन के प्रत्येक सदस्य के नाम मे जन का नाम अवश्य रहता था तथा उनके अपने अलग-अलग धार्मिक कृत्य तथा समारोह होते थे जिनमे वाहर के लोगो को शामिल नही किया जाता था।

रोम के सामाजिक सगठन को समझने के लिए उसकी इस सामाजिक धारणा को समझना वहुत आवश्यक है कि सब मनुष्य समान नही होते, कुछ मनुष्यो का जन्म नेतृत्व करने के लिए और कुछ का अनुसरण करने के लिए होता है। अनुयायियो का यह पवित्र कर्तव्य होता है कि वे अपने स्वामी अथवा नेता के पीछे चलें, उसे आदर दें और आवश्यकता पडे तो आर्थिक सहारा भी प्रदान करें। साथ ही नेता अथवा सरक्षक का यह कर्तव्य होता है कि वह अपने अनुयायियो के जीवन तथा अन्य सभी प्रकार के हितो की रक्षा करे, भले ही वह युद्धक्षेत्र मे हो या अदालत मे। यह विलक्षण सम्बन्ध परस्पर विश्वास पर आधारित था तथा दोनो पक्ष अपने दायित्व के निर्वहन को अपना नैतिक कर्तव्य समझते थे। यही वह सम्बन्ध है जिसने समाज मे अभिजात अर्थात् पैट्रीशियन और सामान्य अर्थात् प्लेवियन वर्गो को जन्म दिया तथा एक अभिजातवर्गीय गणतन्त्र की रचना की।

पैट्रीशियन और प्लेबियन वर्गों ने एक प्रकार की जाति-व्यवस्था का रूप ले लिया, और यह व्यवस्था ऐसी रूढ़ हो गई कि पैट्रीशियनों ने कानून बनाकर अपनी जाति के लोगों पर यह पाबन्दी लगा दी कि वे प्लेबियनों के परिवारों में विवाह सम्बन्ध स्थापित न करें।

पितृसत्तात्मक समाज

रोम का समाज पितृ-सत्तात्मक समाज था। वहाँ समाज परिवारों का संघ था। परिवार का स्वरूप संयुक्त-परिवार का था तथा उसमें पिता की सत्ता सर्वोपरि होती थी। इस सत्ता को पैतृक-सत्ता (Patria Potestas) कहा गया। पिता को अधिकार था कि वह परिवार के भीतर किसी भी व्यक्ति अथवा दास को मौत के घाट उतार दे। दासों पर उसकी सत्ता को डोमीनियम (Dominium) कहा जाता था। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि पिता स्वेच्छाचारी अथवा मनमुखिया हो सकता था। उसे इस सम्बन्ध में स्थापित परम्पराओं और रीति-नीति का पालन करना पड़ता तथा कोई बड़ा कदम उठाने से पहले घर के बड़े-बूढ़ों से परामर्श करना आवश्यक था।

घर का मुखिया अथवा पिता परिवार की सम्पत्ति का प्रबन्ध करता था तथा उसकी मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति उसके बेटों में बँट जाती थी और वे अपनी-अपनी सम्पत्ति का प्रबन्ध स्वतन्त्र रीति से करते थे।

स्त्रियों की दशा[1]

रोम के प्रारम्भिक गणतन्त्र काल में स्त्रियों की स्थिति अनेक तत्त्वों पर निर्भर रहती थी, जैसे कि वे किस वर्ग की हैं—पैट्रीशियन, प्लेबियन, स्वतन्त्र अथवा दास, उनका चरित्र कैसा है—सम्मानजनक अथवा सम्मानहीन, उनकी आयु क्या है—युवा अथवा वृद्धा, तथा वे विवाहित हैं अथवा विधवा या अविवाहित।

समाज में स्त्रियों के लिए यह नियम सब पर समान रूप से लागू होता था कि प्रत्येक स्त्री का कोई न कोई पुरुष संरक्षक होना आवश्यक है, भले ही वह पिता हो, पति या निकट अथवा दूर का सम्बन्धी।

पिता को अपनी बेटी के बारे में यह निश्चय करने का अधिकार था कि वह विवाह के बाद उसकी सत्ता के आधीन रहेगी या अपने पति की सत्ता के आधीन। यदि पिता उसे उसके पति की सत्ता में सौंप देता तो वह अपने पति के परिवार के मुखिया की सत्ता के आधीन हो जाती, उसके पारिवारिक देवताओं की पूजा करती और उसकी सम्पत्ति में उसी प्रकार भागीदार होती जिस प्रकार कि उसकी अपनी बेटी।

रोम में पुरुष और स्त्री दोनों से ही उच्च नैतिक मानदण्डों की अपेक्षा की जाती थी, विशेषत स्त्री से तीन गुणों की अपेक्षा रहती थी—वह सतीत्व का रक्षण

1 *J. P. V. D. Balsdon*, Roman Women : Their History and Habits, New York, 1962 पर आधारित।

करे, पति अथवा सरक्षक की आज्ञा का पालन करे, तथा घर के कामकाज को दक्षता और मनोयोगपूर्वक करे। इस सबके बावजूद स्त्रियाँ पुरुषो की दास न थी, तथा सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करती थी।

यूनान के साथ सम्पर्क के कारण ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के आसपास रोम मे उच्चवर्गीय स्त्रियो को अधिक स्वतन्त्रता, निर्णय के अवसर और शिक्षा प्राप्त होने लगी। इसका एक कारण अभिजातवर्ग की समृद्धि भी रहा।

उस काल मे स्त्री पर से सरक्षण की अनिवार्यता समाप्त हो गई तथा विवाह के बाद उस पर पति की सत्ता की धारणा भी कमजोर पड गई। वे पति के बजाय पिता का सरक्षण पसन्द करने लगी क्योंकि विवाह के बाद पिता व्यावहारिक तौर पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने की स्थिति मे ही नही होता था। विधवाओ और आजीवन कुँवारी स्त्रियो को भी पहले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता मिल गई। अभिजात वर्ग की स्त्रियो को सम्पत्ति का अधिकार वैधानिक रूप से मिल गया जिसने उनकी सामाजिक स्थिति और उनके सम्मान मे बहुत वृद्धि की।

यहाँ यह बात स्मरणीय है कि रोम के समाज में परम्परा और परिपाटी के प्रति गहरा लगाव था। इस अर्थ मे उस समाज को रूढिवादी समाज कहा जा सकता है। वे अपने से बडो का आदर करते थे और उनसे सलाह लेना तथा उसके अनुसार आचरण करना अपना धर्म मानते थे। समाज के वर्गों के बीच गहरी विषमताएँ थी, लेकिन प्लेबियनो अथवा दासो मे अपने वर्ग की मर्यादाओ की चेतना थी और वे अभिजात वर्ग की स्थिति का आदर करते थे तथा उन्हे कानून द्वारा जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा के जो अधिकार दिए गए थे, वे उनसे सन्तुष्ट थे। यह सही है कि बीच-बीच मे प्लेबियनो ने पैट्रीशियनो के विरुद्ध विद्रोह किया, इसी प्रकार दासो ने भी अपने स्वामियो के विरुद्ध विद्रोह किया लेकिन धीरे-धीरे स्थिति वापस अपने मूल रूप में आ गई और विषमताएँ बनी रही।

रोम के नागरिक बचपन से ही अनुशासन के पाठ सीखते थे। बच्चो को पिता के मार्गदर्शन मे ही सदाचार, अनुशासन, खेलकूद, शस्त्राभ्यास, खेती, उद्योग तथा सामाजिक सस्कृति और इतिहास की शिक्षा मिलती थी।

अठारह वर्ष का होते ही रोम का युवा नागरिकता प्राप्त कर लेता, राज्य की 'सभा' मे भाग लेता और सेना मे भरती होता। अब वह पिता की सत्ता से धीरे-धीरे मुक्त होता जाता था, और यदि उसे किसी सरकारी पद के लिए चुन लिया जाता तो उसके पिता को अन्य नागरिको की भाँति उसके आदेशो का पालन करना पडता था।[1]

सामाजिक बन्धनो मे शिथिलता

ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध मे रोम के समाज मे भारी परिवर्तन आये। अनेक सामाजिक बन्धन शिथिल पड गए। स्त्रियो पर से पिता, पति अथवा पुरुष

1 *S Dill*. Roman Society from Nero to Marcus Aurelius, New York, 1905 पर आधारित।

सम्बन्धी की सत्ता पूरी तरह समाप्त हो गई जिसका परिणाम यह हुआ कि विवाह की स्थिरता नष्ट होने लगी और तलाक का आम प्रचलन हो गया। तलाक इतना आसान था कि पति अथवा पत्नी कोई भी यह घोषित कर सकता था कि उसने अपने पति अथवा पत्नी को तलाक दे दिया है, और तलाक मान्य हो जाता था।

इस काल मे उच्च-शिक्षा का प्रचलन आम हो गया था। स्त्रियो को भी उच्च शिक्षा मिलती थी जिसके कारण उनमे स्वाभिमान और स्वावलबन का भाव जागृत होता गया, तथा उनके सम्मान मे भी वृद्धि हुई। इस काल मे अनेक महिलाएँ साहित्यकार और दार्शनिक बनी। रोम में विदुषी महिलाओ के सरक्षण मे साहित्यकारो की गोष्ठियाँ एक आम बात हो गई थी। धनी महिलाएँ लेखको, कवियो और दार्शनिको को सरक्षण प्रदान करती तथा मच भी।[1]

रोम की महिलाओ को राजनीतिक सभा-समितियों, सीनेट आदि मे सदस्यता प्राप्त करने अथवा मत देने का अधिकार न था। वे राजनीतिक और प्रशासनिक पद भी नही पा सकती थी, लेकिन वे पर्दे के पीछे से साम्राज्य की राजनीति को खूब प्रभावित करती थी।

42 ई पू. मे तो रोम मे उच्च वर्ग की महिलाओ ने करो की भारी दरो के विरुद्ध एक विशाल सार्वजनिक प्रदर्शन किया और उसमे भाषण दिए जिनमे कहा गया था कि जब सीनेट मे स्त्रियो को प्रतिनिधित्व ही नही दिया जाता तो सीनेट को उन पर कर लगाने का क्या अधिकार है। इसका परिणाम यह हुआ कि करो की दरो मे भारी कटौती कर दी गई तथा स्त्रियो को युद्ध-कर से मुक्त कर दिया गया।

शिक्षा

रोम की भाषा निर्विवाद रूप से लेटिन थी, लेकिन साम्राज्य बहुत विस्तृत था, दक्षिणी इटली और पूर्व के प्रदेशो की भाषा प्रधानत. यूनानी थी। रोम पर भी यूनानी सस्कृति का गहरा प्रभाव था। सेना की भाषा लेटिन ही थी।

रोम की सभ्यता मे प्रारम्भ मे शिक्षा का व्यवस्थित विकास नही हुआ था और बच्चे अपने माता-पिता से ही विद्या ग्रहण करते थे, लेकिन यूनानी प्रभाव के पश्चात् उन्हे शिक्षा के महत्व का बोध हुआ। साथ ही रोम के साम्राज्य का विस्तार हो रहा था, ऐसे मे वह अशिक्षित नही रह सकता था। सबसे पहले रोम के लोगो को संवाद और सम्पर्क स्थापित करने के लिए साहित्य और दार्शनिक विचारो की शिक्षा की आवश्यकता थी। इसके लिए यूनानी और रोमन साहित्य तथा दर्शन का विधिवत् अभ्यास कराने की व्यवस्था हुई। शिक्षा इस समय तक धनी वर्ग को ही सुलभ थी क्योंकि सार्वजनिक विद्यालय तो थे नही, धनी लोग घर पर शिक्षक रखकर बच्चो को शिक्षा दिलाते थे।

1 A History of Rome, op cit, pp. 238–240.

ईसा-पश्चात् तीसरी शताब्दी के आस-पास शिक्षा का महत्त्व पहले से अधिक हो गया। इटली अथवा यो कहे कि रोम साम्राज्य के पश्चिमी भाग मे लेटिन प्रमुख भाषा थी, इसके बावजूद यूनानी भाषा का प्रारम्भिक ज्ञान भी अनिवार्य माना गया था। पूर्व मे लेटिन का प्रयोग सरकार के कानूनी दस्तावेजो और सैनिक उपयोग तक सीमित होता जा रहा था, फिर भी वहाँ लेटिन पढायी जाती थी।

लेकिन रोम की शिक्षा-प्रणाली मे लगभग एक हजार वर्ष के लम्बे काल कोई विशेष परिवर्तन नही आया और वह सही मायने मे विकसित भी नही हो पाई। शिक्षा मूलत भाषा और उसके व्याकरण पर केन्द्रित थी तथा वक्तृत्वकला पर विशेष ध्यान दिया जाता था। सरकार को प्रशासन के काम के लिए पढे-लिखे लोगो की आवश्यकता थी इसलिए वह पढने और लिखने पर ही बल दे रही थी। शिक्षक भारी फीस लेते थे जिसके कारण अमीरो के बच्चे ही शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। रोम के इतिहास मे अन्त्योक के लिबेनियस का नाम एक कुशल शिक्षक के रूप मे आता है। वह चौथी शताब्दी ईसवी मे हुआ। उसे रोम साम्राज्य की तत्कालीन राजधानी कुस्तुनतुनिया मे आमन्त्रित किया गया था लेकिन उसने अन्तयोक छोडकर वहाँ जाने से इनकार कर दिया था।[1]

सम्राट् कांस्टेन्टियस द्वितीय ने अपने काल मे शीघ्र लिपि को बहुत प्रोत्साहन दिया तथा गरीबो के बच्चो को शीघ्र लिपि सिखवाकर सरकार मे नौकरियाँ दी। इसी तरह थियोडोसियस ने कानून की शिक्षा को बढावा दिया और कानून मे शिक्षित लोगो को सरकार मे नौकरियाँ दी।

दास-प्रथा

रोम की समूची अर्थव्यवस्था दासो पर निर्भर थी। दूसरी शताब्दी ई पू. के समूचे काल मे रोम विदेशो पर विजय प्राप्त करके वहाँ से असख्य लोगो को बन्दी बनाकर लाया जिन्हे बाजारो मे दासो के रूप मे बेचा गया। रोम की सभ्यता पर सबसे बडा कलंक इन दासों के प्रति उनका व्यवहार है। रोम की समूची खेती दास-श्रमिको के जिम्मे थी, व्यापारिक संस्थानो और उद्योगो मे 80 प्रतिशत से अधिक श्रमिक दास थे। इन दासो को राज्य के कानूनो से किसी प्रकार का सरक्षण प्राप्त न था। उनके मालिक उनका जमकर शोषण करते, परिश्रम कराते तथा जीवन की कोई भी सुविधा पर्याप्त मात्रा मे न देते अन्त मे जब वे काम करने के अयोग्य हो जाते तो उन्हे सडको पर निकाल देते।[2]

दासो का सबसे बर्बर इस्तेमाल जनता के मनोरजन के लिए किया जाता। उन्हे शस्त्र चलाना सिखाया जाता और थियेटर मे उनका युद्ध आयोजित किया जाता जो तब तक चलता जब तक वे लहू लुहान होकर धराशायी न हो जाते। वे जिस मच पर लडते थे उसके नीचे एक गहरा गढा होता था। जब वे आहत होकर गिर

1 A History of Rome, op. cit., pp. 488-490.
2 Western Civilizations, op. cit, pp 191-192.

जाते तो लकड़ी का तख्ता हटाकर उनके शव नीचे फेंक दिए जाते जहाँ से उन्हें जगल मे फिकवा दिया जाता।

रोम के विलासी नागरिक दासो को घरेलू नौकरो के रूप मे इस्तेमाल करते। दासियों का खुले आम यौन-शोषण किया जाता, उन्हे वेश्यालयो मे डाल दिया जाता। वे स्नानागारो मे नग्न पुरुषो का बदन रगड़ती तथा उनके मनोविनोद का साधन बनती।

खेतो और उद्यानो पर दासो को लोहे की जजीरो से बाँधकर रखा जाता। रात के समय उन्हे तलघर मे बन्द कर दिया जाता। ये दास यूनान, फ्रांस, मिस्र, कार्थेज, स्पेन अथवा ब्रिटेन से लाए गए गोरे लोग थे तथा इनमे से कितने ही विद्वान तथा कुलीन घरानो के थे, लेकिन उनके साथ व्यवहार मे किसी प्रकार की नम्रता नही बरती जाती थी।

इसका परिणाम यह हुआ कि 135 ई पू में सिसली मे 70,000 दासो ने विद्रोह छेड दिया और तीन वर्ष रोम की सेना का दमन सहते रहे। इसके कोई तीस वर्ष बाद सिसली मे ही दूसरा दास विद्रोह हुआ। इस विद्रोह के दमन मे रोम की सेना को तीन वर्ष लगे।

तीसरा दास विद्रोह 73 ई. पू. मे हुआ। एक प्रशिक्षण केन्द्र मे दासो को जनता के मनोरजन के लिए लडने (Gladiation) का प्रशिक्षण दिया जाता था। वहाँ से ये दास विद्रोह करके भाग निकले और विसूवियस ज्वालामुखी पर जा चढे। धीरे धीरे उनकी सख्या सत्तर हजार हो गई। वे यूरोप के अनेक देशो मे फैल गए और उन्होने रोम की सेनाओ के छक्का छुडाए।[1]

दासो के प्रति व्यवहार मे मानवतावादी दृष्टिकोण तब उभरा जब प्रसिद्ध दार्शनिक सिसरो ने उनके प्रति बरती जाने वाली बर्बरता की घोर निन्दा की। उसके बाद कानून द्वारा मालिको के अधिकार सीमित कर दिए गए, और दासो के प्रति मानवीय व्यवहार अनिवार्य कर दिया गया। यह तो हुआ, लेकिन दासप्रथा बराबर बनी रही और तीसरी शताब्दी ईसवी मे भी रोम मे लाखो दास थे। इसके बाद दासो को मुक्त किया जाने लगा और उन्हे विमुक्त जाति (Freedmen) कहा जाने लगा। ये लोग छोटा मोटा धन्धा करते तथा सरकारी नौकरियो मे भरती हो जाते थे। बाद मे उन्हें सेना मे भरती किया जाने लगा।

उत्सव और मनोरंजन

रोम के लोग उत्सवप्रिय थे। टाइबीरियस के काल मे वर्ष मे 87 दिन उत्सवो और मनोरजन के लिए निश्चित किए गए थे। इन दिनो मे पूर्ण अवकाश रहता था। मारकस ऑरेलियस के काल मे तो इन दिनो की सख्या बढकर 135 हो गई थी। कोई कोई राजा अपनी विजय के उपलक्ष्य मे लम्बे अवकाश घोषित कर

1 *Keith Hopkins* : Conquerors and Slaves, Cambridge, 1978 पर आधारित।

देना था जैसे कि ट्राजान ने लगातार 123 दिन का अवकाश दिया था। इस अवधि मे पूरे समय सार्वजनिक उत्सव और मनोरजन के कार्य-क्रम चलते रहे थे। इनमे लाखो लोगो को मुफ्त अनाज बाँटा जाता और कभी-कभी तो धन भी बाँटना पडता था। यह खर्च सीनेटर और कौंसल इधर-उधर से इकट्ठा करते थे।

रोम के लोगो के मनोरजन बहुत बर्बरतापूर्ण होते थे। उनमे दासो का प्राणघाती युद्ध तो शामिल था ही, नाना प्रकार के पशुओ के बीच जीवित सघर्ष भी आयोजित किया जाता। मच पर हरिण और शेर एक साथ एक बाड़े मे छोड़ दिए जाते और शेर दर्शको की आँखो के सामने शिकार करते। विशाल खुले और बन्द थियेटर बनाए गए थे जिनमे लाखो लोग एक साथ बैठ सकते थे।

अर्थव्यवस्था

राजतन्त्र की समाप्ति के बाद पाँचवी शताब्दी ई पू मे रोम का पर-राष्ट्र व्यापार घट गया था तथा उसकी अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार खेती तथा पशु-पालन बन गए थे। भूमि पर व्यक्तिगत मालकियत होती थी। पैसे के लेन-देन का नियमन राज्य की ओर से किया जाता था। ब्याज की दर 8 33 प्रतिशत तय की गई थी, अधिक ब्याज लेने वाले को चार गुना रकम लौटानी पडती थी। 370 ई पू मे यह दर घटाकर 4 16 प्रतिशत कर दी गई और पाँच साल बाद पैसे की लेन-देन पर ब्याज को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया।

जैसे-जैसे साम्राज्य का विस्तार हुआ सीनेट के सदस्यो ने बडी-बड़ी जागीरें प्राप्त कर ली और वे उन पर दासो से खेती कराने लगे। गेहूँ, जई, दालें, सब्जी और नाशपाती, सेब, अंगूर तथा अजीर जैसे फलो के वृक्ष उगाये जाते थे। जैतून की खेती बडे पैमाने पर की जाती थी और उसका तेल खाने के काम में लिया जाता था। बडे जागीरदार अपनी जमीन पर विशाल बाग लगाते थे और उसमे उत्पन्न फलो, विशेषत अगूर से शराब बनाई जाती थी।

पालतू पशुओ को बोझा ढोने, ऊन तथा माँस के लिए इस्तेमाल किया जाता था। माँस केवल मालदार लोगो के खाने मे ही प्रचुरता से होता था, सामान्य लोग उत्सवो के अवसर पर ही खाते थे।

सिक्को का प्रचलन

आम लोग अपनी जरूरत की चीजें हाट मे से खरीदते थे। हाट 9 दिन में एक बार लगता था। तीसरी शताब्दी ई पू के अन्त तक रोम में सिक्को का प्रचलन न था और बाजारो मे लेन-देन वस्तु-विनिमय के आधार पर चलता था।

मुद्रा के रूप मे भेडो का इस्तेमाल होता था। लेटिन भाषा मे पशुओ के झुंड को पेसस (Pecus) कहते हैं, इनसे पेकूनिया (Pecunia) शब्द का निर्माण हुआ जिसका प्रयोग रोम मे मुद्रा के लिए होता था। (पैसा शब्द भी लेटिन के पेसस शब्द से ही बना प्रतीत होता है)। पाँचवी शताब्दी के अन्त मे धीरे-धीरे काँसे के टुकडो का सिक्को के रूप में प्रयोग होने लगा था। एक साँड अथवा 10 भेडो का मूल्य 100 पौण्ड काँसा निश्चित किया गया था। पौण्ड मे 12 औंस होते थे।

इटली मे सबसे पहले नेपल्स ने यूनानी भाषा की मुहर वाले काँसे के सिक्के जारी किए थे। इसके बाद रोम ने भी काँसे के सिक्के जारी किए जिन पर रोम की मुहर थी। शीघ्र ही चाँदी के सिक्के भी जारी किए गए।

आगे जाकर रोम की मुद्रा दीनार (Denarius) कहलाने लगी। नीरो के जमाने मे रोम की आर्थिक स्थिति इतनी बिगड गई थी कि उसने चाँदी के दीनार मे 10 प्रतिशत ताँबे की मिलावट शुरू करा दी। ट्राजान ने ताँबे का प्रतिशत 15 प्रतिशत कर दिया, मारकस ग्रारेलियस ने 25 प्रतिशत और सेवेरस ने 40 प्रतिशत। दीनार के अलावा ऑरियस (Aureus) नाम से सोने का सिक्का भी जारी किया गया, जिसका वजन भी नीरो के समय से गिरना शुरू हो गया।[1]

286 ईसवी मे डायोक्लेशियन ने शुद्ध सोने के सिक्के का वजन एक ग्रौंस का पाँचवाँ भाग अर्थात् 6·22 ग्राम निर्धारित किया। 295 मे उसने चाँदी के सिक्के मे भी सुधार किया। कॉंस्टेन्टाइन-प्रथम ने सोने के सिक्के का नाम सोलिडस (Solidus) रखा और उसका वजन घटाकर 5 2 ग्राम कर दिया, तथा चाँदी के सिक्के का नाम सिलीक्वा (Siliqua) रखा और उसका मूल्य सोलिडस का चौबीसवाँ भाग कर दिया।

इस काल की एक विशेषता यह रही कि सिक्के का मानदण्ड निर्धारित करने के बावजूद राज्य ने उसके प्रति अपना विश्वास प्रकट नही किया। डायोक्लेशियन ने भूमिकर की मुद्रा मे वसूली बन्द कर दी और भूमिकर किसान की उपज के एक भाग के रूप मे वसूल करने का आदेश जारी कर दिया। वास्तव मे वह मुद्रास्फीति से डरता था। उसे भय था कि यदि भूमिकर मुद्रा मे तय किया गया तो मुद्रास्फीति होने अथवा अन्य कारणो से मुद्रा का अवमूल्यन होने पर राज्य को प्राप्त होने वाली आय मे कमी हो जाएगी। अन्य सभी कर मुद्रा मे निर्धारित किए गए।

उद्योग और व्यापार

एट्रस्कन शासनकाल मे रोम मे मिट्टी के बर्तन तथा काँसे और लोहे का सामान बनाने के उद्योग शुरू किए गए थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि छठी शताब्दी मे रोम मे बृहस्पति का जो मन्दिर कैपीटोलीन पर बनाया गया था, उसमे जूना (रोमन मिथको के अनुसार स्वर्ग की रानी शची) तथा मिनर्वा (रोमन मिथक के अनुसार बुद्धि की देवी : सरस्वती) की भी प्रतिष्ठा की गई। मिनर्वा को रोम में उद्योग और व्यापार की देवी भी माना गया है।

रोम की आर्थिक स्थिति मे एक ऐसा मोड भी आया जब सम्राट् सेप्टीमियस सेवेरस के काल मे राज्य को जैतून के तेल जैसी जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं की आपूर्ति अपने हाथो मे लेनी पडी। रोम मे आर्थिक गतिविधि व्यक्तिगत आधार पर दस्तकारो और व्यापारियो के हाथो के बजाय उनके संघो अथवा श्रेणियो

1 State and Currency in Roman Empire to 300 A D.—*S. Bolin*, 1958 के आधार पर

(Guilds) के हाथो मे रही। वहाँ जहाज-मालिको का सघ (Naviculari), नानावाइयो के सघ (Pistores), सूअर का माँस बेचने वालो के संघ (Suarii), मदिरा व्यापारियो के सघ (Vinarii) तथा बाँसुरी-वादको, स्वर्णकारो, ठठेरो, लोहारो, कुम्हारो, रगरेजो, मोचियो तथा चमडा पकाने वाले अपने-अपने क्षेत्र मे सक्रिय रहे। इन सघो को राज्य की ओर से प्रश्रय मिलता था। रोम मे बुनकर तथा लकडहारे तक अपने सघ बनाते थे जो उनके हितो की रक्षा करते थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कपडा आम तौर पर घर-घर मे बुना जाता था और कपास तथा ऊन का सूत भी घर-घर मे काता जाता था। इस काम मे स्त्रियाँ और दास योगदान करते थे।

जहाँ तक व्यापार का प्रश्न है, रोम के लिए वह जीवन और मरण का प्रश्न था। उसका साम्राज्य बहुत विशाल था अत. उसके लिए यह बहुत आवश्यक था कि वह समूचे साम्राज्य के लिए अनाज की आपूर्ति और उसकी वितरण व्यवस्था पर ध्यान दे तथा सैनिक सामग्री की आपूर्ति बनाए रखे अत उसके लिए इस प्रकार की वस्तुओ के आयात-निर्यात पर नियन्त्रण लगाना अनिवार्य हो गया था।

रोम के उद्योग उसके निर्यात व्यापार के कारण खूब पनपे। उसका काँसे का सामान आल्पस के उस पार यूरोप के देशो मे तथा मिट्टी के पात्र और विशेषत. दीपक चारो ओर जाते। काँच का सामान स्पेन और पूर्वी यूरोपीय देशो को जाता था। लेकिन ईसा-पश्चात् दूसरी शती मे उसका यह निर्यात चौपट हो गया क्योकि दूसरे देश इन वस्तुओ के निर्माण मे उससे भी आगे निकल गए। रोम के लिए केवल ऊनी वस्त्र का एक ऐसा क्षेत्र बचा जिसमे उसका अभी तक कोई मुकाबला न था।

रोम का निर्यात घटता चला गया किन्तु उसके आयात की एक लम्बी सूची थी, तथा उसका व्यापार यूरोप, एशिया और अफ्रीका तीनो महाद्वीपो के देशो के साथ चलता था। रोम भारत को ताँबा, जस्ता, टिन, चाँदी का सामान, काँच का सजावटी सामान, अगूर की शराब, वाद्य यन्त्र आदि भेजता था और भारत से उनके बदले मे सूती और सिल्क का कपडा, हाथी दाँत, बहुमूल्य पत्थर, मसाले, शख तथा जगली पशु आयात करता था। मिस्र उसके लिए काँच का सामान, कपडा कागज, आभूषण और शृगार-सामग्री भेजता तथा उनके बदले मे रोम उसे अपना उत्पादन देता। सीरिया से वह काँच, रग और सिल्क, एशिया-माइनर के देशो से लोहा, ऊनी कपडा और इस्पात, स्पेन से टिन, जस्ता, ताँबा, चाँदी, सोना, ऊन, कपडा, मदिरा, जैतून का तेल और मछली; यूनान से अजीर, सगमरमर और जैतून का तेल, ब्रिटेन से लोहा, सोना, चाँदी, खालें, पशु, मुर्गियाँ, जगली पशु और दास; तथा अन्य अनेक देशो से विलासिता की सामग्री का निर्यात करता। उसे इसके बदले मे सोना चाँदी चुकाना पडता जिससे उसकी अर्थव्यवस्था बिगडती चली गई।

प्रौद्योगिकी

रोम की अर्थव्यवस्था मे गिरावट का कारण यह न था कि उसके पास खेती के लिए उपयुक्त भूमि या जलवायु, खदानो, कच्चे माल अथवा श्रम-शक्ति का अभाव था। वास्तव मे रोम के खेती के तरीके जितने पुराने और दकियानूसी थे उतनी ही पिछड़ी हुई उसकी उद्योग-प्रौद्योगिकी थी। इसी पिछड़ी हुई प्रौद्योगिकी के कारण वह फ्रांस, जर्मनी और स्पेन जैसे देशो के हाथो पछाड खा गया जो किसी समय उसका माल खरीदते थे शीघ्र ही उसके साथ होड करने लगे और उससे आगे निकल गए क्योकि उनकी प्रौद्योगिकी विकसित हो चुकी थी।

रोम ने एक क्षेत्र मे अवश्य उच्चतर प्रौद्योगिकी का विकास किया, वह क्षेत्र था भवन-निर्माण और कलाओ का क्षेत्र, लेकिन उनमे उसकी अर्थव्यवस्था को जीवित रखने की सामर्थ्य न थी।

फिर भी यह नही कहा जा सकता कि रोम मे प्रौद्योगिकी का विकास ही नही हुआ। रोम की सभ्यता ने जहाँ एक ओर खेती की प्रौद्योगिकी और सिंचाई व्यवस्था को विकसित किया वही पशुपालन के मामले मे उसने भारी प्रगति की। फलो के बाग लगाए गए, विशेषतः जैतून और अगूर की खेती पर बल दिया गया। जैतून के तेल और अगूर की शराब की प्रौद्योगिकी का विकास किया गया।

उद्योगो के क्षेत्र में रोम ने भी प्राचीन सभ्यताओ की भाँति मिट्टी के वर्तनो से शुरू किया और ईंट, खपरैल, सीसे के पाइप, सीमेंट, ताँबे, काँसे, चाँदी और सोने तक जा पहुँचा। रोम का पैट्रीशियन वर्ग जिस प्रकार की समृद्धि और विलासिता का जीवन व्यतीत करता था उसके कारण वहाँ इन उद्योगो और कलाओ का विकास होना स्वाभाविक ही था। सूती कपडे के मामले मे रोम विकसित प्रौद्योगिकी विकसित नही कर पाया लेकिन ऊनी वस्त्रोद्योग के क्षेत्र मे उसने काफी प्रगति की।

रोम के जीवन मे इन सबसे अधिक महत्त्व लोहे का था। रोम एक सैनिक और सामरिक सभ्यता का प्रतीक था जिसमे सबसे अधिक महत्त्व औजारो का नही, हथियारो का था। सैनिको के शिरस्त्राण से लेकर घोडों के कवच और शस्त्र बनाने की प्रौद्योगिकी का रोम मे भारी पैमाने पर विकास हुआ। इसमे मिस्र और यूनान का बहुत योगदान रहा।

जैसा कि पीछे संकेत किया गया है, रोम मे सबसे अधिक विकास भवन-निर्माण कला का हुआ। विराट थियेटर बने, जलाशय, स्नानागार और नगरो मे जल की आपूर्ति के लिए सैकडो मील लम्बी पक्की तथा भूमि से काफी ऊँचाई पर नालियाँ बनाई गयी।

रोम का दुर्भाग्य यह रहा कि उसके राजनीतिज्ञो, शासको और सेनापतियो का ध्यान साम्राज्य के विस्तार, उसे बनाए रखने और उसके प्रशासन पर रहा तथा

उनकी आय का प्रमुख साधन साम्राज्य के प्रदेशो से प्राप्त लूट और करो की राशि रही। रोम का पैट्रीशियन वर्ग विलासी हो गया, जिसके कारण रोम मे उद्योगो की प्रौद्योगिकी का बड़े पैमाने पर विकास नही हो पाया। उसकी ओर किसी का ध्यान ही नही गया। इसका सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह हुआ कि रोम के 80 प्रतिशत से अधिक नागरिक भीषण और दारुण दरिद्रता तथा अभाव मे जीवन व्यतीत करते रहे। उनके पास न करने को सार्थक काम था, न विकसित प्रौद्योगिकी।

प्रौद्योगिकी के पिछड़ेपन मे एक कारण दास-प्रथा भी रही। रोम मे दासो के कारण मानव-श्रम बहुत सस्ता था अत भूमि और उद्योगो के मालिको ने विकसित तकनीको की ओर ध्यान ही नही दिया।

35

रोम : धर्म और दर्शन

(Rome : Religion & Philosophy)

रोम मे धर्म का इतिहास गणतन्त्र के प्रारम्भिक काल से मिलता है। उस समय वहाँ प्राकृतिक शक्तियो की पूजा की जाती थी। ये शक्तियाँ अनाम और अमूर्त होती थीं, उसी कारण उस काल मे न मन्दिर थे, न मूर्तियाँ।

धीरे-धीरे यह धारणा विकसित हुई कि ये शक्तियाँ विविध देवताओ की शक्तियाँ हैं। अब शक्ति-पूजा ने देव-पूजा का रूप ले लिया। देव (Dei) आरम्भ मे अपनी शक्ति से पहचाने जाते थे तथा लम्बे समय तक उनके रूप की कल्पना न होने के कारण मूर्तियाँ बनाकर उनकी पूजा नही की गई। इन देवो मे मानवीय गुणो का आरोपण भी नही किया गया और उपासना सामूहिक ही रही उसने व्यक्तिगत उपासना का स्वरूप नही लिया।

इतना ही नही पूजा और उपासना का स्वरूप शुद्ध रूप से अनुबन्धमूलक रहा। देवता की विधिवत् पूजा करने और भेंट चढाने से देवता प्रसन्न होता और पूजा करने वाले की इच्छा पूरी करता। यदि वह अपने कर्तव्य का उल्लघन करता तो देवता उसे वाँछित फल देने के लिए बाध्य न था। इसी तरह यदि देवता विधि-पूर्वक की गई पूजा का फल न देता तो वह पूजा प्राप्त करने का अधिकार गवा देता था। ये देवता वास्तव मे उन नैसर्गिक शक्तियो अथवा तत्त्वो का प्रतिनिधित्व करते थे जिनके रहस्य मनुष्य नही समझ पाता था तथा जो उसके लिए भय का कारण बन गए थे। प्रेम अथवा श्रद्धा के कारण पूजा नही होती थी, भय ही उसका मूल कारण था। देवता के कोप का निवारण करने और उसे सन्तुष्ट रखने के लिए पूजा का विधान था।

राज्य ने रोम मे बहुत पहले ही यह समझ लिया था कि समाज के हितों के लिए उत्तरदाई है अत उसका यह कर्तव्य है कि वह समाज की रक्षा और समृद्धि के लिए विभिन्न देवी-देवताओ की पूजा की व्यवस्था करे। पूजा के विधान को राज्य के कानूनो मे स्थान मिल गया था तथा उन पवित्र कानूनो की रक्षा का दायित्व पुजारी-पुरोहित वर्ग पर था। वे गणतन्त्र के मुखिया को पूजा के नियमो के बारे मे सचेत करते थे।

देव-पूजक धर्म का एक अभिन्न अंग शकुन-विचार था। रोम में भी वह विकसित हुआ। देव-पूजा मे यह धारणा निहित रहती है कि देवता अपनी इच्छा का सकेत प्राकृतिक घटनाओ अथवा क्रियाओ द्वारा देते रहते हैं। अत यह आवश्यक होता है कि समाज मे उस विद्या के ज्ञाता मौजूद हो जो लक्षणो के आधार पर देवताओ की इच्छा के बारे मे भविष्यवाणी कर सकते हो, वह बता सकते हों कि अमुक कार्य होना चाहिए या नही, तथा शकुन किसी कार्य के आरम्भ के बारे मे क्या कहता है—शुभ अथवा अशुभ। अशुभ शकुन होने पर कार्य न करने का विधान था। शकुन विचार का कार्य रोम मे भी अन्य सभ्यताओ की भाँति पुरोहित वर्ग करता था।

धर्म के लिए अंग्रेजी भाषा का शब्द रिलीजन लेटिन भाषा के शब्द रिलीजियो (Religio) से बना है, जिसका अर्थ होता है कि विधि-विधान के अनुसार सम्पन्न किया गया कर्मकांड अथवा रिचुअल। रोम मे धर्म का सम्बन्ध किसी आध्यात्मिक तत्त्व अथवा उससे सम्बन्धित धारणा के साथ नही था, न धर्म किसी प्रकार का नैतिक अथवा जगत से परे आत्मा के परम तत्त्व को खोज का मार्ग था।

ईसा से 500 वर्ष पूर्व तक जिस प्रकार रोम प्रधानत खेतिहर समाज था उसी प्रकार उसका धर्म भी कृषि से सम्बन्धित था। रोम का प्रमुख धार्मिक पर्व अम्बरवालिया खेतो के शुद्धिकरण अथवा उनको पवित्र करने का त्यौहार था।

रोम मे वृहस्पति, मगल, सरस्वता (मिनर्वा) तथा शची (देवलोक की रानी अथवा इन्द्र की पत्नी) की उपासना भी प्रचलित थी। 509 ई पू. मे वृहस्पति (जुपीटर) का मन्दिर स्थापित किया गया जो रोम का प्रधान देवता बन गया। वह आकाश का देवता और राज्य का सरक्षक था। वृहस्पति ही रोम मे इन्द्र था और जूनो उसकी पत्नी। मिनर्वा बुद्धि की देवी थी और मगल अथवा मार्स युद्ध तथा खेती का देवता।

मूर्तियो और मन्दिरो की परम्परा रोम को एट्रस्कन शासको से मिली थी। वृहस्पति का मन्दिर एट्रस्कन शैली मे ही निर्मित किया गया। विदेशी प्रभाव यही तक सीमित न रहा। पाँचवी शताब्दी ई पू मे रोम पर यूनानी धर्म का भी गहरा प्रभाव था। वहाँ यूनानी देवी-देवताओ के अनेक मन्दिर इसी काल मे बने, जैसे 495 ई मे मरकरी (हर्मेस) देवता के लिए मन्दिर बनवाया गया, 493 मे सेरेस, लाइबर और लाइबेरा देवताओ के लिए, 484 ई. मे कैस्टर के लिए और 431 मे अपोलो (भविष्यवाणी, सगीत और काव्य के यूनानी देवता सूर्य) का मन्दिर। 291 इ पू मे यूनान के एपीडोरस नगर के रोगमुक्ति के धन्वतरी देवता आस्क्लेपियोस का मन्दिर रोम मे स्थापित किया गया। ऐसा भविष्यवाणी करने वाली सिबिलाइन पुस्तको के आधार पर किया गया क्योंकि उस समय रोम मे महामारी का प्रकोप था। ये सब देवता भौतिक जगत में भौतिक कल्याण के प्रतीक थे, इनका आध्यामिकता से किंचित् सम्बन्ध न था, नैतिकता से भी नही।

200 ई पू. मे तो यह प्रक्रिया बहुत तीव्र हो गई और रोम के परम्परागत देवताओ का स्थान पूरी तरह यूनानी देवताओ ने ले लिया। यूनान के ओलम्पियाई परम्परा के बारह देवताओ और उनके मिथको को रोम ने पूरी तरह आत्मसात् कर लिया।

रोम के धर्म के बारे मे एक दिलचस्प तथ्य यह है कि सिबिलाइन पुस्तको के आधार पर 204 ई. पू मे एशिया माइनर से मातृशक्ति की प्रतीक पेसिनस देवी और उसके पति अत्तिस की उपासना शुरू की गई। वास्तव मे ये देव माता पार्वती और शिव थे। इसके साथ ही काले पत्थर का शिवलिंग स्थापित किया गया[1] जिसकी पूजा परम्परा के अनुसार वे पुरोहित करते थे जिनका कोई अग भग होता था। लिंग को देखकर रोम की सीनेट के प्राण सकट मे आ गए और उसने उस ओर से अपना हाथ खीच लिया, लेकिन वहाँ शिव पूजा होती रही। बाद मे शिव को वहाँ सियस (Sius) कहा गया।

दक्षिण इटली मे डायोनीसस अथवा मदिरा के देवता बैकस की उपासना प्रचलित थी। उसके उपासक रोम भी पहुँचे और अपने साथ अपना धर्म ले गए। ये लोग गुप्त और रहस्यमय रीतियो से सगठित होकर उपासना करते थे, जिसके कारण इन पर यह आरोप लगाया गया कि वे राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे हैं।

प्रधान-पुरोहित : सम्राट्

सम्राट् ऑगस्टस ने रोम के धर्म को एक मोड दिया। वह धर्म को नैतिकता के साथ जोडना चाहता था। इसके साथ ही उसने धर्म को राज्य के साथ घनिष्ठता से जोड दिया। वह स्वय रोम का प्रधान पुरोहित (Pontifex Maximus) बन गया। उसने जर्जर मन्दिरो और पूजा स्थलो को नए सिरे से बनवाया। उसके एक सेनापति ने शनिदेव के मन्दिर का पुनरुद्धार कराया। ऑगस्टस ने मर्करी के मन्दिर को अपना नाम जोडकर नया नाम दिया—मरक्यूरियस ऑगस्टस का मन्दिर।

ऑगस्टस ने रोम के इतिहास मे पहली बार सम्राट् और अपने जूलियन जन (कबीले) को दैवी मान्यता प्रदान करने की चेष्टा मे जूलियस सीजर की चिता के स्थल पर जूलियस का मन्दिर बनवाया तथा जूलियन वश के रक्षक अपोलो का मन्दिर अपने महल के पास स्थापित किया।

रोमा देवी और सम्राटो के मन्दिर

रोम के धार्मिक मान्यताओ के बारे मे यह तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है कि 197 ई. पू मे ही रोम की अधिष्ठात्री रोमा देवी की उपासना शुरू हो गई थी। रोमा देवी केवल रोम तक सीमित न रही एशिया तक पहुँच गई और 29 ई पू मे एशिया माइनर के परगामोन मे उसका मन्दिर बनाया गया। ऐसा ही एक मन्दिर बिथीनिया के निकोमेडिया मे भी बनाया गया। वहाँ ऑगस्टस का मन्दिर भी निर्मित हुआ। ऑगस्टस ने अपनी पूजा को बढावा दिया। 12 ई पू मे फ्रांस मे रोन और सेन नदियो के सगम पर रोमा और ऑगस्टस के मन्दिर बनाए गए।

1 A History of Rome, op cit, p 160.

स्वयं रोम मे प्रसिद्ध कवि होरेस ने 27 ई पू मे आगस्टस को मर्करी देवता का अवतार घोषित किया तथा इसके बाद रोम तथा इटली के अन्य नगरो मे ऑगस्टस के मन्दिर बनाए गए।

यहूदी और इसाई धर्म

ईसा काल से काफी पहले ही यूनानी नस्ल के लोगो के माध्यम से यहूदी धर्म रोम मे पहुँच गया था तथा राज्य की ओर से उस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न था तथापि रोम के नागरिक उसके प्रति आकृष्ट होते हुए भी उसके कुछ नियमो को अच्छी निगाह से नही देखते थे, विशेषत यहूदियो की सूदखोरी की प्रवृत्ति उन्हे नापसन्द थी।

ईसाई धर्म के जन्म के पहले सौ वर्षो मे रोम मे राज्य की ओर से उसके प्रति उदासीनता का रुख अपनाया जाता रहा, लेकिन ईसाई धर्म का विरोध प्रमुखत यहूदी करते रहे। ट्राजान के जमाने मे भी उनके प्रति उदारता का व्यवहार किया जाता रहा, परन्तु इसके बाद ईसाई धर्म के प्रति असहनशीलता आरम्भ हो गई और ईसाइयो के प्रति कठोरता का व्यवहार किया जाने लगा। रोमन सम्राटो को सबसे अधिक आपत्ति इस बात पर थी कि ईसाई सम्राटों की पूजा, मूर्ति-पूजा और हर प्रकार के कर्मकाण्ड के विरुद्ध थे तथा जीवन-संघर्ष से पलायन का उपदेश करते थे।

250 ईसवी के आसपास रोम साम्राज्य मे ईसाई धर्म पनपने लगा था तथापि वह निम्न और मध्य वर्गो तक सीमित था, तथा उसका प्रभाव इटली की अपेक्षा पूर्वी क्षेत्र मे अधिक था। मगर इन दिनों रोम अनेक प्राकृतिक संकटो मे फस गया था जिसके लिए ईसाइयो को जिम्मेदार ठहराया गया और साम्राज्य भर मे उनका उत्पीडन शुरू हो गया। इस वर्ष सम्राट् डेसियस ने समूचे साम्राज्य के लिए आदेश जारी कर दिया कि समस्त प्रजा रोम के देवताओ की उपासना करेगी तथा जो लोग सार्वजनिक तौर पर इन देवताओ की उपासना से इन्कार करेंगे उन्हे मौत के घाट उतार दिया जाएगा। अधिकांश ईसाइयो ने प्राणो के मोहवश इस आदेश का पालन किया लेकिन ऐसे लोग भी थे जिन्होने रोम के देवताओ की पूजा से इनकार कर दिया, उन्हे जान से हाथ धोना पड़ा।

एक साल बाद ही डेसियस का देहान्त हो गया और ईसाइयो का उत्पीडन बन्द हो गया, लेकिन 257 ईसवी मे सम्राट् वेलेरियन ने पुन वही नीति अपनाई। 259 मे उसके देहान्त के बाद अगले चालीस वर्ष शान्ति से बीत गए।

रोम के सम्राट् कान्स्टेन्टाइन-प्रथम ने 312 ई॰ मे ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया, तथापि वह राज्य का प्रधान-पुरोहित बना रहा, उसके राजचिह्न पर सूर्य यथावत् बना रहा तथा उसने रोम के परम्परागत देवताओ की उपासना मे कोई बाधा नही डाली। उसने ईसाई धर्म को साम्राज्य का धर्म भी घोषित नही किया। उसने अपनी समस्त प्रजा को ईसाई धर्म मे दीक्षित करना चाहा लेकिन अपने इस लक्ष्य को वह प्राप्त नही कर सका।

ईसाई धर्म को राजधर्म का दर्जा थियोडोसियस-प्रथम ने चौथी शताब्दी के अन्तिम दशक मे दिया। इस समय तक राज्य के सम्पन्न तथा ऊँचे वर्ग के लोग ईसाई धर्म ग्रहण कर चुके थे। थियोडोसियस पहला राजा था जिसने प्रधान-पुरोहित का पद स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। उसने धीरे-धीरे रोम के परम्परागत धर्म के पालन पर रोक लगा दी। देवताओ के मन्दिरो को वन्द करने का आदेश जारी कर दिया तथा समस्त प्रजा को ईसाई धर्म ग्रहण करने का आदेश दिया।

इसके वावजूद रोम का परम्परागत धर्म लोगो की आस्था का केन्द्र बना रहा और एथेंस मे तो उसकी शिक्षा का केन्द्र नियमित रूप से चलता रहा जिसे सम्राट् जस्टीनियन ने वन्द किया। नगरो मे ईसाई धर्म अधिकाधिक फैलता गया, लेकिन ग्रामो मे परम्परागत धर्म चालू रहा। लेटिन भाषा मे ग्रामीण को गँवार अथवा वर्वर (असभ्य) के अर्थ मे पैगनस (Paganus) कहा जाता है, इसी कारण उस गैर-ईसाई धर्म को पैगन कहा गया।

यहाँ हमारा विषय रोम मे ईसाई धर्म के आन्तरिक झगडो तथा पोप के उदय से सम्बन्धित नही है, फिर भी यह उल्लेख आवश्यक है कि ईसाई धार्मिक सगठन अर्थात् चर्च पर सम्राट् का वर्चस्व रहा और जस्टीनियन ने तो प्रधान पुरोहित के समान ही 'सर्वोच्च पादरी और सम्राट्' की उपाधि धारण कर ली। इस प्रकार राजा चर्च का मुखिया बन गया तथा पोप का यह प्रयास असफल हो गया कि उसे चर्च का सर्वोच्च अधिकारी माना जाए तथा सम्राट् को पोप के आधीन माना जाए। तथापि, जैसे-जैसे चर्च का सगठन सुदृढ होता गया रोम साम्राज्य ढीला पडता गया तथा अन्तत. चर्च रोम-साम्राज्य के पतन का कारण बना।

दर्शन

रोम मे दार्शनिक चिन्तन की धारा यूनान से माध्यम से प्रवाहित हुई। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे यूनान के दर्शन ने रोम पर प्रभाव डालना शुरू किया। बाद मे जब यूनान का स्टोइक' दार्शनिक पैनेशियस (Panaetius) तथा एथेंस मे नव-अकादमी का सस्थापक कार्नियेडेस (Carneades) कूटनीतिज्ञ बनकर रोम गए तब वहाँ के बुद्धिवादियो मे यूनानी दर्शन के प्रति जिज्ञासा और उत्कठा जागृत हुई। इसके पश्चात् सिपियो अफ्रीकनुस (Scipio Africanus), टाइटस फ्लैमिननस (Titus Flamininus), एमीलियस पौलस (Aemilieus Paullus), तथा सिपियो एमीलियानस (Scipio Aemilianus) सरीखे लोगो ने दार्शनिक गोष्ठियो का सिलसिला चालू किया जिनमे इतिहासकार पोलीबियस (Polybius) सरीखे विद्वान् भाग लेते थे। इसके वावजूद रोम मे दर्शन की एक प्रमुख विधा ज्ञान-मीमाँसा शास्त्र के प्रति बुद्धिवादियो की रुचि जागृत नही हुई। साथ ही उनके मन मे यह आशका भी घर करने लगी कि इपीक्यूरियनवाद तथा स्कैप्टिसिज्म जैसी दार्शनिक विचारधाराओ का प्रचार होता

गया तो लोग रोम के परम्परागत जीवन और धर्म का विश्लेषण शुरू कर देंगे उन्हें तर्क की कसौटी पर कसेंगे और अतत उससे प्रस्थापित सत्ता के प्रति विद्रोह की भावना को बल मिलेगा।

ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के अन्त और पहले पूर्वार्द्ध तक रोम मे इपीक्यूरियन दर्शन से विरक्ति उत्पन्न हो गयी क्योकि वह रोम के सक्रिय, ऊर्जाशील और सघन रूप से सामाजिक चैतन्य के साथ मेल नही खाता था। इपिक्यूरियन-दर्शन एक प्रकार से नकारात्मक दर्शन था जो व्यक्ति को समाज और सामाजिक गतिविधि से उपराम करके उसको व्यक्तिवादी बनाता और राजनीति से अलग हटने की प्रेरणा देता था। उसका यह मतव्य कि विश्व निष्प्रयोजन है तथा व्यक्ति को अपनी मुक्ति पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, रोम के लोगो को पसद नही आया क्योकि वे स्वभावतः बहिर्मुखी थे, अतर्मुखी न थे। वे जीवन के भौतिक पक्ष की ओर पूरी तरह अनुरक्त थे। यही कारण है कि जब रोम मे स्टोइकवाद का प्रवेश हुआ तो रोम मे उसका स्वागत हुआ।

रोम का स्टोइकवाद न तो हेराक्लाइटस के भौतिकतावादी दर्शन को स्वीकार करने को तैयार था, न जेनोपथी दर्शन को। रोम मे स्टोइकवादी दर्शन का विकास और प्रसार सम्राट् ऑगस्टस के पश्चात् तीन महान् दार्शनिको द्वारा किया गया—सेनेका (Seneca), इपिक्टेटस (Epictetus) और सम्राट् मारकस ऑरेलियस। इन तीनो को ही मनुष्य की आन्तरिक शान्ति की खोज रही और उन्होने विश्व मे एक उदार व्यवस्था का दर्शन किया तथा मनुष्य से अपेक्षा की कि वह उस व्यवस्था के प्रति आत्म-समर्पण करके आन्तरिक गुण प्राप्त करेगा। उन्होने सदाचार और गुणो की साधना को मानव जीवन का लक्ष्य कहा। सेनेका और इपिक्टेटस ने तो स्टोइकवाद को ऐसी रहस्यात्मकता प्रदान की कि वह धर्म जैसा बन गया।[1]

उन्होने कहा कि यह विश्व दैवी है तथा इसका सचालन एक दैवी सत्ता कर रही है जिसका लक्ष्य विश्व का कल्याण करना है। सम्राट् ऑरेलियस तो पूरी तरह नियतिवादी है, वह मनुष्य को नियति अथवा भाग्य के हाथो का खिलौना मानता है फिर भी वह कहता है कि मनुष्यो को भला बने रहना चाहिए, न तो वासना और भोग मे लिप्त होना चाहिए न परिस्थितियो के विरुद्ध रोष प्रकट करना चाहिए। उसने जगत और पीड़ा के प्रति उदासीनता की शिक्षा दी। उसने अपनी पुस्तक मैडीटेशन्स (Meditations) मे आत्म-विश्वास, स्वावलम्बन और दूसरो के प्रति बन्धुत्व की भावना पर बल दिया। वह कहता है कि उसका रोम का सम्राट् होना विश्व-व्यवस्था द्वारा उस पर लादा गया दायित्व था।

रोम मे ऐसे भी दार्शनिक हुए जो सस्थापित व्यवस्था के विरोधी थे और साम्राज्य मे घूम-घूमकर स्वेच्छारी शासन का विरोध करते थे। वे साधुओ की तरह गरीबी का जीवन व्यतीत करते, लम्बे बाल और दाढी रखते तथा गदे कपडे पहनते।

1 *E V Arnold*: Roman Stoicism, Newyork, 1921 पर आधारित।

इनमे से कोई-कोई तो दैवी-शक्तियो का दावा करते और लोगों को चमत्कारो से सम्मोहित करते थे। ऐसे लोगो मे सबसे अधिक प्रसिद्ध अपोलोनियस ऑफ त्याना (Apollonius of Tyana) हुआ। वह अपने जमाने मे सन्त माना जाता था।

सत ऑगस्तीन (Augustine)

रोम के दार्शनिको मे सबसे बडा नाम सन्त ऑगस्तीन का है। यह रोम और मिलान मे वक्तृत्व कला का प्राध्यापक था, तथा 388 ई. मे उसने ईसाई धर्म स्वीकार किया। वह उत्तरी अफ्रीका में हिप्पो का विशप बन गया था। उसकी दार्शनिक कृति—'दा सिटी ऑफ गॉड' जगत् को दो परस्पर विरोधी शिविरो मे विभाजित करती है—दैवी शिविर और जागतिक शिविर। वह रोम को जागतिक शिविर मानता था क्योंकि रोम केवल भौतिक जीवन मे ही लिप्त था, उसे आत्मा के मोक्ष की सुध ही न थी।

ऑगस्तीन ने अपनी इस पुस्तक द्वारा पश्चिमी जगत् मे पहली बार परा-जागतिक अर्थात् इस जगत् से परे किसी दैवी अथवा आध्यात्मिक लोक के अस्तित्व के बारे मे चिंतन प्रस्तुत किया। उसकी निगाह में रोम-साम्राज्य महत्त्वहीन था क्योंकि उसका लक्ष्य आध्यात्मिक नही था। ईसाइयो के लिए साम्राज्य का कोई महत्त्व नही था क्योंकि उनकी निष्ठा सांसारिक साम्राज्य के प्रति नही वरन् आध्यात्मिक साम्राज्य के प्रति थी। यह ऑगस्तीन की धारणा मात्र थी, यथार्थ इसके सर्वथा विपरीत था। ईसाइयो ने संसार में बडे-बडे साम्राज्यो की स्थापना की और आज भी ससार मे आई हुई भौतिकवाद की बाढ के लिए वे ही उत्तरदायी हैं।

36

रोम : साहित्य, कला और विज्ञान

(Rome : Literature, Art and Science)

रोम ने छठी शताब्दी ई पू मे एस्ट्रूरिया से लिखने की कला और लिपि प्राप्त कर ली थी, तथापि उस काल मे वहाँ साहित्यिक गतिविधि का प्रारम्भ नही हो पाया। धीरे-धीरे गद्य-लेखन शुरू हुआ। वहाँ यूनान की तरह काव्य के प्रति साहित्यकारो का ध्यान नही गया। यहाँ तक कि रोम मे इस प्रारम्भिक काल मे कवि के लिए कोई शब्द न था। इस युग मे साहित्य का निर्माण नही हुआ, केवल सरकारी दस्तावेज, कानून तथा अनुबन्ध-पत्र इत्यादि कामकाजी चीजें लिखी गईं। कविता के नाम पर पुरखो की स्तुति मे गीत लिखे गए और वक्तृता के नाम पर दाह-सस्कार के समय दिए जाने वाले भाषण थे।

तीसरी शताब्दी ई पू तक रोम पर यूनानी साहित्यिक परम्परा का प्रभाव बहुत गहरा हो गया। इस काल मे यूनानी छन्दो को अपनाकर काव्य रचना शुरू हुई। इस शताब्दी के प्रारम्भ मे राज्य के प्रमुख जनगणना अधिकारी एपियस क्लॉडियस (Appius Claudius) ने अपना काव्य-सग्रह लोकोक्तियाँ (सेटेन्शिए : Sententiae) प्रकाशित किया। उसने सीनेट के सामने दिए गए अपने एक भाषण का भी प्रकाशन किया। ये दोनो रोम मे पद्य और गद्य के प्रथम ग्रन्थ थे।[1]

रोम के लोग सामान्यतया बुद्धिवादी न थे,. उनको वही साहित्य पसन्द था जिसमे प्रयोजनशीलता हो। ये प्रायोजन उनके जीवन के दो प्रमुख प्रयोजन थे— राष्ट्रीयता की भावना का पोषण और मनोरंजन। तीसरी शताब्दी ई पू मे कविता लिखना हल्का काम माना जाता था अत सीनेट के सदस्य तथा पेट्रीशियन कविता नही लिखते थे, लेकिन वे कवियो को सरक्षण देते थे, तथा कवि अपने सरक्षको को प्रसन्न करने के लिए नाटको में काव्यमय सवाद लिखते थे। इस शताब्दी के ठेठ अन्त मे लिवियस एड्रोनिकस (Livius Andronicus) नामक कवि ने होमर के महाकाव्य का यूनानी से लेटिन मे अनुवाद किया। उसने सार्वजनिक खेल-उत्सवो के

1 *T Frank* · Life and Literature in the Roman Republic, 1930 पर आधारित।

अवसरो पर खेले जाने के लिए कुछ त्रासदी एवं हास्य-नाटिकाओ का भी लेटिन में अनुवाद किया।

एड्रोनिक्स के समकालीन ग्नेयस नेवियस की पहली ही काव्यकृति ने उसके लिए जेल का द्वार खोल दिया और उसे रोम से भागना पड़ा। हुआ यह कि उसने एक पैट्रीशियन परिवार मेटेली की निन्दा में एक काव्य रचना कर डाली थी। इसके बाद उसने अनेक नाटक लिखे। उसने प्रथम प्यूनिक युद्ध के समय एक महागाथा महाकाव्य की रचना की जो उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है।

इन समस्त साहित्यिक गतिविधियो ने अन्ततः रोम के साहित्य के पिता क्विंटस एनियस (Quintus Ennius) को जन्म दिया। उसने अपने महाकाव्य ऐनल्स (Annals) मे रोम के मिथकीय उद्भव से लेकर दूसरी शताब्दी ई पू तक के इतिहास का निरूपण किया। उसने गद्य और पद्य दोनो मे व्यंग्यात्मक रचनाएँ लिखी तथा नाटको की रचना की। उसकी त्रासदियो ने उसे ख्याति प्रदान की।

रोम मे प्रत्येक सार्वजनिक उत्सव के अवसर पर नाटक खेलने की परम्परा विकसित हुई। टाइटस मेसियस प्लोटस (*Titus Maccius Plautus*) ने तीसरी शताब्दी के अन्त और दूसरी के पूर्वार्द्ध में अनेक हास्य काव्य-नाटिकाएँ लिख डाली जिनका खूब मंचन किया गया। वह स्वयं एक आटा-चक्की पर मजदूरी करता था और उसके साथ ही नाटको मे भाग भी लेता था। उसके 21 नाटक काल की मार से बच गए जो आज भी लेटिन साहित्य का प्रमुख अंग माने जाते हैं।

ऐसा ही एक नाटककार एनियस का मित्र केसिलियस स्टाटियस (Caecilius Statius) था, जिसके नाटको के कथानको मे मौलिकता है। नाटककारो में टेरेंस का अपना अलग ही स्थान था। उसकी हास्य-नाटिकाओ मे सूक्ष्म और गम्भीर व्यंग्य है। उसने जनसाधारण के लिए नही वरन् अधिक गम्भीर और बुद्धिवादी वर्ग के लिए लिखा। उसके छह नाटक उपलब्ध हैं।

कुलीन अथवा अभिजातवर्ग का पहला कवि था गेयस लुसीलियस (Gaius Lucilius) जिसने दूसरी शताब्दी ई. पू. के उत्तरार्द्ध मे व्यंग्य-काव्य की रचना की और उसकी रचनाएँ बहुत लोकप्रिय हुईं। त्रासदियो अथवा दुखांत नाटको के क्षेत्र मे इसी काल मे एनियस का भतीजा पैकूवियस (Pacuvius) और एकियस (Accius) की रचनाओ की व्यापक सराहना हुई।

पहली शताब्दी ई पू मे एक साथ अनेक कवि हुए जिन्होंने रोम के काव्य-साहित्य को समृद्ध किया। इनमे प्रमुख थे—थियोक्राइटस (Theocritus), मेलीगर (Meleager), केटुलस (Catullus) तथा लुक्रेशियस सेरस (Lucretius Carus)। इनमे पहले तीन कवि प्रेम के उपासक और गायक थे। केटुलस ने तो अपनी कविताएँ सिसरो के शत्रु क्लोडियस की बहिन क्लोडिया के प्रेम की दीवानगी में लिखी।

सेरस इनसे भिन्न था। वह दार्शनिक था और इपीक्यूरियन दर्शन मे विश्वास करता था। उसने अपने साहित्य मे तर्क का आश्रय लिया है, ईश्वर के बारे

मे कहा है कि वह जगत् के मामलो मे हस्तक्षेप नही करता, जगत् स्वत अपनी प्रकृति के अनुसार यांत्रिक प्रक्रिया के अन्तर्गत चलता जाता है, तथा मनुष्य को समाज और राज्य के झझटो मे पड़ने के बजाए अपने बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

महाकवि वर्जिल

इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे रोम ने अपने सर्वश्रेष्ठ महाकवि की रचनाओ का रसास्वादन किया। कल्पना और यथार्थ का सगम करने वाले इस महाकवि पबलियस वर्जिलियस मारो (Publius Vergilius Maro) का जन्म 70 ई पू. मे हुआ और देहान्त 19 ई पू. मे। 33 वर्ष की आयु मे उसने अपना पहला काव्य-सग्रह एक्लोग्स (Eclogues) प्रकाशित किया, तथा दस साल बाद ज्यार्जिक्स (Georgics)। इन दोनो सग्रहो मे उसने देहाती जीवन का चित्रण किया। आक्टेवियन के सुझाव पर उसने अपना सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य एनिड (Aeneid) तैयार किया जिसमे उसने ट्राय से इटली तक की रोम की महायात्रा की महागाथा को काव्य मे बाँधा जिसमे रोम के राष्ट्रीय आदर्शो का भावुकतामय निरूपण किया गया है। इसका नायक एनियास देवताओ द्वारा राजापद के लिए चुना गया है, वह रोम के गौरव के लिए अपनी भावनाओ का बलिदान कर देता है। महाकवि वर्जिल की अभिव्यक्ति वहाँ बहुत मर्मस्पर्शी हो उठी है जहाँ वह एनियास और कार्थेज की साम्राज्ञी डिडो के विफल प्रेम का वर्णन करता है। कवि का हृदय करुणा से सिक्त हो उठा है।[1]

इस महाकाव्य को लिखने के बाद वह इसमे संशोधन कर रहा था कि उसकी मृत्यु हो गई। मृत्यु को समीप देखकर उसने लिखा कि उसकी इस कृति को नष्ट कर दिया जाए क्योकि यह वैसी पूर्ण नही है जैसी कि वह उसे बनाना चाहता था। सम्राट् ऑगस्टस ने वर्जिल की इस इच्छा का पालन नही किया और इस कृति का प्रकाशन कराया। ससार का साहित्य सचमुच इस कृति के बिना अधूरा रह जाता।

अन्य कवि

रोम ने जहाँ आरम्भ मे काव्य और कवि को नीचा समझा वही उसने इन दोनो को खूब सीचा, खूब सराहा और पनपाया। प्राचीन रोम के कवियो की एक लम्बी सूची बनाई जा सकती है जिनमे होरेस का अपना स्थान है। वह वर्जिल का मित्र था। उसके प्रथम व्यग्य (Satires) नामक संग्रह मे भोडापन और अभद्रता का तत्त्व था, लेकिन आगे जाकर उसकी भाषा और शैली दोनो मे परिमार्जन आया। उसके काव्य-सग्रहो मे एपिस्टिल्स (Epistles), एपोड्स (Epodes), ओड्स (Odes), सेकूलर हिम्न (Secular Hymn), आर्स पोएटिका (Ars Poetica) बहुत उच्च कोटि के माने जाते है। वर्जिल के देहावसान के बाद वह ऑगस्टस के दरबार मे राजकवि हो गया था।

1 *Vergil*. A Study of Civilized Poetry, B Otis, 1963 के आधार पर।

इस शृंखला के अन्य कवि है कॉरनेलियस गैलस, टिबुलस, प्रॉपर्टियस, और ओविडियस नासो। गैलस की कृतियाँ तो अब उपलब्ध नही है, टिबुलस ने संवादात्मक शैली का प्रयोग किया है और प्रॉपर्टियस ने अपनी प्रेमिका सिंथिया के प्रेम का गायन किया है। ओविडियस प्रेम के दार्शनिक और रोमांटिक झंझट मे फँसने के बजाय भोग मे विश्वास करता है। उसने अमोर्स (Amores) मे अपनी रखैलो के साथ अपने यौनाचार का वर्णन किया है। यही विषय उसकी दूसरी कृति कोक कला (Ars Amatoria) का है। लेकिन मैटामौरफोसिस (Metamorphoses) में वह प्रेम की अजेय शक्ति के गीत गाने लगा है। सम्राट् आगस्टस उसकी रचनाओ से इतना अप्रसन्न हो गया था कि उसने कवि को काले सागर के तट पर देश निकाला दे दिया। इसी समय यह कवि सम्राट् की दोहित्री जूलिया के साथ प्रेम मे उलझ गया। इस पर राजा ने उसके प्रति कठोर रवैया अपना लिया।

रजत युग

रोम के काव्य का यह स्वर्ण-युग था। इसके बाद उसका पतन हुआ। इसी कारण ईसा पश्चात् 285 तक के काल को रजत-युग कहा जाता है। यह रोम की राजनीति मे स्वेच्छाचारी शासन का काल था अत इस काल मे सत्ता और संस्थान के विरुद्ध कुछ नही कहा जा सकता था तथा स्थूल अथवा सूक्ष्म व्यंग्य सम्भव न था। इसका परिणाम यह हुआ कि इस काल मे कवियो ने काव्य के रूप और शैली पर अपना ध्यान केन्द्रित रखा, कथानक पर नही। इसका यह अर्थ नही कि व्यंग्य लिखा ही नही गया। कुछ साहसी कवियो ने समकालीन सामाजिक जीवन को निशाना बनाया और सुधारवादी रुख अपनाया।[1]

इस काल का एक विद्रोही कवि औलस पर्सियस फ्लैकस (Aulus Persius Flaccus) है, जिसका जन्म अभिजात वर्ग मे हुआ और जो चिंतन की दृष्टि से स्टोइक विचारधारा का पोषक था। उसने अपने काव्य मे समकालीन रोमन काव्य की कृत्रिमता और कवियो के बीच काव्य-गोष्ठियो मे कविता-पाठ करने की होड पर करारा व्यंग्य किया। एक अन्य प्रतिभाशाली कवि मारकस एनियस लुकानस (Marcus Annaes Lucanus) था। वह स्पेन से आकर रोम मे बसे स्टोइक दार्शनिक सेनेका का भतीजा था। उसकी राजनीति मे रुचि थी और उसने सेनेका के साथ मिलकर नीरो के विरुद्ध रचे गए षड्यन्त्र मे अपनी माँ के साथ धोखा करके भी भाग लिया था। उसने अपने जीवन के अन्तिम काल मे अनेक कविताएँ लिखी तथा फारसालिया (Pharsalia) नामक महाकाव्य अधूरा छोडकर ही चला गया। इसमे उसने स्वेच्छाचारी राजतन्त्र का विरोध किया है और पोम्पई को अपना आदर्श नायक माना है।

---

1 *J. W Duff* · A Literary History of Rome in the Silver Age, 1959 के आधार पर।

सेनेका (Lucius Annaes Seneca) स्वयं कवि था। वह नीरो का शिक्षक रह चुका था। उसकी राजनीतिक गतिविधि से अप्रसन्न होकर नीरो ने उसे देश निकाला दे दिया था और अन्त में मरवा दिया था। उसने व्यंग्य से भरपूर गीत लिखे, किन्तु उसकी सर्वाधिक प्रख्यात कृतियां उसके पद्यमय नाटक हुए जो नौ दुखांतिकाओं के नाम से विख्यात हैं तथा जिनकी नकल विलियम शेक्सपियर जैसे महान् नाटककार ने की। इनमें से कुछ के नाम हैं—मेडिया, हरकुलिस, ओडिपस, एगमेनॉन तथा थेस्टेस।

प्रथम शताब्दी ईसवी के अन्य कवि हैं—स्टेटियस, वेलेरियस, फ्लाकस तथा सिलियस इटालिकस। इन तीनों ने महाकाव्यों की रचना की। रोम के काव्य का रजत-युग दो प्रतिभाशाली कवियों मार्शल और जुवेनल का था। इन दोनों ने व्यंग्यात्मक काव्य की रचना की। इनमें जुवेनल का व्यंग्य बहुत पैना है, उसने रोम के नये मालदार वर्ग के विलासी और प्रदर्शनपूर्ण जीवन पर करारे व्यंग्य किए।

साम्राज्य के अन्तिम चरण में भी रोम ने कवियों को जन्म दिया जिनमें क्रिश्चियन औसोनियस (Christian Ausonius) और क्लाडियस क्लाडानियस (Claudius Claudianus) के नाम उल्लेखनीय हैं। औसोनियस की कविताएँ तो प्रमुखत उसकी निजी भावनाओं पर आधारित हैं। वह काव्य की शास्त्रीय पूर्णता और उत्कृष्ट शैली का प्रतीक है। क्लाडानियस चौथी शताब्दी के अन्तिम चरण में रोम के पश्चिमी साम्राज्य में राजकवि था। उसके काव्य में सम्राट् और साम्राज्य की प्रशंसा के पुल बाँधे गए हैं, तथापि उसकी कुछ कविताएँ उत्कृष्ट मानी गयी हैं।[1]

रोम का गद्य-साहित्य

रोम का गद्य-साहित्य अपने प्रारम्भिक चरण में मुख्यत. इतिहास पर केन्द्रित रहा। आगे चलकर उसने विविध विधाओं को अंगीकार किया—कोष, विश्वकोष, भाषणकला, जीवनी, साहित्य-समीक्षा, दर्शन और विधि तथा न्याय इत्यादि।

रोम में गद्य-लेखन का कार्य भले आदमियों के लिए उपयुक्त माना जाता था। रोम की सबसे पहली गद्यकृति फेबियस पिक्टर (Fabius Pictor) का रोम का इतिहास है जिसमें उसने आरम्भ से लेकर दूसरे प्यूनिक युद्ध के अन्त तक की घटनाओं का समावेश किया है। वह सीनेट-सदस्य था और स्वयं युद्ध में भाग ले चुका था। मगर उसकी यह कृति लेटिन भाषा में नहीं यूनानी में लिखी गयी थी। यूनानी भाषा में ही पिक्टर के समकालीन सिनसियस अलीमेंटस (Cincius Alimentus) ने भी रोम का इतिहास लिखा।

लेटिन में लिखा गया सर्वप्रथम ग्रन्थ दे एग्री कल्चरा (De Agri Cultura) है, जिसके रचनाकार कैटो (वरिष्ठ) ने लेटिन में ही रोम का इतिहास ओरिजिन्स (Origines) लिखा। उसके बाद कोएलियस एन्टीपेटर (Coelius Antipater) ने लेटिन में रोम का इतिहास लिखा।

1 *M. Hadas.* History of Latin Literature, 1952

इस काल की सबसे प्रमुख उपलब्धि विधि एवं न्यायशास्त्र की रचना है। इस शास्त्र के पिता हैं सैक्टसस एलियस पेटस (Sextus Aelius Paetus) जिन्होने ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के अन्त मे रोमन जुरिसप्रुडेंस (Juris Prudents) का पहला गद्य ग्रन्थ तीन खण्डो मे प्रकाशित किया जिसके पहले खण्ड मे तत्कालीन रोम के कानून के स्रोत बारह तालिकाओ को लिखित स्वरूप प्रदान किया, दूसरे खण्ड मे उनकी व्याख्या की और तीसरे खण्ड मे रोम की न्यायिक प्रक्रिया का विशद् वर्णन किया।

पेटस के बाद रोम के सेंसर अधिकारी केटो और उसके बेटे ने अलग-अलग इस विषय पर ग्रन्थो की रचना की।

रोम-गणतन्त्र की यह माँग थी कि उसके राजनीतिज्ञ कुशल वक्ता हो तथा उनकी ओर से प्रचार की सुबद्ध सामग्री वितरित की जाए। इस माँग की पूर्ति के लिए वहाँ वक्तृत्वकला सिखाने वाले शिक्षक उत्पन्न हो गए। इनमे सबसे प्रमुख था सिसरो (Cicero, 106 से 43 ई पू)। सिसरो एक महान् दार्शनिक भी था। उसने अपने दार्शनिक विचारो को बहुत ही सशक्त, लयबद्ध और तर्कसम्मत भाषा (गद्य) मे दा रिपब्लिक (De Republica) मे अभिव्यक्त किया। इस ग्रन्थ मे उसने अपनी कल्पना के आदर्श राज्य का संविधान दिया है। उसका स्टोइक चिंतन प्रमुखत दी ऑफिसिस (De Officiis) और दा सेनेक्यूट (De Senectute) मे उभरा है। उसके देहात के बाद उसके सचिव टिरो ने उसका पत्र-व्यवहार प्रकाशित किया जो विचारो की एक विशाल खान तो है ही लेटिन गद्य का एक उत्कृष्ट नमूना भी है। वह एक महान् साहित्यिक कृति है।[1]

रोम का महानतम साहित्यकार गेयस सैलस्टियस क्रिस्पस (Gaius Sallustius Crispus) को माना जाता है जिसने इतिहास के अनेक ग्रन्थो की रचना की। उसकी विशेषता इतिहास नही बरन् उसकी गद्य-शैली है। इसी काल मे कॉर्नेलियस नेपोस (Cornelius Nepos) ने प्रसिद्ध रोमनो और विदेशियो की जीवनियाँ लिखी। यह रोम मे जीवनी-साहित्य का समारम्भ था।

जूलियस सीजर : एक महान् साहित्यकार

रोम का सम्राट् सीजर अद्भुत प्रतिभा का धनी था। वह एक महान् साहित्यकार के रूप मे आज तक प्रतिष्ठित है। उसका ग्रन्थ कमेटरीज (Commentaries) इतिहास के रूप मे बहुत प्रामाणिक नही माना जा सकता क्योकि इसमे उसने स्वय को आगे रखा है परन्तु लेटिन गद्य की एक उत्कृष्ट शैली का नमूना माना जाता है। इसमे उसने स्वय को काफी तटस्थ रखने की कोशिश की है तथा अपने लिए तृतीय पुरुष के सर्वनामो का प्रयोग किया है।

इसी युग मे भाषा-विज्ञानी मारकस टेरेंटियस वारो (Marcus Terentius Varro) ने रोम के प्राचीन धर्म और राजनीति पर एक ग्रन्थ लिखा जो उपलब्ध नही है, लेकिन उसके दो ग्रन्थ उसकी विद्वता का परिचय देते हैं, जिनमे एक है लेटिन भाषा का विज्ञान और दूसरा रोम के ग्रामीण जीवन का परिचय।

1 *H A. K Hunt* . The Humanism of Cicero, 1954 के आधार पर।

यही वह समय था जब क्विंटस म्यूसियस स्केवोला (Quintus Mucius Scaevola) ने रोम के दीवानी कानून को अठारह खण्डो मे लिपिबद्ध किया, और सिसरो के समकालीन सरवियस सल्पीसियस रूफस (Servius Sulpicius Rufus) ने कानून पर कमेंट्रीज (Commentaries) ग्रन्थ, तथा उसके शिष्य औलस ओफिलियस (Aulus Ofilius) ने इस विषय पर अनेक टीकाएँ प्रकाशित की।[1]

टाइटस लिवियस (Titus Livius)—59 ई पू. से 17 ईसवी तक

लिवियस भी इतिहासकार था। उसने रोम के आरम्भ से 9 ईसवी तक का इतिहास (Ab Urbe Condita Libri) लिखा जो प्रामाणिक के साथ-साथ एक श्रेष्ठ गद्यकृति भी माना जाता है।

परवर्ती गद्य

ईसा के बाद सीनेट सदस्य प्लिनी (Pliny) ने टिप्पणियाँ लिखने का क्रम शुरू किया। इसकी मृत्यु के बाद उसकी टिप्पणियो के 160 मोटे-मोटे ग्रन्थ मिले जिनके आधार पर नेचुरल हिस्ट्री का सम्पादन हुआ। इन्ही दिनो औलस गेलियस (Aulus Gallius) ने साहित्य समीक्षा का एक ग्रन्थ ऐटिक नाइट्स (Attic Nights) प्रकाशित किया। इसी युग मे पबलियस कॉर्नेलियस टैसिटस ने रोम का इतिहास लिखा जिसके कारण कुछ लोग उसे रोम का सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार मानते हैं। उसने अपने श्वसुर जूलियस एग्रीकोला की जीवनी भी लिखी जो ब्रिटेन मे रोम का गवर्नर था। इसके बाद उसने जर्मेनिया (Germania), डायलॉग ऑन ओरेटर्स (Dialogue on Orators), हिस्टरीज (Histories) तथा एनल्स (Annals) आदि ग्रन्थ लिखे। उसके इतिहास को साहित्यिक कला का उत्कृष्ट नमूना माना गया है।

पहला उपन्यास

रोम का पहला उपन्यास सटायरिकॉन (Satyricon) नीरो के काल मे पैट्रोनियस (Petronius) ने लिखा। दूसरी शताब्दी ईसवी मे लेटिन का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'द गोल्डेन आस' (The Golden Ass) अपूलियस (Apuleius) ने लिखा।

इस काल मे नाना प्रकार का साहित्य लिखा गया। इसमे फिलोस्ट्रेटस (Philostratus) की कृति दार्शनिक अपोलोनियस की जीवनी बहुत प्रसिद्ध हुई। कासियस डियो का ग्रन्थ रोमन हिस्ट्री भी लोकप्रिय रहा।

अन्तिम चरण

चौथी शताब्दी ईसवी में कुछ अनाम लेखको ने ऑगस्टन हिस्ट्री नामक ग्रन्थ लिखा जिसमे सम्राटो की जीवनगाथाएँ हैं। इतिहासकार अमियानस मार्सेलिनस (Ammianus Marcellinus) की कृतियाँ भी ऐतिहासिक और साहित्यिक दोनो दृष्टियो से श्रेष्ठ मानी जाती हैं।

1 A History of Rome, op cit. pp. 246-249,

कला

रोम मे कला का प्रादुर्भाव प्रधानत तीसरी शताब्दी ई पू. मे हुआ। उस समय रोमन कला मे मौलिक रोमन तत्त्व लगभग शून्य ही था। उस पर दो प्रमुख प्रभाव थे—एट्रस्कन और यूनानी। इनमे सबसे प्रमुख यूनानी था। रोम के कारीगर उपयोगितावादी थे। वे निर्माण कला की प्रौद्योगिकी से परिचित थे, सड़कें, पुल, पानी की नालियो आदि का निर्माण करने मे वे बहुत कुशल थे, लेकिन जब मन्दिरो और विशाल भवनो के निर्माण का प्रश्न उठा तो स्थापत्य कला का आयात यूनान से किया गया। 146 मे जुपीटर और जूनो के मन्दिरो मे यूनानी स्थापत्य और कला का प्रयोग हुआ तथा उसे रोम मे भरपूर सराहा गया।

रोम की मौलिकता चित्रकला और वास्तुकला के रूप मे अभिव्यक्त हुई। रोम के लोग प्राय कब्रो पर भित्तिचित्र बनवाते थे। इसके अतिरिक्त कलाकार अपनी कला की ख्याति के लिए विशाल आकार के चित्र बनाकर उनका सार्वजनिक स्थलो पर प्रदर्शन करते थे। इन चित्रो मे युद्ध अथवा विजय अभियानो के दृश्य अंकित किए जाते थे। वहाँ पुरखो के मोम के मुखौटे तथा उनकी मूर्तियो का भी प्रचलन था जिन्हे शव-यात्रा मे ले जाया जाता था तथा सरकार सम्राटो और वीर-नायको की काँसे की मूर्तियाँ स्थापित करती थी। ये मूर्तियो अपने यथार्थवादी शिल्प के लिए प्रसिद्ध रही है।

79 ई मे विसूवियस ज्वालामुखी के विस्फोट ने रोम-साम्राज्य के प्रसिद्ध नगर पौम्पियाई को नष्ट कर दिया, किन्तु उसने एक ऐतिहासिक कार्य यह किया कि नगर के घरो के भीतर की कलाकृतियो को सुरक्षित कर दिया जिन्हें शताब्दियो बाद जब खोदकर निकाला गया तो उनसे उस काल की कला की जानकारी मिली। इस पर यूनानी प्रभाव साफ नजर आता है।

वास्तुकला के क्षेत्र मे रोम की कला राजा के आश्रित थी। राजा अपने विचारो, अपनी दिग्विजय और कीर्ति को अमर करने के लिए भित्ति-चित्र, मूर्तियाँ, स्तम्भ, वेदी तथा पत्थरो पर उकेरे गए चित्र बनवाते थे। मूर्तिकारों की विशेषता यह थी कि वे जिस व्यक्ति की मूर्ति गढतें उसके चेहरे पर उसके मनोभावो को हूबहू उतार देते थे। रोम मे सैप्टिमियस सेवेरस के शासनकाल मे जो मेहराब बनाए गए, उनकी कला अपने आपमे एक अलग नमूना है, उसमे सम्राट को प्रमुख रूप से उभारा गया है तथा अन्य सभी कुछ पृष्ठभूमि मे डाल दिया गया है।

तीसरी शताब्दी ईसवी मे साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशो मे अमूर्त कला पर बल दिया गया। रोम की पारम्परिक धार्मिक मान्यताओ ने देवी-देवताओ की मूर्तियो और भित्ति-चित्रो को जन्म दिया था, ईसाई धर्म ने प्रारम्भ मे तो मूर्ति अथवा चित्र के प्रति अरुचि प्रदर्शित की लेकिन धीरे-धीरे उसने धार्मिक कथाओ और ईसामसीह के जीवन से सम्बन्धित घटनाओ के चित्रण को बढावा दिया।

चौथी और पाँचवी शताब्दियो मे चित्रकला और मूर्तिशिल्प के क्षेत्रो मे नए सिरे से निखार आया तथा क्लासिकल और परम्परागत एव लोककलाओ का

सम्मिश्रण शुरू हुआ। इस काल में सम्राटों की मूर्तियों का निर्माण यथार्थ से हटकर मनोवैज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक कल्पनाओं के द्वारा किया जाने लगा। इसका प्रमुख कारण यह था कि राजा अब दैवी हो गया था, और वास्तुकार के लिए यह अनिवार्य हो गया था कि वह राजा की प्रतिमा मे पुराजागतिक दिव्यत्व का सचार करे अर्थात् उसे ऐसे ढग से तैयार करे कि उसे देखकर दर्शकों के मन मे सहज ही आदर और श्रद्धा का भाव जाग्रत हो। मूर्तिकारों ने मूर्ति मे उन अगों पर ध्यान देना शुरू किया जो शक्ति का सचार कर सकते थे, जैसे आँखें, चेहरे की माँसपेशियाँ इत्यादि।

स्थापत्य कला

जैसा कि आरम्भ मे कहा गया है रोम में कला की उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति मूर्तिशिल्प और चित्रकला के नहीं वरन् स्थापत्य के क्षेत्र मे हुई। रोम के भवनों, महलों, मन्दिरों, थियेटरों, सभागारों, सार्वजनिक स्नानागारों तथा पानी की विशाल नालियों के भग्नावशेष आज भी रोम सभ्यता के उत्कृष्ट स्थापत्य की गौरवगाथा कह रहे हैं। इस दिशा मे पौम्पई ने बडा काम किया। उसने सार्वजनिक भवनों की बाहरी दीवारों को सगमरमर से मढवा दिया। रोम का पहला स्थायी थियेटर भी उसने ही बनवाया।[1]

प्रथम शताब्दी ईसवी मे रोम के स्थापत्य मे क्रांतिकारी परिवर्तन आया। मेहराबों और गर्भगृहों का प्रचुरता से इस्तेमाल होने लगा तथा निर्माण के लिए कंकिट, चूने और ईंटों का इस्तेमाल आम हो गया। नीरो के शासनकाल मे प्रसिद्ध राजकीय स्थापत्यकार सेवेरस ने कला के क्षेत्र मे अनेक प्रयोग किए। उसने पैलेटाइन और एस्क्विलीन पहाडियों के बीच नीरो के लिए जो गोल्डेन हाउस बनाया उसमे उसने अपने स्थापत्य-कौशल का भरपूर प्रदर्शन किया।

ट्राजान, हैड्रियन आदि सम्राटों द्वारा बनवाई गयी अनेक इमारतें आज भी अपने स्थापत्य के लिए विश्व-प्रसिद्ध हैं। ट्राजान के काल मे ही रोम के प्रख्यात स्थापत्यकार अपौलोडोरस ने पहाडी को खोदकर एक विशाल बाजार का निर्माण किया। हैड्रियन स्वय एक कुशल स्थापत्यकार था, उसने अपौलोडोरस को मरवा दिया।

रोम-सभ्यता की अन्तिम शताब्दियों मे ऊँचे-ऊँचे स्तम्भों पर छतें डालकर विशाल भवनों का निर्माण किया गया। इस काल मे सार्वजनिक स्नानागारों और सभागारों के साथ-साथ विशाल चर्च (गिरजाघर) बनाए गए। अनेक मन्दिरों को गिरजाघरों मे बदल दिया गया। गिरजाघरों की छतें आम तौर पर लकडी की बनाई गयीं। उनकी दीवारों पर ईसामसीह के जीवन से सम्बन्धित भित्ति-चित्र बनाए गए तथा दरवाजों पर मूर्तियाँ उकेरी गयीं। रोम के स्थापत्य में मेहराब, स्तम्भ और गुम्बज का महत्वपूर्ण स्थान रहा। रोमन स्थापत्य प्रयोजनवादी था

1 Western Civilizations, op. cit , p. 199

तथा उसका प्रमुख लक्ष्य शान और शक्ति का प्रदर्शन था। रोम के दो प्रसिद्ध भवन इस प्रकार थे—पैंथियन (सर्व-देव मन्दिर), जिसके बुर्ज का व्यास 142 फुट था, और कोलोसियम जिसमे 65,000 दर्शक एक साथ बैठ सकते थे।

विज्ञान

रोम सभ्यता विज्ञान तथा वैज्ञानिक शोध और आविष्कार को प्रोत्साहन नही दे सकी। इसका एक प्रमुख कारण तो यह रहा कि रोम को यूनान की वैज्ञानिक धरोहर सेंतमेत मे मिल गयी, दूसरा यह कि रोम के लोगो का ध्यान युद्ध, राजनीति और भवन-निर्माण सरीखी प्रवृत्तियो मे लगा रहा, प्रकृति के रहस्यो की खोज ने उन्हे आकर्षित ही नही किया। सत्य तो यह है कि रोम के लोगो मे बौद्धिक प्रवृत्ति और सहज जिज्ञासा का समुचित विकास ही नही हो पाया। इसके बावजूद कतिपय क्षेत्रो मे प्रारम्भिक वैज्ञानिक खोज का कार्य रोम मे हुआ।

रोम का चिकित्सा-विज्ञान का अध्ययन केन्द्र सिकंदरिया मे स्थापित किया गया, किन्तु उसकी प्रगति मे सबसे बडी बाधा शकावादी थे जो मानव-शरीर रचना शास्त्र की अचूकता मे विश्वास ही नही करते थे। रोम मे शल्य-चिकित्सा होती थी, लेकिन मुख्यत: वहाँ इलाज के लिए रक्तस्राव, पुलटिस, जुलाब और पसीना दिलाने की विधियो का प्रयोग होता था। रोम के चिकित्सको मे सबसे प्रसिद्ध था सम्राट् मारकस ऑरेलियस का निजी चिकित्सक गैलेन।

प्रथम शताब्दी ईसवी मे रोम मे सबसे महान् विज्ञानी सिकंदरिया का हेरोन था। दूसरी शताब्दी मे सिकंदरिया का ही टोलेमी (Ptolemy) भूगोल और खगोल शास्त्र का विद्वान् वैज्ञानिक हुआ जिसने खगोल शास्त्र के बारे मे 'अलमाजेस्ट' नामक ग्रन्थ लिखा। उसका दूसरा ग्रन्थ था भूगोल 'ज्योग्रफी'।[1]

---

1 A History of Rome, op. cit., pp, 383–384.

Bibliography

(For Advanced Studies)

I Egypt :

1 The Egyptians, Cyril Alfred, Praegar, New York, 1963
2 The Nile and Egyptian Civilization, Alexander Moret, New York, 1928.
3 Life under the Pharaohs, Leonard Cottrell, New York. 1960.
4 History of Egypt, James H. Breasted, New York, 1912.
5 The Legacy of Ancient Egypt, S R.K. Glanville, Oxford, 1957
6 The Dawn of Conscience, J H Breasted, New York, 1934
7 Art and Artitecture of Ancient Egypt, Penguin, Baltimore, 1958
8 Every Day Life in Ancient Egypt, A. N. Shorter, London, 1932.

II Mesootamia ·

9 History Begins at Sumer, S. N Kramer, Anchor, New York, 1959
10 History of Assyria, A T E Olmstead, New York, 1923
11. Ancient Mesopotamia : Portait of a Dead Civilization, A L. Openheim, New York, 1923.
12 Every Day Life in Babylonia and Assyria, G. Contenau, New York, 1954.
13 They Wrote on Clay, Edward Chiera, Phoenir, Chicago, 1956.
14 The Royal Inscriptions of Sumer and Akkad, G. A. Barton, New Haven, 1929
15 The Exact Sciences in Antiquity, Otto Neugebauer, Dover, NewYork, 1969.
16 The Intellectual Adventure of Ancient Man, Henri Frankfort, Chicago, 1946.

III Greece :

17 Mycenaeans and Minoans, L R Palmer, New York, 1962
18 The Mycenaean Origin of Greek Mythology, M. P. Nilsson New York, 1963.

19 The Greeks, H D F Kitto, Penguin, Baltimore, 1957.
20 The Origins of Greek Civilization, C G. Starr, Torchbook, New York, 1960
21 A Handbook of Greek Mythology, H J Rose, Dutton, New York, 1959.
22 A Handbook of Greek Literature, H. J Rose, Dutton, New York, 1960
23 Greek Art, G M.A Richter, New York, 1963.
24 Greek Science, Benjamin Farrington, Penguin, Baltimore, 1961
25 The Greek State, Victor Ehrenberg, Norton Library, New York, 1960.

IV China .

26 The Birth of China, H. G Creel. Fredrick Unger, New York, 1970
27 A History of Chinese Literature, H A Giles, Fredrick Unger, New York, 1901
28 The Shoo King or the Book of Historical Documents, James Legge, London, 1865
29 The She King or the Book of Poetry, James Legge, London, 1871
30 The Yi King, the Sacred Books of the East, James Legge, Vol XVI, Oxford, 1802.
31 'Early Chinese Culture, An' Bulletin of the Geological Survey of China, 1923.
32 China the Land and the People, L H D Buxton, Oxford, 1919
33 Chinese Thouthts and Institutions, J K Fairbank, Chicago, 1957.

V India :

34 The Legacy of India, G. T. Garret, Oxford, 1937.
35 The Origin of the Aryas, I Tailor, London, 1889
36 The Culture and Civilization of Ancient India in Historical Outline, D D Kausambi, London, 1965
37 Moen-jo-dero and the Indus Civilization, Sir.John Marshall, London, 1931.
38 The Religion of the Veda, M Bloomfield, New York, 1908
39 Hindu Civilization, Radha Kumud Mukherji, London, 1936.
40 Religious Thought and Life in Ancient India, M. Monier Williams, London, 1891.

41 Polıtıcal Hıstory of Ancıent Indıa, A C Roy Chaudhary, London, 1950
42 The Pre-Hıstory and Proto-Hıstory of Indıa and Pakıstan, H. D Sankalıa, Bombay, 1963.

VI Babylonia ·

43 Code of Hammurabı, T H J. Meek
44 Ancıent Iraq. George Roux, London, 1964
45 Babylon, J G. Macqueen, London, 1964
46 The Babylonıan Akıtu Festıval, A. Pallıs, Copenhegen, 1926.
47 Cıty Invincıble, Kramer & Jacobson, Chıcago. 1960

VII Rome :

48 Early Rome and the Latıns, A Alfoldı, 1964.
49 The Orıgıns of Rome. R Bloch, 1960.
50 The Etruscans. M Pallottıno, 1974
51 Hıstory of Ancıent Geography, J O Thompson, 1948
52 Roman Imperıalısm, T Frank 1914
53 The Hıstory of Rome (5 Vols.). 1894.
54 Party Polıtıcs ın the Age of Caesar, L R Taylor, 1949.
55 Augustus and the Greek World G. W Bowersock, 1966.
56 The Clımax of Rome, M. Grant, 1968
57 Roman Imperial Cıvılızatıon, H Mattıngly, 1957
58 Roman Polıtıcal Ideas and Practıce, F E Adocock, 1959
59 The Economy of Roman Empıre, R Duncan-Jones, 1974.
60 The Roman Mınd, M L Clarke, 1956